प्राकृत

श्री पूज्य नन्द
जैन साहित्य समिति
थान्दला. (मालवा)

मुनि विनयचन्द्र

PRAKRIT SOOKTI SARO.

प्राकृत सूक्ति सरोज

प्रथम भाग

अनुवादक

शास्त्र विशारद कविवर्य्य पण्डित श्री

कृष्णलालजी महाराज के

सुशिष्य

वीरपुत्र- मुनिश्री विनयचन्द्रजी महाराज

संशोधक-

पण्डित बसन्त कुमारजी जैन

प्रकाशक- श्री धर्मदास जैन मित्र मंडल, रतलाम.

द्रव्य सहायक

वि १९९६ | वी २४६६

सुरिनदान्द १८

राजस्थान प्रेस, हैद्राबाद दक्षिण.

* समर्पण. *

व्याख्यान वाचस्पति शांति निकेतन पण्डित मुनि

श्री सौभाग्यमलजी महाराज के

पुनित कर कमलों में

सौ- म्य प्रदाता शांति विधाता सुनो जग त्राता सुख करणी ।
भा- नु समान गुरु तेज आपका हो अद्वितीय मुनिवरजी ।।
ग्य ।- ज्ञान प्रचार में कर्ष विघ्न में ऐसी बुद्धि मोय दीजे ।
मुनि- विनय' का अनुनय इतना यह अनुपम ग्रन्थ अपना लीजे ।।१

आ- पकी कृपा कटाक्ष से ही मैं सांसारिक तृष्णा से मुक्त होकर मैंने
यह रत्न त्रय धारण किये हैं तथा आपकी कृपा दृष्टि से
मेरे हृदय मानस में भक्ति प्रवाह प्रवाहित होरहा
है उसकी प्रसन्नता में मैं आपके पवित्र
कर कमलों में
यह ग्रन्थ समर्पण करता हूं
भवदीय-चरणरज
विनय

* दो शब्द *

क्षिण भारतका परम सौभाग्य है कि जैनाचार्य पूज्य श्री धर्मदासजी म की सप्रदायके दक्षिण भारत केसरी प्र श्री श्री १००८ श्री ताराचन्द्रजी म प रत्न श्री कृष्ण-लालजी म तथा प्रसिद्धवक्ता पं श्री सौभाग्य मुनि जी म प्रभृति ठा १६ मद्रास, बेंगलोर, मैसूर एव हैद्रा-बाद आदि नवीन क्षेत्रोंमें पधारे और आपही के द्वारा जैनधर्मके माननीय तत्वों का अवर्णनीय शब्दोंमें प्रचार हुआ।

हर्ष है कि आपही के समीपवर्ती साहित्यप्रेमी वीरपुत्र मुनि श्री विनयचंद्र जी म ने प्राकृत पाठियोंके लाभार्थ उपदेशप्रद गाथाओंका संग्रह तैयार कर विद्यार्थी समाजके लिए महती सुविधा प्रदान की है। प्राकृत गाथाओंके साथ ही साथ सस्कृत छायांकी मदत ब्यावर गुरुकुलके प्रधानाध्यापक प शोभाचंद्रजी भारिल्लके द्वारा मिली है। इसके अतिरिक्त हिन्दी शुद्धि व भाषा भाव वर्णनके संशोधनका गुरुतर भार साहित्यरत्न पं वसन्तकुमारजी जैन 'रवींद्र' न्यायतीर्थ ने वहन किया है। अत आप दोनों सज्जन कोटिश धन्यवादके भागी हैं।

प्रस्तुत पुस्तकके प्रकाशनमें सुभाषित सग्रह, वैराग्यशतक, इंद्रियपराजय तथा गौतमकुलकादि ग्रथोंसे भी सहायता ली गयी है। अतः उनके लेखकों व प्रकाशकोंके प्रति भी आभार प्रदर्शित किया जाता है।

अनुवादक मुनिवर इस पुस्तककी आयोजनामें कहातक सफल हुए है इसका निर्णय स्वयं पाठक ही करनेका कष्ट उठावें। सुज्ञेषु किमधिकम्।

विनीत

धर्मदास जैन मित्र मंडल

रतलाम (मालवा)

— विषयानुक्रमणिका —

नं	विषय		पृष्ठ नंबर	नं	विषय		पृष्ठ नंबर
१	दान		१	७	विषयविकार		११६
२	शील	..	१९	८	अहिंसा		१३१
३	तप		४६	९	धर्म	...	१४८
४	भाव		५६	१०	क्षमा	..	१६४
५	सज्जन	..	७१	११	धन महिमा		१७५
६	दुर्जन		९९	१२	वैराग्य		१९०

प्राकृत सूक्ति-सरोज.

※ दान ※

स अध्रुव एवं अशाश्वत अखिल विश्व में सकल जगजीव सतत सुखाभिलाषा रखते हैं और तदनुकूल सुखप्राप्ति हेतु सतत प्रयत्नशील भी रहते हैं, किंतु भौतिक सुखों के वशीभूत होकर वे भव्य प्राणी आत्मिक सुख की ओर किंचित् भी लक्ष्य नहीं देते हैं जिसके परिणाम स्वरूप नानाविध कष्टोपार्जन करते हुए अनन्त दुःखोदधि में निमज्जित होकर नरकादि अधमतम योनियों को प्राप्त करते हैं।

वास्तविक ऐहिक एव पारलौकिक सुख सम्पदा का साधकतम हेतु एक धर्म ही है। धर्मांकुर विहीन प्राणी सतत दु ख पाश से वेष्टित होकर ८४ लक्ष जीव योनियों में पर्यटन करते रहते हैं। उनका समुद्धार करने के उद्देश्य से ही हमारे ऋषि, महर्षियों, पुरातत्वज्ञों, नीति निपुणाचार्यों ने निजशास्त्रों में धर्म के चार अगों का प्रतिपादन किया है। वे चार अग १ दान २ शील ३ तप एव भावना रूप हैं। उक्त अगों में से दान को ही सर्व प्रथम मुख्य अंग माना है।

दान की व्याख्या शास्त्र सम्मत इस प्रकार है कि.—

" अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो हि दानं " अर्थात् अनुग्रह (अनुकम्पा) पूर्वक स्वकीय वस्तु का परहित उत्सर्ग [त्याग] करना ही दान है। अर्थात्—

' अनुग्रहार्थं दीयते तद्दानमभिधीयते "। उक्त व्याख्यानुसार अनुग्रह पूर्वक किसी भी प्राणी को जो अनवद्य तथा ऐच्छिक वस्तु का दान दिया जाय तो वह सफल ही माना गया है तथापि जो व्यक्ति पात्रापात्र का सम्यग् विचार करके दान देता है वह सविशेष फल दायक होता है।

उक्त प्रकरण में सुपात्र और कुपात्र के लिये दीयमान दान के संबंध में जो उल्लेख तथा प्रतिपादन किया गया है उसका तात्पर्य यही है कि सुपात्र को जो दान दिया जायेगा उसका परलोक में सविशेष फल मिलेगा और कुपात्र-दत्त दान का परलोक में अल्प फल मिलेगा। किंतु कुपात्र दत्त वह दान सर्वथा निष्फल कदापि नहीं हो सकता है क्योंकि अनुकम्पा बुद्धि एवं अनवद्य वस्तु का ही प्राधान्य होने से। उमास्वाति आचार्य ने भी अपने तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है कि— "विधि द्रव्य दातृ पात्र विशेषात्तद्विशेषः" अर्थात् विधि द्रव्य दाता और पात्र की अपेक्षा से ही दान विषय सविशेष और अविशेष फल-दायक होता है। अतः कुपात्रदत्त दान भी सर्वथा निष्फल न होकर सुफल दायक अवश्य ही होता है और सुपात्र दान तो सफल है ही।

प्रस्तुत दान प्रकरण में सविशेष एवं अविशेष फल को अभिमुख रखकर ही सुपात्र तथा कुपात्र दान का प्रतिपादन किया गया है—

दानाधिकार.

मूल.

दाणेण फुरइ कित्ती दाणेण य होइ निम्मला कंती ॥
दाणावज्जियहियओ अरिणो वि य पाणियं वहइ ॥१॥

छाया.

दानेन स्फुरति कीर्तिर्दानेन च भवति निर्मला कांतिः ॥
दानावार्जितहृदयोऽरेरपि च पाणिं वहति ॥ १ ॥

दोहा.

दान कीर्ति दातार है दान कान्ति दातार ॥
दानी नर अरि भवन भी पानी का भरनार ॥१॥

अन्वयार्थ – (**दाणेण**) दान के द्वारा (**कित्ती**) कीर्ति (**फुरइ**) चारों ओर व्याप्त होती है (**य**) और (**दाणेण**) दान से ही (**निम्मला**) निर्मल (**कंती**) शरीर काति (**होइ**) होती है (**दाणावज्जिय**) दानयुक्त (**हियओ**) हृदयवाला व्यक्ति (**अरिणो**) शत्रु के लिये (**वि य**) भी (**पाणियं**) पानी (**वहइ**) भरता है [लाता है]

भावार्थ – दान के द्वारा ससार में धवल कीर्ति स्फुरित होती है और दान से ही निर्मल शरीर काति प्रकट होती है। दानादि धर्म आविहीन व्यक्ति शत्रु के लिये भी जल भर सकता है अर्थात् दानी पुरुष का हृदय इतना पवित्र होता है कि उसके मन में शत्रु प्रति भी द्वेष भावना जागृत नहीं होती है इसीलिये वह शत्रु के यहा पर भी जल भर सकता है।

मूल

आरुग्गं सोहग्गं आणेसरियं मणिच्छिओ विहवो ॥
सुरलोयसंपया वि य सुपत्तदाणाइदुमफलाइं ॥२॥

छाया

आरोग्यं सौभाग्यमैश्वर्यम् मनीप्सितो विभव ॥
सुरलोकसंपदा च सुपात्रदानादिद्रुमफलानि ॥२॥

दोहा

सुरसम्पति स्वामित्व भी सब विध ते सौभाग्य ।
दान वृक्ष फल जानको वैभव मद आरोग्य ॥२॥

अन्वयार्थः-- (आरुग्गं) आरोग्य (सोहग्ग) सौभाग्य (आणेसरियं) ऐश्वर्य, स्वामित्व (मणिच्छिओ) मनोवांछित (विहवो) वैभव (य) और (सुरलोयसंपया) स्वर्गीय सम्पत्ति (वि) भी (सुपत्तदाणाइदुम) सुपात्रदान रूपी वृक्ष के (फलाइं) श्रेष्ठ फल हैं।

भावार्थः-- स्वस्थता [आरोग्य] सौभाग्य ऐश्वर्य स्वामित्व, अभिलषित वैभव और स्वर्गीय सम्पदा भी मानवादि उत्तम सुख साधन सुपात्रदान रूपी उत्तम तरुवर के मधुर फल हैं। अर्थात् दान देने से वांछित सुखोपभोग उपलब्ध हो सकते हैं।

मूल.

एक्कम्मि जह तलाए धेणुयसप्पेण पाणियं पीय ।
सप्पे परिणमइ विस धेणूसु खीर समुब्भवइ ॥३॥

छाया

एकस्मिन्यथा तडागे धेनु सर्पाभ्या पानीयं पीतम् ।
सर्पे परिणमते विष धेनुषु क्षीर समुद्भवति ॥३॥

दोहा.

एक सरोवर वारि को पीते धेनु भुजंग ॥
एक दूध औ विष इतर परिणामों के संग ॥३॥

अन्वयार्थ'– (**जह**) जैसे (**एक्कम्मि**) एक ही (**तलाए**) सरोवर में (**धेणुय**) गाय एवं (**सप्पेण**) सर्पद्वारा (**पाणियं**) पाणी (**पीयं**) पिया जाता है किन्तु वह पानी (**सप्पे**) सर्प में (**विसं**) विषरूप में (**परिणमइ**) परिणमता है और (**धेणुसु**) गायों के अन्दर (**खीरं**) दूधरूप से (**समुब्भवइ**) उत्पन्न होता है ।

भावार्थ – यथा एक ही सरोवर में धेनु एव विषम विषधर द्वारा पय पान किया जाता है किन्तु वही निर्मल एव मधुर जल पात्र की विभिन्नता के कारण दूध और जहर रूप में परिणत हो जाता है । अर्थात् धेनु द्वारा पिया हुआ जल दुग्धरूप धारण करता है और सर्प द्वारा पीत जल विषरूप ग्रहण करता है । यद्यपि नीर एक ही रूप में है तथापि पात्र के योग्यायोग्य होने से विभिन्न २ रूप में परिवर्तित हो जाता है ।

मूल

आरुग्गं सोहग्गं आणेसरियं मणिच्छिओ विहवो ॥
सुरलोयसंपया वि य सुपत्तदाणाइदुमफलाइं ॥२॥

छाया

आरोग्यं सौभाग्यमाज्ञैश्वर्यम् मनीप्सितो विभव ॥
सुरलोकसंपदा च सुपात्रदानादिद्रुमफलानि ॥२॥

दोहा

सुरसम्पति स्वामित्व भी सब विध ते सौभाग्य ॥
दान वृक्ष फल जानको वैभव अरु आरोग्य ॥२॥

अन्वयार्थ - (आरुग्गं) आरोग्य (सोहग्गं) सौभाग्य (आणे-सरियं) ऐश्वर्य, स्वामित्व (मणिच्छिओ) मनोवांछित (विहवो) वैभव (य) और (सुरलोयसंपया) स्वर्गीय सम्पत्ति (वि) भी (सुपत्तदाणाइदुम) सुपात्रदान रूपी वृक्ष के (फलाइं) मीठे फल हैं।

भावार्थः- स्वस्थता [आरोग्य] सौभाग्य ऐश्वर्य, स्वामित्व, मनोवांछित वैभव और स्वर्गीय सम्पदा की प्राप्ति सकल एवं उत्तम सुपात्रदान रूपी उत्तम तरुवर के मधुर फल हैं। अर्थात् दान देने से वांछित सुखोपभोग उपलब्ध हो सकते हैं।

मूल.

महया वि हु जत्तेणं वाणो आसन्नलक्खमहिगिच्च ॥
मुक्को न जाइ दूरं इमासंसाए दाणं पि ॥५॥

छाया

महता पि हि यत्नेन बाण आसन्नलक्ष्यमभिकृत्य ॥
मुक्तो न याति दूरं अनयाशसया दानमपि ॥५॥

दोहा

अति प्रयत्न ते मुक्त विण बहु समीप यदि लक्ष ॥
दूर नहीं जावे तथा, जान दान हो दक्ष ॥५॥

अन्वयार्थ – (आसन्नलक्खं) समीपवर्ती लक्ष्य [निशाने] को (अहिगिच्च) ध्यान में रखकर [अधिकार में करके] (महया) महान् (जत्तेण) प्रयत्नों द्वारा (मुक्को) छोड़ा हुआ (वि) भी (वाणो) बाण (दूरं) दूर (न) नहीं (जाइ) जा सकता है (इमा) इसी (आसंसाए) आशंसा [विचार] से (दाण पि) दान भी देना चाहिये ।

भावार्थ – यथा समीपवर्ती लक्ष्य बिंदु को अभिमुख रख कर, महान् प्रयत्नों द्वारा छोड़ा हुवा भी बाण कदापि दूर नहीं जा सकता है, इसी प्रकार सुपात्र को दिया हुवा अल्प दान भी कदापि निरर्थक नहीं हो सकता है ।

मूल:

तह निस्सीलसुसीले दिन्नं दाणं फलं अफलयं च ॥
होही परम्मि लोए पत्तविसेसेण तस्स पुण्णं ॥४॥

छाया

तथा निःशीलसुशीलाभ्यां दत्तं दानं फलमफलञ्च ॥
भविष्यति परस्मिन् लोके पात्र विशेषेण तस्य पुण्यम् ॥४॥

दोहा

सद् आचारी दान भी दुराचार को दान ।
सफल अफल परलोक में पात्र अपेक्षा जान ॥४॥

अन्वयार्थ—(तह) उसी प्रकार (निस्सीले) निःशील [दुराचारी] एवं (सुसीले) सुशील [सदाचारी] को (दिन्नं) दिया हुआ (दाणं) दान भी क्रमशः (अफलयं) निष्फल (च) और (फलं) सफल ही कहा गया है तथा (परम्मि) पर (लोए) लोक में भी (तस्स) उस दान का (पत्तविसेसेण) पात्र विशेष की अपेक्षा से (पुण्णं) पुण्यरूप ही (होही) फल होता है।

भावार्थ— श्लोक कथनानुसार निःशील एवं सुशील व्यक्ति को दिया हुआ दान भी क्रमशः अफल फलमान और सविशेष फलमान ही कहा गया है, तथा यही दान परलोक में भी अच्छा पुण्य रूप होता है, जो कि पात्र विशेष की अपेक्षा से दिया गया हो।

मूल.

महया वि हु जत्तेणं बाणो आसन्नलक्खमहिगिच्च ॥
मुक्को न जाइ दूर इमासंसाए दाणं पि ॥५॥

छाया

महता पि हि यत्नेन बाण आसन्नलक्ष्यमधिकृत्य ॥
मुक्तो न याति दूर अनयाशसया दानमपि ॥५॥

दोहा

अति प्रयत्न ते मुक्त विण बहु समीप यदि लक्ष ॥
दूर नहीं जावे तथा, जान दान हो दक्ष ॥५॥

अन्वयार्थ—(आसन्नलक्खं) समीपवर्ती लक्ष्य [निशाने] को (अहिगिच्च) ध्यान में रखकर [अधिकार मे करके] (महया) महान (जत्तेण) प्रयत्नों द्वारा (मुक्को) छोड़ा हुआ (वि) भी (बाणो) बाण (दूर) दूर (न) नहीं (जाइ) जा सकता है (इमा) इसी (आसंसाए) आशंसा [विचार] से (दाण पि) दान भी देना चाहिये ।

भावार्थ — यथा समीपवर्ती लक्ष्य बिंदु को अभिमुख रख कर, महान् प्रयत्नों द्वारा छोड़ा हुवा भी बाण कदापि दूर नहीं जा सकता है, उसी प्रकार सुपात्र को दिया हुवा अल्प दान भी कदापि निरर्थक नहीं हो सकता है ।

मूल.

दिन्नं सुहं पि दाणं होइ कुपत्तम्मि असुहफलमेव ।
सप्पस्स जहा दिन्नं खीरं पि विसत्तण उवेइ ॥७॥

छाया

दत्तं शुभमपि दान भवति कुपात्रे अशुभफलमेव ।
सर्पाय यथा दत्त क्षीरमपि विषत्वमुपैति ॥७॥

दोहा

श्रेष्ठ दान भी पात्र वश निष्फल फल दातार ॥
दिया क्षीर यदि सर्प को विष का हो अधार ॥७॥

अन्वयार्थ – (**जहा**) जिस प्रकार (**सप्पस्स**) सर्प को (**दिन्नं**) दिया हुआ (**खीरं**) क्षीर (दुग्ध) दान (**पि**) भी (**विसत्तण**) विषरूप को ही (**उवेइ**) प्राप्त करता है उसी प्रकार (**कुपत्तम्मि**) एकान्त कुपात्र को (**दिन्नं**) दिया हुआ (**सुहं**) शुभ (श्रेष्ठ) (**दाणं**) दान (**पि**) भी (**असुहफलमेव**) अशुभ फल रूप ही (**होइ**) होता है।

भावार्थ –जैसे सर्प को पिलाया हुआ मधुर एव निर्मल दुग्ध भी विपरूप ही परिणमता है, उसी प्रकार कुपात्र (वेश्यादि) को दिया हुआ उत्तम दान भी लाभ प्रदायक नहीं होता है। अर्थात् सर्वथा कुपात्र को कितना भी उत्तम दान दिया जाय तथापि सर्प को दुग्ध पान कराने के समान निष्फल ही है।

मूल

तुच्छं पि सुपत्तम्मि उ दाणं नियमेण सुहफलं होइ ॥
जह गावीए दिन्नं तणं पि खीरत्तणमुवेइ ॥८॥

छाया

तुच्छमपि सुपात्रे तु दानं नियमेन शुभफलं भवति ॥
यथा गव्यै दत्तं तृणमपि क्षीरत्वमुपैति ॥८॥

दोहा

तुच्छ दान भी पात्र का शुभ फल का दातार ।
गायेको तृण दान भी होय क्षीर आकार ॥८॥

अन्वयार्थ—(सुपत्तम्मि) सुपात्र को दिया हुआ (तुच्छं पि) तुच्छ भी (दाणं) दान (नियमेण) नियमपूर्वक (सुहफलं) शुभ फल दायक ही (होइ) होता है (जह) जैसे (गावीए) गाय को (दिन्नं) दिया हुआ (तणं) तृण घास (पि) भी (खीरत्तणं) दुग्धरूप को ही (उवेइ) प्राप्त करता है ।

भावार्थ – जैसे धेनु को दिया हुआ तुच्छ तृण घास भी मधुर एवं उज्ज्वल दुग्ध रूप को ही धारण करता है वैसे सुपात्र को दिया हुआ तुच्छ दान भी सविशेष शुभ फलदायक ही होता है ।

मूल.

सोहग्गाइगुणा चयंति न गुणावद्धव्व तेसिं तणुं ।
जे दाणम्मि समीहियत्थजणणे कुव्वंति जत्तं जणा ॥९॥

छाया

सौभाग्यादिगुणास्त्यजन्ति न गुणाबद्धा इव तेषा तनु ।
ये दाने समीहितार्थजनने कुर्वन्ति यत्नं जना ॥९॥

दोहा

मोक्ष प्राप्ति में हेतु जो करे दान में यत्न ॥
सौभाग्यादिक देह गुण कभी न होवें भग्न ॥९॥

अन्वयार्थ –(जे) जो (जणा) मनुष्य (**समीहियत्थजणणे**) अभिलषित अर्थोत्पत्ति में हेतुभूत ऐसे (**दाणम्मि**) दानधर्म में (**जत्तं**) यत्न (**कुव्वति**) करते हैं (**तेसिं**) उन दानी मनुष्यों के (**तणुं**) शरीर को (**गुणावद्धव्व**) रस्सी से बंधे हुए के समान (**सोहग्गाइगुणा**) सौभाग्यादि गुण (**न**) नहीं (**चयति**) छोडकर जाते हैं ।

भावार्थ –जैसे रज्जु आदि साधनों से बद्ध वस्तु इत उत गमनक्रिया नहीं कर सकती है किन्तु वहा पर ही स्थित रहती है, तथैव जो पुरुष इच्छित अर्थ (द्रव्य) की प्राप्ति में हेतुभूत ऐसे दानधर्म में यत्नशील रहता है उसके सौभाग्यादिक गुण कदापि विनष्ट नहीं हो सकते हैं किन्तु सतत गुणगणाधिकारी ही बना रहता है ।

मूल

जीवाणमभयदाणं जो देइ दयावरो नरो निच्चं ॥
तस्सेह जीवलोए कुत्तो वि भयं न संभवइ ॥१०॥

छाया

जीवेभ्योऽभयदानं यो ददाति दयापरो नरो नित्यम् ॥
तस्येह जीवलोके कुतोऽपि भयं न सम्भवति ॥१०॥

दोहा

दयावान नर जीव को अभयदान जो देत ॥
जीवलोक में डर नहीं नहीं भीति को खेत ॥१०॥

अन्वयार्थ— (जो) जो (दयावरो) दयावान् (नरो) मनुष्य (निच्चं) नित्य (जीवाणं) प्राणियों को (अभयदाणं) अभयदान (देइ) देता है (तस्स) उसके लिये (इह) इस (जीवलोए) जीवलोक में (कुत्तो) कहीं पर (वि) भी (भयं) भय (न) नहीं (संभवइ) रहता है।

भावार्थ— जो दयाशील एवं क्षमाशील पुरुष निरन्तर प्राणियों को अभयदान देता है उसके लिये सम्पूर्ण जीवलोक में कहीं पर भी भयस्थली की संभावना नहीं है अर्थात् अभयदान देनेवाला व्यक्ति सर्वत्र निर्भयता पूर्वक विचरण कर सकता है उसे मार्ग में कहीं पर भी भयों का अनुभव नहीं करना पड़ता है।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म. की सं. के श्रीयुत विनयचन्द्रजी म. की

मूल.

धम्मत्थकामभेया तिविहं दाणं जयम्मि विक्खायं ॥
तहवि य जिणंदमुणिणो धम्मियदाणं पसंसंति ॥११॥

छाया.

धर्मार्थकामभेदात् त्रिविध दान जगति विख्यातम् ॥
तथापि च जिनेंद्रमुनयो धार्मिकदान प्रशसन्ति ॥११॥

दोहा.

धर्म अर्थ औ काम से त्रिविध दान प्रख्यात ॥
जिन अनुयायी मुनि कहे धर्म मुख्य विख्यात ॥११॥

अन्वयार्थ – (**जयम्मि**) जगत् में (**धम्मत्थकामभेया**) धर्मदान, अर्थदान एव कामदान आदि भेदों से (**तिविहं**) त्रिविध (**दाणं**) दान (**विक्खाय**) कहा गया है (**तहवि**) तथापि (**जिणंदमुणिणो**) जिनेन्द्र मतानुयायी श्रमण गण तो (**धम्मियदाण**) धार्मिक दान की ही (**पसं-सन्ति**) प्रशसा करते हैं।

भावार्थ – ससार के सकल शास्त्रों में धर्मदान, द्रव्यदान और कामदान आदि भेदों से तीन प्रकार के दान का प्रतिपादन किया गया है, तथापि जिनेन्द्रमतानुयायी श्रमण गण तो धार्मिक दान की ही निरन्तर भूरि २ प्रशसा करते हैं क्योंकि धार्मिक दान ही स्वात्म परात्म कल्याण में साधकतम साधन है।

ओर से पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल

दाणं सोहग्गकरं दाणं आरुग्गकारणं परमं ।
दाणं भोगनिहाणं दाणं ठाणं गुणगणाणं ॥१२॥

छाया

दानं सौभाग्यकरं दानमारोग्यकारणं परमं ।
दानं भोगनिधानं दानं स्थानं गुणगणानाम् ॥१२॥

दोहा

दान परम सौभाग्य है रुज औषध है दान ।
दान भोग निधि दान ही सकल गुणों का स्थान ॥१२॥

अन्वयार्थ—(दाणं) दान (सोहग्गकरं) सौभाग्यकारक है (दाणं) दान ही (परमं) परम [सबसे अधिक] (आरुग्गकारणं) आरोग्य का हेतुभूत है (दाणं) दान (भोग) भोगों का (निहाणं) निधान (कोष) है और (दाणं) दान ही (गुणगणाणं) समस्त गुणगणों का (ठाणं) स्थान है ।

भावार्थ – दान सौभाग्यादि गुणों की प्राप्ति में हेतुभूत है । दान ही आरोग्य का मूलमंत्र है । दान से ही लौकिक एवं पारलौकिक सुख-समृद्धियां उपलब्ध होती हैं और दान ही समस्त गुणों का पूर्वोत्पत्ति-स्थान माना गया है । अर्थात् जिन में सर्व गुणों का मूल कारण एक दानधर्म ही है ।

मूल.

धणसत्थवाहजम्मे जं घयदाणं कयं सुसाहूणं ।
तक्कारणमुसभजिणो तेलुक्कपियामहो जाओ ॥१३॥

छाया

धनसार्थवाहजन्मनि यद् घृतदान कृत सुसाधुनाम् ।
तत्कारण ऋषभजिनस्त्रैलोक्यपितामहो जातः ॥१३॥

दोहा.

सार्थवाह के जन्म में दियो घृतादिक दान ।
आदिनाथ त्रयलोक के भये पितामह जान ॥१३॥

अन्वयार्थ – (उसभजिणो) ऋषभ जिनेश्वर ने (धणसत्थवाह-जम्मे) धन्ना सार्थवाह के भव में (सुसाहूणं) उत्तम निर्ग्रन्थों को (जं) जो (घयदाणं) घृतदान (कयं) किया था (तक्कारणं) उसके कारण (परिणाम) स्वरूप वे (तेलुक्कपियामहो) त्रिलोक के पितामह (जाओ) हुए ।

भावार्थ – ऋषभ जिनेश्वर ने धन्ना सार्थवाह के भव में चारित्रसम्पन्न, उत्तम निर्ग्रन्थों को हार्दिक विशुद्ध भावना से जो घृतदान दिया था, उसके परिणाम स्वरूप वे त्रिलोक के पितामह बने । तात्पर्य यह है कि पूर्व जन्म में दिये हुए दान के प्रभाव से ही ऋषभदेव त्रिलोक वंदनीय बन सके हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

दाउं सद्धा सुद्धे सुद्धे कुम्मासए महामुणिणो ॥
सिरिमूलदेवकुमारो रज्जसिरिं पाविओ गुरुइं ॥१९॥

छाया

दत्वा शुद्धश्रद्धया शुद्ध कुल्माषान् महामुनिभ्य ॥
श्रीमूलदेवकुमारो राज्यश्रियम् प्राप्त. गुर्वी ॥१९॥

दोहा

श्रद्धा से ऋषि को दिया कुलमाषन को दान ॥
राज्यश्री ने ही वरा मूलदेव को जान ॥१९॥

अन्वयार्थ – (सिरिमूलदेवकुमारो) श्री मूलदेव कुमार ने (सद्धा सुद्दे) पुनीत श्रद्धा पूर्वक (महा मुणिणो) महा मुनि को (सुद्धे) शुद्ध (कुम्मासए) उडद के बाकलों का दान (दाउं) देकर ही (गुरुइं) विशाल (रज्जसिरिं) राज्यश्री को (पाविओ) प्राप्त की।

भावार्थ – मूलदेव कुमार ने हृदय की पुनीत भावना से महातपस्वी, घोर पराक्रमी, महामुनि को ऐषणिक एव विशुद्ध उडद के बाकलों का दान देकर, विपुल राज्य वैभव को प्राप्त किया। तात्पर्य यह है कि पुनीत श्रद्धा एव भावना पूर्वक दिया गया अल्प दान भी महान् फलदायक हो जाता है।

ओर मे पडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों मे सादर समर्पित

मूल

कई सा न पसंसिज्जइ चंदणबाला जिणदाणेणं ?
छम्मासियतवतविओ निव्वविओ जेणं वीरजिणो ॥१६॥

छाया

कथं सा न प्रशस्यते चन्दनबाला जिनेन्द्रदानेन ॥
षाण्मासिकं तपस्तप्तो निर्वापितो येन वीरजिन ॥१६॥

दोहा

तपस्तप्त षण्मास लौं वीर जिनेश्वर धीर ॥
दान चन्दना ने दिया विस्मृत है यश सीर ॥१६॥

अन्वयार्थ– (छम्मासियतवतविओ) षण्मासपर्यंत [छह महीने तक] तप से तपे हुए (वीरजिणो) वीर जिनेन्द्र (जेणं) जिस उत्तम दान द्वारा (निव्वविओ) सन्तुष्ट हुए ऐसे (जिणदाणेणं) जिनेश्वर को दान देने से (सा) वह (चंदणबाला) सती चन्दनबाला (कई) कैसे (न) नहीं (पसंसिज्जइ) प्रशंसा-पात्र बनी ?

भावार्थ:–षण्मास पर्यन्त तपस्या करने के कारण क्षीण-शरीर बने हुए श्री वीर जिनेन्द्र जिस चन्दनबाला सती से दान प्राप्त कर संतुष्ट हुए, क्या वह महासती संसार में प्रशंसा नहीं पाती ? अर्थात् वीतराग वीर प्रभु को दान देकर वह सती चन्दनबाला एक पुण्यशील इस प्रकार उत्तम एवं प्रशंसा करने योग्य बन गई है ।

अनुवादक–पूज्य श्री धर्मदासजी म. की सं. के धीरपुत्र विनयचन्द्रजी म. की

* शील *

यथा सौरभ विहीन कुसुमसंचय, तैल शून्य तिल राशि एव नवनीत रहित दधिमथन महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता है, तथैव शीलविहीन क्षमादि अन्य मानवीय धर्म भी परमादरणीय नहीं, हो सकते हैं। किंतु जैसे सुरभि से कुसुम, तैल से तिलराशि और माखन से दधि शोभास्पद एव उपादेय होता है उसी प्रकार शीलधर्म द्वारा ही अन्य सर्व धर्म भी पूजनीय वन जाते हैं। इसी के आदर्श प्रभाव से जटिलतम कार्य भी सरल, दुस्साध्य भी सुसाध्य और दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है। मिथ्याभिग्रहियों का पूर्ण दर्पमर्दक केवल शीलधर्म ही है।

शील ही जीवन सर्वस्व जीवनौषधि है। शीलातिरिक्त अन्य कोई महत्वपूर्ण वस्तु अखिल विश्व में विद्यमान नहीं है। इसलिये शीलरत्न की जितनी सावधानी से सुरक्षा की जायगी उतना ही भविष्य में भविष्य उज्ज्वल एव गौरवान्वित वन सकेगा। शील के प्रचड पावन प्रताप से उद्दण्ड तथा अत्यभिमानी व्यक्ति भी नत मस्तक हो जाते हैं। जो सतत, सर्वदा शील का परिपूर्ण यथावत् पालन करता है उसकी नानाविध लब्धिया चेरिया वन कर रहती हैं। उसके कलेवर से ऐसी दिव्य आभा प्रस्फुटित होती है कि जिससे जनसमुदाय अत्यन्ताश्चर्यान्वित हो उठता है। वह मानवीय काय-धारक होता हुआ भी देवतुल्य वदनीय एवं पूज्य वन जाता है। शील धर्म नरवर्ग एव नारी समाज दोनों के लिये आचरणीय है। यही दोनों का परमाभरण है। इसके विना शरीर सौंदर्य नहीं है। स्वर्णाभरण तो शरीर की वाह्य सौंदर्य वृद्धि में सहायक रूप होते हैं किंतु शील रूपी आभूषण तो अन्तरग एव वाह्य उभयात्मक लावण्य वृद्धि करता है।

अंतः शील को ही सारभूत तत्व समझकर, उसका मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग द्वारा शुद्धरीत्यनुसार यथोचित पालन करना चाहिये। इसका सविशद वर्णन निम्न गाथाओं द्वारा जानना चाहिये —

ओर से पडित-प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

शीलव्रताधिकार.

मूल

मेरू गिरिट्ठो जह पव्वयाणं एरावणो सारवओ गयाणं ॥
सिंहो बलिट्ठो जह सावयाणं तहेव सीलं पवरं वयाणं ॥१॥

छाया

मेरुर्गरिष्ठो यथा पर्वतेषु एरावतः सारवको गजेषु ॥
सिंहो बलिष्ठो यथा श्वापदेषु तथैव शीलं प्रवरं व्रतेषु ॥१॥

दोहा

भूधर में मेरू प्रधान ऐरावत गज मांहि ।
वनचर में ज्यों केसरी शील व्रतों में आहि ॥१॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (पव्वयाणं) पर्वतों में (मेरू) मेरु गिरि (गरिट्ठो) विशाल है (गयाणं) हस्तियों में (एरावणो) एरावत (सारवओ) बलिष्ठ है (जह) जैसे (सावयाणं) वनचरों (जंगली जंतुओं) में (सिंहो) सिंह (बलिट्ठो) पराक्रमशाली है (तहेव) उसी प्रकार (वयाणं) सर्व व्रतों में (सीलं) शीलव्रत ही (पवरं) सर्वोत्तम है ।

भावार्थ—जैसा पर्वतों में मेरु गिरि प्रधान है, हाथियों में ऐरावत हस्ती बलिष्ठ एवं श्रेष्ठ है, जिस तरह जंतुओं में सिंह पराक्रमशाली है, तथैव समस्त व्रतों में शीलव्रत ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है

मूल.

जो इहलोए पुरिसो सीलं खंडेइ कामरसगिद्धो ॥
सो तत्ततंबपुत्तलिसमं नरगे आलिंगणं देइ ॥२॥

छाया.

य इह लोके पुरुषश्शील खण्डयति कामरसगृद्धः ॥
स तप्ततामूपुत्तलीसम नरके आलिंगन ददाति ॥२॥

दोहा

कामगृद्ध जो नर करे शील महाव्रत खण्ड ॥
तप्ततामू की पुत्तली से आलिंगन दण्ड ॥२॥

अन्वयार्थ - (**इहलोए**) इस ससार में (**कामरसगिद्धो**) काम-भोगों में गृद्ध बना हुआ (**जो**) जो (**पुरिसो**) व्यक्ति (**सीलं**) शीलव्रत का (**खण्डइ**) खडन कर देता है (**सो**) वह पुरुष (**नरगे**) नरक में (**तत्ततंबपुत्तलिसमं**) सुतप्त तावे की पुत्तलिका के साथ (**आलिंगणं**) आलिंगन (**देइ**) करता है [देता है]

भावार्थ - जो सासारिक क्षणिक काम भोगों में आसक्त होकर उत्तम शील धर्म का खडन कर देता है, वह व्यक्ति नरकादि दुर्गति में जाकर सुतप्त ताम्रपुत्तलिका के साथ आलिंगनानुभव करता है ।

मूल

धन्ना ते चिय पुरिसा जयम्मि जीअं च ताण सुकयत्थं ।
जे मुत्तिरमणिरत्ता विरत्तचित्ता परत्थीसु ॥१॥

छाया

धन्यास्त एव पुरुषा जगति जीवितञ्च तेषां सुकृतार्थम् ।
ये मुक्तिरमणीरक्ताः विरक्तचित्ताः परस्त्रीषु ॥१॥

दोहा

परनारी से विरत मन मोक्षनारि आसक्त ।
जीवन भी उपकार में धन्य मनुज वे भक्त ॥१॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (परत्थीसु) परनारी से (विरत्तचित्ता) विरक्तचित्त रहते हैं और (मुत्तिरमणिरत्ता) मुक्ति रूपी रमणी में ही आसक्त बने हुए हैं (ते) वे (पुरिसा) पुरुष (जयम्मि) संसार में (चिय) निश्चय ही (धन्ना) धन्य हैं (च) और (ताणं) उन्हीं पुरुषों का (जीअं) जीवन (सुकयत्थं) परोपकारादि सुकृत्यों में व्यतीत होने से सफल भी है ।

भावार्थ—जो मानव पररमणियों से विरक्त चित्तवृत्ति वाले हैं और मुक्ति रूपी शिव-नारी में मुग्ध बने हुए हैं उन महात्मापुरुषों को कोटिशः धन्यवाद है, तथा उन्हीं का जीवन सफलीभूत भी है; क्योंकि वे अपने जीवन की सर्व घड़ियों को परोपकारादि सत्कर्मों में ही व्यतीत करते हैं इसीलिये संसार के मिथ्या प्रपंचों में नहीं फंसते हैं।

अनुवादक—पूज्य श्री पन्नालालजी म. सा. के शिष्यरत्न श्री चम्पालालजी म. की

मूल.

जा नियकंत मुत्तु सुमिणे वि न ईहए नर अन्न ॥
आबालबंभयारिव्व सा रिसीण पि थवणिज्जा ॥४॥

छाया.

या निजकान्तं मुक्त्वा स्वप्नेऽपि नेहते नरमन्यम् ।
आबाल्यब्रह्मचारीव सा ऋषीणामपि स्तवनीया ॥४॥

दोहा

पति सिवाय जो इतर का, करे कभी नहिं ध्यान ॥
ब्रह्मचारिणी है सती, करते ऋषि भी गान ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ — (जा) जो महिला (नियकंत) निज पति को (मुत्तु) छोड़कर (सुमिणे) स्वप्न में (वि) भी (अन्नं) पर (नरं) पुरुष की (न) नहीं (ईहए) इच्छा करती है (सा) वह स्त्री (आबालबंभयारिव्व) आबाल्य ब्रह्मचारिणी सती के समान (रिसीण) ऋषियों के लिये (पि) भी [थवणिज्जा] स्तुति करने योग्य है ।

भावार्थ — जो नारी निज पतिपरायणा होकर स्वप्न में भी स्वपत्यातिरिक्त इतर पुरुष की अभिलाषा नहीं करती है, वह देवी आबाल्यब्रह्मचारिणी सती सम ऋषि महर्षियों द्वारा भी स्तवनीया एवं अर्चनीया होती है । जैसे अखण्ड ब्रह्मचारिणी का ऋषि-गण गुणगान करते हैं, उसीप्रकार पतिव्रता नारी भी ऋषियों द्वारा प्रशंसा का पात्र बनती है ।

मूल.

हारो भारो रसणावि वंधणं नेउराइ निउलाइ ।
सीलरयणाए जीए जुवईए न भूसिय अंगं ॥६॥

छाया

हारो भारो रशनाऽपि वधन नूपुराणि निगडानि ।
शीलरत्नेन यस्या युवत्या न भूषितमङ्गम् ॥६॥

दोहा.

जा नारी के देह पे शील रत्न नहिं सोह ।
हार भार नूपुर निगड़ भूषण वधन कोह ॥६॥

अन्वयार्थ – (**जीए**) जिस (**जुवईए**) युवती (नारी) का (**अंगं**) अग (**सीलरयणाए**) शील रूपी रत्न से (**न**) नहीं (**भूसिय**) विभूषित है उसके लिये (**हारो**) हार (**भारो**) भार स्वरूप है (**रसणावि**) कटि किंकिनि (कन्दोरा) भी (**वधणं**) बन्धन रूप है और (**नेउराई**) नूपुर (झाझर) आदि आभूषण (**निउलाइ**) निगड (वधन बेडी) के समान हैं ।

भावार्थ – जिस युवती रमणी का कलेवर शीलरूपी महार्घ (बहुमूल्य) रत्नों से विभूषित नहीं है, उसके लिये कंठहार भारभूत है । कटिबधन (मेखला) बंधन स्वरूप है और युगल नूपुर निगड (बेडी) सदृश हैं । अर्थात् आभूषणादि षोडश शृंगारों से शृंगारित सुरूपा कान्ता केवल एक शीलगुणशून्या होने पर कुरूपा एव भारभूता ही मानी जाती है ।

ओर से पडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

जा नारी इहलोए सील खंडेइ कामगहगहिया ॥
सा लोहमयपुरिसेण नरए आलिंगणं देइ ॥७॥

छाया

या नारीहलोके शील खण्डयति कामग्रहग्रहीता ॥
सा लोहमयपुरुषेण नरके आलिंगनं ददाति ॥७॥

दोहा

विषय-ग्राह-ग्रह-ग्रसित हो करे शील को भंग ॥
मिलन करे सो नर्क में तप्त लोह नर संग ॥७॥

अन्वयार्थ– (इहलोए) इस संसार में (कामगहगहिया) विषय रूपी ग्रह से ग्रसित होकर (जा) जो (नारी) नारी (सील) निज शील धर्म का (खंडेइ) खंडन कर देती है (सा) वह (नरए) नरक में (लोह मयपुरिसेण) तप्त लोहमय पुरुष के साथ (आलिंगणं) आलिंगन (देइ) देती है (करती है)

भावार्थ– इस संसार में जो अबला विषयरूपी ग्रह से ग्रसित होकर, निज शील धर्म का खंडन कर देती है, वह परभव में नरकादि योनियों के अन्दर तप्त लोहमय पुरुष के साथ आलिंगन करती है। अर्थात् कुलटा नारी यहाँ तो जारपुरुष के साथ रतिविलासानुभव करती है, किन्तु उसी क्षणिक सुख का परम दारुण कटुक परिणाम नरक में तप्त लोहमय पुरुष के साथ आलिंगन करने का मिल जाता है।

मूल.

सील चिय महिलाणं विभूसण सीलमेव सव्वस्स ॥
सील जीवियसरिस सीलाओ न सुदर किंपि ॥८॥

छाया

शीलमेव महिलाना विभूषण शीलमेव सर्वस्वम् ॥
शील जीवितसदृश शीलान्न सुंदर किमपि ॥८॥

दोहा

महिलागण का शील ही आभूषण सा जान ॥
शील प्राण सर्वस्व है और नहीं कछु मान ॥८॥

अन्वयार्थ– (**महिलाण**) स्त्रियों के लिये (**सील**) शीलव्रत ही (**चिय**) निश्चय करके (**विभूसण**) आभूषण है (**सीलमेव**) शील ही (**सव्वस्सं**) सर्वस्व है (**सील**) शीलव्रत ही (**जीवियसरिसं**) जीवन (प्राण) सम है और (**सीलाओ**) शील के अतिरिक्त (**किंपि**) दूसरी कुछ भी (**सुन्दर**) सुन्दर वस्तु (**न**) नहीं है ।

भावार्थ –नारी जाति के लिये शीलव्रत ही आभरण है । शील ही सर्वत्र सर्वदा सर्वस्व है । शील ही जीवनसम आधारभूत है, और शील के अतिरिक्त अन्य कोई भी सुंदर एव उपादेय वस्तु नहीं है । तात्पर्य यह है कि शील धर्म ही सर्व सारभूत तत्वों का सार है । सासारिक पदार्थ तो कियत् क्षणमात्र के लिये ही बाह्य अप्राकृतिक सौंदर्य रखते हैं जिनका अन्त इसी लोक में हो जाता है किन्तु सती नारी अपने शील के द्वारा उभय लोक में सत्ता एव प्रतिष्ठा रख सकती है, अत उक्त गुणाविहीना नारी पिशाचिनी तुल्या ही है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

मइलइ विमलं पि कुलं हीलिज्जइ पागएणावि जणेणं ।
पडइ दुरन्ते नरए पुरिसो परनारीसंगेणं ॥९॥

छाया

मलिनयति विमलमपि कुलं हील्यते प्राकृतेनापि जनेन ।
पतति दुरन्ते नरके पुरुषः परनारीसंगेन ॥९॥

दोहा

परनारी के संग हो निर्मल कुल कलंक ।
धिक्कृत हो नर जाति से पड़े नरक निःशंक ॥९॥

अन्वयार्थ— (परनारीसंगेण) पर स्त्री की संगति से (पुरिसो) मनुष्य (विमलं) निज निर्मल (कुलं) कुल को (पि) भी (मइलइ) मलीन (कलंकित) कर देता है और (पागएण) सामान्य (साधारण) (जणेण) मनुष्यों द्वारा (अवि) भी (हीलिज्जइ) तिरस्कार का पात्र बनता है तथा (दुरन्ते) दुरन्त [दुःखदायक] (नरए) नरक में (पडइ) पड़ता है ।

भावार्थ— जो मानव परस्त्रीगामी के विलासानुराग में आसक्त होकर निज निर्मल कुल को कलंकित कर देता है वह सामान्य व्यक्तियों द्वारा भी धिक्कारिता को प्राप्त करता है तथा अंततोगत्वा दुःखमय नरकादि कुगति में जाकर नानाविध [illegible] प्राप्त करता है । अतः शील को ही जीवन-निधि समझ कर उसकी रक्षा हेतु सतत सचेत रहना चाहिये ।

मूल.

उच्छिट्ट विट्ठ विव परनारिं परिहरन्ति सप्पुरिसा ॥
सेवति सारमेयव्व निंदिया जे दुरायारा ॥१०॥

छाया

उच्छिष्ट विष्टामिव च परनारीं परिहरन्ति सत्पुरुषाः ।
सेवन्ते सारमेया इव निन्दिता ये दुराचाराः ॥१०॥

दोहा.

विष्टावत समझे सुजन परनारी को संग ।
निंदनीय औ मैथुनी सारमेय को ढग ॥१०॥

अन्वयार्थ – (**सप्पुरिसा**) सज्जन जन (**परनारिं**) पर नारी को (**उच्छिट्ठ**) उच्छिष्ट [एंठा] और (**विट्ठं**) विष्टा के (**विव**) समान घृणित समझ कर (**परिहरन्ति**) त्यागते हैं किन्तु (**जे**) जो (**निंदिया**) निंदित एवं (**दुरायारा**) दुराचारी हैं वे (**सारमेयव्व**) कुत्ते के समान उसको (**सेवति**) पुन सेवते हैं ।

भावार्थः–सज्जन नर परनारी को उच्छिष्ट और विष्टावत् घृणित एव हेय समझ कर त्याग देते हैं, किन्तु जो निन्दनीय एव दुराचारी हैं वे श्वानवत् पुनर्पुन उच्छिष्ट वस्तु का ही उपभोग करते रहते हैं । जैसे उच्छिष्टोपभोगी श्लाघनीय नहीं हो सकता है तथैव पररमणी आसक्त पुरुष भी कदापि प्रशसनीय नहीं होता है ।

ओर से पडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

जो देइ कणगकोडिं अहवा कारेइ कणयजिणभवणं ।
तस्स न तत्तियपुण्णं जत्तिय बंभव्वए धरिए ॥११॥

छाया

यो ददाति कनककोटिमथवा कारयति कनकजिनभवनम् ।
तस्य न तावत्पुण्यं यावद् ब्रह्मव्रते धृते ॥११॥

दोहा

कनक चैत्य निर्माण कर कनक कोटि दे दान ।
शीलव्रती को पुण्य तो पाते अधिको जान ॥११॥

अन्वयार्थ–(जो) जो मनुष्य (कणगकोडिं) कोटि स्वर्ण मुद्राओं को (देइ) दान में देता है (अहवा) अथवा (कणयजिणभवणं) कनक (स्वर्ण) के जिनमंदिरों को (कारेइ) बनवाता है (तस्स) उस मनुष्य को भी (न तत्तिय पुण्णं) उतना अधिक प्रबल पुण्य नहीं है (जत्तियं) जितना कि (बंभव्वए) ब्रह्मचर्य के (धरिए) धारण करने में है।

भावार्थ– जो मानव कोटि स्वर्णमुद्राओं को भी प्रति समय धार्मिक कार्य में वितीर्ण करता रहता है अथवा कनक (स्वर्ण) के जिनालय का निर्माण करवाता है, उस व्यक्ति को भी उतना महान् प्रबल पुण्य नहीं है जितना कि आजन्म ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य व्रत में है। क्योंकि ब्रह्मचर्य में ही सर्वोत्कृष्ट शक्ति विद्यमान रहती है। उस अत्यद्भुत एवं अनुपमेय शक्ति के समक्ष विश्व की कोई भी प्रबल शक्ति टिक नहीं रह सकती है

मूल.

सीलं वरं कुलाओ दालिद्दं भव्वयं च रोगाओ ॥
विज्जा रज्जाउ वरं खमा वरं सुट्ठु त्रि तवाओ ॥१२॥

छाया

शीलं वर कुलात् दारिद्र्यं भव्यश्च रोगात् ॥
विद्या राज्याद्वर क्षमा वर सुष्ठोगपि तपसः ॥१२॥

दोहा.

निर्धनता वर रोग ते शील वश ते जान ॥
विद्या भी है राज्य ते तप ते क्षमा प्रधान ॥१२॥

अन्वयार्थ– (**कुलाओ**) शीलधर्म रहित उच्चकुल में जन्म लेने की अपेक्षा (**सील**) शीलव्रत ही (**वर**) श्रेष्ठ है (**च**) और (**दालिद्दं**) दरिद्रावस्था (**रोगाओ**) रोग से (**भव्वय**) भव्य (सुदर) है (**विज्जा**) विद्या (**रज्जाउ**) राज्य की अपेक्षा (**वर**) उत्तम है और (**खमा**) क्षमा (**सुट्ठु**) यथावदाचरित [भलीभाति आचरण किये गये] (**तवाओ**) तप से (**त्रि**) भी (**वर**) प्रधान है।

भावार्थ– शीलविहीन उच्चकुल से तो शीलसम्पन्न नीचकुल ही श्रेष्ठ **है**। व्याधियों द्वारा ग्रासित होने की अपेक्षा दरिद्रावस्थानुभव करना ही अत्युत्तम **है** । विद्या राज्य की अपेक्षा परमादर्शभूता मानी गई है और क्षान्ति (क्षमा) धर्म सम्यगाचरित (अच्छी तरह से आचरण किये गये) तपोकर्म से भी परम महत्वपूर्ण है।

मूल

चित्तभित्तिं न निज्झाए नारिं वा सुअलंकियं ॥
भक्खरमिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥१३॥

छाया

चित्रभित्तिं न निर्ध्यायेत् नारीं वा स्वलङ्कृताम् ।
भास्करमिव दृष्ट्वा दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् ॥१३॥

दोहा

भूषण सज्जित नारि को चित्र भित्ति पै होय ॥
तो ताको निरखै नहीं सूर्य रविवत् जोय ॥१३॥

अन्वयार्थ—(चित्तभित्तिं) सत्पुरुष भित्तिका पर चित्रित नारी के चित्र को (वा) अथवा (सुअलंकियं) सुअलंकृत (नारिं) स्त्री को भी (न) नहीं (निज्झाए) देखे किन्तु (भक्खरं) सूर्य को (दट्ठूणं) देखने के (इव) समान ही (दिट्ठिं) अपनी दृष्टि को (पडिसमाहरे) पीछी हटाले (पीछी फेरले)

भावार्थ—सदाचारी पुरुष का कर्तव्य है कि वह भित्तिआदि पर चित्रित सुंदर स्त्री के चित्र की ओर तथा भूषणादि एवं शृंगारयुक्त साक्षात् नारी की ओर भी दृष्टिपात नहीं करे, किन्तु प्रचंड रश्मिराशियुक्त भास्कर की ओर अवलोकन करने के समान ही दृष्टि को निवृत्त करले। अर्थात् जैसे सूर्य की ओर देखने का प्रयत्न करने पर दृष्टि सहसा पुनः लौट आती है, उसी ही दर्शन मात्र मनोनिग्रह, क्षमायुक्त एवं संकुचित दृष्टिवाला रहे किन्तु स्त्री की ओर दृष्टिपात करने का साहस कदापि न करे।

मूल.

सील वर कुलाओ कुलेण किं होइ विगयसीलेण ॥
कमलाइ कद्दमे सम्भवन्ति न हु हुन्ति मलिणाइ ॥१४॥

छाया.

शील वर कुलात् कुलेन किम्भवति विगतशीलेन ॥
कमलानि कर्दमे सम्भवन्ति न खलु भवन्ति मलीनानि ॥१४॥

दोहा.

शील श्रेष्ठ कुल वंश ते शील रहित क्या वंश ? ॥
पंक जात पङ्कज हुए (पिण) नहीं कलुष को अंश ॥१४॥

अन्वयार्थ –(**सील**) शीलव्रत (**कुलाओ**) उच्चकुल में जन्म लेने की अपेक्षा (**वरं**) अत्युत्तम है केवल (**विगयसीलेण**) शीलादि रहित (**कुलेण**) उत्तम कुल से (**किं**) क्या लाभ (**होइ**) हो सकता है ? जैसे कि (**कमलाइ**) कमल (**कद्दमे**) कर्दम (कीचड) में (**समवन्नि**) उत्पन्न होते हैं किंतु वे (**हु**) निश्चय ही (**मलिणाइ**) मलीन (कर्दमलिप्त) (**न**) नहीं (**हुंति**) होते हैं।

भावार्थ –कुलीन कुल की अपेक्षा शीलधर्म अत्युत्तम है। और शील विहीन सुकुल से भी किंचित लाभ नहीं है, यथा कमलवृन्द पंक में ही उत्पन्न होते हैं तथापि कर्दम (कीचड) जाल (समूह) से दूषित एव मलीन नहीं होते हैं। अर्थात्– जैसे पंकोद्भव सरोरुह (कमल) कीच से अलिप्त ही रहता है तथैव शीलधर्म युक्त कुलीनता ही श्लाघनीया है।

मूल

भूसणरहिया वि सई सीए सीलं तु मण्डणं होइ ॥
सीलविहूणाए पुणो वरं खु मरणं महिलियाए ॥१५॥

छाया

भूषणरहितापि सती तस्याः शीलं तु मण्डनं भवति ॥
शीलविहीनायाः पुनः वरं खलु मरणं महिलया ॥१५॥

दोहा

आभरणों से रहित पिय शीलवती छविवन्त ।
शीलरहित नारी अधम मरणो ही श्रेयस्त ॥१५॥

अन्वयार्थ— (भूसणरहिया) आभरणादि से रहित बनी हुई (वि) भी (सई) सती नारी के लिये तो (सीए) उसका (सीलं) शीलधर्म ही (मंडणं) आभूषण (होइ) होता है (पुणो) किन्तु (सीलविहूणाए) शील धर्म रहित (महिलियाए) स्त्री के लिये तो (मरणं) मरण ही (वरं) अत्युत्तम है।

भावार्थ— सती नारी आभरणादि से विभूषित न होने पर भी शीलधर्म से आत्मना स शोभायमान ही होती है, किन्तु शीलभ्रष्टा कुलटा कामिनी के लिये तो मलिन चित्त में मरण ही श्रेयस्कर है। सती का शील ही भूषण है और नारी कुलटा के लिये दूषणरूप है।

मूल.

सीलं कुलआहरणं सीलं रूवं च उत्तमं होइ ॥
सीलं चिय पंडित्तं सीलं चिय निरूवमं धम्मं ॥१६॥

छाया

शील कुलाभरण शील रूपश्चोत्तम भवति ॥
शीलमेव पाण्डित्य शीलमेव निरूपम धर्मम् ॥१६॥

दोहा

शील वंश शृंगार है शील धर्म सौन्दर्य ॥
शील धर्म पांडित्य है शील धर्म औदार्य ॥१६॥

अन्वयार्थ– (**सील**) शील ही (**कुलआहरणं**) कुल का भूषण है और (**सील**) सदाचार ही (**उत्तम**) उत्तमोत्तम (**रूव**) सौन्दर्य (**होइ**) है (**सील**) शीलधर्म ही (**चिय**) निश्चय करके (**पण्डित्त**) पांडित्य है और (**सीलं**) सदाचार (**चिय**) ही (**निरूवम**) अनुपम (अद्वितीय) (**धम्म**) धर्म है।

भावार्थ– शीलव्रत ही कुल–भूषण है और यही सर्वोत्तम सौन्दर्य है। शील में ही अपूर्व पांडित्य है और सदाचार ही अनुपम धर्म है। अर्थात् शील के प्रभाव से ही कुल शोभा, सौंदर्य-वृद्धि, पांडित्य-प्रकर्ष, एवं सद्धर्म प्रवृत्ति होती है।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

जहा कुक्कुडपोअस्स निच्च कुललओ भय ।
एव खु बभयारिस्स इत्थी विग्गहो भयं ॥१८॥

छाया

यथा कुक्कुटपोतस्य नित्य कुलल्तो भयम् ।
एव खलु ब्रह्मचारिणः स्त्रीविग्रहतो भयम् ॥१८॥

दोहा

कुक्कुट शिशु मार्जार को लखै भीति की दृष्टि ।
शीलव्रती भी नारि को लखै मोत की वृष्टि ॥१८॥

अन्वयार्थ - (**जहा**) जैसे (**कुक्कुडपोअस्स**) कुक्कुट (मुर्गी) के वच्चे को (**निच्चं**) नित्य (**कुललओ**) मार्जार (बिलाव) से (**भयं**) भय बना रहता है (**एव**) उसी प्रकार (**बभयारिस्स**) ब्रह्मचारी के लिये भी (**इत्थीविग्गहो**) नारी-कलेवर (**भयं**) भय उत्पादक ही है।

भावार्थः- यथा कुक्कुट शावक को सर्वदा मार्जार से भय बना रहता है तथैव ब्रह्मचारी व्यक्ति को भी नारीतन से सतत भयभीत रहना चाहिये, क्योंकि यदि इस सबध में असावधानी एव उपेक्षा करेंगे तो यदा कदा धर्मांघात की भवश्याशका है।

ओर से पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

सीलं उत्तमवित्तं सीलं जीवाण मंगलं परमं ॥
सीलं दुग्गइहरं सीलं सुक्खाण कुलभवणं ॥१९॥

छाया

शीलमुत्तमं वित्तं शीलं जीवानां मंगलं परमम् ॥
शीलं दुर्भाग्यहरं शीलं सौख्यानां कुलभवनम् ॥१९॥

दोहा

शीलधर्म धन श्रेष्ठ है जग जीवों के हेतु ।
दुर्भगघातक सुख-सदन शीलधर्म है केतु ॥१९॥

अन्वयार्थ— (सीलं) शील धर्म ही (जीवाण) सकल प्राणियों के लिये (उत्तमं) उत्तम (वित्तं) धन है (सीलं) शील ही (परमं) परम (मंगलं) मंगलरूप है (सीलं) शील ही (दुग्गइहरं) दुर्भाग्य-विनाशक है और (सीलं) सदाचार ही (सुक्खाण) सौख्य का (कुलभवणं) कुल-सदन है ।

भावार्थ— अखिल विश्व में समस्त प्राणियों के लिये शीलधर्म ही उत्तम धन है शील ही परम मांगलिक है शील ही दुर्भाग्य का संहारक है और सदाचार ही अनुपम सौख्य का निवास है । अर्थात् सम्पूर्ण सुखों का अधिष्ठान एक मात्र शील ही है ।

मूल.

सील धम्मनिहाणं सीलं पावाण खडगं भणियं ॥
सील जतूण जए अकित्तिमं मंडणं पवर ॥२०।

छाया

शील धर्म निधान शीलं पापाना खडक भानितम् ॥
शील जन्तूना जगत्यकृत्रिम मडनं प्रवरम् ॥२०॥

दोहा

अघहर्ता है शील ही शीलधर्म निधि मान ॥
नैसर्गिक भूषण यही जग जीवों का मान ॥२०॥

अन्वयार्थ– (**सील**) शील ही (**धम्म**) धर्म का (**निहाणं**) निधान [कोष] है (**सील**) शील ही (**पावाणं**) संचित पापों का (**खडगं**) विदारक (**भणिय**) कहा गया है और (**सीलं**) शील ही (**जए**) विश्व में (**जन्तूण**) प्राणियों का (**अकित्तिमं**) अकृत्रिम [प्राकृतिक, स्वाभाविक] (**पवर**) श्रेष्ठ (**मंडणं**) आभरण है।

भावार्थ– शीलव्रत ही धर्मोपार्जन का निधान कहा गया है, शील ही संचित पाप का विदारक है और शील ही विश्व में प्राणियों का अकृत्रिम भूषण है। अर्थात् कृत्रिम भूषण से तो क्षणिक सौंदर्य बढता है किन्तु शीलरूपी बहुमूल्य आभरण के धारण करने पर उत्तरोत्तर सौंदर्यवृद्धि होती ही जाती है।

मूल

पज्जलिओ वि हु जलणो सीलपभावेण पाणियं होइ ।
सा जयउ जए सीया जीसे पयडा जसपडाया ॥२१॥

छाया

प्रज्वलितोऽपि खलु ज्वलनः शीलप्रभावेन पानीयं भवति ।
सा जयतु जगति सीता यस्याः प्रकटा यशःपताका ॥२१॥

दोहा

जीम अग्नि ज्वाला ज्वलित हुई नीर सम शीत ।
सीता के यश की ध्वजा व्याप्त रही है नीत ॥२१॥

अन्वयार्थ— (सीलपभावेण) जिसके शील धर्म के प्रभाव से (पज्जलिओ) प्रज्वलित (जलणो) अग्नि (वि) भी (पाणियं) शीतल नीरवत् (होइ) हो जाती है (सा) ऐसी वह (सीया) सीतासती (जयउ) जयवती होवे (जीसे) जिसकी कि (जसपडाया) यशोपताका (जए) लोक में आजतक भी (पयडा) प्रकट है ।

भावार्थ— जिस सती के शीलधर्म के परमपावन प्रताप से प्रज्वलित अग्नि भी नीरवत् शीतलीभूत हो गई वह सीतादेवी जयवती होवे; जिसकी कि यशोपताका आजतक भी सर्वत्र फहरा रही है । अर्थात् सीता के नाम से लोकविश्रुत शील में [illegible] हो गई है ।

मूल.

चालणिजलेण चम्पाए जीइ उग्घाडियं दुवारतियं ॥
कस्स न हरेइ चित्त तीय चरियं सुभद्दाए ॥२२॥

छाया

चालनिजलेन चम्पाया ययोद्घाटित द्वारत्रिक ॥
कस्य न हरति चित्तमतीत चरित्र सुभद्रायाः ॥२२॥

दोहा

चम्पापुर के द्वार को चालनि जल ते खोल ॥
सती सुभद्रा का चरित बहुत अजीब अतोल ॥२२॥

अन्वयार्थ- (**जीइ**) जिस सती ने (**चालणि जलेण**) शीलप्रभाव द्वारा चालनी के जल से (**चम्पाए**) चम्पापुरी के (**तियं**) तीनों ही (**दुवारं**) द्वारों को (**उग्घाडिय**) उघाड दिये (**सुभद्दाए**) उस सुभद्रा सती का (**तीयं**) भूत कालीन (**चरिय**) चरित्र (**कस्स**) किस व्यक्ति के (**चित्तं**) हृदय को (**न**) नहीं (**हरेइ**) हरण करता है ?

भावार्थ- जिस सुभद्रा सती ने निज शीलव्रत के अननुमेय प्रभाव द्वारा चालनी के जल से चंपापुरी के वज्र सम जटित द्वारत्रय को उघाड दिये, उस महासती का अतीत कालीन चरित्र किस सहृदय व्यक्ति के चित्त को आकर्षित नहीं करता है ? अर्थात् चालनी में जल का स्थिर रहना असंभव है, किंतु शील के माहात्म्य से असंभव कार्य भी संभव हो गया और अति दृढ जडित द्वारों को भी क्षण में ही उघाड दिये ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

भद्द कलावइए भीसणरण्णम्मि रायपचत्ताए ॥
जाए सीलगुणेण छिन्नंगा पुण नवाजाया ॥२१॥

छाया

भद्र कलावत्यो भीषणारण्ये राजन्यक्ताया ॥
यस्या शीलगुणेन छिन्नांगा पुनर्नवजाता ॥२१॥

दोहा

नृप त्यक्ता रानी कला भीषण वन के मांहि ।
छेदितांग नूतन हुए शील धर्म की छांह ॥२१॥

अन्वयार्थ– (भीसणरण्णमि) भीषण अरण्य में (रायपचत्ताए) नरपति द्वारा परित्यक्ता (कलावइए) उस कलावती रानी का (भद्दं) कल्याण होवे (जाए) जिसके (सीलगुणेण) शील धर्म के प्रभाव से (छिन्नंगा) छेदित अंग (पुण) पुनरपि (नवा) नवीन (जाया) हो गये।

भावार्थ– भयानक एवं सघन विपिन में नरपति द्वारा परित्यक्त उस कलावती देवी का सर्वत्र सर्वदा कल्याण होवे; जिसके शीलव्रत के माहात्म्य से छेदित एवं पीड़ित अंग भी पुन नूतन रूप में हो गये। अर्थात् संसारि विषयलिप्सा द्वारा कुरूपा की गई वह यशस्वी देवी अपने पालित धर्म के प्रभाव से पुनरपि सर्वांग सुन्दरी हो गई।

मूल.

थुणिउं तस्स नहु सक्का सेट्ठस्स सुदसणस्स गुणनिवह ॥
जो विसमसकडेसु वि पडिओ वि अखण्डसीलधणं ॥२४

छाया

स्तोतु तस्य न शक्या श्रेष्ठिन सुदर्शनस्य गुणनिवह ॥
यो विषमसकटेष्वपि पातितोऽप्यखण्डशीलधनम् ॥२४॥

दोहा

विषम सकटों में पडी रक्खा शील अखण्ड ॥
सेठ सुदर्शन गुणस्तुति कौन कहे वरिवण्ड ॥२४॥

अन्वयार्थ- (**जो**) जिसने (**विसमसंकडेसु**) विषम सकटों में (**पडिओ**) पडे हुए (**वि**) भी (**अखडसीलधण**) अपने अखड शील धर्म रूपी धन की रक्षा की ऐसे (**तस्स**) उस (**सुदंसणस्स**) सुदर्शन (**सेट्ठस्स**) सेठ के (**गुणनिवह**) गुण समुदाय की (**थुणियं**) स्तुति करने में (**न**) कोई भी नहीं (**सक्का**) समर्थ हो सकते हैं ।

भावार्थ – जिसने विषम एव सकटाकीर्ण विकराल पथ में पडकर भी अपने अखडित शीलधर्म रूपी धन की सतत रक्षाकी ऐसे उस सुदर्शन श्रेष्ठिवर्य्य के गुणगणों की स्तुति करने में कौन व्यक्ति समर्थ है ? अर्थात् उस महात्मा जितेन्द्रिय पुरुष के गुण-गणों का कथन करने में कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं हो सकता है ।

मूल.

वेयालभूअरक्खसकेसरिचित्तयगइंदसप्पाणं ।
लीलाइ दलइ दप्प पालतो निम्मलं शीलं ॥२६॥

छाया

वैतालभूतराक्षसकेसरिचित्रकगजेंद्रसर्पाणाम् ॥
लीलाया दल्यति दर्पं पालयन् निर्मलं शीलम् ॥२६॥

दोहा.

व्याघ्र, हस्ति अहि, राक्षसी, वैतालादिक गर्व ॥
विमल शीलव्रत जो धरे दर्प चुरै वह सर्व ॥२६॥

अन्वयार्थ– (**निम्मलं**) दूषणादि रहित निर्मल (**सीलं**) शीलधर्म का (**पालंतो**) पालन करनेवाला व्यक्ति (**वेयाल**) वैताल (**भूअ**) भूत (**रक्खस**) राक्षस (**केसरि**) केसरी [सिंह] (**चित्तय**) व्याघ्र (**गइंद**) गजेन्द्र एव (**सप्पाण**) भीम भुजगों के (**दप्प**) गर्व को भी (**लीलाइ**) लीलामात्र में ही (**दलइ**) विनष्ट कर देता है ।

भावार्थ– जो व्याक्ति निरन्तर दूषणादि विहीन पुनीत शील धर्म का यथावत् रीत्यनुसार पालन करता रहता है, वह वैताल, भूत, यक्ष, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, गजेन्द्र एव भयोत्पादक भुजगों के दर्प को भी लीलामात्र में ही नष्ट कर देता है अर्थात् शील के समक्ष विषम विषैले जन्तुओं का भी प्रभाव नगण्य सा हो जाता है ।

मूल.

गोबंभगब्भगब्भिणिबंभणिघाताइगुरुअपावाइं ।
काऊण वि कणयं विव तवेण सुद्धो दढपहारी ॥१॥

छाया

गोब्रह्मगर्भगर्भिणिब्राह्मणिघातादिगुरुपापानि ।
कृत्वापि कनकमिव तपसा शुद्ध दृढप्रहारी ॥१॥

दोहा.

गौ ब्राह्मण अरु गर्भ की, गर्भिणि की कर घात ।
महा गुरूतम पाप को, किये स्पष्ट यह बात ॥ १ ॥
दृढप्रहरी ने कनक सा, तजा सभी मलवर्ग ।
तप से आत्मिक शुद्धि कर पाया वह अपवर्ग ॥ २ ॥

अन्वयार्थ – (गो) गाय (बंभ) ब्राह्मण (गब्भ) गर्भ और (गब्भिणि बंभणि घाताइ) गर्भवती ब्राह्मणी उनके घातादि रूप (गुरुअ) महा गुरुतम (पावाइं) पापों को (काऊण) करके (वि) भी (दढपहारी) दृढ प्रहारी (तवेण) कठोर तपद्वारा (कणयं विव) स्वर्ण वत् (सुद्धो) विशुद्ध बन गया ।

मूल.

गोवभगब्भगब्भिणिवंभणिघाताइगुरुअपावाइं ।
काऊण वि कणय विव तवेण सुद्धो दढपहरी ॥१॥

छाया

गोब्रह्मगर्भगर्भिणिब्राह्मणिघातादिगुरुपापानि ।
कृत्वापि कनकमिव तपसा शुद्धः दृढप्रहारी ॥१॥

दोहा

गौ ब्राह्मण अरु गर्भ की, गर्भिणि की कर घात ।
महा गुरूतम पाप को, किये स्पष्ट यह बात ॥ १ ॥
दृढप्रहरी ने कनक सा, तजा सभी मलवर्ग ।
तप ते आत्मिक शुद्धि कर पाया वह अपवर्ग ॥ २ ॥

अन्वयार्थ - (गो) गाय (बंभ) ब्राह्मण (गब्भ) गर्भ और (गब्भिणि घभणि घाताइ) गर्भवती ब्राह्मणी इनके घातादि रूप (गुरुअ) महा गुरुतम (पावाइ) पापों को (काउण) करके (वि) भी (दढपहारी) दृढ प्रहारी (तवेण) कठोर तपद्वारा (कणय विव) स्वर्ण वत् (सुद्धो) विशुद्ध बन गया ।

भावार्थ – धेनु, विप्र, गर्भ और गर्भिणी ब्राह्मणी इन सब के घातादिरूप महान् गुरुतम पापों का आचरण करने पर भी दृढप्रहारी कठोर तपद्वारा परम विशुद्धि को प्राप्त हुआ अर्थात् अधमाधम कार्यों को करने पर भी उन पापमाने तपोतेज के प्रभाव से आत्मकल्याण कर लिया ।

ओर से पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

अनिआणस्स विहिए तवस्स तविंयस्स किं पसंसामो ॥
किज्जइ जेण विणासो निकाइयाणं वि कम्माणं ॥३॥

छाया

अनिदानस्य विधिना तपस तप्तस्य किं प्रशसाम ॥
क्रियते येन विनाश. निकाचितानामपि कर्मणाम् ॥३॥

दोहा

विना नियाणा नियम ते युक्त विमल तप स्तुत्य ॥
कर्म-शत्रु-दल-दलित हो करके निर्मल कृत्य ॥३॥

अन्वयार्थ- (अनिआणस्स) निदान रहित एव (विहिए) नियमानुसार (तवियस्स) आचरित (तवस्स) तपोकर्म की (किं) क्या (पसंसामो) हम प्रशसा करें ? (जेण) जिस तप द्वारा (निकाइयाणं) निकाचित (कम्माणं) कर्मराशि का (वि) भी (विणासो) विनाश (किज्जइ) किया जा सकता है ।

भावार्थ- जिस तपोधर्म का नियाणा नहीं किया जाकर यथाविधि आचरण किया जाता है उसके श्रेष्ठ फल की कल्पना करने में कौन व्यक्ति समर्थ है ? अर्थात् उसका फलानुमान कोई भी नहीं कर सकता है । इसी सुआचरित तप के द्वारा निकाचित कर्म-समूह का भी विनाश किया जा सकता है ।

मूल

किं बहुणा भणिएण जं कस्स वि कहमवि कत्थ वि सुहाइं ।
दीसंति भवणमज्झे तस्स तवो कारणं चेव ॥ ४ ॥

छाया

किं बहुना भणितेन यत् कस्यापि कथमपि कुत्रापि सुखानि ।
दृश्यन्ते भवनमध्ये तत्र तपः कारणं चैव ॥ ४ ॥

दोहा

तप का अतिशय क्या कहूँ जहँ तहँ जो सुखभाव ।
भवनमध्य जो सुख मिले तप का ही फल मान ॥४॥

अन्वयार्थ— (बहुणा) तप के अतिशय (भणिएणं) महात्म्यकथन से (किं) क्या लाभ है क्योंकि (कस्स वि) किसी भी व्यक्ति के (भवण मज्झे) भवनमध्य में (कहं वि) कुछ भी (कत्थ वि) कहीं पर भी (जं) जो (सुहाइं) सुखादि (दीसंति) दृष्टिगोचर होते हैं (तस्स) वहाँ (तवो) तपकर्म ही (चेव) निश्चय करके (कारणं) कारण रूप है।

भावार्थ — तप का अतिशय महात्म्य कथन करना व्यर्थ है। इसलिये केवल इसी एक वचन में पूर्ण संतोष मान लेना चाहिये कि— प्रत्येक व्यक्ति के घर में जो कुछ भी, कहीं पर भी सुखसामग्रियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे सब तप के ही माहात्म्य को प्रकट करती हैं अर्थात् तप के द्वारा ही समस्त सुखसाधन मिलते हैं।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म. की सं. के मौरपुत्र जिनचन्द्रजी म. श्री

मूल.

अथिरं पि थिरं वंकं पि उजुअं दुल्लहं पि तह सुलहं ।
दुस्सज्जं पि सुसज्जं तवेण संपज्जए कज्जं ॥ ५ ॥

छाया.

अस्थिरमपि स्थिरं वक्रमपि ऋजुकं दुर्लभमपि तथा सुलभं ।
दुस्साध्यमपि सुसाध्यं तपसा सम्पद्यते कार्यम् ॥ ५ ॥

दोहा.

अस्थिर स्थिर, दुर्लभ सुलभ, वक्र सरल, हो जात ।
हो दुसाध्य अति साध्य हो तप प्रभाव की बात ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ.–(**तवेण**) तपकर्म द्वारा (**अथिरं**) अस्थिर (**कज्ज**) कार्य (**पि**) भी (**थिरं**) स्थिर हो जाता है (**वकं**) वक्र (जटिल) कार्य (**पि**) भी (**उजुअं**) सरल बन जाता है (**दुल्लहं पि**) दुर्लभ कार्य भी (**सुलहं**) सुलभ हो जाता है (**तह**) तथा (**दुस्सज्ज**) दुःसाध्य (**पि**) भी (**सुसज्जं**) सुसाध्य (**संपज्जए**) हो जाता है ।

भावार्थ – तप के अद्वितीय प्रभाव द्वारा अस्थिर कार्य भी स्थिर हो जाता है, जटिल कार्य भी सरल हो जाता है, दुर्लभता भी सुलभता का रूप धारण कर लेती है और दुस्साध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाता है । अर्थात् तप के ही प्रभाव से संसार की समस्त विपदाएं नष्ट हो जाती हैं और प्रतिकूल कार्य भी अनुकूल बन जाते हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

पइदिवसं सत्तजणे वहिऊणं गहियवीरजिणदिक्खा ॥
दुग्गाभिग्गहनिरओ अज्जुणओ मालिओ सिद्धो ॥६॥

छाया

प्रतिदिवसं सप्तजनान् हत्वा गृहीतवीरजिनदीक्षः ॥
दुर्गाभिग्रहनिरतोऽर्जुनमाली सिद्धः ॥६॥

दोहा

षट् मानव इक नारि यों सात जीव को मार ॥
अर्जुनमाली वीर से ली दीक्षा को धार ॥६॥
दुष्कर दुष्कर तप करे अभिग्रह में संलग्न ॥
मोक्षस्थान को वह गया कर कर्मों को भग्न ॥६॥

अन्वयार्थ– (पइदिवसं) प्रति दिवस (सत्त) छः पुरुष और एक स्त्री इस प्रकार सात (जणे) मनुष्यों का (वहिऊणं) वध कर और (वीर) वीर प्रभु के समीप (जिणदिक्खा) जिनदीक्षा को (गहिय) ग्रहण करके (अज्जुणओ मालिओ) अर्जुनमाली (दुग्गाभिग्गहनिरओ) दुष्कर अभिग्रहों में संलग्न होकर (सिद्धो) सिद्ध हुआ।

भावार्थ– प्रति दिवस छः पुरुष और एक नारी इस प्रकार सात मनुष्यों का वध करनेवाला अर्जुनमाली जैसा अधर्मी व्यक्ति भी वीर प्रभु के समीप जैन-दीक्षा अंगीकार करके और दुष्कर अभिग्रह को धारण करता हुआ अनुपम सिद्धपद को प्राप्त हुआ।

अनुवादक–पूज्य श्री धनराजजी म. की स. के पौत्रपुत्र विनयचन्द्रजी म. की

भाव

जैसे आत्मा विना कलेवर, जल-विहीन सरोवर, नासिका-शून्य वदन लावण्य निस्सार है तथैव भावनातिरिक्त दान, शील एवं तपो धर्म भी निष्प्रयोजन ही है। जगत् की सकल क्रियाओं में भावना धर्म ही मुख्य है इसके विना प्रवृत्त क्रिया में सम्यगभ्युदय एवं साफल्य लाभ कदापि नहीं हो सकता है। भावना ही जीवन सर्वस्व है और यही जीवनौषधि संजीवनी बूटिका है। इसी के प्रताप से निकृष्ट से निकृष्ट और अनुत्तर से अनुत्तर गति का बंधन बांध सकते हैं क्योंकि नीति कला विशारदों का सिद्धांत है कि–" मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो " अर्थात् शुभाध्यवसायों की पराकाष्ठा से अनुत्तर शिवसुख लाभ हो सकता है और अशुभ परिणामों की अत्यन्त तीव्रता से नरकादि अधमतम गति में दारुण विपाकानुभव भी कर सकते हैं।

भावनाविहीन द्रव्य बाह्याडंबर मात्र है। जहां द्रव्य एवं भाव दोनों का सुंदर सामंजस्य है वहां सर्वदा सुख साम्राज्य व्याप्त ही है। भाव अशुभ कर्मरूपी व्याधि के लिये भेषज स्वरूप है, धर्म-दावानलसंतप्त पुरुष के लिये चंदनसम शीतल है और आधि, व्याधि तथा उपाधि ग्रसित जगजलधि के लिये नौका-वत् सहायक है। भावना के त्रिलोकव्याप्त अखण्ड राज्य में प्रविष्ट होने से ही नंदन मनिहार दर्दुर के भव में आयुस्थिति पूर्ण कर देवरूप में उत्पन्न हुआ। महा प्रज्ञावंत इलायचीपुत्र को जो सहसा केवलज्ञान हो गया वह भावनाओं की उत्तुंग तरंगों का ही महा प्रसाद है। भावना के विना अथक एवं महाभारत प्रयत्न करने पर भी मंत्र तंत्र, यंत्र और उपासनादि की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है। निष्कर्ष यही है कि जगत् की परम प्रवृत्तियों और सिद्धियों का हेतु भावना अंग ही है। इसका विशेषोल्लेख निम्न गाथाओं द्वारा जानना चाहिये –

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

पइदिवसं सत्तजणे वहिऊणं गहियवीरजिणदिक्खा ॥
दुग्गाभिग्गहनिरओ अज्जुणओ मालिओ सिद्धो ॥६॥

छाया

प्रतिदिवसं सप्तजनान् हत्वा गृहीतवीरजिनदीक्षः ॥
दुर्गाभिग्रहनिरतोऽर्जुनमाली सिद्धः ॥६॥

दोहा

षट् मानव इक नारि यों सप्त जीव को मार ॥
अर्जुनमाली वीर से ली दीक्षा को धार ॥६॥
दुष्कर दुष्कर तप करे अभिग्रह में संलग्न ॥
मोक्षस्थान को पा गया कर कर्मों को भस्म ॥६॥

अन्वयार्थ– (पइदिवसं) प्रति दिवस (सत्त) छः पुरुष और एक स्त्री इस प्रकार सात (जणे) मनुष्यों का (वहिऊणं) वध कर और (वीर) वीर प्रभु के समीप (जिणदिक्खा) जिनदीक्षा को (गहिय), ग्रहण करके (अज्जुणओ मालिओ) अर्जुनमाली (दुग्गाभिग्गहनिरओ) दुष्कर अभिग्रहों में संलग्न होकर (सिद्धो) सिद्ध हुआ।

भावार्थ– प्रति दिवस छः पुरुष और एक नारी इस प्रकार सात मनुष्यों का वध करनेवाला अर्जुनमाली जैसा अधर्मी व्यक्ति भी वीर प्रभु के समीप जैन-दीक्षा अंगीकार करके और दुष्कर अभिग्रह को धारण करता हुआ अनुत्तर सिद्धपद को प्राप्त हुआ।

मूल.

सव्वाणवि सुद्धीणं मणसुद्धी चेव उत्तमालोए ।
आलिंगइ भत्तार भावेणन्नेण पुत्तं च ॥ २ ॥

छाया.

सर्वासामपि शुद्धीना मन शुद्धिरेवोत्तमा लोके ।
आलिंगति भर्त्तारं भावनान्येन पुत्रश्च ॥ २ ॥

दोहा.

कामिनि का पति पुत्र के सह आलिंगन भेद ।
सो मन शुद्धी श्रेष्ठ है सबहि शुद्धि को छेद ॥ २ ॥

अन्वयार्थ –(लोए) संसार में (सव्वाणं वि सुद्धीण) सर्व विध शुद्धियों में (मणसुद्धी) मनोशुद्धि ही (चेव) निश्चय करके (उत्तमा) उत्तम कही गई है जैसे स्त्री (भत्तारं) निज पति को (च) और (पुत्तं) पुत्र को (अन्नेण) अन्य अन्य (भावेण) भाव से ही (आलिंगइ) आलिंगन करती है ।

भावार्थ – जैसे नारी निज पति को और प्रिय पुत्र को परस्पर विरुद्ध भाव से ही आलिंगन करती है अर्थात् पुत्रका वात्सल्य भाव से और पति का विषयानंद में मस्त होकर चुम्बन करती है । यद्यपि चुम्बन समतुल्य ही है तथापि मानसिक विकारी एव अविकारी भावना से आलिंगन भी परस्पर विपरीत भावना का द्योतक है इसलिये सर्व शुद्धियों में मनोशुद्धि-मनो भावना ही प्रधान मानी गई है ।

मूल

दाणतवसीलभावणभेएहिं चउव्विहो हवइ धम्मो ॥
सव्वेसु तेसु भावो महप्पभावो मुणेयव्वो ॥१॥

छाया

दानतपःशीलभावनाभेदैश्चतुर्विधो भवति धर्मः ॥
सर्वेषु तेषु भावो महाप्रभावो मन्तव्यः ॥१॥

दोहा

दान शील तप भावना धर्म चतुर्विध होय ॥
भाव धर्म उत्तम कहा सब धर्मों को जोय ॥१॥

अन्वयार्थ– (दाणतवसीलभावणभेएहिं) दान शील, तप और भावना के भेदों से (धम्मो) धर्म (चउव्विहो) चतुर्विध (हवइ) होता है (तेसु) उन (सव्वेसु) सर्व धर्मों में से (भावो) पुनीत भाव को ही (महप्पभावो) महा प्रभावशाली (मुणेयव्वो) जानना चाहिए।

भावार्थ– दान शील तप एवं भावना के भेद से धर्म चार प्रकार का कहा गया है; किन्तु इन चतुर्विध धर्मों में भावना ही महा प्रभावोत्पादिका मानी गई है। अर्थात् संसार में जितने भी उत्तम हैं धर्म हैं, उनमें केवल एक भावना ही प्रधान है। भावनाविहीन धर्म सर्वथा निस्सार है।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म. सं. के पौत्रपुत्र विनयचन्द्रजी म. की

मूल.

भावो भवोदहितरणी भावो सग्गापवग्गपुरसरणी ॥
भवियाणं मणचिंतिअअचिंतचिंतामणी भावो ॥४॥

छाया.

भावो भवोदधितरिणी भाव स्वर्गापवर्गपुरसरणिः ॥
भव्याना मनाश्चिन्तिताचिन्त्यचिन्तामणिभाव ॥४॥

दोहा.

भाव भवोदधिनाव है स्वर्ग मोक्षनि.श्रेणि ॥
मनोभाव दाता यही चिंतामणि सो श्रेणि ॥४॥

अन्वयार्थ.–(**भावो**) भाव ही (**भवोदहितरणी**) भव रूपी समुद्र को पार करने के लिय नौकाभूत है और (**भावो**) शुद्ध भावना ही (**सग्गापवग्गपुरसरणी**) स्वर्ग एव मोक्ष रूपी नगर मे जाने के लिये नि श्रेणी (निसरनी) वत् है (**भवियाणं**) भव्य जीवों के (**मणचिंतिअअचिंतचिंतामणी**) मनचिंतित अर्थ को देने वाला अचिंत्य चिंतामणिसम (**भावो**) भाव ही है ।

भावार्थ'–दुस्तीर्ण एव विषम ससार सागर मे पारगामी होने के लिये नौकावत् आधारभूत भाव ही है। स्वर्गापवर्ग में गमन करने हेतु नि श्रेणि रूप शुद्ध मनोभावना ही मानी गई है और भव्य जीवों के मनोगत अर्थ का दाता अचिन्त्यचिंतामणि के समान यह भावनारूप धर्म ही है।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

मरुस्स सरिसवस्स य जत्तियमित्तं च अंतरं होइ ॥
दव्वत्थयभावत्थयस्स अन्तरं तत्तियं णेयं ॥८॥

छाया

मेरोः सर्षपस्य च यावन्मात्रं चान्तरं भवति ॥
द्रव्यार्थभावार्थयोरन्तरं तावज्ज्ञेयम् ॥८॥

दोहा

अचल मेरु औ सरस में जितनो अन्तर होय ।
द्रव्य भाव में है सदा उतनो अन्तर जोय ॥८॥

अन्वयार्थ– (मरुस्स) मेरुगिरी में (य) और (सरिसवस्स) सरसों में (जत्तियमित्तं) यावन्मात्र [जितना] (अंतरं) अन्तर (होइ) दृष्टिगोचर होता है (तत्तियं) उतना ही (दव्वत्थयभावत्थयस्स) द्रव्य और भाव में (अंतरं) अन्तर (णेयं) जानना चाहिये ।

भावार्थ– गिरिराज में और सरसों में जितना महदन्तर दृष्टिगोचर होता है उतना ही इसप्रकार द्रव्य और भाव में समझना चाहिये । द्रव्य तो केवल बाह्य क्रिया को प्रकट करता है किन्तु भाव आन्तरिक विशुद्ध भावों की ओर ही ध्यान आकर्षित करता है । अतः द्रव्य की अपेक्षा भाव विशेष महत्त्वपूर्ण है और इसीलिए फलप्राप्ति भी भाव द्वारा ही होती है ।

अनुवादक–पूज्य श्री अमररामजी म. श्री सा. के शिष्यरत्न विनयचन्द्रजी म. की

मूल.

दानतवसीलभावणभेआ चउरो हवंति धम्मस्स ॥
तेसु वि भावो परमो परमो सहमसुहकम्माणं ॥६॥

छाया

दानतपशीलभावनाभेदाश्चत्वारो भवन्ति धर्मस्य ॥
तेष्वपि भाव परमः परमौषधमशुभकर्मणाम् ॥६॥

दोहा.

दान शील तप भावना धर्म भेद है चार ॥
भाव कर्म दल दलनहित परमौषध है धार ॥६॥

अन्वयार्थ –(**दानतवशीलभावणभेआ**) दान, शील, तप एवं भाव के भेदसे (**धम्मस्स**) धर्मके (**चउरो**) चार प्रकार (**हवंति**) होते हैं (**तेसु**) उन चारों में (**भावो**) भाव धर्म ही (**परमो**) उत्तम है और (**असुहकम्माण**) अशुभकर्म समुदाय के लिये (**परमोसह**) परमौषधि-रूप है।

भावार्थ –जैसे व्याधि व्याप्त शरीर हेतु औषध्योपचार ही श्रेयस्कर है तथैव अशुभकर्म पकदलको विनष्ट करने के लिये दान, शील, तप एव भावनारूप चतुर्विध धर्मों में से केवल भावनारूप धर्म ही उत्कृष्ट एव मुख्य औषधिरूप कहा गया है अर्थात् सर्वत्र भाव की ही प्रधानता है। भावद्वारा ही सर्व सिद्धिया प्राप्त होती हैं।

मूल

दाणाणमभयदाणं णाणाण जहेव केवलं णाणं ॥
झाणाण सुक्कज्झाणं तह भावो सव्वधम्मेसु ॥७॥

छाया

दानानामभयदानं ज्ञानानां यथैव केवलं ज्ञानम् ॥
ध्यानानां शुक्लध्यानं तथा भावः सर्वधर्मेषु ॥७॥

दोहा

अभयदान ज्यों दान मों शुक्ल ध्यान मों ध्यान ॥
ज्ञान मांहि केवल तथा भाव धर्म मों मान ॥७॥

अन्वयार्थः- (जहेव) जैसे (दाणाणमभयदाणं) सर्व दानों में अभयदान प्रधान है (णाणाण) पंचविध ज्ञानों में (केवलं णाणं) केवल ज्ञान श्रेष्ठ है (झाणाण) चतुर्विध ध्यानों में (सुक्कज्झाणं) शुक्लध्यान उत्तम है (तह) उसी प्रकार (सव्वधम्मेसु) सर्व धर्मों में (भावो) भाव ही प्रधान है।

भावार्थ- यथा सर्व दानों में अभयदान सर्वोत्तम है, मतिज्ञानादि पंचविध ज्ञानों में केवलज्ञान श्रेष्ठ कहा गया है और आर्त, रौद्रादि चतुर्विध ध्यानों में शुक्लध्यान श्रेष्ठ है, तथा सर्व धर्मों में भाव ही उत्तम माना गया है। अर्थात् दानों में अभयदान, ज्ञानों में केवलज्ञान, ध्यानों में शुक्लध्यान और धर्मों में भावधर्म ही श्रेष्ठ है।

मूल.

कम्माण मोहणिज्जं रसणा सव्वेसु इंदिएसु जहा ॥
वंभव्वय वएसु वि तह भावो सव्वधम्मेसु ॥८॥

छाया

कर्मणा मोहनीय रसना सर्वेष्विन्द्रियेषु यथा ॥
ब्रह्मव्रत व्रतेष्वपि तथा भाव सर्वधर्मेषु ॥८॥

दोहा.

मोह प्रबल जिम कर्म मां रसना इन्द्रिय ज्योंहि ॥
शील व्रतों मां श्रेष्ठ है भाव धर्म मां त्योंहि ॥८॥

अन्वयार्थ–(जहा) जैसे (**कम्माणं**) अष्ट कर्मों में (**मोहणिज्जो**) मोहनीय कर्म प्रबल है (**सव्वेसु**) सर्व (**इन्दिएसु**) इन्द्रियों में (**रसना**) रसनेन्द्रिय प्रधान है और (**वएसु**) सर्व व्रतों में (**बंभव्वयं**) ब्रह्मचर्य व्रत उत्तम है (**तह**) उसी प्रकार (**सव्वधम्मेसु**) सर्व धर्मों में (**भावो**) भाव ही प्रधान है ।

भावार्थ– यथा ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मों में मोहनीय कर्म अत्यन्त प्रबल है, श्रोत्रेन्द्रियादि पंचेन्द्रियों में रसनेन्द्रिय मुख्य है और समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत उत्तम है उसी प्रकार सब धर्मों में भावधर्म ही परमादरणीय है । अर्थात् कर्मों में मोहनीय, इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय, व्रतों में शीलव्रत और सर्व धर्मों में भावना रूप धर्म ही मुख्य है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

निच्चुण्णो तंबोलो पक्खगेण विणा न होइ जह रंगो ।
तह दाणसीलतवभावणाओ अहलाओ भाव विणा ॥९॥

छाया

निश्चूर्णस्ताम्बूलः प्रेक्षकेण विना न भवति यथा रंगः ।
तथा दानशीलतपभावना अफला भावं विना ॥९॥

दोहा

चूने बिन ताम्बुल यथा दर्शक बिन ज्यों रंग ।
दान शील तप धर्म पै भाव बिना है भंग ॥९॥

अन्वयार्थ– (जह) जैसे (निच्चुण्णो) चूने से रहित (तंबोलो) ताम्बूलपत्र [पान] और (पेक्खगेण) दर्शक (विणा) बिना (रंगो) नाट्य-भूमि (भी) नहीं (होइ) शोभित होती है (तह) उसी प्रकार (भाव विणा) पुनीत भाव शून्य (दाणसीलतवभावणाओ) दान शील, तप एवं भावना को भी (अहलाओ) निष्फल ही जानना चाहिये ।

भावार्थ– जैसे चूने के बिना ताम्बूलपत्र और दर्शक मंडली के बिना नाट्यशाला शोभायमान नहीं होती है उसी प्रकार भावना शून्य दान शील तप धर्म आदि को भी निष्फल ही समझना चाहिये अर्थात् भावना के बिना किया हुआ प्रत्येक कार्य निष्फल ही हो जाता है तथा उससे किञ्चित् भी फल प्राप्त नहीं होता है क्योंकि उस में आन्तरिक शुभभावों का सर्वथा अभाव है

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म. श्री म. के पौत्र शिष्य विनयचन्द्रजी म. श्री

मूल.

मणि मंत ओसहीणं जंतय तंताण देवयाणं पि ॥
भावेण विणा सिद्धि न हु कस्स वि दीसई लोए ॥१०॥

छाया.

मणिमन्त्रौषधीनां यन्त्रतन्त्राणां देवानामपि ॥
भावेन विना सिद्धिर्न खलु कस्यापि दृश्यते लोके ॥१०॥

दोहा

मंत्र तंत्र औ जंत्र भी मणि औषध पर योग ॥
देव सिद्धि सब भाव पे भाव बिना है रोग ॥१०॥

अन्वयार्थ– (**लोए**) इस लोक में (**कस्स**) किसी की (**वि**) भी (**मणि**) मणि (**मंत**) मन्त्र (**ओसहीणं**) औषधि (**जंतय**) यन्त्र (**तंताण**) तन्त्र और (**देवयाण पि**) देवोपासनादि की भी (**सिद्धि**) सिद्धि (**भावेण**) पुनीत भावना के (**विणा**) बिना (**न**) नहीं (**दीसई**) देखी गई है।

भावार्थ– समस्त विश्व में किसी भी व्यक्ति की मणि, मन्त्र, औषधोपचार, यन्त्र, तन्त्र और देवोपासनादि की सिद्धि भी पुनीत भावना के बिना दृष्टिगोचर नहीं हुई है। अर्थात् जगत में सम्पूर्ण कार्य भाव द्वारा ही सफल होते हैं। अतः भाव ही सर्वत्र प्रधान है।

मूल.

भावेण भुवणनाह वंदेउं दद्दुरो वि सचलिओ ॥
मरिऊण अन्तराले नियनामको सुरो जाओ ॥१२॥

छाया.

भावेण भुवननाथ वंदितु दर्दुरोऽपि संचलितः ॥
मृत्वान्तराले निजनामाकः सुरोजातः ॥१२॥

दोहा

दर्दुर पावन भाव ते प्रभुवन्दन को जाय ॥
काल ग्रास पथ मां बना देवरूप भइ काय ॥१२॥

अन्वयार्थ –(भावेण) पुनीत भावनाओं से प्रेरित होकर (दद्दुरो वि) मेंढक भी (भुवणनाह) त्रिभुवननाथ वीर प्रभु को (वंदेउं) वंदन करने के हेतु (संचलिओ) चला किन्तु (अन्तराले) मार्ग मध्य में ही (मरिऊण) मृत्यु प्राप्त कर वह (नियनामंको) निजनामांकित (दर्दुरनामवाला) (सुरो) देव (जाओ) उत्पन्न हुआ।

भावार्थ –अंतरंग विशुद्ध भावना से प्रेरित होकर नंदन मणिहार का जीव दर्दुर के भव में त्रिलोकनाथ वीर प्रभु को वंदन हेतु अपने निवासस्थान कूप में से निकलकर मार्ग में जा रहा था किन्तु मार्ग के मध्य में ही अश्व के पाद द्वारा मृत्यु प्राप्त कर शुभ भावना के प्रसंग से निज नामांकित दर्दुर नामवाले देवरूप से उत्पन्न हुआ।

मूल

भयवं ईलाईपुत्तो गुरुए वंसंमि जो समारूढो ॥
दट्ठूण मुनिवरिंदं सुहभावा केवली जाओ ॥११॥

छाया

भगवानिलापिपुत्रो गुरौ वंशे च समारूढ ॥
दृष्ट्वा मुनिवरेन्द्रं शुभभावात् केवली जात. ॥११॥

दोहा

विस्तृत वंशारूढ थे प्रभु इलायची पुत्र ॥
मुनिवर को लख भावते हुए केवली सुत्र ॥११॥

अन्वयार्थ—(भयवं) भगवान् (ईलाईपुत्तो) इलायचीपुत्र (जो) जो कि (गुरुए) विशाल (वंसंमि) बांसपर (समारूढो) चढे हुए थे (मुनिवरिंदं) मुनिवरको (दट्ठूण) देखकर (सुहभावा) शुभ भावनाओं के प्रताप से (केवली) केवलज्ञानी (जाओ) होगये ।

भावार्थ—अखण्डभावात्मक भगवान् (स्वामी) इलायची पुत्र ने मुनिवर को देख कर सहसा जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया और उत्तरोत्तर विशुद्ध भावनाओं के बल से सर्वोत्तम केवलज्ञान को प्राप्त हुए । अर्थात् मानव मनोरथ सिद्धि का प्रधान साधन भाव ही है भावना से ही हम अपने वास्तविक वैभव प्राप्त कर सकते हैं ।

मूल.

हत्थिमि समारूढा सिद्धिं दट्ठूण उसभसामिस्स ॥
तक्खणं सुहज्झाणेण मरुदेवी सामिणी सिद्धा ॥१४॥

छाया

हस्तिनि समारूढा ऋद्धिं दृष्ट्वा ऋषभस्वामिनः ॥
तत्क्षण शुभध्यानेन मरुदेवी स्वामिनी सिद्धा ॥१४॥

दोहा

आदिनाथकी ऋद्धि लख गजारूढ मरुमात ॥
शुक्ल ध्यान ते त्वरित ही सिद्धशिला मां जात ॥१४॥

अन्वयार्थ – (**हत्थिमि**) गजेन्द्रपर (**समारूढा**) चढी हुई (**मरु देवी**) मरुदेवी (**सामिणी**) स्वामिनी ने (**उसभसामिस्स**) ऋषभ स्वामीको (**रिद्धिं**) समृद्धि को (**दट्ठूण**) देखकर (**सुहज्झाणेण**) शुभ ध्यान के बल से (**तक्खणं**) तत्क्षणही (**सिद्धा**) सिद्धपद प्राप्त किया ।

भावार्थ – हस्तीपर आरूढा मरुदेवी माताने ऋषभस्वामी की चारित्रमय अपूर्व तेजपुज रूप ऋद्धिको देखकर शुभध्यान के प्रभाव से तत्क्षण ही सिद्धपद प्राप्त किया । यद्यपि मरुदेवी हस्तीपर स्थित थी तथापि भावनाओं की पराकाष्ठा से मोक्षगामी हुई यह सब पुनीत भावना का ही माहात्म्य है ।

मूल

इय दाणसीलतवभावणाओ जो कुणइ सत्तिभत्तिभरो
देविंदविंदमहियं अइरं सो लहइ सिद्धिसुहं ॥१५॥

छाया

इति दानशीलतपोभावनात य करोति शक्तिभक्तिभरः ॥
देवेन्द्रवृन्दमहितमचिरं स लभते सिद्धिसुखम् ॥१५॥

दोहा

भक्ति शक्ति से आचरे दान शील तप भाव ।
सुरगण पूजित शुद्धि की सिद्धि हेतु हो नाव ॥१५॥

अन्वयार्थ- (इय) इस प्रकार (सत्ति) शक्ति एवं (भत्तिभरो) भक्तिपूर्ण हृदयवाला (जो) जो पुरुष (भावणाओ) पवित्र भावना पूर्वक (दाणसीलतवे) दान शील एवं तप का (कुणई) आचरण करता है (सो) वह (अइरं) अचिर काल में ही (देविंदविंदमहियं) सुरेन्द्रवृन्द द्वारा पूजित होकर (सिद्धिसुहं) सिद्धिसुख को (लहइ) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ- आत्मा के अनन्तानन्तकालीन गुणों को जानकर जो शक्ति एवं भक्ति सम्पन्न व्यक्ति शुद्धात्मिक भावना से दान शील एवं तप का आचरण करता है वह अचिर काल में ही सुरगणों से पूजित होकर अनन्त सिद्धिसुख को भोगता है ।

मूल.

भाव चिय परमत्थो भावो धम्मस्स साहओ भणिओ ॥
सम्मत्तस्स वि बीअं भावं चिय विंति जगगुरुणो ॥ १६

छाया.

भावश्चैव परमार्थो भावो धर्मस्य साधको भणित ॥
सम्यक्त्वस्यापि बीजं भावश्चैवेति ब्रुवन्ति जगद्गुरवः ॥१६॥

दोहा.

भाव धर्म साधक कहा परम अर्थ को कूल ॥
जगद्गुरु गुरुदेव सब कहते समकित मूल ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ -(**भाव**) भावना ही (**चिय**) निश्चय करके (**परमत्थो**) परमार्थ स्वरूप है (**भावो**) भाव ही (**धम्मस्स**) धर्म का (**साहओ**) साधक (**भणिओ**) कहा गया है तथा (**जगगुरुणो**) जगद्गुरु तीर्थंकर (**वि**) भी (**भाव**) भाव को ही (**चिय**) निश्चय पूर्वक (**सम्मत्तस्स**) सम्यक्त्व का (**बीअं**) मूलबीज (**विंति**) कहते हैं।

भावार्थ -वास्तव में भावना ही निश्चयार्थ परमार्थ स्वरूप है। भाव ही धर्म का साधक कहा गया है और जिनेश्वरनाथ तीर्थंकरों ने भी भाव को ही सम्यक्त्व का मूलमय-बीज माना है। तात्पर्य यह है कि भावना का महत्व अकथनीय है। उसी में सफलता की कुंजी भी विद्यमान है।

मूल

किं बहुणा भणिएणं तत्तं निसुणेह भो महासत्ता ! ॥
मोक्खसुहबीयभूओ जीवाणं सुहावहो भावो ॥१७॥

छाया

किं बहुना भणितेन तत्त्वं निशृणुत भो महासत्त्वाः ॥
मोक्षसुखबीजभूतो जीवानां सुखावहो भावः ॥१७॥

दोहा

बहुत कथन से काम क्या तत्त्व सुनो भो भव्य ।
मोक्ष प्रदायक है सदा नित्य तत्त्व कर्तव्य ॥१७॥

अन्वयार्थ –(बहुणा) भाव के सम्बन्ध में बहुत अधिक (भणिएणं) कथन करने से भी (किं) क्या लाभ है ? इसलिये (भो महासत्ता !) हे भव्य प्राणियो ! (तत्तं) तात्त्विक बात को ही (निसुणेह) तुम सुनो ! क्योंकि (जीवाणं) जीवों के लिये (मोक्खसुहबीयभूओ) मोक्षसुख में मूल कारणभूत और (सुहावहो) सुखप्रदायक (भावो) भाव ही है ।

भावार्थ – भावना के संबंध में बहुत अधिक कथन करने से भी क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं । इसलिये हे भव्य जीवो ! व्यर्थ की प्रपंच पूर्ण बातों को न सुनकर केवल तात्त्विक बात को ही श्रवण करो क्योंकि जीवों को मोक्षसुख का अनुभव कराने वाला भाव ही है । भावनातिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं कि जिससे हम अनुपम सुख को प्राप्त कर सकें ।

अनुवादक–पूज्य श्री धर्मदासजी म. की सं. के श्री पूज्य विनयचन्द्रजी म. श्री

※ सज्जन. ※

प्रवृत्ति मार्ग का निरोधक और प्रवृत्ति पथ का अनुगामी, कुत्सित पथ का निंदक एवं अभ्युदय पथ का अनुमोदक, तथा सद्क्रियान्वेषक और प्रवर्तक एवं असद्क्रिया विभेदक तथा निवर्तक ही सज्जन पद को विभूषित कर सकता है। सज्जन व्यक्ति अपनी प्रखर प्रतिभाद्वारा समीपवर्ती दूषित जुगुप्सित एव प्रतिकूल वातावरण को भी सहसा अनुकुल बना सकता है। उसकी सुमधुर, रुचिकर, सौजन्य-प्रसून सुरभि से निकटस्थ व्यक्ति ही सुरभित होते हैं अपि तु सुदूरवर्ती जन–मधुकर–निकर सरस मकरन्द पान हेतु सतत लालायित रहते हैं।

सज्जन नर सर्वदा स्वनिंदक व्यक्ति के भी गुण ग्राहक ही होते हैं। उनके निर्मल, निष्कलंक एव पुनीत अन्त करण में निज कट्टर विरोधी के प्रती भी कलंक कालिमा नहीं रहती है। वे अनुपकारी तथा कृतघ्नी पुरुष पर भी उपकारमय सद्भावना ही रखते हैं। उनका एकान्त लक्ष्यगुणों की ओर रहने से चित्तवृत्ति में दूषित भावनाओंके अंकुरित होने की संभावना ही नहीं रहती है। इनका पारस्परिक में भी संबंध एवं प्रेम ग्रथिवधन इतना दृढ होता है कि कठोर कुलिशके सहस्त्र दारुण प्रहारोंमें भी वह छिन्नाभिन्न नहीं हो सकता है। कदाचित् विकराल काल की कुटिलता से तथा किसी सविशेप कारण के उपस्थित होने से उस ग्रंथिवंधन में शिथिलता एव विभिन्नता आ भी जाय तथापि भिन्न कमलदण्डी की ततु राशिवत् किंचित संबध तो अवश्य ही बना रहता है किंतु सर्वथा संबध विच्छेद नहीं हो जाता है।

सज्जन व्यक्ति सर्व अवस्थाओं में स प्रभावी ही रहते हैं। वे संपदावस्था में मत्तमान गजपर आरूड नहीं होते हैं और विपद्काल में भी खिन्न एव उदासीन नहीं बनते हैं। सज्जन नर स्ववचन निर्वाहक, निजप्रतिज्ञा पालक ही होते हैं उनको अपनी प्रतिज्ञा निर्वाह हेतु विकट पथमें नानाविध कंटक जालरूप कष्टानुभव भी करना पडे तथापि वे वचनभ्रष्ट कदापि नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि अखिल विश्व के सकल गुण गणाकर केवल सज्जन ही हैं। इसका विस्तृत वर्णन निम्न गाथाओं द्वारा जानना चाहिये—

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

मित्ती परोवयारो, सुसीलया अज्जवं पियालवणं ॥
दक्खिणविणयचाया, सुयणाणं गुणा निसग्गेण ॥२॥

छाया

मैत्री परोपकारः सुशीलताऽऽर्जवं प्रियाऽऽलपनम् ॥
दाक्षिण्यविनयत्यागाः सुजनानां गुणाः निसर्गेण ॥२॥

दोहा.

परहित मैत्री सुजनता ऋजुता मधुरालाप ॥
विनय त्याग नैपुण्य ते नैसर्गिक हो आप ॥२॥

अन्वयार्थः-(**मित्ती**) मित्रता (**परोवयारो**) परोपकार (**सुसीलया**) सदाचारवृत्ति (**अज्जवं**) सरलता (**पियालवणं**) प्रेमपूर्वक संभाषण करना (**दक्खिण**) दक्षता (**विणय**) विनय और (**चाया**) त्यागवृत्ति (**गुणा**) उक्त सर्व गुण (**सुयणाण**) सज्जन मनुष्यों में (**निसग्गेण**) नैसर्गिक (प्राकृतिक) ही होते हैं ।

भावार्थ—मैत्री, परोपकार, सुशीलता, ऋजुता, (सरलता) प्रेमपूर्वक वार्तालाप करना (मिष्टभाषण करना) नैपुण्य (दाक्षिण्य चातुर्य) विनय और त्याग ये सर्व गुण सज्जन व्यक्तियों में नैसर्गिक ही होते हैं । क्योंकि सतत गुण-ग्राहक दृष्टी होने से उनमें दोषोत्पत्ति असम्भव है । अर्थात् सज्जन नर विश्व विश्रुतप्राय सकलगुण गणों से समन्वित होकर ही जगत् में जन्म लेता है । उसमें इक्षु (गन्ना, साठा) रस के मधुरत्व (मिठासपन) के समान जनक जननी-संस्कार-जनित सद्गुणोत्पत्ति भी स्वभावतः ही हो जाती है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

परगुणगहणं छंदाणुवत्तणं, हिअमकक्कसं वयणं।
निच्चं सदोसगहण, अमंतमूलं वसीकरण ॥ ४ ॥

छाया.

परगुणग्रहण छन्दोऽनुवर्तन हितमकार्कश वचन।
नित्य स्वदोषग्रहण ममन्त्रमूल वशीकरण ॥ ४ ॥

दोहा.

परगुण निज अवगुण लखे सत्पथ का आधार।
कर्कशता तजि हितु वने वशीकरण को सार ॥ ४ ॥

अन्वायार्थ- (**परगुणगहणं**) परकीय गुणों का ग्रहण करना (**छंदाणुवत्तणं**) विचारपूर्वक प्रवृत्ति करना (**हिअं**) हितकारी एव (**अकक्कसं**) कठोरता रहित (**वयण**) वचन कहना (**निच्चं**) नित्य (**सदोसगहण**) स्वदोष-ग्रहण करना यह (**अमतमूल**) विना मन्त्र के ही मूल (**वसीकरण**) वशीकरण मन्त्र है।

भावार्थ - परगुणग्रहण, विचार पूर्वक सत्पथ प्रवृत्ति, हितकारी और अकार्कश्य वचन, तथा सर्वदा स्वदोष ग्रहण यही अमत्र मूलवशीकरण मन्त्र है। अर्थात् मन्त्रादि प्रयोगों के विना अन्य मानव समुदाय को अपनी ओर आकर्षित कर वशीभूत करने का उत्तम महामन्त्र अपने दोषों को देखना, दूसरों के गुण लेना, सब से प्रियालाप करना और हमेशा सन्मार्गानुयायी होना ही है। विशेषता यह है कि मन्त्र शक्ति तो नष्ट स्वभावी है किंतु गुण सर्वदा अविनश्वर ही है।

मूल.

न हसति पर न थुणंति, अप्पयं पियसयाइं च जंपंति ॥
एसो सुअणसहावो, नमो नमो ताण पुरिसाणं ॥८॥

छाया

न हसति परं न स्तुवन्ति आत्मानं प्रियशतानि च जल्पन्ति ॥
एष सुजनस्वभावो नमो नमस्तेभ्य पुरुषेभ्य ॥६॥

दोहा

स्वस्तुति पर उपहास तज बोलत कोकिल बैन ॥
सुजन गेह मे नित रहे वन्दनीय ते जन ॥८॥

अन्वयार्थ –(**एसो**) यह (**सुअणसहावो**) सज्जनों का नैसर्गिक स्वभाव है कि वे (**परं**) दूसरों को (**न**) नहीं (**हसति**) हसते ह (**अप्पयं**) स्वत ही अपनी (**न**) नहीं (**थुणंति**) स्तुति करते है (**च**) और (**पियसयाइं**) सदा सब के साथ सैकडों शब्दों से प्रिय (**जपंति**) भाषण करते हैं (**ताण**) ऐसे स्वभाववाले उन सज्जन (**पुरिसाण**) पुरुषों को (**नमोनमो**) पुन पुन नमस्कार है ।

भावार्थ –इतर जनों का उपहास नहीं करना, स्वयमेव स्वगुण स्तुति नहीं करना एव समस्त जन समुदाय से सर्वदा मिष्ट भाषण करना यही सज्जन पुरुषों का स्वभाव है ऐसे उत्तम स्वभाववाले गुणी जनों को मुहुर्मुहु (बारबार) नमस्कार हो । सज्जन व्यक्ति परछिद्रान्वेषी कदापि नहीं होता है वह तो दुर्गुणी में भी सतत गुणगणों का ही अवलोकन करता रहता है । यही उनकी मुख्य विशेषता का द्योतक है ।

ओर से पडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

विहल जो अवलंबइ, आवइपडियं जो समुद्धरइ।
सरणागयं जो रक्खइ, तिसु तेसु अलंकिया पुहवी ॥८॥

छाया

विव्हल योऽवलम्बते आपत्ति पतित य. समुद्धरति ।
शरणागत च रक्षति त्रिभिस्तैरलङ्कृता पृथ्वी ॥ ८ ॥

दोहा

निराधार आधार हो शरणागत को प्राण।
विपद निरापद ही करे भू भूषण अरु प्राण ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ –(**जो**) जो (**विहल**) विव्हल (दुःखों से घबराये हुए) पुरुष को (**अवलंबइ**) अवलंबन देता है (**च**) और (**जो**) जो (**आवइ पडिय**) आपत्ति में पड़े हुए का (**समुद्धरइ**) उद्धार करता है तथा (**जो**) जो (**सरणागयं**) शरणागत की (**रक्खइ**) रक्षा करता है (**तिसु तेसु**) इन तीनों प्रकार के पुरुषोंद्वारा (**पुहवी**) यह पृथ्वी (**अलंकिया**) अलंकृता (**शोभिता**) बनी हुई है।

भावार्थ –जो व्यक्ति निरावलम्बी के लिये आलम्बन स्वरूप होता है जो आपदाग्रसित को निरापद बनाता है और जो शरणागत की यथावत् सेवा शुश्रूषा एवं रक्षा करता है। तात्पर्य यह है कि उपरोक्त त्रिविध व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य जितने भी मानवगण हैं उनका जीवन भूतलपर नितान्त भारस्वरूप ही है। सफल मानव जीवन तो केवल उक्त तीनों प्रकार के पुरुषोंका ही मानना चाहिये क्योंकि उनमें उपकारवृत्ति सविशेष मात्रा में विद्यमान है।

मूल.

जेण परो दुमिज्जइ, पाणिवहो जेण भणिएणं ॥
अप्पा पडइ किलेसे, न हु तं जंपन्ति गीयत्था ॥१०॥

छाया.

येन परो दूयते प्राणिवधो येन भणितेन ॥
आत्मा पतति क्लेशे न हि तज्जल्पन्ति गीतार्था ॥१०॥

दोहा

जा वाणी मानस दुखे होय जीव संहार ॥
स्वात्मा भी दुख सागरे कोविद मुख न उचार ॥१०॥

अन्वयार्थ –(**जेण**) जिस वचन के कथन से (**परो**) दूसरा व्यक्ति (**दुमिज्जइ**) दुखी होता है तथा (**जेण**) जिस वाक्य के (**भणिएणं**) कहने से (**पाणिवहो**) प्राणियों का वध होता है और (**अप्पा**) स्वात्मा भी (**किलेसे**) क्लेश में (**पडइ**) पडती है (**त**) उस वचन को (**गीयत्था**) वहुश्रुती (गीतार्थ पुरुष शास्त्रज्ञ) (**हु**) निश्चय करके (**न**) कदापि नहीं (**जपंति**) कहते हैं।

भावार्थ –जिस भाषण से इतर जन दुखी होते है, और जिन वाक्य के कहने से प्राणियों का संहार होता है तथा निजात्मा भी क्लेशसागर में पडकर कष्टानुभव करती है गीतार्थ शास्त्रज्ञ पुरुष ऐसे शब्दों का उच्चारण स्वप्न में भी नहीं करते हैं। उनके मुख से सर्वदा इतने नम्रतापूर्ण और मधुर शब्द समूह निकलते है कि प्रत्येक सहृदय व्यक्ति का कोमल अन्तःकरण सहसा द्रवीभूत हो जाता है।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल.

मम्मं न उल्लविज्जइ कस्सवि, आलं न दिज्जइ कयावि ।
कमवि न उक्कोसिज्जइ, सज्जणमग्गो इमो दुग्गो ॥१२॥

छाया.

मर्म न उल्लपेत् कस्यापि आल न दद्यात् कदापि ।
कमपि नोत्कोपेत् सज्जनमार्गोऽय दुर्ग ॥ १२ ॥

दोहा

असदारोपरु मर्मयुत वाणी का संचार ।
तजिये इतर कुपीतपन ये दुष्कर ही धार ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ -(**कस्सवि**) जो किसी व्यक्ति के भी (**मम्म**) गुप्त रहस्य को (**न**) नहीं (**उल्लविज्जइ**) प्रकट करे [खोले] (**कयावि**) कदापि (**आलं**) मिथ्या आरोप [झूठा कलक] (**न**) नहीं (**दिज्जइ**] देवे तथा [**कमवि**] किसी को भी (**न उक्कोसिज्जइ**) क्रोधित या अपमानित नहीं करते इस प्रकार [**इमो**] यह [**सज्जणमग्गो**] श्रेष्ठ पुरुषों का मार्ग [**दुग्गो**] अति कठिन है ।

भावार्थ -किसी भी व्यक्ति के गुप्त रहस्य [रहस्य पूर्ण बात] को नहीं प्रगट करना, किसी के सिरपर मिथ्या दोषारोपण नहीं करना और कदापि किसी के मन में कषाय भाव नहीं उत्पन्न करना इस प्रकार का उत्तम पुरुषों का आचरणीय आचरण वास्तव में दुरनुकरणीय ही है । जीवन पथ को अभ्युदय की ओर ले जाने वाले ये ही साधन मुख्य माने गये हैं । इनका सम्यगाचरण ही क्रमिक आत्मविकास है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

नियगरूयपभावपससेण, लज्जति जे महासत्ता ॥
इयरा पुण अलियपसंसणेण, वि अंगे न मायंति ॥१४॥

छाया.

निजगुरुकप्रभावप्रशसनेनापि लज्जते ये महासत्वा ॥
इतरे पुनरलीकशसनेनापि अङ्गे न मान्ति ॥१४॥

दोहा

सुजन सुनी स्तुति वस्तुत और नम्र हो जात ॥
अननुरूप निज गुण सुनी मूढ होय मदमात ॥१४॥

अन्वयार्थ–(**जे**) जो (**महासत्ता**) महात्मा पुरुष होते हैं वे **नियगरुयपभावपसंसेण**) अपने गौरव के प्रभाव की प्रशंसा से (**लज्जंति**) लज्जित हो जाते हैं (**पुण**) किंतु (**इयरा**) इतर जन (**दुर्जन**) तो (**अलीयपसंसणेण**) अपनी असत्य स्तुतिसे भी (**अंगे**) शरीर में (**न**) नहीं (**मायंति**) समाते है।
(

भावार्थ –सज्जन व्यक्ति तो निज वास्तविक प्रशंसा को सुनकर भी अधोमुख कर देते है किंतु दुर्जन नर स्वकीय अयथार्थ गौरव को सुनकर अत्यभिमान से फूल कर कुप्पे हो जाते हैं। अर्थात् दुर्जन अलीक प्रशंसा से भी अभिमानी हो जाते हैं किंतु सज्जन यथार्थ गुणगरिमामें भी अभिमानी नहीं होते हैं।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

गरुयावराहिणं पिहु अणुकंपंतीह जे महासत्ता।
तम्हा जे महासत्ता तेहिं चिय भूसिया धरिणी ॥ १९ ॥

छाया

गुरुकापराधिनमपि हि अनुकम्पन्ते ये महासत्वा ।
तस्माद्ये महासत्वास्तैरेव भूषिता धरिणी ॥ १९ ॥

दोहा

अपराधी नर पै दया सज्जन करते होय।
धरणी को भूषण यही जाते भूषित सोय ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—[इह] इस संसार में [जे] जो [महासत्ता] महा पुरुष हैं वे [गरुया पराहिणेपि] महापराधी पर भी [हु] निश्चय करके [अणुकंपति] अनुकम्पा [दया] ही करते हैं (तम्हा) इस कारण से (जे) जो (महासत्ता) सज्जन मनुष्य हैं (तेहिं) उन्हींसे (चिय) निश्चय (धरिणी) यह भूमि (भूसिया) विभूषित बनी हुई है।

भावार्थ—सज्जन जन समभावी होने से महापराधीपर भी नितान्त दया दृष्टि ही रखते हैं इस कारण ऐसे सज्जनों से यह धरिणीदेवी विभूषिता बनी हुई है। तात्पर्य यह है कि वसुन्धरादेवी की शोभा सज्जनों द्वारा ही है।

मूल.

अभिहाणमभणंतो वि य होइ पयडो गुणेहिं सप्पुरिसो ।
छिन्नो वि चंदणतरू किं न कहिज्जइ परिमलेणं ॥ १६ ॥

छाया

अभिधानमभणन्नपि च भवति प्रकटो गुणैः सत्पुरुष ।
छिन्नोऽपि चदनतरु किन्न कथ्यते परिमलेन ॥ १६ ॥

दोहा.

मलयागिरि सुत सुरभितो स्वाभिधान कहि देत ।
सज्जन की त्यों सुजनता विना हेत को खेत ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ –(**सप्पुरिसो**) सज्जन व्यक्ति (**अभिहाण**) अपना नाम (**अभणंतो वि**) नहीं बताता हुआ भी (**गुणेहिं**) निजगुणों के द्वारा [**पयडो**] प्रकट [**होइ**] हो ही जाता है जैसे [**छिन्नो**] काटा हुआ [**वि**] भी [**चन्दणतरू**] चंदन वृक्ष [**किं**] क्या [**परिमलेणं**] सुगध द्वारा [**न**] नहीं (**कहिज्जइ**) कहा जाता है ? पहिचाना जाता है ?

भावार्थ –महात्मापुरुष अपना परिचयादि दिये विना ही स्वकीय श्रेष्ठ गुणों के द्वारा स्वत प्रकट हो जाते हैं, जैसे छेदा हुआ चन्दन द्रुम क्या स्वसुगध द्वारा "चन्दन" इस अभिधान [नाम] से नहीं कहा जाता है ? अर्थात् कटा हुआ भी चन्दन तरु एकमात्र उसके परिमल गुणसे पहिचान लिया जाता है । तात्पर्य यह है कि सज्जनों की पहिचान उनके गुणों द्वारा ही हो जाती है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित.

मूळ.

फरूसं न भणसि भणिओ हससि हसिऊण जंपसि पियाइं ।
सज्जण ! तुह सहावो न याणिमो कस्स सारिच्छो ॥ १८ ॥

छाया

परुषं न भणसि भणितो हससि हसित्वा जल्पसि प्रियाणि ।
सज्जन ! तव स्वभावो न जानीमः केन सदृश. ॥ १८ ॥

दोहा.

मूढ करे उपहास पिण कटुवाणी को छोड ।
माखे कोकिल कांकली उपमा को नहिं ठोड ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः–(**सज्जण !**) हे सज्जन तू (**फरूसं**) कठोर वचन (**न**) नहीं (**भणसि**) बोलता है (**भणिओ**) दूसरों से कठोर वचन कहे जाने पर भी (**हससि**) तू हंसता ही रहता है और (**हसिउण**) हंसकर ही (**पियाइ**) मधुर वचन (**जंपसि**) कहता है, इसलिये (**तुह**) तेरा (**सहावो**) स्वभाव (**कस्स**) किसके (**सारिच्छो**) सदृश है। (यह हम) (**न**) नहीं (**याणिमो**) जान सकते हैं।

भावार्थ–हे सज्जन ! तेरा सहज स्वभाव किसके तुल्य है इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं अर्थात् अनुमान द्वारा भी तेरा स्वभाव अनुमेय नहीं है क्योंकि अन्य व्यक्तियों द्वारा परुष (कठोर) वचनोंसे कहा जाता हुआ भी पुन कटुक शब्दों द्वारा प्रत्युत्तर नहीं देता है और दूसरों के मर्मभेदी वचनों पर भी हसताही रहता है इसलिये तेरा स्वभाय अज्ञेय नितान्त विचित्र ही है।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलो में सादर समर्पित

मूल.

तुग चिय होइ मणो मणसिणो अतिमासु वि दिसासु
अत्थन्तस्स वि रविणो किरणा उद्ध चिय फुरान्ति ॥२०॥

छाया.

तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमासु अपि दिशासु ।
अस्तमानस्यापि रवेः किरणा ऊर्ध्वमेव स्फुरान्ति ॥ २० ॥

दोहा.

चरम काल रविरश्मियां उर्ध्व ओर देखाय ।
ता सम सज्जन मानहृद सरोरुह विकसाय ॥ २० ॥

अन्वयार्थ – (**मणंसिणो**) मनस्वियों का (मतिमानों का) (**मणो**) मन (**चिय**) निश्चय करके (**अतिमासु**) अन्तिम (**दिसासु**) दिशामें (जीवनावसानकाल एवं दरिद्रावस्था में भी (**तुंग**) अत्युदार (ऊंचा) ही (**होइ**) होता है, जैसे (**अत्थन्तस्स**) अस्तगत (**रविणो**) सूर्य की (**किरणा**) रश्मियां (किरणें) (**चिय**) निश्चय ही (**उद्धं**) उर्ध्वता की ओर (**फुरन्ति**) स्फुरायमान होती हैं ।

भावार्थ –जैसे अस्तगत सूर्य की रश्मिया सर्वथा उर्ध्वताकी ओर ही स्फुरित होती है तथैव मनस्वी पुरुषों का मन अतिम दशा (दरिद्रावस्था) में भी उदार ही बना रहता है । किन्तु मलीन और सकुचित वृत्तिका नहीं हो सकता है क्योंकि सज्जन नर तो सब अवस्थाओं में समान मनवाले ही होते हैं ।

मूल

तावुच्चओ मेरुगिरी मयरहरो ताव होइ दुत्तारो।
ता विसमा कज्जगई जाव न धीरा पवज्जन्ति॥ २१॥

छाया

तावदुच्चो मेरुगिरिर्मकरगृहं तावद् भवति दुस्तरम्।
तावद् विषमा कार्यगतिर्यावन्न धीराः प्रपद्यन्ते॥

दोहा

गिरिमेरि भूधरपती दुस्तर जाव समुद्र।
दुष्कर दुर्लभ तब तलक जितलक करे न भद्र॥

अन्वयार्थ—(धीरा) धीर पुरुष (जाव) जबतक कार्य में (न) नहीं (पवज्जन्ति) प्रवृत्ति करते हैं (ताव) तबतक ही (मेरुगिरी) मेरु-पर्वत (तुङ्गो) विशाल प्रतीत होता है (ता) तबतक ही (मयरहरो) महासागर (दुत्तारो) दुस्तर (होइ) ज्ञात होता है (ता) तबतक ही (कज्जगई) कार्यगति भी (विसमा) विषम (दुष्कर) मालूम होती है।

भावार्थ—जब तक धीर जन किसी कार्य के लिये प्रवृत्ति नहीं करते हैं तभी तक यह कार्यगति विषम प्रतीत होती है। मेरुगिरि और महासागर भी तभीतक ही अनुल्लंघ्य एवं दुस्तर ज्ञात होता है जबतक उद्योगीजन का प्रवृत्ति न की हो। कार्य में प्रवृत्ति करने पर दुष्कर भी सुकर, दुर्लभ भी सुलभ और दुस्साध्य भी सुसाध्य होजाता है जिससे कार्यगति भी सम होजाती है।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म० की स० के शीतपुज्य विनयचन्द्रजी म० की

मूल.

मेरुतिणं व सग्गो घरगणं हत्थछित्तं गयणयलं ।
वाहलियाइ समुद्दा साहसवंताण पुरिसाण ॥ २२ ॥

छाया.

मेरुस्तृणमिव स्वर्गो गृहाङ्गण हस्ताक्षितं गगनतल ।
वाहेलिया समुद्रा साहसवता पुरुषाणाम् ॥

दोहा.

हिमगिरि तृणवतनभसही, करतलवस्तुसमान ।
अमरपुरी घर आगना धीर वीरको भान ॥

अन्वयार्थ·–(**साहसवताण**) साहसी (**पुरिसाण**) मनुष्यों के लिये (**मेरु**) मेरुपर्वत (**तिण**) तृणके (**व**) समान है (**सग्गो**) स्वर्ग (**घरंगण**) घरके आगन के समान समीपस्थ ही है और (**गयणयलं**) गगन (आकाश) तल (**हत्थछित्त**) हाथकी हथेलीपर रखे हुए के समान है और (**समुद्दा**) समुद्र (**वाहलियाइ**) क्षुद्र नदीवत् है ।

भावार्थ·–साहसी पुरुषों के अदम्य साहसोत्साहके प्रभावसे विशाल मेरुगिरि भी तृण सम क्षुद्र, स्वर्ग गृहागणवत् समीपवर्ती, गगनतल हस्तक्षिप्त द्रव्य सम स्वाधीन और विशाल काय समुद्रक्षुद्र सरितावत् होजाता है तात्पर्य यह है कि सज्जनों के साहस द्वारा असमव कार्य भी सभव प्रतीन होता है ।

१ कुल्या—क्षुद्रनदी

मूल

जोइक्खो गिलइ तमं तं चिय उग्गिलइ कज्जलमिसेणं
अहवा सुद्धसहावा हिययं कलुसं न धारेन्ति ।२१।

छाया

ज्योतिष्को गिलति तमस्तदेवोद्गिलति कज्जलमिषेण ।
अथवा शुद्ध स्वभावा हृदयं कलुषं न धारयन्ति ॥ २१ ॥

दोहा

तमभक्षी दीपकशिखा उगले पंक कलंक ।
कलुष रहित तासम सुजन निर्मल शील निशंक ॥२१॥

अन्वयार्थ –(**जोइक्खो**) प्रदीप (**तमं**) अन्धकार को (**गिलइ**) निगल लेता है (ग्रस लेता है) और (**तं**) उसी तम को (**चिय**) निश्चय पूर्वक (**कज्जलमिसेणं**) काजल के बहाने से (**उग्गिलइ**) पुनः उगल देता है (**अहवा**) अथवा (क्योंकि) (**सुद्ध सहावा**) निर्मल स्वभाववाले व्यक्ति (**हिययं**) अपने हृदय में (**कलुसं**) कालुष्य (कालिमा) को (**न**) नहीं (**धारेन्ति**) धारण करते हैं ।

भावार्थ –प्रदीप अन्धकार को निगल जाता है और उसी निगलित तम राशिको पुनः काजल के मिससे उगल देता है क्योंकि निर्मल स्वभाववाले व्यक्तियों की यह नैसर्गिक प्रकृति ही होती है कि वे अपने पवित्र अन्तःकरण में कालिमा (कलुष भाव) को धारण किये हुए नहीं रहते हैं क्योंकि यदि कालिमा को धारण रखें तो निर्मल हृदय के मलीन होने की सम्भावना रहेगी ।

मूल.

निंदा कारिजणस्सवि दोसग्गाही न सज्जणो कयावि
कुणइ सुयंधं वासिं तच्छिज्जन्तो वि मलयरुहो ।२४।

छाया.

निन्दाकारि जनस्यापि दोषग्राही न सज्जनः कदापि ।
करोति सुगंध वासिं तच्छिद्यमानोऽपि मलयरुह ॥ २४ ॥

दोहा

निर्मल मानस नित करे, विद्वेषी उपकार ।
चानन करे कुठार को, चाहे छेदे छार ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ – (**सज्जणो**) सज्जन जन (**कयावि**) कदापि (**निन्दाकारिजणस्सवि**) निन्दक व्यक्ति के भी (**दोसग्गाही**) दोषग्राही (**न**) नहीं होते हैं जैसे (**तच्छिज्जन्तो वि**) कुठार से छेदा जाता हुआ भी (**मलयरुहो**) चन्दनतरु (**वासिं**) कुठार को तो (**सुयंध**) सुरभित ही (**कुणइ**) करता है ।

भावार्थ –सज्जन मनुष्य स्वनिन्दक व्यक्ति के भी दोषग्राहक कदापि नहीं होते हैं प्रत्युत सर्वदा ही गुण ग्राहक ही रहते हैं जैसे कुठारादि प्रहारद्वारा छेदा जाता हुआ भी चन्दनतरु कुठाराग्रभागको तो सुरभित ही करता है वह स्वसंहारक कुठार शत्रु की ओर लक्ष्य न देकर केवल निज स्वाभाविक गुण को ही अभिमुख रखकर उसे सुगंधित करता है। अर्थात् सज्जन अपने शत्रुमके गुणों को ही ग्रहण करते हैं।

मूल

पर महिला जणणीसमा मन्नइ धीरो तणं व परदव्वं।
लोगस्स नियपकाल अहियं परिपालणुज्जुत्तो ॥२९॥

छाया

परमहिला जननीसमा मन्यते धीरस्तृणमिव परद्रव्यम् ।
लोकस्य निपतकालमधिक परिपालनोद्युक्त ॥

दोहा

परदारा माता सरिस पर धन धूल समान।
दिवस जात प्रति पालना दीन हीन को ध्यान॥

अन्वयार्थ—(धीरो) धीर नर (पर महिला) दूसर की स्त्री को (जणणीसमा) माता के समान और (परदव्वं) परद्रव्य (धन) को (तणं) तृण (व) वत् (मन्नइ) मानता है तथा (नियपकाल) अपने समय के (अहियं) अधिकांश काल में (लोगस्स) संसार के दीन जीवों की (परिपालण) परिपालना में ही (उज्जुत्तो) उद्यमशील रहता है।

भावार्थ—धीर पुरुष परनारी को जननीतुल्य और पर धनको तृणवत् तुच्छ मानते हैं तथा अपने समयका अधिकांश भाग संसारके दीन हीन जीवों की परिपालना में ही व्यतीत करते हैं क्योंकि संसार में आकर मानव तन पाने का ध्येय यही है कि वह हमारे द्वारा परोपकारादि सफल होवे। यदि कुछ भी सफल नहीं हुआ तो मनुष्य जन्म बेकारी मात्र है।

मूल.

सप्पुरिसाच्चिय वसण सहन्ति गरुय पि साहसेक्करसा ।
धरणिच्चिय सहइ जए वज्जनिवाय न उण तन्तू ॥ २८ ॥

छाया.

सत्पुरुषा एव व्यसन सहन्ते गुरुकमपि साहसैकरसा. ।
धरण्येव सहते जगति वज्रनिपात न पुनस्तन्तु ॥

दोहा

असहनीय दुख आपदा सहन करे धीमान ।
पृथ्वी अशनि प्रहारको सहेन तन्तु जान ॥

अन्वयार्थ.–(**सप्पुरिस**) सत्पुरुष ही (**च्चिय**) निश्चय करके (**साहसेक्करसा**) अपने एक साहस बलसे (**गरुय**) महान् (**वसणं**) दु खों को (**पि**) भी (**सहन्ति**) सहन करते है (जैसे) (**जए**) इस जगत् में (**धरणिच्चिय**) पृथ्वी ही निश्चय पूर्वक (**वज्जनिवाय**) वज्र के प्रहार को (**सहइ**) सहन कर सकती है (**उण**) किंतु (**तन्तू**) क्षुद्रतंतु (धागा) (**न**) नहीं सहन कर सकता है ।

भावार्थ–जैसे वज्रके दारुण प्रहार की विषम वेदना के सहन करने का सामर्थ्य केवल भूतल में ही है किन्तु क्षुद्र ततुराशि में वह दृढ सहिष्णु शक्ति नहीं है तथैव सज्जन जनही निज साहस बलसे महान दुखोंको सहन कर सकते हैं किन्तु दुर्जनों में यह सामर्थ्य नहीं रहता है ।

मूल

धन्नाते वरपुरिसा जे च्चिय मोत्तूण निययजुवईओ ।
पव्वइया कयनियमा सिवमयल मणुत्तरं पत्ता ॥२७॥

छाया

धन्यास्ते वर पुरुषा ये खलु मुक्त्वा निजयुवती ।
प्रव्रजिता कृतनियमा शिवमचलमनुत्तरं प्राप्ता ॥ २७ ॥

दोहा

धन्यधन्यते आर्यनर कनक कामिनी छोड़ ।
शिव सुख लोहा आनके सुखधार को मोड़ ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ-(जे) जो आर्य नर (निययजुवईओ) स्वपत्नियों को (मोत्तूण) छोड़कर (पव्वइया) प्रव्रजित हुए हैं (कयनियमा) नियमादि प्रतिबद्ध हो गये हैं तथा (अयल) अचल (स्थिर शाश्वत) (अणुत्तरं) अनुपम (सिव) कल्याणकारी मोक्षधाम को (पत्ता) प्राप्त हुए है (ते) वे (पुरिसा) उत्तम महापुरुष (च्चिय) निश्चयही (धन्ना) धन्य है ।

भावार्थ -जिन धर्म प्राण मानवोंने निज पत्नियों का परित्यागकर पवित्र प्रभु की महत्ता का शरण ग्रहण कर लिया है तथा स्वधर्म (अपने धर्मकर्म) में प्रतिबद्ध बने हुए हैं एवं ध्रुव (अस्थिरता रहित) अनुपम शिवात्मकमोक्षस्थान को प्राप्त करते है वेही पुरुषोत्तम-मानव श्रेष्ठि धन्यवाद के पात्र है ।

❀ दुर्जन ❀

सदाचार विध्वंसक तथा दुराचार प्रवर्तक सत्पथ विमोचक एवं असत्यपथ धारक सत्क्रिया विभेदक तथा असत्क्रिया न्वेपक, दुर्गुण गण परिवेष्टित मानव ही दुर्जन पद को प्राप्त करता है। दुर्जन जनके सहवास से सुज्ञ जन भी अज्ञताको, मित्रवर्ग भी रिपुताको, मृदुल स्वभावी भी कठोरताको एवं निष्कलंक भी कलंक कालिमाको प्राप्त होता है। दुर्जन व्यक्ति स्वकीय दूषित प्रज्ञाके कारण सभ्य समुदाय के सद्व्यवहारको भी दुर्व्यवहारमें परिणत कर देता है। साथ ही अपने परम पावन जीवन प्रवाहको अपावन बना देता है। एतदर्थ दुष्ट जन द्विपद धारक होनेपर भी चतुष्पदोंकी श्रेणिसे भी पतित समझा जाता है। दुर्जन जनोंका सहवास सत्पुरुषोंके हेतु अपवादोत्पादक एवं संकल्प विकल्प का कारणभूत होता है। यथा ताम्र भाजनान्तर्गत दुग्ध का एव बक समुदाय में मराल का अवाछनीय व अशुद्ध माना जाता है तथैव दुर्जन मडली में सत्पुरुषों का निवास भी विश्व की दृष्टि में संशयजनक समझा जाता है कहाभी है कि'काजर की कोठरी में कैसे हू सयानो जाय काजर की एक रेख लाग पर लागे है"

शास्त्र विशारदोंके कथनानुसार शतपद (कान खजूरा) को कर्णान्तर्गत प्रवेश कर देना उत्तम है भुजंग के मुखान्तर्गत अंगुलिपात कर देना उचित है पचानन के मुखाग्र में प्रवेश हो जाना श्रेष्ठ है, सागर मे निमज्जित हो पंचत्व को प्राप्त होना सुदरतर है प्रज्वलित वन्हिशिखा में जीवन लीला समाप्त कर देन श्रेष्ठतर है किंतु खलजन सगति कदापि सौख्यप्रद नहीं है। अन्य जीवराशियोंके तो एकागी विष रहता है किंतु दुर्जन जनों के तो सर्वांग में विष व्याप्त रहता है यथा वृश्चिक पुच्छान्तर्गत मक्षिका के उत्तमाग में विषधरके दंतान्तर्गत विष रहता है किंतु " सर्वांगे दुर्जनो विषम् " दुर्जन के तो सर्वांग में विष व्याप्त रहता है।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

दुर्जन जन उपकारियोंके प्रति भी अपकार करनेमें स्वकीय जीवनका ध्येय समझते हैं। यहां तक कि तिनके कष्ट पहुंचने पर भी मरण पर्यंत अपकारार्थ सदैव तत्पर रहते हैं। अतः दुर्जन जन आश्रयदाताओंको पद पद पर कष्टानु-भव कराता है यथा भुजंगको पय पान कराना गरलोत्पत्तिका कारण होता है यद्यपि दुर्जनों के प्रति कृत उपकारोंका बदला भी अपकारोंसे पूर्ण होता है विशेषमें *मत्सरी मिथ्यात्वी व्यसनी अनुदमनी कृतघ्नी एवं कैतव स्वार्थीकृत* दुर्जन जन ही इस पृथ्वी पर भारभूत बने हैं। इसका विशेष निरूपण निम्न गाथाओं द्वारा ज्ञात करना चाहिये।

मूल.

रज्जति जाव कज्ज कयकज्जा दुज्जणव्व दुमति ।
जे ते कारिमनेहा हा हा धी निग्घिणा पुरिसा ॥ १ ॥

छाया.

रञ्जयति यावत्कार्यं कृतकार्या दुर्जना इव दुन्वान्ति ।
ये ते कृत्रिम स्नेहा हा हा धिक् निर्घृणा पुरुषा ॥१॥

दोहा.

काज होत तक मुदित मन अरिसम तत्पश्चात ।
स्नेह दृष्टि नित काम सर धिक्कृत त नरजात ॥ १ ॥

अन्वयार्थ–(**जाव**) जबतक (**कज्जं**) कार्य है तबतक ही (**रंजंति**) प्रसन्न बने हुए रहते है और (**कयकज्जा**) कार्य के पूर्ण हो जाने पर (**दुज्जणव्व**) दुर्जन व्यक्ति की तरह (**दुमति**) दुख देने लग जाते हैं इस प्रकार (**कारिमनेहा**) कार्य प्रयोजन से कृत्रीम स्नेह रखने वाले (**जे**) जो (**निग्घिणा**) निर्दयी (निष्ठुर) **पुरिसा**) पुरुष हैं (**ते**) उनको (**हा हा**) अरे अरे (**धी**) पुन पुन धिक्कार है।

भावार्थ–जो मनुष्य निजस्वार्थ हेतु ही प्रसन्न चित्त बने हुए रहते हैं और निज स्वार्थ की पूर्ति होजाने पर दुर्जन सम दूषित मन वाले होकर दु ख देने लगते हैं इस प्रकार कार्यवशात् कृत्रिम स्नेह रखनेवाले उन निर्दयी एव निष्ठुर दुर्जन व्यक्तियों को कोटिश बार धिक्कार है। तात्पर्य यह है कि दुर्जन व्यक्ति की प्रसन्नता एव प्रेम भावना स्वार्थवश कार्य पूर्ति प्रयोजन हेतु ही होती है उसका अन्त करण तो सर्वदा निष्ठुरता और माया जालसे ही भरा हुआ रहता है।

मूल

मलमइला पंकमइला धूलीमइला न ते नरा मइला।
जे पाव पंक मइला ते मइला जीव लोयम्मि ॥२॥

छाया

मल मलीन पंकमलिना धूलि मलिना नते नरा मलिना।
ये पापपंक मलिनास्ते मलिना जीवलोके ॥ २ ॥

दोहा

मल पांशु मल पंक से मल मलीन ना होय।
पाप कीच से मलिन जो मलिन कहावे सोय ॥२॥

अन्वयार्थ —(मलमइला) जो मल से मलीन (पंक मइला) कीचसे मलीन एवं (धूली मइला) धूलिका से मलीन बने हुए हैं (ते) वे (नरा) मनुष्य (न) नहीं (मइला) मलीन कहे गये हैं किन्तु (जे) जो (पावपंक मइला) पापपंक से मलीन हैं (ते) वे ही व्यक्ति (जीवलोगम्मि) इस जीवलोक में (मइला) महा मलीन कहे गये हैं।

भावार्थ —इस [illegible] मल मलिन [illegible] एवं धूलि धूसरित तन वाले व्यक्ति [illegible] पापपंक से लिप्त हैं वे ही वास्तव [illegible] मलीन [illegible] मलीनतावी [illegible] आंतरिक [illegible] [illegible] मलिनता और मलिन नहीं करती है किन्तु [illegible] आत्मा की [illegible] करता है।

अनुवादक—पूज्य श्री [illegible] के शीष्यपुत्र विनयचन्द्रजी म० श्री

मूल.

अलमेव विच्छुआण मुहमेव अहीणं तहय मंदस्स ।
दिट्ठिविय पिसुणाणं सव्वं सव्वस्स भयजणयं ॥-९ ॥

छाया

अलमेव वृश्चिकानाम् मुखमेवाहीना तथाच मदस्य ।
दृष्टिद्विकं पिशुनाना सर्व सर्वस्य भयजनकम् ॥ ९ ॥

दोहा.

अहिमुख वृश्चिडंकओ मूढ दृष्टि द्विक त्रास ।
पिशुनों का सर्वस्व ही भरे भीति को प्रास ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ'–(**विच्छुआणं**) विच्छुओं के डंक (**य**) और (**अहीणं**) सर्पों के (**मुहं**) मुख (**तह**) तथा (**मदस्य**) मन्द-मूढ अज्ञानी पुरुष की (**दिट्ठिवियं**) दृष्टियुगल (**एव**) ही (**अलमेव**) पर्याप्त है किंतु (**पिसुणाणं**) पिशुनों का तो (**सव्वं**) सर्वस्वही (**सव्वस्स**') सब के लिये (**भयजणयं**) भयोत्पादक है ।

भावार्थ –इस ससार में वृश्चिकों (विच्छुओ) का डक सर्पोंका विष व्याप्त वदन तथा मूढ (अज्ञ) प्राणियों का युगल दृष्टिबिम्बही केवल अन्त करण में भयोत्पादक है किंतु पिशुन पुरुषों का तो सर्वस्व ही सर्व जन समुदाय के लिये भयावह है तात्पर्य यह है कि उपरोक्त सकल विकराल जीवों का तो एकांग ही भयजनक है किंतु दुष्टों के तो सम्पूर्ण अवयव ही सर्वदा भयकारी हैं ।

मूल.

अलमेव विच्छुआण मुहमेव अहीणं तहय मंदस्स ।
दिट्ठिविय पिसुणाणं सव्वं सव्वस्स भयजणयं ॥-९ ॥

छाया

अलमेव वृश्चिकानाम् मुखमेवाहीना तथाच मदस्य ।
दृष्टिद्विकं पिशुनाना सर्वं सर्वस्य भयजनकम् ॥ ९ ॥

दोहा.

अहिमुख वृश्चिडंकओ मूढ दृष्टि द्विक त्रास ।
पिशुनों का सर्वस्व ही भरे भीति को त्रास ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ –(**विच्छुआणं**) विच्छुओं के डंक (**य**) और (**अहीणं**) सर्पों के (**मुहं**) मुख (**तह**) तथा (**मदस्य**) मन्द-मूढ अज्ञानी पुरुष की (**दिट्ठिवियं**) दृष्टियुगल (**एव**) ही (**अलमेव**) पर्याप्त है किंतु (**पिसुणाणं**) पिशुनों का तो (**सव्वं**) सर्वस्वही (**सव्वस्स**) सब के लिये (**भयजणयं**) भयोत्पादक है ।

भावार्थ –इस ससार में वृश्चिकों (विच्छुओ) का डंक सर्पोंका विष व्याप्त वदन तथा मूढ (अज्ञ) प्राणियों का युगल दृष्टिबिम्बही केवल अन्तःकरण में भयोत्पादक है किंतु पिशुन पुरुषों का तो सर्वस्व ही सर्व जन समुदाय के लिये भयावह है तात्पर्य यह है कि उपरोक्त सकल विकराल जीवों का तो एकांग ही भयजनक है किंतु दुष्टों के तो सम्पूर्ण अवयव ही सर्वदा भयकारी हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

गुणिणो गुणेहिं विहवे हि विहविणो होन्तु गव्विया नाम ॥
दोसेहि नवरि गव्वो खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो ॥७

छाया.

गुणिनोगुणैर्विभवैर्विभविनो भवन्तु गर्विता नाम ॥
दोषैर्नवरि गर्वो खलाना मार्ग एवापूर्वः ॥

दोहा.

गुणगण को करे गर्व गुणी धनपति धन को गर्व ॥
दुर्जन शठ नित शाठ्य को ताको गर्व अपूर्व ॥

अन्वयार्थ – (**गुणिणो**) गुणी जन (**गुणेहिं**) गुणोंसे और (**विहविणो**) ऐश्वर्यशाली (**विहवेहिं**) धनसे (**नाम**) भले ही (**गव्विया**) गर्वित (**होन्तु**) होवें किंतु (**खलाणं**) दुर्जनोंका (**मग्गो**) मार्ग तो (**च्चिय**) निश्चय करके (**अउव्वो**) अपूर्व ही है जो कि (**दोसेहिं**) दोषोंसे ही (**नवरि**) केवल (**गव्वो**) मिथ्याभिमान को धारण करते हैं ।

भावार्थ – गुणीजन चाहे स्वगुणोंके माहात्म्यसे एव वैभवशील चाहे निज ऐश्वर्यके प्रसादसे गर्वित होवें यह युक्ति संगत है किंतु केवल स्वकीय दोष समूहसे ही गर्व (दर्प) धारण करना ऐसा खलोंका मार्ग तो अतीव विचित्र एव अपूर्व है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि निज गुणातिशयसे गर्व करता है तो वह निंदनीय नहीं कहा जा सकता है किंतु गुणविहीन दुर्जनका गर्व तो नितान्त वचनीयताको ही प्राप्त करता है

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

अयचिय बहुसाहो जीविज्जइ जो मसाण मज्झंमि ।
साहो सो न डसिज्जइ भुयग परिवेढिय चलणे ॥ ८ ॥

छाया

अयमेव बहुसाहसो जीव्यते य सज्जनो मध्ये ।
साहसो न दश्यते भुजंग परिवेष्टिते चरणे ॥ ८ ॥

दोहा

चरण युगल वेष्टित अही ता सम दुर्जन संग ।
सो जन यदि जीवितव्यता पुण्य किये बहुरंग ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जो) जो व्यक्ति (मसाण) दुर्जन मनुष्यों के (मज्झम्मि) मध्य में सहवास में रहने पर भी (जीविज्जइ) जीवित बना रहता है उसके लिये (अयं) जीवित बने रहना यही (चिय) निश्चय करके (बहुसाहो) बड़ा भारी जीवन क्रम है जिस प्रकार कि (भुयंग परिवेढिय) भुजंगों से परिवेष्टित—लिपटे हुए (चलणे) युगल चरणों के होने पर भी (जो) जो (न डसिज्जइ) सर्पद्वारा नहीं डसा जाता है (साहो) वह भी महान् जीवन क्रम है ।

भावार्थ—जैसा भयंकर भुजंगों से वेष्टित चरण युगलवाले व्यक्ति का सर्पों द्वारा डसित न होकर जीवित बना रहना यह महान् पुण्योदय का हेतु रूप है वैसे दुर्जनों के सहवासमें रहने पर भी मानव का शिष्टाचार पूर्वक निष्कलंक बना रहना यह पूर्व संचित पुण्य का ही प्रताप है । तात्पर्य यह है कि दूषित वातावरण में रहते हुए भी जो प्रतिकूल पथानुगामी नहीं होता है वही पुरुषने संसार में वास्तविक क्रम [जीवन सामर्थ्य] प्राप्त किया है ।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म. की सं. के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी म. श्री

मूल.

मलिणा कुडिलगइओ परछिद्दरया य भीसणा डसणा।
पयपाणेण वि लालयन्तस्स मारंति दोजीहा ॥ ९ ॥

छाया.

मलिनाः कुटिलगतय परछिद्ररताश्च भीषणा दशना ।
पय पानेनापि लालयतो मारयन्ति द्विजिन्हा ॥ ९ ॥

दोहा

कृष्णवर्णि अरुवक्र गति इतर विवर पै दृष्टि ।
पाले अहि पाय पान दे होय मौत की वृष्टि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ –(**मलिणा**) मलीन [कृष्णवर्णी] (**कुडिल गइओ**) वक्रगति वाले (**परछिद्दरया**) दूसरों के छिद्रों में ही तत्पर बने हुए (**भीसणा**) भयकर (**य**) और (**डसना**) डसने वाले ऐसे (**दोजीन्हा**) सर्प रूपी दुष्टनर (**पय पाणेण**) दुग्धपान द्वारा (**लालयन्तस्स**) लालन पालन करने वाले व्यक्तियों को (**वि**) भी (**मारति**) मार डालते हैं ।

भावार्थ–मलीन, कृष्णवर्णी, कुटिलगतिवाले, परछिद्रान्वेषी, भीषण एव डसने वाले द्विजिन्हारूपी दुष्ट मानव दुग्धपान द्वारा यथावत लालन पालन किये जाते हुए भी अनिष्ट जनक ही होते है । जैसे सर्प मलीन वक्रगतिवाला बिलगवेषक भयकर एव डसने वाला होता है तथैव दुर्जन भी मलीन चित्तवृत्ति वाला कपटी परदोषान्वेषी भयकर एव मर्मभेदी होता है तथा दुग्धपान कराने के समान प्रेमपूर्वक लालित पालित होने पर भी विषसम दारुण परिणामी ही होता है तात्पर्य यह है कि सर्प और दुर्जन में सर्वत्र समानता है ।

मूल

धिद्धी ताण नराणं जे पररमणीण रुवमित्तेण ॥
खुहिया हणंति सव्वं कुलजस सग्गापवग्ग सुहं ॥ १० ॥

छाया

धिक् धिक् तेषां नराणां ये पररमणीनां रूपमात्रेण ॥
क्षुभिता घ्नन्ति सर्वं कुलयशः स्वर्गापवर्ग सुखम् ॥

दोहा

परम सुन्दरी कामिनी लखिके हो आसक्त ।
ते कुल यश अपवर्ग सुख नाश करे मद मस्त ।

अन्वयार्थ – (जे) जो पुरुष (पररमणीण) परनारियों के (रुवमित्तेण) केवल रूपमात्रके अवलोकनसे ही (खुहिया) क्षुभित [चंचल चित्त] हो जाते है (ताण) उन (नराणं) मनुष्यों को (धिद्धी) धिक्कार है और वे ही (कुलजससग्गापवग्गसुहं) निज कुल यश स्वर्ग एवं मोक्षके सुखादि (सव्वं) समस्त (हणंति) नाश करते है।

भावार्थ – जो पुरुष मनुष्य परकीय सौंदर्यशील रमणियों के रूपमात्रका अवलोकन करनेसे ही चपलचित्त हो जाते हैं उनको अनेकशः धिक्कार है क्योंकि क्षणिक विषय सुखमें आसक्त होकर वे दुर्लभ नर जन्म [illegible] कुल यश स्वर्ग एवं अपवर्गके मधुर सुखोंको क्षणमें ही विलीन कर सकते है अतः परनारीके प्रति दूषित भावना रखना सर्वथा अनुचित है।

अनुवादक—पूज्य श्री घासीलालजी म. श्री के शीष्यपुत्र विनयचन्द्रजी म. श्री

मूल.

अहवा सहावओ च्चिय दोसग्ग हणम्मि वावडमणस्स ॥
अब्भत्थणासएहिं वि न खलस्स खलत्तणं गलइ ॥११॥

छाया.

अथवा स्वभावादेव दोषग्रहणे व्यावृतमनस' ॥
अभ्यर्थना शतैरपि न खलस्य खलत्व गलति ॥

दोहा.

नीच न त्यागे नीचता चाहे हो सत्संग ॥
किरमिजी में जो सनगया कभी न छोडे रंग ॥

अन्वयार्थ'– (**अहवा**) अथवा (**सहावओ**) स्वभाव से ही (**च्चिय**) निश्चय करके (**दोसग्गहणम्मि**) दोष ग्रहण करनेमें (**वावड-मणस्स**) लगा हुआ है मन जिसका (**खलस्स**) ऐसे दुर्जन की (**अब्भ-त्थणा सएहिं**) सैकडों प्रकारसे प्रार्थना करने पर भी (**खलत्तणं**) उसकी दुर्जनता (**न**) नहीं (**गलइ**) नष्ट हो सकती है ।

भावार्थ – जिस मनुष्यका मन सर्वदा पर पुरुषके छिद्र (दोष) गवेषणमें ही लगा हुआ है ऐसे दुष्ट मनुजकी शतविधि अभ्यर्थना एव स्तुति की जानेपर भी उसकी दुर्जनता सुजनताका रूप धारण नहीं कर मकनी है अर्थात् परदोष गवेपक दुर्जन नाना-विध सदुपदेशों सत्कारों और मन्मानों द्वारा भी निज प्रकृतिका परित्याग नहीं कर सकता है ।

मूल.

दुज्जण सहाए पडिय निम्मल कव्वंपि लहइ न पइट्ठ ।
जल बिन्दुव्व सुतत्ते आयस भाणम्मि पक्खितो ॥१३॥

छाया

दुर्जन सभायाम् पतित निर्मल काव्यमपि लभते न प्रतिष्ठाम् ।
जलबिन्दुरिव सुतप्ते आयसभाजने प्रक्षिप्त. ॥ १३ ॥

दोहा

तप्त लोहके पात्र में जलकण दशा विचार ।
निर्मल कविका काव्य भी दुर्जन सभा मझार ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ –(**सुतत्ते**) सुतप्त (**आयसभाणम्मि**) लोहे के वर्तन में (**पक्खित्तो**) डाले हुए (**जलबिन्दुव्व**) जलबिंदु के समान (**दुज्जणसहाए**) दुर्जनों की सभा में (**पडियं**) पडा हुआ (**निम्मलकव्व पि**) निर्मल काव्य भी (**पइट्ठं**) प्रतिष्ठा को (**न**) नहीं (**लहइ**) पाता है ।

भावार्थ –यथा अनल ज्वाला से सुतप्त लोह भाजन पर प्रक्षिप्त (डाला हुआ) जलबिन्दु तत्क्षण ही विलीन होजाता है तथैव दुर्जन गोष्ठिमें गया हुआ निर्मल काव्य (साहित्य) भी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता है क्योंकि उनको सदसद् साहित्य की ही परीक्षा नहीं है तथा उनका लक्ष्य बिन्दु एकान्त दोष की ओर होने से वे उसमें दोषान्वेषण ही करते रहते हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल.

अन्न च तस्स कीरइ पढम चिय पत्थणा खल जणस्स ॥
वीहेइ कविजणो जओ मूसओ इव विरालत्तो ॥ १५ ॥

छाया

अन्यच्च तस्य क्रियते प्रथममेव प्रार्थना खलजनस्य ॥
बिभेति कविजनो यत मूषक इव बिडालात् ॥

दोहा

मूषिक जहा बिलाव ते कवि भय शठ ते जान ॥
विघ्न भीति को टारने करे प्रार्थना ध्यान ॥

अन्वयार्थ – (**अन्नं च**) और भी सुनिये कि (**तस्स**) उस (**खलजणस्स**) दुष्ट व्यक्तिकी (**चिय**) निश्चय पूर्वक (**पढम**) सर्व प्रथम (**पत्थणा**) स्तुति (**कीरइ**) की जाती है (**जओ**) क्योंकि (**मूसओ**) मूषक [चूहे] के (**इव**) समान (**कविजणो**) कवि लोग भी (**विरालत्तो**) दुर्जनरूपी बिडाल [मार्जार] से (**वीहेइ**) भयभीत रहते हैं ।

भावार्थ – यथा मूषिक (चूहे) को सतत बिलावका भय बना रहता है उसी प्रकार सज्जनगण भी सर्वदा दुर्जनोंसे भयभीत रहते हैं इसी हेतु कविजन सर्व प्रथम दुर्जनोंकी प्रार्थना कर लिया करते हैं जिससे उनके द्वारा कोई बाधा उपस्थित न की जा सके अर्थात् सज्जोंके पूर्व दुर्जनोंकी प्रार्थना करनेका उद्देश्य यही है कि वे किसी सत्कार्य में विघ्नभूत न बने ।

मूल.

विसया विसं व विसमा विसया वेसानरव्व दाहकरा।
विसय पिसाय विसहर वाघाणसमा मरण हेऊ ॥ १ ॥

छाया.

विषया विषमिव विषमा विषय वैश्वानर इव दाह करा।
विषया पिशाचविषधरव्याघ्रै. समा मरण हेतु ॥ १ ॥

दोहा.

विषवत् विषय विकार ये, वन्हि तापसम जान।
विषधर व्याघ्र पिशाचसी होय मृत्यु की खान ॥ १ ॥

अन्वयार्थ'– (**विसया**) विषयभोग (**विसं**) विषके (**व**) समान (**विसमा**) भयंकर विषम हैं (**विसया**) विषय (**वेसानरव्व**) अग्निवत् (**दाहकरा**) दाहको करनेवाला है और (**विसय**) विषय (**पिसाय**) पिशाच (**विसहर**) विषधर [सर्प] एव (**वाघाणसमा**) व्याघ्रके समान (**मरण-हेऊ**) मृत्युका हेतुभूत है।

भावार्थ'– विषय विकार विषवत् कटुक एव दारुण फलदायक हैं विषय प्रज्वलित अग्निवत् दाहोत्पादक हैं और विषय ही पिशाच सर्प एव व्याघ्रके समान मृत्युके हेतुभूत हैं अर्थात् सांसारिक समस्त अनिष्टकी खान विषय ही हैं।

मूल

तुब्भे भणामि सावय विसयसुहं दारुणं मुणेऊण ॥
चवलतडिविलसियं पिव मणुयत्तं भंगुरं तहय ॥ २ ॥

छाया

ते हे भणामि श्रावक ! विषयसुखं दारुणं मत्वा ॥
चपलतडिद्विलसितमिव मनुजत्वं भंगुरं तथा च ॥

दोहा

श्रावकवर ! ये विषय सुख चपल तड़ितसा जान ॥
मानवीय जीवन अथिर दारुण दुखकी खान ॥

अन्वयार्थ – (सावया) हे श्रावको ! (विसयसुहं) विषयसुखको (दारुणं) भयंकर-दारुण (मुणेऊण) जान करके (तुब्भे) तुम लोगोंको (भणामि) मैं कहता हूं कि यह (चवलतडिविलसियं) चंचल बिजुलीके प्रकाश सम चंचल है (तहय) तथैव (मणुयत्तं) मानवीय जीवन (पिव) भी (भंगुरं) क्षणभंगुर है। ।।

भावार्थ – हे श्रावको ! विषय सुखको भयंकर जानकर ही मैं तुमसे कहता हूं कि यह विषय सुख चंचल बिजलीके प्रकाश सम क्षणिक है तथा मानवीय जीवन भी क्षणविध्वंसी है ऐसा जानकर सतत विषयवासना त्याग करना चाहिये। क्योंकि इसमें रच पचकर मनुष्य नानाविध गतियोंमें परिभ्रमण करता है।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म. की स. के शिष्यपुत्र विनयचन्द्रजी म. श्री

मूल.

सुयणसमागमसोक्खं चवलं जोव्वणं पिय असारं ॥
सोक्खनिहाणमि सया धम्मंमि मई दढं कुणसु ॥ ३ ॥

छाया.

सुजनसमागमसौख्य चपल यौवनमपि चासार ॥
सौख्यनिधाने सदा धर्मे मतिं दृढा कुरु (युग्म) ॥

दोहा.

स्वजन समागम सुख चपल यौवन भी निस्सार ॥
अक्षय सुख दातार जो धर्मबुद्धि दृढ धार ॥

अन्वयार्थ:- (**सुयणसमागमसोक्खं**) स्वजनोंके समागमका सुख (**चवलं**) चपल है और (**जोव्वणं**) यौवन (**पिय**) भी (**असारं**) असार है इसलिये (**सोक्खनिहाणंमि**) सुखके अपूर्व कोष [भंडार] ऐसे (**धम्मंमि**) धर्ममें (**सया**) सदा (**मई**) मतिको (**दढ**) दृढ (**कुणसु**) कर।

भावार्थ – स्वजन परिजन स्नेही एव बंधुवर्गका समागम क्षणिक सुखदायी है और तरुणावस्था भी क्रमशः व्यतिक्रान्त होती जारही है इसलिये अपूर्व सुखकी प्राप्ति में विशेषहेतुरूप धर्ममें ही सदा निज मतिको पुष्ट करना चाहिये अर्थात् विषय भावना का त्यागकर धर्ममें प्रयत्नशील होना ही श्रेयस्कर है।

मूल.

जह कमले व्व महुयरो आसत्तो तहय कामगयचित्तो ।
महिलाणुरागरत्तो किं न कुणइ साहसं पुरिसो ॥ ९ ॥

छाया

यथा कमले इव मधुकर आसक्त स्तथैव कामगत चित्त ।
महिलानुरागरक्तः किन्न करोति साहस पुरुष ॥ ९ ॥

दोहा

विषयगृद्ध मधुकर मधुर कमल कुसुममें बन्द ।
नारी के अनुराग में गृद्ध मनुजको फन्द ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ–(**जह**) जिस प्रकार (**कामगयचित्तो**) विषयभोग में गृद्ध चित्तवाला (**महुयरो**) मधुकर (भ्रमर) (**कमले**) कमल में ही (**आसत्तो**) आसक्त बना रहता है (**तहय**) उसी प्रकार (**महिलाणुरागरत्तो**) स्त्री के अनुराग (प्रेम) में फंसा हुआ (**पुरिसो**) मनुष्य भी (**किं**) क्या ? (**साहसं**) साहस (**न**) नहीं (**कुणइ**) करता है ।

भावार्थ –जिस प्रकार मधुकर (भ्रमर) कमल वृन्द में ही आसक्त बना रहता है उसी प्रकार विषय भोगों में गृद्ध बना हुआ विषयी व्यक्ति भी महिला के अनुराग में ही फसा रहता है प्रेम पाशसे बधा हुआ वह आशक्त पुरुष कौन से साहस पूर्ण कामों को नहीं कर सकता है अर्थात् जटिलतम कार्यों को भी सहसा कर डालता है ।

मूल.

जह कच्छुलीकच्छु कडुयमाणो दुह मुणइ सोक्ख।
मोहाउरा मणुस्सा तह कामदुह सुह विंति ॥ ७ ॥

छाया.

यथा कच्छूमान् कच्छू कण्डूयमानो दुःख मन्यते सौख्यम् ।
मोहातुरा मनुष्यास्तथा काम दुःखं सुख विदन्ति ॥ ७ ॥

दोहा

खुजली वाला मनुज ज्यों, खुजले पा अति पीर।
तद्दुख को फिर भी सदा, सुखका माने तीर॥
कामी त्यों इन भोगको हैं जो दुख के मूल।
सुखद मोद करी गिने, समझे नहीं निज भूल॥
पर ये हैं विपरीत ही, परिणामों के धाम।
जग जलनिधिके मल हैं, भटकावे सब ठाम॥ ७॥

अन्वयार्थ -(**जह**) जैसे (**कच्छुली**) खुजली वाला व्यक्ति (**कच्छु**) खुजली को (**कडुंयमाणो**) खुजालता हुआ (**दुहं**) तज्जानित दुःख को (**सोक्खं**) सुखरूप ही (**मुणइ**) मानता है (**तह**) उसी प्रकार (**मोहाउरा**) मोहमें आसक्त बने हुए (**मणुस्सा**) मनुष्य भी (**कामदुहं**) विषय विकार के दुख को (**सुह**) सुखरूप ही (**विंति**) मानते हैं।

भावार्थ -यथा खुजली वाला व्यक्ति खुजली को खुजालता हुआ तज्जनित दुखको सुखरूप ही मानता है तथैव मोहातुर मनुष्य भी वैषयिक दुखों को सुखरूप ही मानता है किंतु जैसे खाज खुजा लेनेका परिणाम विपरीत ही होता है वैसे ही विषय सुखोंका फल भी अनिष्टकारी ही है।

मूल.

जं नत्थि तं पलोयइ जं विज्जइ तं न पिच्छइ पयत्थं ।
अहह अहो अपुव्वं तिमिरं मिहिरुग्गमे मयणो ॥ ८ ॥

छाया.

यो नास्ति तं प्रलोकते यो विद्यते तं न पश्यति पदार्थम् ।
अहह अहो ! अपूर्वं तिमिरं मिहिरोद्गमे मदनः ॥ ८ ॥

दोहा

जाको काम जो नास्ति है भासीवे नहिं ध्यान ।
सूर्योदय की कान्तिमें अरे ! तिमिर की खान ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ –(मयणो) कामदेव (जं) जो (पयत्थं) वस्तु (नत्थि) विद्यमान नहीं है (तं) उसको तो (पलोयइ) देखता है और (जं) जो (विज्जइ) विद्यमान है (तं) उसको (न) नहीं (पिच्छइ) देखता है (अहहअहो) अरे ! अहो (मिहिरुग्गमे) सूर्योदय होनेपर भी (अपुव्वं) यह तो अपूर्व ही (तिमिरं) अंधकार बना हुआ है ।

भावार्थ –कामदेव के प्रेम पाशमें फंसा हुआ मनुष्य विद्यमान वस्तुका किंचित भी अवलोकन नहीं करता है और जो अविद्यमान है उसको दृष्टिगोचर करता है यह तो एक अजब ही अंधकारका नमूना है जो कि सूर्योदय होनेपर भी मिटता नहीं होता है ।

मूल.

ता लज्जा ता माणो ताव य परलोय चिंतणे बुद्धी ।
जान विवेयजियहरा मयणस्ससरा पहुप्पन्ति ॥ ९ ॥

छाया.

तावल्लज्जा तावन्मानस्तावच्च परलोक चिन्तने बुद्धि ।
यावन्न विवेकजीवहराणि मदनस्य शरासि प्रभवन्ति ॥ ९ ॥

दोहा.

लज्जा और परलोक तव, तबलौं गौरवभान ।
जबलौं मति में नहीं लगे कामदेव को बाण ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः–(**ता**) तभीतक (**लज्जा**) लज्जा रहती है (**ता**) तभीतक (**माणो**) स्वाभिमान रहता है (**य**) और (**ता**) तबतक ही (**परलोय चिंतणो**) परलोक चिंतवन में (**बुद्धी**) बुद्धि प्रवृत्ति करती है (**जा**) जबतक कि (**विवेयजियहरा**) जीव के विवेक को हरनेवाले (**मयणस्स**) कामदेव के (**सरा**) वाण (**न**) नहीं (**पहुप्पन्ति**) प्रभाव दिखाते हैं–असर करते हैं ।

भावार्थ–संसारमें मनुष्य तभीतक लज्जा रख सकता है तभीतक स्वाभिमान रख सकता है और तभीतक परलोक के परमार्थ चिन्तवन की ओर बुद्धि प्रवृत्ति करती रहती है जबतक कि जीवके विवेक का हर्ता इस कामदेव के वाणों का हृदय में प्रभाव नहीं होता है ।

मूल.

विसयसुहेसु पसत्तं अबुहजणं कामराग पडिबद्ध ।
उक्कामयंति जीव धम्माओतेण ते कामा ॥ ११ ॥

छाया.

विषयसुखेषु प्रसक्तमबुधजन कामराग प्रतिबद्धम् ।
उत्कामयन्ति जीव धर्मात्तेन ते कामा ॥ ११ ॥

दोहा.

विषयगृद्ध हो अबुध नर प्रेम पाश में बद्ध ।
धर्म मार्ग से च्युत करे काम शब्द परसिद्ध ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ –(**विसयसुहेसु**) विषय विकारों में (**पसत्तं**) आसक्त बने हुए (**अबुहजणं**) अज्ञानी एव (**कामराग पडियद्धं**) विषय मोह में फंसे हुए (**जीव**) जीवको (**धम्माओ**) धर्ममार्ग से (**उक्काम-यंति**) विपरीत प्रवृत्ति करवाते हैं (**तेण**) इस कारण से (**ते**) वे (**कामा**) काम कहलाते हैं ।

भावार्थ –विषय विकारों में आसक्त बने हुए अज्ञानी एव विषय जनित मोह पाशमें फंसे हुए प्राणियों को उत्तमोत्तम धर्म मार्गसे विपरीत प्रवृत्ति कराने वाला होने से ही यह " काम " इस अभिमानसे सम्बोधित होता है अर्थात् विषय का काम इसीलिये अभिधान (नाम) रक्खा गया है कि यह जीवोंको धर्म विपरीत न्याय विरूद्ध एव सतपथसे शून्य मार्गपर ले जाता है ।

मूल

उल्लो सुक्को य दो छूढा गोलया मट्टियामया।
दोवि आवडिया कुड्डे जो उल्लो सोऽत्थ लग्गइ ॥ १२ ॥

छाया

आर्द्रं शुष्कश्च द्वौ क्षिप्तौ गोलकौ मृत्तिकामयौ।
द्वावप्यापतितौ कुड्ये, य आर्द्रः सतत्र लगति ॥ १२ ॥

दोहा

आर्द्र शुष्क गोले उभय फेंको भित्ति जाय।
शुष्क तुरंत भूमि पर, आर्द्र तहां चिप जाय ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ —(उल्लो) गीला (य) और (सुक्को) सूखा (दो) ऐसे दो (मट्टियामया) मिट्टी के बने हुए (गोलया) गोले (छूढा) फेंके जाय तो (कुड्डे) भित्तिका पर (आवडिया) लगनेपर अर्थात् पड़नेपर (दो वि) उन दोनोंमें से (जो) जो (उल्लो) आर्द्र गोला है (सोऽत्थ) वह वहांपर (भित्तिका पर) ही (लग्गइ) चिपक जाता है।

भावार्थ —आर्द्र एव शुष्क ऐसे मिट्टी के दो गोले बनाकर यदि भित्तिका पर फेंके जाय तो जो सूखा गोला है वह भित्तिका को स्पर्श कर भूमिपर गिर जायगा किन्तु गीले गोले के फेंकने से वह वहीं भित्तिका लग्न हो जाता है।

[शेषभाव आगे की गाथामें वर्णन करें]

मूल.

एवं लग्गंति दुम्मेहा जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति जहा सुक्के उ गोलए ॥ १३ ॥

छाया

एवं लगन्ति दुर्मेधसः ये नरा कामलालसाः ।
विरक्तास्तु न लगन्ति यथा शुष्कस्तु गोलकः ॥ १३ ॥

दोहा.

आर्द्र गोल सम दुष्टधी विषयों में आसक्त ।
शुष्क वही संसार से रहे सदा हि विरक्त ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) इस प्रकार (**जे**) जो (**नरा**) मनुष्य (**दुम्मेहा**) दुष्टमति वाले और (**कामलालसा**) कामलालसामें आसक्त बने रहते हैं वे भी (**लग्गंति**) गीले गोले की तरह संसार में फस जाते हैं किंतु (**सुक्के**) जो शुष्क-सूखे हुए (**गोलए**) गोलेके (**जहा**) समान (**विरत्ता उ**) भोगों से विरक्त रहते हैं वे (**न**) नहीं (**लग्गंति**) संसारमें फसते।

भावार्थ—तथैव जो दुष्टबुद्धि मानव कार्तिकश्वानवत् विषय विकारों में मदोन्मत्त बने हुए रहते हैं वे आर्द्र गोले की तरह संसाररूप कीच में फस जाते हैं। और जो सांसारिक विषय भोगों से सर्वथा विरक्त चित्तवाले हैं वे शुष्क मट्टि के गोले समान संसार के विषय भोगों में नहीं चिपकते हैं।

ओर से पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

उवलेओ होइ भोगेसु अभोगी नो वलिप्पइ।
भोगी भमइ ससारे अभोगी विप्पमुच्चई ॥ १४ ॥

छाया

उपलेपो भवति भोगेषु अभोगी नोपलिप्यते।
भोगी भ्राम्यति ससारे अभोगी विप्रमुच्यते ॥ १४ ॥

दोहा

जीव भोगते लिप्त हो अभोगी जन नहीं लिप्त।
भ्रमें भोगीभव वन विषे अभोगी कर्म विमुक्त ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(भोगेसु) भोगों द्वारा आत्मा (उवलेओ) कर्म लेपसे लिप्त (होइ) हो जाती है और (अभोगी) अभोगी पुरुष (नो) नहीं (वलिप्पई) कर्मों से लिप्त होता है (भोगी) भोगी जीव (संसारे) संसार में (भमइ) पर्यटन करता रहता है और (अभोगी) अभोगी जीव (विप्पमुच्चई) कर्मबन्धन एवं संसार से विमुक्त हो जाता है।

भावार्थ —जो व्यक्ति विषयासक्त होते उनकी आत्मा मलिनतम कर्मों से लिप्त होती जाती है और जिनकी विषय वासनाओं में अनासक्ति है उनकी आत्मा कर्मों से हल्की होती जाती है भोगी जीव चतुर्गतिरूप संसार में पर्यटन करता रहता है और अभोगी जीव ज्ञानस्वरूप आत्मा कर्मों से विमुक्त हो मोक्षधामको प्राप्त होजाते है।

मूल.

खणमित्तसुक्खा वहुकालदुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा
ससारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा
॥१५॥

छाया.

क्षणमात्रसौख्या वहुकालदु'खाः प्रकामदुःखा अनिकाम सौख्याः ।
ससार मोक्षयोर्विपक्षभूता खनिरनर्थाना तु कामभोगा ॥ १५ ॥

दोहा.

क्षणिक सुखद औ दुख बहू अरिसम बाधक जान ।
बहु दुख, सुख परिणाम कम अति अनर्थ की खान ॥१५॥

अन्वयार्थ – (**कामभोगा**) विषय भोग (**खणमेत्तसुक्खा**) क्षणिक सुखद् हैं किंतु (**वहुकालदुक्खा**) चिरकाल तक दुखदायी हैं (**पगामदुक्खा**) विषय भोगों में दुख बहुत परिणाम में (**अणिगामसोक्खा**) और सुख अल्प परिणाम में है तथा (**संसारमोक्खस्स**) संसार से मुक्त होने के लिये (**विपक्खभूया**) शत्रुवत् विघ्न पहुचाने वाले हैं एव (**अणत्थाणउ**) महान् अनर्थों की (**खाणी**) खदान हैं।

भावार्थ –ये वैषयिक सुख क्षणिक सुखद हैं किन्तु चिरकाल पर्यंत दुखदायी हैं इन विषय विकारों में दुख अत्यधिक परिमाणमें रहा हुआ है और सुख अल्पमात्रामें ससार सागर को पार करनेके लिये ये शत्रुवत् विघ्नकारी हैं और महान् अनर्थों की खान है।

❋ अहिंसा ❋

न वचन एव काया इन त्रिविध योगों से किसी को भी त्रिकरणपूर्वक कष्ट न पहुचाना ही अहिंसा का वास्तविक लक्षण है। कोई प्राणों के अव्यपरोपण अर्थात् अनतिपात को ही अहिंसा कहते हैं किंतु सूक्ष्म दृष्टि से सांगोपांग मनन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राण अव्यपरोपण को ही अहिंसा नहीं कहते हैं प्रत्युत प्राणियों को किंचित्मात्र भी किलामना नहीं पहुचाना ही अहिंसा है।

अपने प्रतिपक्षी के प्रतिकार का उत्तम साधन अहिंसा ही है। सकल बाह्य साधन विहीन व्यक्ति केवल एक अहिंसारूपी आंतरिक शस्त्र विशेषद्वारा सब पर विजय प्राप्त कर सकता है।

हिंसा चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण कराने वाली और अहिंसामुक्ति पथपर लेजाने वाली है हिंसाके मार्ग से प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य भले ही क्षणिक विजय प्राप्त कर ले किंतु स्थायी विजय कदापि नहीं पासकता है।

वैसे तो सर्व मतानुयायी येन केन प्रकारेण अहिंसा का प्रतिपालन अवश्यावश्य करते हैं किंतु जैन-धर्म में जितना सूक्ष्म विचार पूर्वक वर्णन किया गया है उतना अन्य धर्मों में नहीं अन्य धर्मों की अहिंसा तो पशु या मनुष्य पर्यंत ही सीमित है किंतु जैन दर्शन विशारद रीतिसे एवं अप्रातिबन्धरूप से अहिंसा का प्रतिपादक है।

अहिंसा में प्रच्छन्न चमत्कारिक शक्ति का अनुभव वे ही कर सकते हैं जो तीक्ष्ण करवाल पर चलने लायक अहिंसा धर्म का पालन करने में समर्थ हैं।

[इसका विस्तृत विवेचन निम्न गाथाओं द्वारा ज्ञात करें।]

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म की स के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी म की

मूल.

कल्लाणकोडिजणणी दुरन्तदुरियाइ विग्घनिट्ठवणी ।
संसारजलहितरणी इक्का च्चिय होइ जीवदया ॥ २ ॥

छाया.

कल्याण कोटि जननी दुरन्त दुरितादिविघ्न निष्ठापिनी ।
संसार जलधितरिणी एकैव भवति जीवदया ॥ २ ॥

दोहा.

कोटी सुख उत्पादिका करे पाप गण दूर ।
भव जलनिधि की नाव है जीव दया मन चूर ॥ २ ॥

अन्वयार्थ--(**कोडि**) करोडों सुखों को (**जणणी**) उत्पन्न करने वाली (**दुरन्तदुरियाइविग्घनिट्ठवणी**) दुरन्त पापादि विघ्नों को दूर करने वाली (**संसार**) ससाररूपी (**जलहि**) सागर के लिये (**तरणी**) नौका-नावके समान (**इक्का**) एक (**जीवदया**) जीवदया ही (**च्चिय**) निश्चय (**होइ**) है ।

भावार्थ.--सकल ससार में समस्त सुखों की जननी दुरत पापादि विघ्न विदारिका एक जीवदया ही है ऐसी अहिंसारूप नौका द्वारा हम अगाध एव दुस्तर ससार सागरको अविलम्ब ही पार कर सकते हैं अर्थात्-- सासारिक समस्त दुःख जाल से विमुक्त होने का यदि कोई उपचार है तो केवल एक जीव रक्षारूप धर्म ही है इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उत्तम साधन नहीं हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउ ।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ ४ ॥

छाया.

सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति जीवितु न मर्त्तुम् ।
तस्मात्प्राणिवध घोर निर्ग्रन्था वर्जयन्ति नु ॥ ४ ॥

दोहा.

सर्वे जीव जीवन चहे मृत्यु चहै नहिं कोय ।
अस्तु साधु जन प्राणिवध त्यागे सव विधजोय ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ-(**सव्वे**) संसार के समस्त (**जीवा**) जीव (**जीविउं**) जीवित रहने की (**इच्छन्ति**) इच्छा रखते है किंतु (**मरिज्जिउं**) मृत्युकी (**न**) इच्छा नहीं करते हैं (**तम्हा**) इस कारण से (**निग्गंथा**) निर्ग्रन्थ जन (**घोरं**) भयंकर पापमय (**पाणिवहं**) प्राणिवध-हिंसा का (**वज्जयंति णं**) त्याग करते हैं ।

भावार्थ -अखिल जग जीव राशि सतत सर्वत्र जीवनाभिलाषा रखते हैं कोई भी प्राणी कदापि मरणाकांक्षा नहीं करता है क्योंकि अपना जीवन सबको वल्लभ है इस हेतु श्रमण निर्ग्रन्थ घोर एव स्निग्ध बधनरूप प्राणी वधका सर्वथा परित्याग करते हैं ।

मूल.

दट्ठूण पाणिनिवहं भीमे भवसायरम्मि दुक्खत्त ।
अविसेसा अणुकंप दुहावि सामत्थओ कुज्जा ॥ ६ ॥

छाया.

दृष्ट्वा प्राणिनिवहं भीमे भवसागरे दुःखार्त्तम् ॥
अविशेषादनुकम्पा दुखितेऽपि सामर्थ्येत कुर्यात् ॥ ६ ॥

दोहा.

भीमभवोनिधि माहिंजे दुख मे जो संतप्त ।
ता प्राणी को वध लखि हो अनुकम्पा सक्त ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ–(**भीमे**) भयकंर (**भवसागरम्मि**) भवसागर में (**दुक्खत्तं**) दुखसे व्याकुल बने हुए (**पाणिनिवह**) प्राणियों के वध को (**दट्ठूण**) देख करके (**सामत्थओ**) शक्त्यानुसार (**दुहावि**) दुखी अवस्थामें भी (**अविसेसा**) सामान्यरूप से (**अणुकंपं**) अनुकंपा–दया ही (**कुज्जा**) करनी चाहिये ।

भावार्थ–प्रत्येक मानव समाज का कर्तव्य है कि.–भीषण भवसागर में दुखों से व्यग्र बने हुए प्राणी समुदाय को देखकर सामर्थ्यानुसार दुखितावस्था में भी सामान्यत अनुकम्पा करनी चाहिये क्योंकि मनुष्य होने के नाते से दयादि सत कार्यों द्वारा अहिंसा धर्म का पालन करना परम कर्तव्य होजाता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों मे सादर समर्पित

मूल.

दिज्जाहिं जो मरन्तस्स सागरंतं वसुन्धरं।
जीविय वावि जो दिज्जा जीवियं तु स इच्छइ ॥ ८ ॥

छाया.

दद्याद् यदि म्रियते सागरान्ता वसुन्धराम् ।
जीवित वापि यदि दीयते जीवित तु स इच्छति ॥ ८ ॥

दोहा.

चरम काल के जीवको देवे पृथ्वीदान।
निज जीवन अर्पण करे चाहे केवल प्राण ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ–(**जो**) जो मनुष्य (**मरन्तस्स**) आसन्न मृत्यु वाले व्यक्ति के लिये (**सागरत**) सागरांत (**वसुन्धर**) पृथ्वी को भी (**दिज्जा**) दान में दे देवे (**वा**) अथवा (**जो**) जो (**जीवियं**) अपना जीवन भी (**दिज्जाहि**) अर्पण कर देवे तथापि (**स**) वह मृत्यु प्राप्त व्यक्ति तो (**जीविय**) जीवित रहने की ही (**इच्छइ**) इच्छा करता है ।

भावार्थः–मरणशय्यासनासीन व्यक्ति के लिये यदि कोई सागरान्त पृथ्वी का भी दान करदे अथवा प्रिय जीवन भी अर्पण कर देवे तथापि वह मरणासन्न व्यक्ति तो जीवित रहने की ही सतत अभिलाषा करता रहता है उस को अपने प्राणों के अतिरिक्त दूसरी कोई बहुमूल्य वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती है इसलिये वह द्रव्यकी ओर भी नहीं देखता है ।

ओर से पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

जीवदयाए रहिओ जीवो अन्नं करेइ जो धम्म ।
आरुहइ छिन्नकण्ण सो खरमेरावण मुत्तु ॥ १० ॥

छाया.

जीवदयया रहितो जीवोऽन्य करोति यो धर्मम् ।
आरोहति छिन्नकर्ण सखरमैरावत मुक्त्वा ॥ १० ॥

दोहा

अन्य धर्म को आचरे जीव दया को छोडि ।
कान कटे खर पे चढे ऐरावत गज मोडि ॥ १० ॥

अन्वयार्थ –(**जो**) जो (**जीवो**) प्राणी (**जीवदयाए**) जीव-दयासे (**रहिओ**) रहित बने हुए ऐसे (**अन्न**) अन्य (**धम्मं**) धर्मका (**करेइ**) आचरण करता है तो (**सो**) वह व्यक्ति (**मेरावण**) श्रेष्ठ एरावण हाथी को (**मुत्त**) छोडकर (**छिन्नकण्ण**) कटे कान वाले (**खर**) गधे पर (**आरुहइ**) चढता है ।

भावार्थ –जो प्राणी जीवदयाविहीन अन्य धर्म का आश्रय ग्रहण करता है वह व्यक्ति श्रेष्ठ एरावण हाथी का परित्याग कर छिन्नकर्ण वाले रासभपर आरूढ होने की आकाक्षा रखता है अत प्रणातिपातरूप असद्धर्म को ग्रहण करना उचित नहीं है ।

ओर से पडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

भवजलहितरीतुल्लं महल्लकल्लाणदुमअभयकुल्लं ।
संजणियसग्गसिव सुक्ख समुदयं कुणह जीवदय ॥१२॥

छाया.

भवजलाधितरीतुल्या महत्कल्याण द्रुमाभय कुल्याम् ।
सञ्जनितस्वर्गशिवसौख्यसमुदया कुरु जीवदयाम् ॥ १२ ॥

दोहा.

अभयदान भव नाव है कल्प वृक्ष कल्यान ।
स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति में जीव दया को ध्यान ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ –(**भवजलहि**) संसाररूपी समुद्र के लिये (**तरीतुल्लं**) नौकातुल्य (**महल्लकल्लाणदुमअभयकुल्ल**) महान् कल्याणकारी कल्पवृक्ष सदृश अभयदान तथा (**संजणियसग्गसिवसुक्ख समुदय**) उत्कृष्ट स्वर्ग एवं मोक्ष सुख को प्रकट करने वाली ऐसी (**जीवदय**) जीवदया (**कुणह**) करो ।

भावार्थ –हे भव्य जीवो ! यदि तुझे अगाध एव विस्तीर्ण ससार जलनिधि से पार पहुंचने की तीव्राभिलाषा है तो नौकातुल्य एव महान् कल्याणकारी कल्पवृक्ष सदृश आनन्ददायक इस अभयदानरूप धर्म का आश्रय ग्रहण करो क्योंकि जगत में स्वर्ग एव अपवर्ग के सकल सुखों को प्रगट करने वाली केवल जीवदया [अहिंसा] ही है ।

मूल.

जो कुणइ परस्स दुहं पावइ तं चेव अणंतगुणं ।
लब्भति अंबयाइं न हि निंबतरुम्मि ववियम्मि ॥ १४ ॥

छाया.

य' करोति परस्य दु'ख प्राप्नोति तदेवानंतगुणम् ।
लभ्यन्ते आम्रा न हि निम्बतरौ उप्ते ॥ १४ ॥

दोहा.

कूप खने जो और के तस खाई तैयार ।
निम्ब वृक्षपे आम्रफल कैसे होय विचार ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ'–(**जो**) जो व्यक्ति (**परस्य**) दूसरों के लिये (**दुहं**) दुखका उपाय (**कुणइ**) करता है वह (**तं**) उस दुख से भी (**चेव**) निश्चय करके (**अणंतगुणं**) अनन्त गुणाधिक (**पावइ**) दुख प्राप्त करता है क्योंकि (**निंबतरुम्मि**) निंबके वृक्षको (**ववियम्मि**) बोनेपर (**अंबयाइं**) आम्रफल (**न**) नहीं (**लब्भंति**) मिल सकते है ।

भावार्थ –जो व्यक्ति पर प्राणियो को दुख में डालने के प्रयत्न करता रहता है वह उस दु ख से भी अनन्त गुणा अधिक दुख प्राप्त करता है क्योंकि दुखों के उपायों का परिणाम भी दुखद ही होता है जैसे निम्ब वृक्षके बोनेपर आमके फल उपलब्ध नहीं होते हैं तथैव दुखों से सुखाकांक्षा रखना निरर्थक ही है ।

मूल.

धम्मेण कुलप्पसूई धम्मेण य दिव्वरूवसंपत्ती ।
धम्मेण धणसमिद्धी धम्मेण सुवित्थडा कित्ती ॥ १ ॥

छाया

धर्मेण कुलप्रसूति धर्मेण च दिव्यरूप सम्पत्ति. |
धर्मेण धन समृद्धि धर्मेण सुविस्तृता कीर्ति. ॥ १ ॥

दोहा.

वंश प्रसूति रूप धन सम्पति औ ऐश्वर्य ।
शुभ्र कीर्ति समृद्धि है होय धर्म गांभीर्य ॥ १ ॥

अन्वयार्थ –(**धम्मेण**) धर्म से (**कुलप्पसूई**) कुलपरंपरा चलती है (**य**) और (**धम्मेण**) धर्म से (**दिव्वरूव संपत्ति**) दिव्यरूप तथा सम्पत्ति प्राप्त होती है (**धम्मेण**) धर्म से (**धणसमिद्धि**) धनादि समृद्धि-ऐश्वर्य मिलता है तथा (**धम्मेण**) धर्म से ही (**कित्ती**) कीर्ति (**सुवित्थडा**) सुविस्तृत–सर्वत्र व्याप्त होती है ।

भावार्थ –धर्म के प्रसाद से ही कुलपरंपरा चलती रहती है और धर्म से ही दिव्यरूप अखूट सम्पत्ति एवं विपुल ऋद्धि प्राप्त होती है । धर्म से ही सांसारिक ऐश्वर्य सुख प्राप्त होते हैं तथा धर्मद्वारा ही समस्त विश्वमें निष्कलंक निर्मल कीर्ति व्याप्त होती है ।

मूल

धम्मो मंगलमउलं ओसहमउलं च सव्वदुक्खाणं ।
धम्मो बलमवि विउलं धम्मो ताणं च सरणं च ॥ २ ॥

छाया

धर्मो मङ्गलमतुलं औषधमतुलञ्च सर्वदुःखानाम् ।
धर्मो बलमपि विपुलं धर्मस्त्राणञ्च शरणञ्च ॥ २ ॥

दोहा

धर्म ही मंगल श्रेष्ठ है दुःखौषध है धर्म ।
जग गण को बल धर्म है त्राणभूत है धर्म ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(धम्मो) धर्म ही (मउलं) अद्वितीय (मंगलं) मंगल है (च) और (सव्व दुक्खाणं) सर्व दुःखों की (मउलं) अतुल-नीय (ओसहं) औषध है तथा (धम्मो) धर्म (विउलं) मनुष्योंका विपुल-बलाभारी (बलमवि) बल है (धम्मो) धर्म ही (ताणं) त्राण (च) एवं (सरणं) शरणभूत है।

भावार्थ—धर्म ही अद्वितीय मंगलकारी है और सर्व दुःखों से निवृत्त होने के लिये सर्वोत्तम औषध है धर्म मानवीय जीवन में महत्त्वपूर्ण सहायक है और धर्म ही विपत्ति के समय त्राण एवं शरणरूप है।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म. की स. के शिष्यरत्न विनयचन्द्रजी म. की

मूल.

किं जपिएण बहुणा जं जं दीसइ समत्थ जियलोए ।
इन्दियमणाभिरामं तं तं धम्मफलं सव्वं ॥ २ ॥

छाया

किं जल्पितेन बहुना यद्यद् दृश्यते समस्त जीव लोके ।
इन्द्रिय मनोऽभिराम तत्तद् धर्मफल सर्वम् ॥ २ ॥

दोहा.

इन्द्रिय मन की मोदता वस्तु दिसे जग मांहि ।
और कथन से लाभ क्या धर्म ही की है मांहि ॥ २ ॥

अन्वयार्थ–(**बहुण**) बहुत अधिक (**जंपिएण**) बोलने से भी महत्ता बताने से भी (**किं**) क्या लाभ है (**समत्थ**) इस समस्त (**जिय-लोए**) जीवलोकमें (**जं जं**) जो जो (**इन्दियमणाभिरामं**) इन्द्रिय एव मनको प्रसन्न करने वाली वस्तु (**दीसइ**) दृष्टिगोचर होती है (**तं तं**) वह (**सव्वं**) सब (**धम्मफलं**) धर्म का ही फल है ।

भावार्थ–पाठको ! धर्म के सम्बन्ध में विशेष प्रशसा करना अनुपयुक्त है इसलिये केवल इस एक ही वाक्य में सर्व सारांश जान लेना चाहिये कि समस्त जीव लोक में इन्द्रिय एव मन को अभिराम (सुन्दर) प्रतीत होने वाले जो २ पदार्थ दृष्टि गोचर होते हैं वे सब धर्म के प्रसाद से ही उपलब्ध कर सकते हैं ।

भार से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित -

मूल

भीमंमि मरणकाले मोत्तूणं दुक्खसंविढत्तंपि ।
अत्थं देहं सयणं धम्मोच्चिय होइ सुसहाओ ॥ ४ ॥

छाया

भीमे मरणकाले मुक्त्वा दुःख समुपार्जितमपि ।
अर्थों देह स्वजन धर्म एव भवति सुसहायः ॥ ४ ॥

दोहा

देह स्वजन धन छोड़ के मरण काल के माय ।
जीव सहायक धर्म है जो नित साथे जाय ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(भीमंमि) भयंकर (मरणकाले) मृत्युकाल में (दुक्खसंविढत्तंपि) दुखों से उपार्जन करने वाले (अत्थं) धन (देहं) शरीर एवं (सयणं) स्वकुटुम्बियों को (मोत्तूणं) छोड़कर (धम्मोच्चिय) धर्म ही निश्चय करके जीव का (सुसहाओ) सुसहायक (होइ) होता है।

भावार्थ—जीव मरण समय में दुःखोपार्जित धन शरीर एवं स्वजन स्नेही बन्धुओं का परित्याग कर अकेला ही परलोक में चला जाता है किन्तु केवल एक धर्म ही उस दुःखावस्था में उसका परम सहायक होता है तात्पर्य यही है कि संसार में सभी सम्बन्ध स्वार्थवश ही बनते हैं स्वार्थ पूरा होने पर सम्बन्ध टूट जाते हैं किन्तु आत्मा का सहयोगी रहता अकेला धर्म ही है

अनुवादक- पूज्य श्री धर्मदासजी म. श्री के सुपुत्र निमयचन्दजी म. श्री

मूल.

पावेइ य सुरलोय तत्तो वि सुमाणुसत्तणं धम्मो ।
तत्तो दुक्खविमोक्खं सासयसोक्खं लहुं मोक्खं ॥ ९ ॥

छाया.

प्राप्नोति च सुरलोकं ततोऽपि सुमानुष्यत्वं धर्मात् ।
ततो दुःखविमोक्षं शाश्वतसौख्यं लघु मोक्षम् ॥ ९ ॥

दोहा.

देवलोक हो धर्म ते तदनन्तर नर देह ।
दुख सागर ते मुक्त हो जाय मुक्ति के गेह ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः–(**धम्मो**) धर्म से जीव (**सुरलोयं**) सुर लोक को (**पावेइ**) प्राप्त करता है (**य**) और (**तत्तो**) वहांसे च्युत होकर (**समाणुसत्तणं**) श्रेष्ठ मानव देह पाता है (**तत्तो**) पश्चात् (**दुक्खविमोक्खं**) दुक्खों से मुक्त होकर (**सासयसोक्खं**) शाश्वत सुख वाले (**मोक्खं**) मोक्षको (**लहुं**) शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करता है।

भावार्थ–धर्म के महात्म्य से ही जीव सुर लौकिक सुखों को प्राप्त कर सकता है और आयुस्थिति पूर्ण होनेपर वहां से च्युत होकर भी उत्तम मानव देह को ही धारण करता है तदन्तर समस्त दुखों से मुक्त होकर शाश्वत सुख वाले मोक्षपद को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर सुखानुभव करता है।

मूल

धम्मेण लहइ जीवो सुरमाणुसपरमसोक्ख माहप्पं ।
दुक्खसहस्सावासं पावइ नरयं अहम्मेण ॥ ६ ॥

छाया

धर्मेण लभते जीवः सुरमानुषपरमसौख्य माहात्म्यम् ।
दुःखसहस्रवासं प्राप्नोति नरकमधर्मेण ॥ ६ ॥

दोहा

मानव सुरगति सुख मिले धर्म तत्व से मान
पाप करन ते नरक हो बहु दुखों का स्थान ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(जीवो) जीव (धम्मेण) धर्म से (सुर) देव संबंधी एवं (माणुस) मनुष्य सम्बंधी (परमसोक्ख) परम सुख के (माहप्पं) महत्व को (पावइ) प्राप्त करता है और (अहम्मेण) अधर्म से (दुक्खसहस्सवासं) हजारों दुखों के स्थान वाली (नरयं) नरकयोनि को (लहइ) प्राप्त करता है।

ग

भावार्थ—प्राणी धर्म के प्रसाद से ही देव सम्बन्धी एवं मनुष्य सम्बन्धी सौख्य सम्पदा को प्राप्त करता है और अधर्माचरित पापकर्मोंद्वारा ही हजार दुःख समूह वाले नरकादि भवों में नानाविध कष्टानुभव करता है अर्थात् धर्म से सुख पाता है और पापक्रिया से अनंत दुःख उठाना पड़ता है।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म. की सं. के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी म. की

मूल.

मेहेण विणा वुट्ठी न होइ न य बीयवज्जियं सस्सं ।
तह धम्मेण विरहिय न य सोक्ख होइ जीवाणं ॥ ७ ॥

छाया

मेघेन विना वृष्टिर्न भवति नच बीजवर्जित शस्यम् ।
तथा धर्मेण विरहित नच सौख्य भवति जीवानाम् ॥ ७ ॥

दोहा.

जलधर बिन नहिं वृष्टि हो बीज बिना नहिं धान्य ।
धर्म बिना नहिं सुख मिले और न होवे मान्य ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ-(**मेहेण**) मेघके (**विणा**) विना (**वुट्ठी**) वृष्टि (**य**) और (**वीयवज्जियं**) वीज के विना (**सस्सं**) धान्य (**न**) नहीं (**होइ**) होता (**तह**) वैसे ही (**धम्मेण**) धर्म से (**विरहियं**) रहित (**जीवाणं**) जीवोंको (**सोक्खं**) सुख (**न**) नहीं (**होइ**) प्राप्त होता है ।

भावार्थ-जैसे मेघ के विना वृष्टि और बीज के विना धान्योत्पत्ति होना असमव है तथैव धर्मविहित जीव के लिये सुख प्राप्ति भी अत्यन्त दुष्कर है अर्थात् मेघ से वृष्टि और बीजसे अन्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार धर्म से सुखलाभ होता है ।

मूल.

धम्मो चेवेत्थसत्ताणं सरणं भवसायरे ।
देव धम्मं गुरुं चेव धम्मत्थी य परिक्खए ॥ ९ ॥

छाया.

धर्मश्चैवात्र सत्वाना शरण भवसागरे ।
देव धर्म गुरुंचैव धर्मार्थी च परीक्षयेत् ॥ ९ ॥

दोहा.

पार करन भव जलधिको धर्म सत्व तू जान ।
सुरगुरु ही है धर्म मम धर्मार्थी तू मान ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ.-(एत्थ) इस (भवसायगरे) संसार सागर में सत्ताणं) जीवों के लिये (धम्मो) धर्म ही (चेव) निश्चय करके सरणं) शरणभूत है (य) और (देवं) देव (धम्मं) धर्म (चेव) तथा (गुरुं) गुरुको ही (धम्मत्थी) धर्मार्थी (परिक्खए) कहा गया है ।

भावार्थ-इस अगाध संसार समुद्र को तिरने के लिये एक धर्म ही त्राण एवं शरणरूप है और यथार्थ देव धर्म तथा गुरु की परीक्षा करने वाला ही धर्मार्थी कहा गया है तात्पर्य यही कि धर्मरूपी नौका बिना संसारसागर कदापि नहीं तिरा जा सकता है और धर्मार्थी पदका अधिकारी भी वही है जो कि सच्चे देव गुरु एवं धर्म की यथावत परीक्षा करता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल

बावत्तरीकलापंडिया वि पुरिसा अपंडिया चेव ।
सव्वकलाण पवरं जे धम्मकलं न जाणन्ति ॥ १० ॥

छाया

द्वासप्तति कला पण्डिता अपि पुरुषा अपण्डिता एव ।
सर्व कलानां प्रवरां ये धर्मकलां न जानन्ति ॥ १० ॥

दोहा

सर्व कलाकोविद मनुज धर्मकला अनभिज्ञ ।
कला बहोत्तरविज्ञ भी अज्ञानी है विज्ञ ॥ १० ॥

अन्वयार्थ-(जे) जो (पुरिसा) मनुष्य (सव्वकलाणं) सर्व कलाओं में (पवरं) उत्तम ऐसी (धम्मकलं) धर्म कलाको (न) नहीं (जाणन्ति) जानते हैं व (बावत्तरीकलापंडिया) बहोत्तर कलाओं के ज्ञाता पंडित भी (अपंडिया) अपंडित मूर्ख (चेव) ही है।

भावार्थ —जिस मनुष्यने बहोत्तर कलाओं में निपुणता प्राप्त की है किन्तु एक धर्मकला में दक्षता नहीं प्राप्त की तो उसका बहोत्तर कलाओं का ज्ञाता विद्वान् होना भी अपंडित का ही द्योतक है अर्थात् धर्मकला विहीन व्यक्ति बहोत्तर कलाओं का जानने वाला होने पर भी मूर्ख ही समझा जाता है।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मरत्नजी म. की सं. के श्रीयुत विनयचन्द्रजी म. की

मूल.

लद्धुण माणुसत्तं जस्स न धम्मे सया हवइचित्तं ।
तस्स किर करयलत्थ अमयं नट्ठ चिय नरस्स ॥ ११ ॥

छाया.

लब्ध्वा मानुषत्वं यस्य न धर्मे सदा भवति चित्तम् ।
तस्य किल करतलस्थममृत नष्टमेव नरस्य ॥ ११ ॥

दोहा

मानव भवको प्राप्तकर धर्म में न हो चित्त ।
करतल गत पीयूषवत् व्यर्थ गयो नरवित्त ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ–(**माणुसत्तं**) मनुष्यत्व को (**लद्धूण**) प्राप्त करके (**जस्स**) जिसका (**धम्मे**) धर्म में (**सया**) सदा (**चित्तं**) चित्त (**न**) नहीं (**हवइ**) होता है (**तस्स**) उस (**नरस्स**) मनुष्य का (**करयलत्थ**) हथेली पर रखा हुआ (**अमयं**) अमृततुल्य नरतन भी (**चिय**) निश्चय करके (**नट्ठं**) नष्ट होजाता है ।

भावार्थ–अत्यन्त दुर्लभ उत्तम मानव जीवन को प्राप्त करके भी जिसका निरन्तर धर्म में चित्त तल्लीन नहीं रहता है उसका मनुष्यत्व हथेलीपर रखे हुए अमृतके समान व्यर्थ ही प्रतिक्षण व्यतीत हो रहा है जैसे हथेलीपर रखा हुआ अमृत बिन्दु २ रूपमें टपककर व्यर्थ चला जाता है वैसे ही अमृततुल्य मानवदेह धर्म के बिना निरर्थक व्यतीत हो जाता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल.

सीलं न हु खडिज्जइ न सवसिज्जइ समं कुसीलेहिं ।
गुरुवयणं न खलिज्जइ जइ नज्जइ धम्मपरमत्थो ॥ १३ ॥

छाया.

शील नहि खण्डयेत् नच सवसेत् सम कुशीलैः ।
गुरु वचन न स्खलेत् यदि ज्ञायते धर्म परमार्थ ॥ १३ ॥

दोहा

धर्म तत्व परमार्थ विद शील करे नहिं भंग ।
नहिं टाले गुरुवचन को करे कुशील असग ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ-(**जइ**) यदि (**धम्म**) धर्म के (**परमत्थो**) परमार्थ को जो (**नज्जइ**) जानता है वह (**सील**) शीलव्रतको (**न**) नहीं (**खंडिज्जइ**) खडित कर सकता है (**कुसीलेहिं**) शिथिलाचारियों के (**समं**) साथ (**न**) नहीं (**सवसिज्जइ**) रहता है तथा (**गुरुवयणं**) गुरुवर्यों के वचन को (**न**) नहीं (**खलिज्जइ**) टालता है ।

भावार्थ.-जो श्रेष्ठगुणयुक्त व्यक्ति धम के परमार्थ तत्वको जानता है वह उत्कृष्शील धर्म का कदापि खडन नहीं कर सकता है शिथिलाचारियों के सहवास की भी इच्छा नहीं रखता है एव गुरुओं के सदुपदेशरूप वचनका उल्लघन भी नहीं कर सकता है ।

मूल

धम्मो बंधू सुमित्तो य धम्मोय परमो गुरू।
मुक्खमग्गे पयट्टाणं धम्मो परमसंदिणो ॥ १४ ॥

छाया

धर्मो बन्धुः सुमित्रश्च धर्मश्च परमो गुरुः।
मोक्षमार्गे प्रवृत्तानां धर्मः परम स्यन्दनः ॥ १४ ॥

दोहा

धर्मबन्धु औ मित्र है धर्मगुरु मतोर।
मोक्ष मार्ग के ही लिये सम्मति कहितार ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ — (धम्मो) धर्म ही (बंधु) बंधु (य) और (सुमित्तो) सच्चा मित्र है (धम्मो) धर्म ही (परमो) सब से बड़ा (गुरू) गुरु है (धम्मो) धर्म ही (मुक्खमग्गे) मोक्षमार्ग की ओर (पयट्टाणं) प्रवृत्ति कराने वालों के लिये (परमसंदिणो) श्रेष्ठ रथ के समान है।

भावार्थ — धर्म ही बंधु एवं सच्चा स्नेही है धर्म ही सर्वोत्तम गुरु है और मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्ति कराने के लिये धर्म ही उत्तम रथ के समान है जैसे सम्पूर्ण एवं स्नेही जन आपत्ति में सहायक होते हैं सुरक्षा सतत प्रयोग होते हैं इसी प्रकार धर्म भी आपत्तिमें सहायक सन्मार्गप्रेरक होता है।

मूल.

धिद्धीताणनराण विन्नाणे तह गुणेसुकुसलत्तं ।
सुहसच्चधम्मरयणे सुपरिक्खं जे न याणान्ति ॥ १९ ॥

छाया

धिग्धिक् ! तेषा नराणाम् विज्ञाने तथा गुणेषु कुशलत्वम् ।
शुभसत्यधर्मरत्ने सुपरीक्षा ये न जानन्ति ॥ १९ ॥

दोहा

बहु विज्ञानी कुशल नर बहु शास्त्रोंका विज्ञ ।
नहीं धर्म को पारखे तो सब विध है अनभिज्ञ ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ –(**जे**) जो मनुष्य (**सच्चधम्मरयणे**) श्रेष्ठ एव सच्चे धर्मरूपी रत्न की (**सुपरिक्खं**) श्रेष्ठ परीक्षा (**न**) नहीं (**याणन्ति**) जानते हैं (**ताण**) उन (**नराण**) मनुष्यों के (**विन्नाणे**) विज्ञान को (**धिद्धी**) धिक्कार है तथा (**गुणेसु**) गुणों की (**कुसलत्त**) कुशलता धिक्कार है ।

भावार्थ –जो मानव श्रेष्ठ एव यथार्थ धर्मरूपी रत्न की यथावत् परीक्षा नहीं जानता है उनके ज्ञानका तथा गुणों की निपुणता को बारम्बार धिक्कार है भावार्थ यही कि धर्मांकुर विहीन व्यक्ति चाहे महान् विद्वान् और समस्त गुण । युक्त हो तथापि वह सर्व कुशलता पाखण्डमात्र है ।

ओर से पडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

कोहस्स निग्गहणं खंती जीवो य संजमो भणिओ ।
खंती गुणाण मूलं खंती धम्मस्स सव्वस्सं ॥ १ ॥

छाया

क्रोधस्य निग्रहणं क्षान्तिर्जीवश्च संयमो भणितः ।
क्षान्तिर्गुणानां मूलं क्षान्तिर्धर्मस्य सर्वस्वम् ॥ १ ॥

दोहा.

कोप शत्रु का दमन कर क्षमा धर्म तू मान ।
जीव दमन संयम कहा सर्व गुणों की खान ॥ १ ॥

अन्वयार्थ-(**कोहस्स**) क्रोध के (**निग्गहण**) निग्रह-दमन को (**खंती**) क्षमा कहते हैं (**य**) और (**जीवो**) जीव के निग्रह को (**संजमो**) संयम (**भणिओ**) कहा गया है (**खंती**) क्षमा धर्म ही (**गुणा (ण**) सर्व गुणोंका (**मूलं**) मूल है तथा (**खंती**) क्षमाही (**धम्मस्स**) धर्म का (**सव्वस्सं**) सर्वस्व है ।

भावार्थ-क्रोध के कलुषित परिणामों को निग्रह करना ही क्षमा है और मनका निग्रह करना ही संयम कहा गया है क्षमा धर्म ही सकल गुणोंमें प्रधान गुण है और यही धर्म का सारभूत तत्त्व है अर्थात् क्षमा धर्म के प्राप्त होनेपर अन्य गौण धर्म सहसा इस के अनुगामी हो जाते हैं अत क्षमा ही समस्त गुणों का मूल मंत्ररूप है ।

मूल

कामा य कामिणीण मत्ता, गुणरूवसंपयाकलिओ ।
मणइट्ठो संपज्जइ, आणयाडिच्छो खमाधम्मे ॥ २ ॥

छाया

कामाश्च कामिनीनां भर्ता गुणरूप सम्पदाकलित ।
मनोऽभिप्रेता सम्पद्यते आज्ञा प्रतीक्षक क्षमाधर्मे ॥ २ ॥

दोहा

गुण सम्पति युत पति मिले तदनुरूप हो सम्य ।
मन इच्छित अनुराग मय क्षमाधर्म माहात्म्य ॥ २ ॥

अन्वयार्थ —(खमाधम्मे) क्षमा धर्म से (कामिणीण) स्त्रियों को (कामो) इच्छानुसार (गुणरूवसंपयाकलिओ) गुणरूप तथा सम्पत्ति से युक्त (मणइट्ठो) मनोभिराम प्रेम करने वाली (आणयाडिच्छो) आज्ञापालक (भत्ता) पति (संपज्जइ) प्राप्त होता है ।

भावार्थ क्षमा धर्म का यथावत् पालन करने से नारी जाति को मनोभिलषित उत्तम गुणवान, रूपवान, सम्पन्न, विपुल सम्पत्तियुक्त अपनी प्रेम करने वाला और आज्ञाकारी पति प्राप्त होता है अथवा स्त्री को जो सर्व प्रकार से संतोष प्राप्त पतिदेव मिलता है वह क्षमा धर्म का ही महान प्रताप समझना चाहिये ।

मूल.

सयलकलाकुसलाओ, निम्मलकुलसील पुन्नकलियाओ ।
लभंति लच्छिनिलया, महिलाओ खंतीधम्माओ ॥ ३ ॥

छाया

सकलकला कुशलो, निर्मल कुलशीलपुण्यकलिता ।
लभन्ते लक्ष्मीनिलयाः, महिला क्षान्ति धर्मात् ॥ ३ ॥

दोहा.

कला विशारद कुलवती, शीलवती मतिमान ।
गृहलक्ष्मी सी कामिनी, मिले वहुत धीमान ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ –(**खंतीधम्माओ**) क्षमाधर्म से मनुष्य (**सयलक-ला**) सर्व कलाओं में (**कुसला**) कुशल चतुर और (**निम्मलकुलसील पुन्न**) निर्मल कुलशील एव पुण्यसे (**कलियाओ**) युक्त (**लच्छिनिलया**) लक्ष्मीके गृह के समान ऐसी (**महिलाओ**) स्त्रियों को (**लभंति**) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ –क्षमा धर्म के अनुपम प्रभाव से ही मनुष्य सर्व कलाकुशला निर्मल कुलशील परिपूर्णा पुण्यशाली और लक्ष्मी के तुल्य स्त्री को प्राप्त कर सकता है अर्थात् यदि हम मनोवांच्छित गृहकला कोविद्गृहिणी चाहते हैं तो क्षमा धर्मका ही अवलम्बन लेना चाहिये ।

मूल.

खंतीए गुणसमेओ मन्निज्जइ माणवो विरूवो वि ।
जह नदिसेणसाहू पसंसिओ तियसनाहेण ॥ ५ ॥

छाया.

क्षान्त्या गुण समेतो मन्यते मानवो विरूपोऽपि ।
यथानन्दिषेणसाधु प्रशासितास्त्रिदशनाथेन ॥ ५ ॥

दोहा

विकृत नर सुंदर बने क्षमा धर्म आधार ।
नन्दिषेण मुनि इन्द्रते हुए प्रशंसित सार ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ'—(खंतीए) क्षमाधर्म से (विरूवो) कुरूप (माणवो मनुष्य (वि) भी (गुणसमेओ) गुणयुक्त (मन्निज्जइ) जाना जाता है (जह) जिस प्रकार (नदिसेणसाहू) नंदिषेन मुनिकी (तियसनाहेण) इन्द्रके द्वारा भी (पसंसिओ) प्रशंसा की गई ।

भावार्थ'—क्षमा धर्म के आदर्श प्रभावसे लावण्य हीन व्यक्ति भी सौन्दय शील एव सद्गुणी माना जाता है यथा नन्दीषेन नामक मुनिवर्य्य विकृतांगी होनेपर भी केवल क्षमाधर्म के प्रसाद से ही देव नायक इन्द्र द्वारा भी प्रशसित हुए अर्थात् क्षमागुण से आकर्षित होकर स्वय शक्र भी निज मुखारविंद से प्रशसा करने लगा ।

ओर से पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

न वि तं करेइ माया नेव पिया नेव बंधवजणो य ।
उवयारं जह खंती सुसेविया सव्व जीवाणं ॥ ६ ॥

छाया

नापि तत् करोति माता नैव पिता नैव बान्धवजनश्च ।
उपकारं यथा क्षान्तिः सुसेविता सर्व जीवानाम् ॥ ६ ॥

दोहा

जननी जनक न मूल बंधुजन नहीं करे उपकार ।
क्षमा धर्म के आचरे हो जग भूलोद्धार ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ —(जह) जिस प्रकार (जीवाणं) प्राणियों का (सुसेविय) सुसेविता (खंती) क्षमाधर्म (उवयारं) उपकार (करेइ) करता है (तं) वैसा उपकार (माया) माता (नेव) नहीं कर सकती है (पिया) पिता (नेव) नहीं कर सकता है (य) और (बन्धवजणो) बांधव जन (वि) भी (न) नहीं कर सकते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार क्षमारूपी परिचारिका (सेविका) समय समय पर की तन मन से सेवा सुश्रूषा और उपकार करती है वैसा उपकार न तो मित्र कर सकती है नहीं पिता कर सकता है और न बांधव उपकार कर सकते हैं अतः सकल कार्य सिद्धि में एक क्षमाधर्म ही मुख्य साधन माना है ।

मूल.

सव्वेवि गुणा खंतीइ वज्जिया नेवदिंति सोहग्गं।
हरिणंक कलविहूणा रयणी जह तारयड्ढावि ॥ ७ ॥

छाया

सर्वेऽपि गुणा क्षान्त्यावर्जिता नैव ददति सौभाग्यम् ।
हरिणाक कलाविहीनो रजनी यथा तारकाढ्यापि ॥ ७ ॥

दोहा

क्षमा रहित गुणगण भी नहीं शोभा को पाय।
उडुगण युतपिण शशि बिना रजनी ज्यों देखाय ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ–(**खंतीइ**) क्षमाधर्म से (**वज्जिया**) रहित बने हुए (**सव्वे**) अन्य सर्व (**गुणा**) गुण (**सोहग्गं**) शोभा को (**नेव**) नहीं (**दिंति**) प्राप्त होते हैं (**जह**) जैसे (**तारयड्ढवि**) तारक समुदाय से युक्त भी (**रयणी**) रात्रि (**हरिणंककलविहूणा**) कलाविहीन चन्द्रमासे शोभा नहीं देती है।

भावार्थ–जिस प्रकार सकल तारक मंडली से सुशोभित रजनी चन्द्र के बिना रमणीय प्रतीत नहीं होती है उसी प्रकार मनुष्य में सकल गुण गण विद्यमान हो किन्तु एक क्षमाधर्म नहीं हो तो वे समस्त गुण भी शोभास्पद नहीं होते हैं यथा तारक मंडली में चन्द्रप्रभा ही मुख्य है तथैव समस्त गुणों में क्षमा गुणही प्रधान है क्षमातिरिक्त अन्य गुण समुदाय की शोभा नहीं है।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

खंतिदयादमजुत्तो जो मणुओ होइ जीवलोगम्मि ।
सो जसकित्ती पावइ कल्लाण परंपरं विउलं ॥ ९ ॥

छाया.

क्षान्तिदया दम युक्तो यो मनुजो भवति जीवलोके ।
स यशः कीर्ति प्राप्नोति कल्याण परम्परा विपुलाम् ॥ ९ ॥

दोहा.

दया क्षमा इन्द्रिय दमन आदि गुणो से युक्त ।
धवल कीर्ति फैले विपुल होवे सत्वर मुक्त ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ –(**जीवलोगम्मि**) इस जीव लोकमें (**जो**) जो (**मणुओ**) मनुष्य (**खंतिदयादमजुत्तो**) क्षमा दया इन्द्रिय दमन आदि गुणों से युक्त (**होइ**) होता है (**सो**) वह मनुष्य (**विउलं**) विपुल बहुत अधिक (**कल्लाणपरंपरं**) कल्याण की परंपरा एवं (**जसकित्ती**) यश कीर्तिको (**पावइ**) प्राप्त करता है ।

भावार्थ –इस जीव लोकमें जो व्यक्ति क्षमा दया इन्द्रियदमन यदि मुख्य मुख्य गुणों से युक्त होता है वह विपुल कल्याण परपरा को और धवलयश कीर्ती को प्राप्त करता है अर्थात् प्राप्तिका एक मात्र साधन क्षमा है इसीसे हम स्वात्मपरात्म कल्याण कर सकते हैं और अपने नाम को सर्वदा के लिये चिरस्मरणीय बना सकते हैं।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

इहलोए परलोए सुहाण सव्वाण कारणं खंती ।
तम्हा जिणाण आणा कायव्वा मुक्खफलहेऊ ॥ १० ॥

छाया

इहलोके परलोके सुखानां सर्वेषां कारणं क्षान्तिः ।
तस्माज्जिनानामाज्ञा कर्तव्या मोक्षफलहेतुः ॥ १० ॥

दोहा

इहलोक परलोक में क्षमा सुखों का मूल ।
मुक्ति प्राप्ति में हेतु जो जिन वाणी मत भूल ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(इहलोए) इस लोक में तथा (परलोए) परलोक में (सव्वाण) सब (सुहाण) सुखों का (कारणं) मूल कारण (खंती) क्षमा ही है (तम्हा) इसलिये (मोक्खफलहेऊ) मुक्ति प्राप्ति में हेतुभूत (जिणाण) जिनभगों की (आणा) आज्ञा को ही (कायव्वा) स्वीकार करनी चाहिये ।

भावार्थ—सम्पूर्ण विश्व में ऐहिक एवं पारलौकिक जितने भी सुख साधन [illegible] होते हैं उन सब का [illegible] मूल कारण एक मात्र क्षमाधर्म ही [illegible] का भी यही आदेश है और [illegible] भी इसी [illegible] की अनुसार जिनागम की [illegible] [illegible] अर्थात् औपशमिक एवं [illegible] [illegible] क्षमाधर्म में ही [illegible]

अनुवादक—पू० श्री [illegible] म० सा० के [illegible] जिनागमजी म० सा०

मूल.

खंती मुहाणमूल मूल धम्मस्स उत्तामा खती ।
हरइ महाविज्जा इव खंती दुरियाइं सवाइं ॥ ११ ॥

छाया.

क्षान्ति सुखाना मूल मूल धर्मस्योत्तमा क्षान्तिः ।
हराति महाविद्या इव क्षान्ति दुरितानि सर्वाणि ॥ ११ ॥

दोहा

क्षमा सुखों का मूल है दया धर्म का मूल ।
विद्यावत् हरलेत सब पापों का जो शूल ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ –(**खती**) क्षमा (**सुहाणमूलं**) सर्व सुखों का मूल है और (**धम्मस्स**) धर्म का (**मूलं**) मूल (**उत्तमा**) उत्तम (**खती**) क्षमा ही है तथा (**खती**) क्षमा (**महाविज्जो**) महाविद्या की (**इव**) तरह (**सवाइं**) सर्व (**दुरियाइ**) पापों को (**हरइ**) हर लेती है ।

भावार्थ –सकल सुखों का मूल कारण एक क्षमाधर्म ही है और धर्म का मूल भी क्षमागुण ही कहा गया है यही क्षमागुण महाविद्या की तरह समस्त पापराशि को हर लेता है अर्थात् क्षमागुण में कुछ ऐसी अनुपम शक्ति विद्यमान है जिससे वह मनुष्य को धर्म प्रवृत्ति की ओर आकर्षित कर सकल दुष्कृत पंकजाल को विनष्ट कर देता है ।

मूल.

जाइ रूवं विज्जा तिन्नि गच्छन्तुकन्दरे विवरे ।
अत्थोच्चिय परिवड्ढउ जेण गुणा पायडा हुन्ति ॥ १ ॥

छाया

जाति रूप विद्या त्रीण्यपि गच्छन्तु कन्दराया विवरे ।
अर्थ एव परिवर्धतु येन गुणा' प्रकटीभवन्ति ॥ १ ॥

दोहा.

जातिरूप विद्या सभी अद्रि गुहामें जाय ।
वर्धमान जब सम्पदा सगुण प्रकट हो जाय ॥ १ ॥

अन्वयार्थ –(**जाइं**) जाति (**रूवं**) रूप एव (**विज्जा**) विद्या (**तिन्नि**) ये तीनों ही (**कन्दरे**) पर्वत की (**विवरे**) गुफामें (**गच्छन्तु**) चले जावें किंतु (**अत्थो**) धन ही (**च्चिय**) निश्चय पूर्वक (**परिवड्ढउ**) बढता हुआ होना चाहिये (**जेण**) जिस से (**गुणा**) सर्व गुण (**पायडा**) प्रगट (**हुन्ति**) हो जाते हैं ।

भावार्थ –जातिरूप एव विद्या ये तीनों ही पर्वत की कदराओं में चले जावें अर्थात् उत्तम जाति श्रेष्ठ कुल एव प्रकाड पाडित्य भी प्राप्त न हो किन्तु द्रव्यराशि उत्तरोत्तर जिसके पास वृद्धिगत होती रहती है उसके समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं अर्थात् अर्थ प्राप्ति में ही ससारके समस्त गुण विद्यमान हैं ।

मूल

विगुणमवि गुणड्ढं रूवहीणंपि रम्मं
जडमवि मइमंतं मंदसत्तंपि सूरं ।
अकुलमवि कुलीणं तं पयंपंति लोआ,
नवकमलदलच्छीजं पलोएइ लच्छी ॥४॥

छाया

विगुण मपि गुणाढ्य रूपहीन मपि रम्यं,
जडमपि मतिमन्त मन्दसत्वमपि शूरम् ।
अकुलमपि कुलीन तं प्रजल्पन्ति लोका ,
नवकमलदलाक्षीय प्रलोकयति लक्ष्मी ॥ १ ॥

दोहा

कमल नयन कमला कृपा कुमति सुमति करि देत ।
अगुनि गुणी रमणीयता और कुलिन को खेत ॥ २ ॥

अन्वयार्थ –(जं) जिस पुरुष को (नवकमलदलच्छी) नवीन कमल पत्र के समान नेत्रवाली (लच्छी) लक्ष्मी (पलोएइ) देखती है (तं) उस व्यक्ति को (विगुणमवि) गुण रहित होने पर भी (गुणड्ढं) गुण सम्पन्न (रूवहीणंपि) कुरूपको (रम्मं) रमणीय लावण्ययुक्त (जड मवि) मंदमति को (मइमंतं) बुद्धिमान (मंदसत्तंपि) शक्तिहीन को (सूरं) शूरवीर और (अकुलमवि) अकुलीन को (कुलीणं) कुलीन इस प्रकार (लोआ) लोग (पयंपंति) कहते है ।

भावार्थ जिस व्यक्ति के पास धनराशि प्रचुर परिमाणमें विद्यमान है उसको समाजिक जन निर्गुणी होने पर भी गुणसम्पन्न रूपहीन को सुन्दर लावण्यवाला मन्दमति को विद्वान शक्तिहीन को शूरवीर और अकुलीन को कुलीन कहते है ।

अनुवादक—पूज्य श्री घासीलालजी म. श्री नै. के शिष्य तिमयचन्दजी म. की

मूल.

सुच्चिय सुहडो सो चेव पण्डिओ सो विढत्तविन्नाणो।
जो निअभुअदंडज्जियलच्छीइ उवज्जए कित्ति ॥ ३ ॥

छाया।

सुचित्त सुभट स चैव पण्डित. सोऽर्जितो विज्ञान. ।
यो निज भुजदण्डार्जित लक्ष्म्या उपार्जयेत् कीर्तिम् ॥ ३ ॥

दोहा.

जो कमला संचित करै निज भुजबल आधार।
ते नर कोविद सुभट अरू अमित ज्ञान भण्डार ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ -(**जो**) जो व्यक्ति (**निअभुअदंडज्जियलच्छीइ**) अपने बाहुबल से लक्ष्मी का उपार्जन करके (**कित्ति**) कीर्ति को (**उवज्जए**) प्राप्त करता है (**सो**) वही (**सुच्चिय**) बलवान (**सुहडो**) सुभट (योद्धा) है और (**सो**) वही (**पण्डिओ**) पडित है तथा (**विढत्तविन्नाणो**) उसीने ज्ञानोपार्जन भी किया है।

भावार्थ -जो मनुष्य स्वत ही निज भुजदण्ड बलसे लक्ष्मीका उपार्जन करके जगतमें निजधवल यश पताका फहराता है वही महा शूरवीर है वही पडित है। तथा उसीने ज्ञानोपार्जन का श्रेय भी प्राप्त किया है अर्थात् अपने बाहुबल के द्वारा जो द्रव्य सचय करता है वही ससार में गण्यमान्य एव प्रतिष्ठित बन सकता है।

मूल

नगणातिकुलं न गणति पावयं पुण्णमवि य नं गणंति ।
इस्सरिएण हि मत्ता तहेव परलोयमिहलोयं ॥ ४ ॥

छाया

नगणयन्ति कुलं न गणयन्ति पापकं पुण्यमपि च न गणयन्ति ।
ऐश्वर्येण हि मत्तास्तथैव परलोकमिह लोकम् ॥ ४ ॥

दोहा

मदोन्मत्त नर धनमद हो आवो घन अभिमान ।
पुण्य पाप परलोक इह कुल को नहीं कछु भान ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(इस्सरिएण हि) धनसे (ऐश्वर्यसे) (मत्ता) मदोन्मत्त बने हुए व्यक्ति (न) न तो (कुलं) कुलको (गणंति) गिनते हैं (न) न (पावयं) पापको (गणंति) गिनते हैं (य) और (पुण्णमवि) पुण्यको भी (न) नहीं (गणंति) गिनते हैं (तहेव) उसी भांति (परलोयमिहलोयं) परलोक को तथा इह लोक को भी नहीं गिनते हैं ।

भावार्थ—धनके मदसे मदोन्मत्त बने हुए व्यक्ति न तो कुलको गिनते हैं न पाप की ओर देखते हैं न पुण्य की ओर दृष्टि डालते हैं और न इहलोक एवं परलोक को मानते हैं अर्थात् धनोन्मत्त पुरुष सतत अपने धनके मद में ही मस्त बना रहता है उस की दृष्टि अपने कुल पाप पुण्य एवं इह परलोक की ओर कदापि नहीं जाती है ।

मूल.

वचइ मित्तकलत्ते नाविक्खए मायपियसयणे य ।
मारेइ बंधवे विहु पुरिसो जो होइ धणलुद्धो ॥ ९ ॥

छाया.

वञ्चयति मित्रकलत्रे नापेक्षते मातृपितृस्वजनांश्च ।
मारयति बान्धवानपि हि पुरुषो यो भवति धनलुब्धः ॥ ९ ॥

दोहा

धन लोभी धन लुब्ध हो वंचै सुहृद औ नार ।
जनक जननि सुत स्वजन सब एके घाट उतार ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ –(**जो**) जो (**पुरिसो**) मनुष्य (**धणलुद्धो**) धन का लोभी (**होइ**) होता है वह (**मित्तकलत्ते**) अपने मित्र कलत्र (भार्या) को (**वंचइ**) ठगता है (**य**) और (**मायपियसयणे**) माता पिता तथा स्वजनों को भी (**नाविक्खए**) नहीं देखता है (**बंधवे विहु**) और बाधवों को भी (**मारेइ**) मार देता है ।

भावार्थ –जो मनुष्य धनलुब्धक होता है वह अपने मित्र एवं कलत्र स्त्री को वंचने में भी सकुचित नहीं होता है अपने जनक जननी तथा स्वजन जनों की ओर भी किंचिद् दृष्टिपात नहीं करता है और धन हेतु बांधव जनों का वध करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है अर्थात् अर्थ लाभ हेतु सकल जगजीव महान अधमतम कृत्यों के करने में भी सकुचित नहीं होते है ।

मूल.

वणिआणं वणिज्जम्मि माहणाण मुहम्मि य।
खत्तिआणं सिरी खग्गे कारूण सिप्पकम्मसु ॥ ७ ॥

छाया.

वणिजां वाणिज्ये ब्राह्मणानाम् मुखे च।
क्षत्रियाणां श्रीः खड्गे कारूणां शिल्पकर्मसु ॥ ७ ॥

दोहा

वणिक् के व्यापार में द्विजवर मुख में मान।
क्षत्रिय कुल के असि बसे शिल्प २ की खान ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ–(**वणिआणं**) वणिकों (बनियों) की (**सिरी**) लक्ष्मी (**वणिज्जम्मि**) व्यापारमें (**य**) और (**माहणाण**) ब्राम्हणो की लक्ष्मी (**मुहम्मि**) मुहमें (**खत्तिआणं**) क्षत्रियो की लक्ष्मी (**खग्गे**) खड्ग (तलवार) में एव (**कारूणं**) कर्मशील व्यवसायियों की लक्ष्मी (**सिप्प-कम्मसु**) शिल्पकर्म में ही है।

भावार्थ–वणिकों की लक्ष्मी वाणिज्य व्यवसाय में ब्राह्मणो की लक्ष्मी मुखमें, क्षत्रीयों की लक्ष्मी खड्ग में, और शिल्पकला विशारदों की लक्ष्मी शिल्पकर्म में ही है। अर्थात् चतुर्वर्णीय लोगों के द्रव्योपार्जन के उपरोक्त मुख्य साधन है जिनके द्वारा अखूट द्रव्य संपादन कर सकते है अर्थात् वैश्य व्यापार से ब्राह्मण वेदादि शास्त्र वांचन से, क्षत्रिय समरांगण में युद्ध करके और शिल्पी शिल्पकर्म द्वारा द्रव्योपार्जन कर सकता है।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

पुरिसेण माणधण वज्जिएण अच्चंतजिण्णविहवेण ।
ते देसा गंतव्वा जत्थ सवासा न दीसन्ति ॥ ८ ॥

छाया

पुरुषेण मानधनवर्जितेनात्यन्त जीर्ण विभवेन ।
ते देशा गन्तव्या यत्र सवासा न दृश्यन्ते ॥ ८ ॥

दोहा

मान सम्पदा रहित नर जो होवे मति हीन ।
इतर देश ही श्रेय है सहवासी के बीन ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ–(माणधणवज्जिएण) मान धनसे रहित बने हुए (अच्चंतजिण्णविहवेण) अत्यंत क्षीण वैभव (धनहीन) वाले (पुरिसेण) पुरुष को (ते) उन (देसा) देशोंमें (गंतव्वा) चले जाना चाहिये (जत्थ) जहाँपर कि (सवासा) अपने सहवासी लोग (न) नहीं (दीसन्ति) दिखाई देते हों।

भावार्थ–सम्मानरूप लक्ष्मी से विहीन एवं वैभव शून्य व्यक्तियों के लिये उन देशों का आश्रय ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है जहाँ कि अपने सहवासी एवं स्वदेशी पुरुषों का आगमन नहीं हो क्योंकि स्वदेशस्थ व्यक्तियों के आवागमन से लज्जानुभव करना पड़ता है जिससे सदा मनस्तापन से सन्तप्त होता रहता है।

मूल.

किं तीए सिरीए सुंदरी वि जा होइ अन्नदेसम्मि ।
जाइ न मित्तेहिं समं जा य न दिट्ठा अमित्तेहिं ॥ ९ ॥

छाया.

किं तया श्रिया सुन्दर्यपि या भवत्यन्यदेशे ।
याति न मित्रैः समं या च न दृष्टाऽमित्रैः ॥ ९ ॥

दोहा.

कामिनि की कमनीयता मित्र मैत्री को त्याग ।
वर्धित नित हो शत्रुता धन युत फूटे भाग ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(**तीए**) इस (**सिरीए**) लक्ष्मीसे (**किं**) क्या लाभ है ? (**जा**) जिससे (**सुन्दरी**) अपनी परम सुन्दरी नारी (**अन्नदेसम्मि**) अन्य देशमें (**होइ**) होवे और (**मित्तेहिं**) मित्रों की भी (**समं**) संगति (**न**) नहीं (**जाइ**) प्राप्त होवे (**य**) तथा (**अमित्तेहिं**) अपने शत्रुसे भी (**जा**) जो लक्ष्मी (**न**) नहीं (**दिट्ठ**) देखी जावे ।

भावार्थ—उस लक्ष्मी के सचय करने से क्या लाभ है जिस से हमें अपनी परम सुन्दरी नारी का विरह दुख सहना पडे मित्र मडली के सहवास से भी विरक्त होना पडे और निज वैभव के अभ्युत्कर्ष को स्वशत्रुगण भी अवलोकन नहीं कर सकते अर्थात् जिस से परदेश में रहकर नारी का वियोग एवं मित्रका वियोग सहना पडे और अपनी लक्ष्मी का वैभव शत्रुगण भी निजचक्षुओं से नहीं देख सके ऐसे उस धन के सचय से कुछ भी लाभ नहीं है ।

मूल.

तायविढत्ता लच्छी नूणं पुत्तस्स होइ सा भइणी ।
होइ परस्स परित्थी सय विढत्ता तओ जुत्ता ॥ ११ ॥

छाया.

तातोपार्जिता लक्ष्मी नूनं पुत्रस्य भवति सा भगिनी ।
भवति परस्य परस्त्री स्वयमर्जिता ततो युक्ता ॥११॥

दोहा.

जनकोपार्जित पुत्रके भगिनि कमला होय ।
परदारावत् इतर के खुद कमलाको जोय ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(**तायविढत्ता**) पितासे उपार्जन की हुई (**लच्छी**) लक्ष्मी (**नूणं**) निश्चय ही (**पुत्तस्स**) पुत्र के लिये (**भइणी**) भगिनिवत् (**होइ**) होती है और (**परस्स**) दूसरे मनुष्यों के लिये (**परित्थी**) परस्त्री वत् (**होइ**) होती है इसलिये (**सयं**) अपने पुरुषार्थ से (**विढत्ता**) उपार्जन कर (**तओ**) तत्पश्चात (**जुत्ता**) भोग करना ही युक्त है ।

भावार्थ—निज जनक द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिये भगिनीवत होती है और वह भगिनी भी परनारी ही होती है और परस्त्री मातातुल्य है अत निज बाहुबलद्वारा पुरुषार्थ करके द्रव्योपार्जन करना ही उपयुक्त है अर्थात पिता के द्वारा पैदा की हुई लक्ष्मी पुत्र के लिये बहिन है बहिन परनारी है परनारी माता है इस लिये निज पुरुषार्थ द्वारा ही अर्थोपार्जन करना आवश्यक है ।

मूल

अणवरयदेन्तस्स वि तुट्टन्ति न सायरे वि रयणाइं ।
पुण्णक्खएण झिज्जइ न हु लच्छी चायभोएणं ॥ १२ ॥

छाया

अनवरतं ददतोऽपि त्रुट्यन्ति न सागरेऽपि रत्नानि ।
पुण्यक्षयेण क्षीयते नहि लक्ष्मीस्त्यागभोगाभ्याम् ॥ १२ ॥

दोहा

रत्नाकर दे रत्न गण पण नहीं निधि हो खर्व ।
दान भोग धन नहीं घटे पुण्य खर्च पै खर्व ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(अणवरयदेन्तस्स वि) अविश्रान्त (निरन्तर) दान देने पर भी (सायरे) सागर में (रयणाइं) रत्न (न) नहीं (तुट्टंति) समाप्त होते हैं इसी प्रकार (लच्छी) लक्ष्मी भी (पुण्णक्खएण) पुण्य क्षय होने से (झिज्जइ) नष्ट हो जाती है किंतु (चायभोएणं) त्याग एवं भोगसे (न) नहीं नष्ट होती है ।

भावार्थ—अपरिमित रत्नाकर द्वारा निरन्तर मधुर परिणाम से मत्स्यादि मुक्ता प्रवालादि का दान किया जाने पर भी गंभीरता और रत्नकोष में कमी न्यूनता नहीं आती है प्रत्युत उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर ही प्रगति होती रहती है तथा लक्ष्मी भी अनवरत दानादि त्याग धर्मद्वारा लुप्त नहीं होती है अपितु पुण्यकी ही क्षीणता के कारण ही क्षय होती है

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म. की सं. के पौत्रपुत्र विनयचन्द्रजी म. की

मूल.

जस्सत्थो तस्स सुहं जस्सत्थो पण्डिओ य सो लोए ।
जस्सत्थो सो गुरुओ अत्थविहूणो य लहुओय ॥ १३ ॥

छाया

यस्यार्थस्तस्य सुख यस्यार्थः पण्डितश्च स लोके ।
यस्यार्थ स गुरुकोऽर्थविहीनश्च लघुकश्च ॥ १३ ॥

दोहा.

सम्पत्ति में ही सुख बसे सम्पत्ति में पाण्डित्य ।
सम्पत्ति से माहात्म्य हो निर्धन अकृत कृत्य ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ –(**लोए**) संसार में (**जस्सत्थो**) जिसके पास धन है। (**तस्स**) उसको (**सुहं**) सुख है। (**रस्सत्थो**) और जिस के पास सम्पत्ति है (**सो**) वही (**पण्डिओ**) पाडत ह (**जस्सत्थो**) जिस के पास अर्थ है (**सो**) वही (**गुरुओ**) बडा है (**य**) और (**अत्थविहुणो**) जो निर्धन है वह (**लहुओ**) छोटा है ।

भावार्थ –जिस व्यक्ति के पास प्रभूत द्रव्य मचित है वही सुखी है जिस के पास सम्पत्ति है वही पडित है जिसके पाम धन है वही गौरवशील महापुरुप है किंतु जिस के पाम द्रव्य नहीं है वह एकान्त अधमतम प्राणी माना गया है अर्थात् मकल सांसारिक सुखों का मूल कारण एक धन ही है इसी से मनुष्य का सौन्दर्य एव गौरव बढ़ता है और निर्धन व्यक्ति को पदे २ अपमान एव आपदाए सहन करनी पडती है ।

※ दैवम् ※

—: दैवं फलति सर्वत्र :—

स हि गगनविहारी कल्मष-ध्वंसकारी।
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी॥
विधुरपि विधियोगाद्ग्रस्यते राहुणासौ।
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः॥

आकाश मण्डल में विचरण करनेवाला कलिमलतिमिर राशिको विलीन करनेवाला मार्तण्ड एवं एक सहस्र शीतल रश्मियों को धारण करनेवाला सम्पूर्ण नक्षत्रों के बीच विचरनेवाला चन्द्र भी दैव की प्रबलता से या भाग्यशाली के सम्मुख निष्फल होने से राहुके द्वारा ग्रसा जाता है तो इतर साधारण मानव की तो बात ही क्या है! अस्तु यह निश्चित है कि भाग्य में लिखे हुए को असम्भव-सम्भव दुष्कर-सुकर दुर्लभ-सुलभ हो जाते हैं और दैव प्रतीप रहा तो सकल सुकृत दुष्कृत हो जाते हैं।

वस्तुत भाग्य की अनुकूलता ही सम्पूर्ण सुखों की प्रदायिका है जीवन को चमकाने की प्रभा समन्वित चन्द्रिका है। भाग्य बिना सुख प्राप्ति असम्भव है अस्तु भाग्य ही सब से शक्तिशाली बलवान है।

रवि निशाकरयोर्ग्रहपीडनं गज भुजंग विहंगम बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥

कवि की उक्त उक्ति से भाग्य की प्रबलता सु प्रकारेण ज्ञेय है। अतः इसका विशेष विवेचन निम्न गाथाओं से जानें—

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म की स के पौत्रपुत्र विनयचन्दजी म श्री

मूल.

जं चिय विहिणा लिहियं तं चिय परिणमइ सयललोयस्स ।
इय जाणिऊण धीरा विहुरे वि न कायरा हुन्ति ॥ १ ॥

छाया.

यदेव विधिना लिखित तदेव परिणमते सकल लोकस्य ।
इति ज्ञात्वा धीरा विधुरेऽपि न कातरा भवन्ति ॥ १ ॥

दोहा.

विधिने जीवों के लिये लिखा वही है सत्य ।
जान धीर नर नहीं करे दुख में भी अपकृत ॥ १ ॥

अन्वयार्थ –(**विहिणा**) ब्रम्हाने (**जं**) जो कुछ भी (**चिय**) निश्चय ही (**लिहियं**) लिख दिया है (**तं**) वही (**चिय**) निश्चय से (**सयल लोयस्स**) समस्त ससार के जीवों के लिये (**परिणमइ**) परिण-मन होता है (**इय**) ऐसा (**जाणिऊण**) जान करके (**धीरा**) धैर्यवंत पुरुष (**विहुरे**) वियोगावस्था में (**वि**) भी (**कायरा**) कायर (**न**) नहीं (**हुन्ति**) होते हैं ।

भावार्थ–भाग्य के द्वारा जो कुछ भी ललाटपट्टपर लिख दिया जाता है वही सकल ससारियों को अनुभव करना पडता है । इस प्रकार कर्म की विचित्र गति को जानकर धीर पुरुष प्रिय विरहादिक विपदावस्थामें भी कायर नहीं होते हैं क्योंकि वे यह विचारते हैं कि इस ससार में दैव चक्र का परिवर्तन होता ही रहता है अत सयोग और वियोग जनित दुःख क्षणिक ही है इसलिये हर्ष और शोक करने की क्या आवश्यकता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

वायएण बलेण परक्कमेण मंतोसहाइ जुत्तीहिं ।
विउसेहि वि कविहि वि य न तीरए अन्नहा काउं ॥ ९ ॥

छाया

वाचा बलेन पराक्रमेण मंत्रौषधादि युक्तिभिः ।
विद्वद्भिरपि कविभिरपि च न तीर्यतेऽन्यथा कर्तुम् ॥ ९ ॥

दोहा

वाणी बल औ औषधी मंत्र पराक्रम जान ।
प्रज्ञा कवि हो अन्यथा मिटे न भावी आन ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(वायएण) वाणी से (बलेण) बल से (परक्कमेण पराक्रम से (मन्तो) मंत्र से (ओसहाइ) औषधादि (जुत्तीहिं) युक्तियों से (विउसेहि) बुद्धिमानों से एवं (कविहि) कवि कल्पनाओं से (वि) भी (अन्नहाकाउं) होनहार के विपरीत करने में कोई (न) नहीं (तीरए) समर्थ है ।

भावार्थ—[illegible] मंत्रौषधादि युक्ति [illegible] व्यक्तियों से और कवि कल्पनाओं से भी भाग्य के विपरीत कार्य नहीं किया जा सकता है अर्थात् दैविक शक्ति के समक्ष किसी भी महान् शक्ति का सामर्थ्य नहीं चल सकता है ।

मूल.

जा उण कस्सइ चिंता केसु विसा नूण दुहफला ।
होअव्वमहोअव्व च अन्नहा कुणइ नो चिन्ता ॥ ६ ॥

छाया.

या पुनः कस्यचिच्चिन्ता केष्वपि सा नून दु खफला ।
भवितव्यमभवितव्यश्चान्यथा करोति नो चिन्ता ॥ ६ ॥

दोहा.

वस्तु लखि चिन्ता करे दुखपद निहचैजोय ।
भावी ही भावी रहे अभावि भावि ना होय ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ -(**कस्सइ**) किसी भी मनुष्य को (**केसु**) किन्ही पदार्थोंपर (**जा**) जो (**वि**) भी (**चिन्ता**) चिन्ता होती है (**सा**) वह चिन्ता (**नूण**) निश्चय करके (**दुहफला**) दुखदायी है क्योंकि (**चिन्ता**) चिन्ता (**होअव्वमहोअव्व**) भावी-होनहार तथा अभावी अहोनहार को (**अन्नहा**) अन्यथा (विपरीत (**नो**) नहीं (**कुणइ**) कर सकती है ।

भावार्थ -किसी भी पुरुष के हृदय में किन्ही पदार्थों के सम्बन्ध में जो चिन्ता समुद्भूत होती है वह एकान्त दुख परिणाम वाली ही है क्योंकि जब चिता होनहारको अहोनहार और अभावी को भावी करने में सर्वथा असमर्थ है तो कायक्लेश सहनकर चिन्ताद्वारा कृशगात्र करने से क्या लाभ है अर्थात चिन्ता करने पर भी होनहार के विपरीत कदापि नहीं हो सकता है इसलिये चिन्ता करना नितात निर्मूल है ।

मूल.

ज जेण पावियव्वं सुहमसुह वावि जीवलोयम्मिं ।
तं पाविज्जइ नियमा पडियारो नत्थि एयस्स ॥ ८ ॥

छाया.

यद्येन प्राप्तव्य सुखमसुखं वाऽपि जीवलोके ।
तत्प्राप्यते नियमात् प्रतिकारो नास्ति एतस्य ॥ ८ ॥

दोहा

स्वेपार्जित शुभ अशुभ का फल भोगे खुद जाय ।
फल भोगे विन जीवका नहीं प्रति कारो जाय ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ –(**जीवलोयम्मि**) इस जीवलोकमें (**जेण**) जिस व्यक्ति द्वारा (**जं**) जो (**वि**) भी (**सुहं**) शुभ पुण्य (**वा**) अथवा (**असुहं**) अशुभ पापकर्म (**पावियव्वं**) प्राप्त किया जाता है (बाधा जाता है) (**तं**) उसका फल (**नियमा**) नियमपूर्वक-विपाकोदय होनेपर (**पाविज्जइ**) भोगना ही पडता है कारण की (**एयस्स**) कर्मोका (**पडियारो**) फलभोगने के सिवाय प्रतिकार-दूसरा उपाय (**नत्थि**) नहीं है ।

भावार्थ –इस जीवलोक में जीव के द्वारा जिन शुभ अथवा अशुभ कर्मोका अनुभव किया जाना चाहिये नियम से वह उन्हीं को प्राप्त कर अनुभव करता है क्योंकि कृत कर्मोका फल भोगने के अतिरिक्त अन्य कोई अपर प्रतीकारोपाय दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् जो जीव जैसे शुभाशुभ कर्मो का बधन करता है नियम से उनका विपाकानुभव अवश्य ही करना पडता है ।

मूल.

जं नयणेहिं न दीसइ हियएण वि जं न चिंतियं कहवि ।
तं तं सिरम्मि निवडइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ॥ १० ॥

छाया

यन्नयनाभ्यां न दृश्यते हृदयेनापि यन्न चिंतितं कदापि ।
तत्तच्छिरसि निपतति नरस्य दैवे पराभूते ॥ १० ॥

दोहा.

लोचन ते लेखा नहीं नहीं हिरदे में आन ।
भावी हो मस्तक गिरे दैव प्रबलते जान ॥ १० ॥

अन्वयार्थ–(**नरस्स**) मनुष्य के (**दिव्वे**) भाग्य-कर्म के **पराहुत्ते**) विपरीत होने पर (**ज**) जो बात (**नयणेहिं**) नेत्रोंद्वारा (**न**) नहीं (**दीसइ**) देखी हो और (**ज**) जिसका (**हियएण**) हृदय से (**वि**) भी (**कहवि**) कभी (**न**) नहीं (**चिंतियं**) चिंतवन किया हो (**त तं**) वह २ बात (**सिरम्मि**) सिरपर (**निवडइ**) आपडती है ।

भावार्थ–दैव की वक्रता से हत प्रयत्न बने हुए पुरुष ने जिनका नेत्रों द्वारा स्वप्न में भी अवलोकन नहीं किया है और मनद्वारा जिसका कभी चिन्तवन ही किया वे आपदाएँ और विपदाएँ सिरपर अकस्मात आपडती है अत अचिंतित आपदा ओं का आना यह दुर्दैव का ही कारण है ।

ओर से पडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलोंसादर समर्पित में

मूल.

खण्डिज्जइ विहिणा ससहरो सूरस्स वि अत्थमणं ।
हा दिव्व परिणइए कवलिज्जइ को न कालेण ॥ १२ ॥

छाया.

खण्ड्यते विधिना शशधरः सूर्यस्यापि अस्तमनम् ।
हा ! दैव परिणत्या कवलीयते को न कालेन ॥ १२ ॥

दोहा.

विधिते शशिखंण्डित हुए अस्ताचल हो सूर ।
विधि परिणति ते काल भी ग्रसे भीम हो क्रूर ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः–(**विहिणा**) विधि-भाग्यसे ही (**ससहरो**) चन्द्रमा (**खण्डिज्जइ**) खण्डित–कला रहित किया जाता है और (**सूरस्स**) सूर्य का (**वि**) भी (**अत्थमणं**) अस्तावस्था हो जाती है इसलिये (**हा**) अरे (**दिव्वे**) भाग्य के (**परिणइए**) विपरीत होजाने पर (**कालेण**) काल के द्वारा (**को**) कौन (**न**) नहीं (**कवलिज्जइ**) ग्रास का पात्र बनता है-भक्षण किया जाता है ।

भावार्थ–विधिकी कुटिलतासे षोडशकलाशोभित शशी भी खंडित [कलारहित कर दिया जाता है प्रचंड तेजधारी सूर्य भी अन्तमें अस्ताचल की ओर गमन करता है वास्तव में भाग्य के विपरीत होने पर कौनसी महानशक्ति विकरालकाल द्वारा ग्रास पात्र नहीं बनती है जब की भास्कर जैसे प्रचंड तेज धारियों को भी काल का ग्रास होना पडता है । तो सामान्य प्राणियों की तो गणना ही क्या है ।

हम्मारो—<अस्माकं >अप० अम्हार >हम्मारो (यह 'ओ कारांत प्रवृत्ति ओ संबद्ध संज्ञा 'तुरिस' (ए० व०) के साथ संबंधी में पाई जाती है राजस्थानी की प्रवृत्ति का आदिम रूप है) (तु० राज० 'म्हारो छोरो म्हारा छोरा)।

तूरिसा—दो स्थानों पर दीर्घीकरण तथा 'त' का द्वित्व छंदोनिर्वाह के लिए हुआ है। कर्मकारक ए० व०।

संहारो—अनुज्ञा म० पु० ए० व० (संहरतु > संहरउ > संहरो —संहारो)।

तिल्ल (तिलका) छंद—

पिअ तिल्ल धुअं सगणेण जुअं।
छह वण्ण पअो कल अट्ठ धओ ॥४३॥

४३ हे प्रिये, जहाँ दो सगण हों, प्रत्येक चरण में छः वर्ण तथा आठ मात्रा धरी हों, वह तिल्ल छंद है। (।ऽ।।ऽ।)

टि —कल—< कला यहाँ 'कला' का छन्दोनिर्वाह के लिए 'कल' कर दिया गया है।

जहा,

विअ भत्ति पिआ गुणवंत सुआ।
धणमुत्त घरा बहु सुक्खकरा ॥४४॥
(तिल्ल (का))

[उदा]हरण—

[भक्ति]मानक प्रिया (पत्नी), गुणवान् पुत्र, धनशाली घर, (ये सब) बहु सुखकारी होते हैं।

बिज्जोहा छंद—

अक्खरा जं छआ पाअ पाअ ट्ठिआ।
मत्त पंचागुणा पिण्णि जोहा गणा ॥४५॥

---

४३ तिल—B तिअ। तिल्ल—C तिल्ल। धुअं—A धुअं। कल अट्ठ धओ—B कले C कल अट्ठ ठओ।

४४ गुणवंत—गुणवंत। सुआ—A सुअ। धणमुत्त A B, धण-मंत। सुक्ख—A सुक्ख, B सुख, C सुत्त।

४५ जं—C जं। पाअ ट्ठिआ—A पाअट्ठिआ।

४५. जहाँ प्रत्येक चरण मे छ अक्षर स्थित हों, तथा पाँच की दुगुनी (दस) मात्रायें हों तथा दो जोह्लागण (रगण) हों (उसे विज्जोहा छंद समझो)।

टि०—दुणा—< द्विगुण (हि० दुगना, रा० दूणा)।

जहा,

कंससंहारणा पक्खिसंचारणा।
देवईडिंभआ देउ मे णिब्भआ ॥४६॥

(विज्जोहा)
(विमोहा ?)

४६ उदाहरण —

कंस को मारने वाले, पक्षी गरुड पर संचरण करनेवाले, देवकी के पुत्र मुझे (अभय) प्रदान करें।

टि०—णिब्भआ—छन्दोनिर्वाह के लिए दीर्घीकरण, कर्म ए० व०।

चतुरंसा छंद.—

ठउ चउरंसा फणिवइ भासा।
दिअवर कण्णो फुलरसवण्णो ॥४७॥

४७ (जहाँ) द्विजवर (चार लघु) तथा कर्ण (दो गुरु) छ वर्ण हों, उस चतुरंसा छंद की स्थापना करो-ऐसा फणिपति पिंगल कहते हैं। कुछ टीकाकार इसका अर्थ यों भी करते हैं:—"... "फणिपति भाषित चतुरंसा की स्थापना करो।"

टि०—ठउ—< स्थापय, आज्ञा म० पु० ए० व०।

जहा,

गउरिअकंता अभिणउ सता।
जइ परसण्णा दिअ महि धण्णा ॥४८॥

---

४६ संहारणा—C. सघारणा। डिंभआ—C डिंवआ, K. डिंवआ, N. डिम्भआ। णिब्भआ—C लछिआ, C. K. णिम्भआ, N. णिम्भआ।

४७ चउरसा—C. चउवसा।

४८. गउरिअ°—C. प्रतौ एतत्पद न प्राप्यते, K. गवरिअकंता। अभिणउ—N अभिनउ।

४८. उदाहरण —

(ताण्डव) अभिनय में रत (अथवा ताण्डव अभिनय से भांत) गौरीपति (महादेव) प्रसन्न हों, तो आकाश और पृथ्वी दोनों धन्य हैं।

टि —गअरिअकंता—< गौरीकांत 'गौरी' < गउरि, समास में बीच में 'अ' का आगम संभवतः छंदोनिर्वाह के लिए हुआ है अथवा यह "गौरिका" का रूप है। 'कांत' के प्रथमाक्षर के सानुस्वार होने के कारण उसके 'आ' को 'अ' बना दिया गया है, क्योंकि ऐसा करने से शब्द के अक्षरभार (सिलेबिक वेट) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। (तु० राअ० मत्त) 'आ' छंदोनिर्वाह के लिए है।

अभिणअ संता—((१) अभिनये सम्, (२) अभिनय भांत। म० भा० आ० में अभिनय > अहिणओ > अहिणअ रूप होंगे। यह रूप अघतत्सम है। 'संता' < सम् वर्तमानकालिक कृदंत रूप 'संत' का दीर्घीकृत रूप।

परसण्णा<प्रसन्न—'प्र' में 'अ' वर्ण का मध्य में आगम होने से 'पर' रूप, 'आ' छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घीकरण की प्रवृत्ति है।

धण्णा<धन्यौ (*धन्या) कर्ताकारक ब० व० रूप।

अहा वा,

सुमणअणंदो तिहुअणकंदो।
भमरसवण्णो स जअइ कण्हो ॥४९॥

[चतुरंसा]

४९. अथवा दूसरा उदाहरण यह है —

समस्त भुवन के आनंद स्वरूप, त्रिभुवन के मूल, भ्रमर के समान नील कृष्ण की जय हो।

टिप्पणी—कण्हो—< कृष्ण, वर्णविपर्यय (ष्ण > ण्ह) (हि० कान्ह)।

संथान छन्द—

कामावआरेण अद्धेण पाएण।
मत्ता दहा सुद्ध मंथाण सो बुद्ध ॥५०॥

४९ सुमणअणंदो—C समणसुणंदो। तिहुअण-A B तिहुअन। कण्हो-C K. कण्णो।

५. कामावआरेण—A.B कामावआरस्स। सुद्ध-A सुद्ध।

५०. जहाँ कामावतार नामक छद (चार तगणो का द्वादशाक्षर छद) का आधा एक चरण मे हो (अर्थात् दो तगण तथा छ' अक्षर हो), शुद्ध दस मात्रा हों, उसे मथान (छन्द) समझो।

टिप्पणी—वुद्ध—<वुध्यस्व, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

जहा,

राआ जहा लुद्ध पंडीअ सो मुद्ध।
कित्ती करे रक्ख सो वाद उप्पेक्ख ॥५१॥
[मंथाण = मंथान]

५१. उदाहरण —

जहाँ राजा लोभी तथा पण्डित मूर्ख हो, वहाँ अपनी कीर्ति की रक्षा करो (कीर्ति को हाथ मे रखो) तथा वहाँ के वाद (शास्त्रार्थादि) की उपेक्षा करो।

टिप्पणी—जहा—<यत्र, पंडीअ < पंडित > पडिओ > पंडिउ >पडिअ। (यहाँ 'इ' का दीर्घीकरण पाया जाता है।)

लुद्ध—<लुब्ध , मुद्ध <मुग्ध ।

कित्ती—<कीर्तिः।

रक्ख, उपेक्ख—<रक्ष, उपेक्षस्व, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

शखनारी छद'—

खडावण्णबद्धो भुअंगापअद्धो।
पआ पाअ चारी कही संखणारी ॥५२॥

५२. जहाँ भुजगप्रयात छद के चरण के आधे छ वर्ण प्रत्येक चरण मे प्राप्त हों (भुजगप्रयात में प्रत्येक पाद में चार यगण होते हैं, अत जहाँ दो यगण हों), तथा सम्पूर्ण छन्द मे चार चरण हो, वह शंखनारी (छंद) कही गई है। (।ऽऽ।ऽऽ)

टिप्पणी—खडा—अर्धतत्सम रूप। तद्भव रूप 'छ'–छह' आदि होते है वस्तुत यह सस्कृत 'पट्' के अर्धतत्सम रूप 'खड' का दीर्घीकृत रूप

---

५१ राआ–B. राजा। पडीअ–C. पडित्त। रक्ख–C थप्प। उप्पेक्ख–B उपेक्ख।

है। इस सम्बन्ध में इस बात का संकेत कर दिया जाय कि परवर्ती हिन्दी कविता में तत्सम 'ष' का 'ख' के रूप में जो उच्चारण पाया जाता है, उसका बीज प्रा० पैं० के इस उदाहरण में देखा जा सकता है।

*पभदो < प्रवाद', परवर्ती संयुक्ताक्षर के पूर्व के दीर्घस्वर का ह्रस्वीकरण ।

पआ—<प्राप्त; कुछ टीकाकार इसकी व्याख्या भी 'पादे' करते हैं, किन्तु मेरी समझ में यह 'प्राप्त' ही होनी चाहिए। प्राप्त >पाआ (तु० हि० 'पाया' को वस्तुतः 'पाआ' का य-श्रुतियुक्त रूप है)। इसी का छन्दोनिर्वाहार्थ 'पआ' रूप बन गया है।

कही—<कथिता >कहिआ >कहिअ >कही। (तु० हि० 'कही') कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त का स्त्रीलिंग रूप।

जहा

गुणा जस्स सुद्धा बहू रूअमुद्धा।
घरे वित्त जग्गा मही तासु सग्गा ॥५३॥
[संखणारी = शंखनारी]

५३ उदाहरण—

जिस व्यक्ति के गुण शुद्ध हों, पत्नी रूप से सुन्दर हो, घर में धन जगता हो (विद्यमान हो), उसके लिए पृथ्वी भी स्वर्ग है।

टिप्पणी—घरे<गृहे। डॉ० चाटुर्ज्या के मत से यह 'ए विभक्ति चिह्न संस्कृत 'ए' का अपरिवर्तित रूप न होकर प्रा० भा० आ० *धि का क्रमिक विकास है। इस तरह इसे हम म० भा० आ० 'अहि'—'अहिँ' का ही सरलीकृत रूप कह सकते हैं। उनके मत से यह विकास यों हुआ है—

भारोपीय *घृधो धि > प्रा० भा० आय *गृह धि 7 म० भा० आ० *गरह धि, *घरधि > घरहि 7 *घरअ > घरे (gharai) 7 घरे। (तु० बंगाली घरे)। (दे० उक्तिव्यक्तिप्रकरण (भूमिका) § ४०)।

तासु—< तस्य 7 तस्स > तास 7 तासु; समानीकृत संयुक्ता-

५३ जग्गा—C जग्गो। तासु—A तासू। सग्गा—C सग्गो।

क्षर के पूर्व से स्वर को दीर्घ बनाकर उसका सरलीकरण, जो आ० भा० आ० भाषा की खास विशेषताओं में एक है।

सग्गा—< स्वर्गः, पदादि संयुक्ताक्षर व्यंजन के 'स' का लोप, रेफ का 'ग' के रूप में सावर्ण्य, म० भा० आ० रूप होगा 'सग्गो'। उस क्रम से आ० भा० आ० या प्रा० पैं० का अवहट्ठ रूप होना चाहिए 'सग्ग'। 'सग्गा' रूप इसी का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घीकृत रूप है। (इस संबंध में इतना संकेत कर दिया जाय कि हिंदी, राज० का 'सरग' शब्द तद्भव न होकर अर्धतत्सम है, तद्भव शब्द 'सग्ग' का हिंदी रा० में कोई प्रचार नहीं है।)

मालती छंद.—

धअं सर बीअ मणीगुण तीअ।
दई लहु अंत स मालइ कंत ॥५४॥

५४ (पहले) ध्वज अर्थात् आदि लघुत्रिकल गण (।ऽ), (फिर) दो शर अर्थात् दो लघु, फिर एक मणिगुण (अर्थात् गुरु) तथा फिर अंत में एक लघु देना चाहिए, हे प्रिये, वह मालती छंद है। (।ऽ।।ऽ।)

टिप्पणी—धअं—<ध्वज, 'अं' छंदोनिर्वाहार्थ प्रयुक्त अनुनासिक है। (ध्यान दीजिये यह नपुंसक रूप नहीं है।)

दई—इसकी व्याख्या तीन प्रकार से की गई है (१) देयः (२) दीयते, (३) दत्त्वा,

जहा,

करा पसरंत बहू गुणवंत।
पफुल्लिअ कुंद उगो सहि चंद ॥५५॥

[मालइ = मालती]

५५ उदाहरण—

हे सखि, चन्द्रमा उदित हो गया है, नाना प्रकार के गुणों से युक्त (उसकी) किरणें फैल रही हैं, (और) कुंद पुष्प फूल उठे हैं।

टिप्पणी—पसरंत—<प्रसरन्त', वर्तमानकालिक कृदन्त प्रत्यय का

---

५४. मणीगुण तीअ—A मणी गुण अत। दई—C रई।
५५ उगो—C उगू।

वर्तमानकालिक क्रिया में प्रयोग (प्रसरन्त 'सन्ति इति शेष'), टीकाकारों ने इसे 'प्रसृताः' माना है, जो गलत है।

गुणवन्त—<गुण + वत (संस्कृत तद्धित प्रत्यय 'मतुप्' का विकास)। पफुल्लिअ–कर्मवाच्य (भाववाच्य) भूतकालिक कृदन्त का भूतकालिक क्रिया के अर्थ में प्रयोग।

उगो—उद्गत >उग्गओ >*उग्गो >उगो कर्मवाच्य (भाववाच्य) भूतकालिक कृदन्त रूप। (हि० उगा, राज० उग्यो, प्रयोग—'चंदरमा उग्यो क नै' (चन्द्रमा उगा या नहीं) ?)

दमनक छंद—

दिअवर किअ भणहि सुपिअ।
दमणअ गुणि फणिवइ भणि ॥५६॥

५६ द्विजवर (चतुर्लघुक गण, ।।।।) करके फिर प्रिय (लघुद्वयात्मक गण) कहो, इसे दमनक (छंद) समझो, ऐसा फणिपति पिंगल कहते हैं।

(।।। ।।।—दमनक छंद में इस प्रकार दो नगण होते हैं।)
कि०—किअ—< कृत्वा; पूर्वकालिक कृदंत प्रत्यय।
भणहि—< भण, अनुज्ञा म० पु० ए० व० 'हि' तिङ् विभक्ति।
गुणि—< गणय; अनुज्ञा म० पु० ए० व० 'इ' तिङ् विभक्ति।

जहा,

कमलणअणि अमिअवअणि।
तरुणि घरणि मिलइ सुपुणि ॥५७॥

[दमणक—दमनक]

५७ उदाहरण—कमल के समान नेत्रोंवाली (सुंदर), अमृत के समान मधुर वचन वाली तरुणी पत्नी सुपुण्य से ही मिलती है।

---

५६ दिअवर—B दिअवर। सुपिअ—A सुपिअ।
५७ कमल –N. कमलणअणि। अमिअ –C अमिअअ मणि। सुपुणि—A सुपुणि, C सु पुणि व पुणि।

टि०—तरुणि, ग्ररणि—अप० में प्राय' प्रा० भा० आ० के स्त्रीलिंग दीर्घ ईकारांत का ह्रस्वीकरण कर दिया जाता है। (दे० भायाणी: सन्देशरासक § ४३।)

मिलइ—√—मिलति; वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व०।

सुपुणि—< सुपुण्येन, 'इ' करण कारक ए० व० का चिह्न।

सप्ताक्षर प्रस्तरा, समानिका छंद —

चारि हार किज्जही तिण्णि गंध दिज्जही।
सत्त अक्खरा ठिआ सा समाणिआ पिआ ॥५८॥

५८ (आरंभ में एक गुरु फिर एक लघु के क्रम से) चार गुरु (हार) तथा तीन लघु (गंध) दिये जायँ। (जहाँ) सात अक्षर स्थित हों, वह समानिका नाम प्रिय छंद है। (S I S I S I S)

टिप्पणी—किज्जही, दिज्जही (क्रियते, दीयते)। पिशेल ने इसी पद्य के 'दिज्जही' का वास्तविक रूप 'दिज्जहिँ' माना है, तथा इसे कर्मवाच्य प्र० पु० व० व० का रूप माना है। (दे० पिशेल § ५४५ पृ० ३७४)। इस प्रकार इनका वास्तविक रूप 'किज्जहिँ-किज्जहि', 'दिज्जहिँ-दिज्जहि' होगा। इसीको छन्दोनिर्वाह के लिए 'इ' को दीर्घ बनाकर 'किज्जही—दिज्जही' रूप बने हैं। इस संबंध में इतना संकेत कर दिया जाय कि अवहट्ठ में पदांत अनुनासिक प्राय. लुप्त होता देखा जाता है।

ठिआ < स्थिता (अक्षराणि स्थितानि), कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत व० व० रूप।

जहा,

कुंजरा चलंतआ पव्वआ पलंतआ।
कुम्मपिट्ठि कंपए धूलि सूर झंपए ॥५९॥

[समाणिआ = समानिका]

५९. उदाहरण —किसी राजा का एक टीकाकार के अनुसार कर्ण (संभवत कलचुरिनरेश कर्ण) के सेना प्रयाण का वर्णन है :—

५८ किज्जही—A. किज्जहि, B किज्जिही। दिज्जही—A. दिज्जहि।
५९ पव्वआ—N पव्वला। पिट्ठि—C. पिठ्ठी।

हाथी चलते हैं, (तो) पर्वत गिरने लगते हैं, कूर्म की पीठ काँपने लगी है, धूल ने सूर्य को ढँक लिया है।

टि०—चलंतआ, पलंतआ—वर्तमानकालिक कृदंत 'अंत' के ब० व० रूप। (चलन्त: पतन्त:)।

कंपए, झंपए—(कम्पित, *झंपित (आच्छादित)। कर्मवाच्य (भाववाच्य) भूतकालिक कृदंत। 'ए', सुप् विभक्ति के लिए दे० भूमिका।

सुवास छंद—

भणउ सुवासउ लहु सुविसेसउ।
रचि चउ मत्तह भ लहइ अंतह ॥६०॥

६० आरम्भ में लघु अक्षरों के द्वारा विशेषतः चार मात्रा की रचना कर अंत में भगण प्राप्त हो, उसे सुवास छंद कहो। (।।।।ऽ।।)

टि०—भणउ—आज्ञा म० पु० ए० व० 'उ' चिह्न विभक्ति यह वस्तुतः शुद्ध धातु रूप के साथ कर्ता ए० व० के 'उ' चिह्न का प्रयोग है।

रचि—< रचयित्वा—पूर्वकालिक क्रिया रूप।

लहइ—कुछ टीकाकारों ने इसे 'लभति तथा 'लभ्यते' माना है, कुछ ने पूर्वकालिक रूप। संभवतः यह वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व० का रूप है, लहइ < लभते।

जहा,

गुरुजणभत्तउ बहु गुणजुत्तउ।
जसु जिम पुत्तउ स इ पुणवंतउ ॥६१॥
[सुवास]

---

६०. सुवासउ—A सुवासउ, C सरसउ। लहु सुविसेसउ—A लहुअ विसेसउ, C लहुगुरुसेसउ N सुविसेसनु। रचि—C रअइ। चउ—N चउ। भ लहइ—N भगणइ। अंतह—C अक्खरह।

६१. भत्तउ—C भत्तिजुउ। जसु जिम—A जसु जिम, C °जिम, N. जिम। पुणवंतउ—C N पुण्णमन्तउ।

६१. उदाहरण—

जिस व्यक्ति के गुरुजनों की भक्त, गुणयुक्त पत्नी (वधू) हो, तथा जीवित रहनेवाला पुत्र (वाले पुत्र) हो, वही पुण्यशाली है।

टि०—जसु—∠ यस्य > जस्स > *जास-जस > जासु-जसु।

करहंच छंद —

> चरण गण विप्प पढम लइ थप्प।
> जगण तसु अंत मुणहु करहंच ॥६२॥

६२. (प्रत्येक) चरण में पहले विप्र गण (चार लघु वाले मात्रिक गण) स्थापित करो तथा जिसके अन्त में जगण (मध्य गुरु वर्णिक गण) हो, उसे करहंच छंद समझो। (।।।।।ऽ)

टि०—लइ—पूर्वकालिक क्रिया रूप।

थप्प—∠स्थापय, णिजंत के अनुज्ञा म० पु० ए० व० का रूप।

जहा,

> जिवउ जइ एह तजउ गइ देह।
> रमण जइ सो इ विरह जणु होइ ॥ ६३ ॥
> [करहंच]

६३ उदाहरण —

कोई पतिव्रता कह रही है :—

यह मैं जाकर अपने देह का त्याग करती हूँ। यदि फिर कहीं जीऊँ (मेरा फिर से कहीं जन्म हो), तो मेरा पति वही हो, उससे मेरा विरह न हो।

टिप्पणी—जीवउ < जीवामि > म० भा० आ० जीवामि-जीवमि-जिवामि-जिवमि >* जिवविँ >*जिवउँइ > जिवउँ।

तजउ < त्यजामि > म० भा० आ तजामि-तजमि> *तजविँ > *तजउँइ > तजउँ।

ये दोनों वर्तमानकालिक उ० पु० ए० व० के रूप हैं।

---

६२ मुणहु—N मुणइ।

६३ जिवउ—C जिअउँ। तजउ—C. तजउँ। जइ—C. जोइ। जणु—B जिणु, C जणि।

गइ < गत्वा (*गम्य = *गम्प) 7 गइअ > गइ। पूर्वकालिक क्रिया रूप।

शीर्षरूपक छंद —

सत्ता दीहा जाणेही कण्णा ती गा माणेही।
चाउद्दाहा मत्ताणा सीसारूओ छंदाणा ॥ ६४ ॥

६४ सात दीर्घ अक्षरों को जानो, तीन कर्ण (द्विगुरु चतुष्कलगण) तथा अंत में एक गुरु समझो, चौदह मात्रा हों, यह शीर्षरूपक छंद है। (SSSSSSS)।

टिप्पणी—जाणेही, माणेही < जानीहि, मन्यस्व, म० पु० ए० व०। यह रूप 'हि' को दीर्घ कर बनाया गया है।

चाउद्दाहा < चतुर्दश > 'चउदह' को छन्दोनिर्वाह के लिए 'चाउद्दाहा' कर दिया है। इसके अन्य रूप—चोद्दह (हेमचंद्र, ८.१७१), चोद्दस चउद्दस (छंदोनिर्वाहार्थ रूप 'चाउद्दस')। ये सब जैनमहा०, अर्धमा० रूप हैं। प्रा० पैं० में इसके चउदह (१.१३१ ११४) चारिदह, दहचारि' रूप भी मिलते हैं। 'चउद्दस' (जैनमहा०, अर्धमा०) की भाँति पिशेल ने 'चाउद्दाहा' (प्रा० पैं०) को छन्दोनिर्वाहार्थ (मेट्री कॉसा Metri Causa) स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है, पर यह रूप 'मेट्री कॉसा' ही है, इसमें कोई संदेह नहीं। दे० पिशेल § ४४३।

जहा,

चंदा कुंदा ए कासा हारा हीरा ए हंसा।
जे जे सेता कण्णीआ तुम्हा कित्ती जिण्णीआ ॥६५॥
[सीसरूपक = शीर्षरूपक]

६५. उदाहरण —
कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा कर रहा है—
चंद्रमा, कुंद, काश, हार हीरा और हंस; संसार में जितने भी

६४. सीसारूओ—N सीसारूअं।
६५. सेता—N सेआ। कण्णीआ—C किण्णिआ। तुम्हा—C तुम्हारी।

श्वेत पदार्थ वर्णित हैं, तुम्हारी कीर्ति ने (उन सबको) जीत लिया है।

टि०—तुम्हा—< तव, 'तुम्ह' (पिशेल § ४२१) का छंदोनिर्वाहार्थ दीर्घीकृत रूप।

वण्णीआ, जिण्णीआ—(वर्णिता', जिता') प्राकृत मे 'जि' धातु को 'जिण' आदेश हो जाता है। कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत पु० व० च० के रूप वण्णिआ, जिण्णिआ होगे। छन्दोनिर्वाहार्थ द्वितीयाक्षर को 'इ' ध्वनि को दीर्घ बना दिया है।

अष्टाक्षरप्रस्तार विद्युन्माला.—

विज्जूमाला मत्ता सोला, पाए कण्णा चारी लोला।
एअं रूअं चारी पाआ, भत्ती खत्ती णाआराआ ॥६६॥

६६ विद्युन्माला छंद मे सोलह मात्रा तथा चार कर्ण (गुरुद्वय) अर्थात् आठ गुरु होते हैं। इस प्रकार इसमे चार चरण होते हैं। नागराज ने इसे क्षत्रिय जाति का माना है। (SSSS SSSS)

(इस पद्य के 'भत्ती खत्ती' का कुछ टीकाकार 'भक्त्या क्षत्रियः क्षत्रियजातिनागराज ज०पतीति शेषः' अर्थ करते हैं; अन्य टीकाकार 'भत्ती' का '(नागराजेन) भण्यते' अर्थ करते हैं तथा 'खत्ती' को 'क्षत्रिया' से अनूदित कर विद्युन्माला का विशेषण मानते हैं। (क्षत्रिया जातिरिति कश्चित्—दे० प्रा० पैं० की विश्वनाथकृत टीका, बि० इं० स० पृ० १७२। हमने इसी अर्थ को मान्यता दी है।)

सोला—< षोडश, (दे० पिशेल § ४४३। अर्धमागधी, जैनम० मे इसके सोलस, सोलसय रूप मिलते हैं। प्रा० पैं० मे सोलह रूप भी मिलता है। पिशेल ने 'सोला' रूप का संकेत करते समय प्रा० पैं० के इसी पद्य का हवाला दिया है।) तु० हि० सोलह, रा० सोळा। (प्रा० प० रा० सोल, दे० टेसिटोरी § ८०)।

एअं रूअं—प्राकृतीकृत (प्राकृताइज्ड) रूप। प्रा० पैं० की भाषा में नपुसक का वस्तुत. अभाव है, अतः इन छुटपुट नपुंसक के उदाहरणों को अपवाद ही मानना होगा। या तो यह प्रवृत्ति छन्दोनिर्वाहार्थ

---

६६ मत्ता सोला—A B. सोला मत्ता। खत्ती-A पत्ती। णाआराआ—C. विज्जूमाला आ, N विज्जूराआ।

अनुनासिक के प्रयोग का संकेत करती है, या यह देश्य भाषा में संस्कृत की गमक लाने की चेष्टा कही जा सकती है।

जहा,

उम्मत्ता जोहा ढुक्कंता विप्पक्खा मज्झे लुक्कंता।
णिक्कंता जंता धावंता णिब्भंती कित्ती पावंता ॥ ६७ ॥
[विद्युन्माला]

६७ उदाहरण —

कोई कवि युद्ध का वर्णन कर रहा है —उन्मत्त योद्धा, परस्पर एक दूसरे पक्ष के योद्धाओं से मिलते हुए, विपक्ष के बीच में छिप कर (घुस कर) (उनको मारकर) निकलते हुए शत्रुसेना के प्रति जाते हैं व दौड़ते हैं, तथा (संसार में) निर्भ्रांत कीर्ति को प्राप्त करते हैं।

टिप्पणी—जोहा < योधा।

ढुक्कंता, लुक्कंता, णिक्कंता, जंता, धावंता, पावंता—ये सभी वर्तमानकालिक कृदंत के ब० व० रूप हैं।

प्रमाणिका छंद —

लहू गुरू णिरंतरा पमाणिआ अठक्खरा।
पमाणि दूण किज्जिए णराअ सो भणिज्जए ॥ ६८ ॥

६८. एक लघु के बाद क्रमशः एक एक गुरु हो, वह आठ अक्षर का छंद प्रमाणिका है। प्रमाणिका को द्विगुण कर दीजिये, उसे नाराच छंद कहिये। (नाराच में एक एक लघु के बाद एक-एक गुरु होता तथा प्रत्येक चरण में १६ अक्षर होते हैं।)

(प्रमाणिका —।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ)।

टिप्पणी—दूण < द्विगुणित (हि० दुगने, रा० दूणा)।

किज्जिए, भणिज्जए (क्रियते, भण्यते) कर्मवाच्य रूप।

६७ उम्मत्ता—B N उम्मत्ता। मज्झे—B मज्झे, C मज्झे। णिब्भंती—C, K. णिब्भंती।

६८. पमाणिआ अठक्खरा—B अठखरा, C पमाणि अठक्खरा। N पमाणि अठक्खरा। किज्जिए—A, B, N किज्जिए, C K. किज्जए। भणिज्जए—A. भणिज्जिए।

जहा,

णिसुंभसुंभखंडिणी गिरीसगेहमंडिणी ।
पअंडमुंडखंडिआ पसण्ण होउ चंडिआ ॥ ६६ ॥
[प्रमाणिका]

६६. उदाहरण :—

निशुंभ तथा शुभ का खंडन करने वाली, महादेव के घर को सुसज्जित करनेवाली (महादेव की गृहिणी), प्रचंड मुंड नामक दैत्य का खंडन करनेवाली चंडिका प्रसन्न हो ।

टिप्पणी—होउ < भवतु । अनुज्ञा प्र० पु० ए० व० ।

मल्लिका छंद :—

हारगंधवंधुरेण दिट्ठ अट्ठ अक्खरेण ।
वारहाइ मत्त जाण मल्लिआ सुछंद माण ॥ ७० ॥

७० जहाँ क्रमश एक एक गुरु के वाद एक एक लघु के वंध, तथा आठ अक्षर के साथ वारह मात्रा समझो, वहाँ मल्लिका छंद मानो ।

(मल्लिका—ऽ। ऽ। ऽ। ऽ।)

टिप्पणी—जाण—माण । अनुज्ञा म० पु० ए० व० ।

जहा,

जेण जिण्णु खत्ति वंस रिट्ठि मुट्ठि केसि कंस ।
वाणपाणि कट्टिएउ सोउ तुम्ह सुक्ख देउ ॥ ७१ ॥
[मल्लिका]

७१ उदाहरण :—

जिन (परशुराम) ने क्षत्रिय वंश को जीता तथा सहस्रार्जुन के हाथ काटे, तथा जिन (कृष्ण) ने अरिष्ट, मुष्टिक, केशी तथा कस को

---

६६. पअड चडिआ—C. पचडचड खडिए पसणि होहु चडिए ।

७० हारगधवधुरेण—C. हारवधगधएण । वारहाइ—C. वारहाई, N. वारहाहि । मल्लिआ—A B. मल्लिका ।

७१ जिण्णु—A जिणू । रिट्ठि मुट्ठि—C रिट्ठि मुट्ठ, K. रिट्टि मुट्टि । सोउ—A B N. सोउ, C K. सोइ । सुक्ख—A. सूक्ख, B. N. सुक्ख, C. K सुम्भ ।

जीता तथा बाणासुर के हाथ काटे, वे (परशुराम और कृष्ण) तुम्हें सुख प्रदान करें।

टिप्पणी—जिण्णु < जित-, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत प्रत्यय 'ण' (< प्रा० भा० आ० 'त'), 'उ' कर्ताकारक (कर्मवाच्य कर्म कारक) ए० व० का चिह्न।

कट्टिअउ—< कर्तित > कट्टिआ-कट्टिअ > कट्टिअउ।

इसमें एक साथ कर्ता ब० व० 'अ' प्रत्यय तथा 'उ' (कर्ता कर्म ए० व० का अपभ्रंश का सुप् चिह्न) पाया जाता है। संभवतः 'उ' का प्रयोग छन्दोनिर्वाहार्थ हुआ है।

तुंग छंद—

तरलणअणि तुंगो पढमरस सुरगो।
णगण सुअल पढो गुरु जुअल पसिद्धो ॥७२॥

७२. हे चंचल नेत्रों वाली सुंदरि, पहले दो नगणों से युक्त दो सुंदर लघु हों, तथा बाद में दो गुरु हों, यह तुंग नामक छंद है।
(तुंग—IIIIIISS)।

टि०—तुंगो, सुरगो, पढो, पसिद्धो; ये सब प्रथमा ए० व० रूप हैं।

जहा

कमलणअणमरजीवो सअलभुअणदीवो।
हसिअतिमिरडिंबा उअइ तरणिबिंबा ॥७३॥
[तुंग]

७३. उदाहरण—

कमल तथा भ्रमर (अथवा कमल में छिपे भ्रमरों) का जीवन समस्त भुवन का दीपक सूर्यबिंब उदित हुआ। अंधकार के समूह का नाश कर लिया है [illegible] हो रहा है।

टि०—उअइ—उदेति, वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व० रूप।

जीवो दीवो डिंबा बिंबा—ये सब कर्ता कारक ए० व० के [illegible]

७२. [illegible] ([illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible]) [illegible]।

७३. [illegible] । [illegible] [illegible]।

रूप हैं, जिनमे प्राकृत विभक्ति चिह्न 'ओ' का प्रयोग हुआ है। ये सब प्राकृतीकृत रूप हैं।

कमल छंद —

पढम गण विप्पओ बिहु तह णरिंदओ।
गुरु सहिअ अंतिणा कमल इम भंतिणा ॥७४॥

७४ जहाँ पहला गण विप्र (चतुर्लघ्वात्मक गण) हो, इसके बाद दूसरा गण नरेन्द्र (मध्यगुरु जगण) हो, तथा अंत मे गुरु साथ मे हो, इसे कमल छंद कहते हैं।

(कमल ||||ISIS)

टि०—विप्पओ, णरेंदओ—(विप्रक, नरेंद्रक); इसमे 'अओ' (सं० स्वार्थे 'क' से युक्त कर्ता ए० व०) विभक्ति चिह्न है। ये भी प्राकृत रूप हैं।

अंतिणा, भंतिणा, अतिणा की व्याख्या 'अंते' की गई है।

'भंतिणा' की उत्पत्ति का पता नहीं है, कुछ इसे 'भवति' मानते हैं, कुछ 'भवत्या' (भत्तिणा)। वस्तुतः 'अतिणा' की तुक पर 'भंतिणा' रख दिया गया है। इतने पर भी 'णा' की समस्या बनी रहती है। यह छंदोनिर्वाहार्थ प्रयुक्त पादपूरक है, या प्राकृत के करण कारक ए० व० चिह्न 'णा' से इसका संबंध है ?

जहा,

स जअइ जणद्दणा असुरकुलमद्दणा।
गरुडवरवाहणा बलिभुअणचाहणा ॥७५॥

[कमल]

७५ उदाहरण—

असुर कुल का मर्दन करनेवाले, गरुड के श्रेष्ठ वाहन (पर बैठने)

---

७४ तह—A जह। णरिंदओ—A.B णरिदओ, K. N. णरेंदओ। सहिअ—N सहित। अतिणा—B अतिण, C एतिणा। इम—B. C. K एम।

७५ स जअइ—C विजअइ। जणद्दणा—C जणदणा। °मद्दणा—C, मदनणा। भुअण—B N. भुवण।

वाले, बलि नामक दैत्य के भुवन (राज्य) की इच्छा करनेवाले, जनार्दन की जय हो।

टिप्पणी—जअइ—<जयति।

जणद्दणा महणा वाहणा चाहणा—ये कर्ताकारक ए० व० रूप हैं, जिनके पदांत 'अ' को दीर्घ बना दिया गया है। (जनार्दनः, मदनः, वाहनः, *चाहन (इच्छु) °चाहण, √चाह <सं० इच्छति, (हि० चाहना, रा० चाहवो (उ० छा' वो)।

यथाक्षरप्रस्तार, महालक्ष्मी छंद —

दिहु जोहा गणा विण्णिआ, णाअराएण जा विणिआ।
मास अद्धेण पाअ ठिअ जाण मुद्धे महालच्छिअं ॥७६॥

७६ हे मुग्धे, जिस छन्द के प्रत्येक चरण में तीन योधा (मध्यलघु पञ्चकल या रगण) का वर्णन किया गया है, तथा जिनके प्रत्येक चरण में एक महीने की आधी अर्थात् पन्द्रह मात्रा स्थित हों, उसे महालक्ष्मी छन्द समझो। (महालक्ष्मी —SISSISSIS)।

टिप्पणी—णाअराएण—<नागराजेन।

ठिअं—<स्थितां।

जाण—<जानीहि, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

महालच्छिअं—<महालक्ष्मीकां >महालच्छिअं, अपभ्रंश में प्रायः दीर्घ स्वरान्त शब्दों की ह्रस्वांत प्रवृत्ति देखी जाती है। इस प्रकार अप० में अकारांत स्त्रीलिंग रूप भी पाये जाते हैं, दे० भूमिका।

जहा,

मुंडमाला गला कंठिआ णाअराआ भुआ संठिआ।
वग्घछाला किआ वासणा चंडिआ पाउ सिंहासणा ॥७७॥
[महालक्ष्मी]

---

७६ णाअराएण—B णागराएण। विण्णिआ—C विण्णिआ, B वण्णिआ। मास—B माम।

७७ संठिआ—N. ठढिआ। वग्घछाला—C. वग्घछाला, K. वग्घ छाला N. वग्घछाला।

७७. उदाहरण —

जिसके गले मे मुण्डमाला की कंठी (गले का हार) है, हाथ मे सर्प स्थित है, जिसने व्याघ्रचर्म को वस्त्र बना रखा है, वह सिंह पर स्थित चण्डिका (मेरी) रक्षा करे।

टिप्पणी—गला—<गले, यह अधिकरण ए० व० के अर्थ मे प्रयुक्त शुद्ध प्रातिपदिक रूप 'गल' का दीर्घीकृत रूप है। अथवा इसे 'गलक' (गल+क) > गलअ-गलउ > गला के क्रम से 'आकारात' पुल्लिग शुद्ध प्रातिपदिक रूप भी माना जा सकता है। (तु० हि० गला)।

कंठिआ—<कठिका, (तु० हि० राज० कंठी)।

वग्घछाला—<व्याघ्रचर्म, 'छल्ल' शब्द देशी है, इसीसे 'छाल' का विकास हुआ है (हि० छाल)। 'छाल' के पदांत 'अ' को छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ बना दिया गया है।

किआ < कृत (कृत) > किअ, 'अ' छंदोनिर्वाहार्थ दीर्घ बन गया है।

वासणा < वसन, कुछ टीकाकारो ने 'किआवासणा' को समस्त पद (कृतवसना) माना है, जो गलत है। अन्य टीकाकारों ने 'व्याघ्रचर्म कृतं वसनं' व्याख्या की है। यह व्याख्या ठीक जान पड़ती है। 'वासणा' मे छन्द के लिए एक साथ दो दो स्थानों पर 'अ' का 'आ' के रूप मे दीर्घीकरण पाया जाता है।

पाउ ∠ पातु, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

सारंगिका छंद :—

दिअवर कण्णो सअणं, पअ पअ मत्तागणणं।
सुर मुणि मत्ता लहिअं सहि सरगिक्का कहिअं ॥ ७८ ॥

७८ हे सखि, जहाँ प्रत्येक चरण में एक द्विजवर (चतुर्लघ्वात्मक गण), फिर एक कर्ण (द्विगुर्वात्मक गण), फिर अत में सगण (अंतगुरु वर्णिक गण) हो, इस ढग से जहाँ प्रत्येक चरण में मात्रा की गणना हो, तथा शर (पाँच) और मुनि (सात) अर्थात् १२ (५+७) मात्रा हो, उसे सारंगिका छद कहा जाता है। (सारंगिका—।।।।, SS, ।।S)

---

७८. पअ पअ—N पअ पण। सरगिक्का—A. सरगिक्का, C. सारगी।

टिप्पणी—सअणं, गअणं, लहिअं, कहिअं परसुत 'नपुंसक के रूप नहीं हैं। यह अनुस्वार केवल छन्दोनिर्वाहार्थ तथा संस्कृत की गमक लाने के लिए प्रयुक्त किया गया है।

सरगिक्का—'एक' प्रति में इसका 'सरंगिक्का' पाठ मिलता है। किंतु यह पाठ छन्दोनिर्वाह की दृष्टि से ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें एक मात्रा बढ़ जाती है। संभवत यही कारण है, 'सरंगिक्का' का विकास 'सरँगिक्का' हुआ है। प्रा० पैं० के हस्तलेखों में प्रायः अनुनासिक का संकेत लुप्त कर दिया जाता है। अतः इसका 'सरगिक्का' रूप मिलता है। वैसे एक प्रति (A प्रति) ने 'सारंगी' पाठ रख कर इस अड़चन को मिटाने की चेष्टा की है। हमने मतुसम्मत पाठ 'सरगिक्का' ही लिया है, जिसे 'सरँगिक्का' का रूप समझते हैं।

जहा,

हरिणसरिस्सा णअणा कमलसरिस्सा वअणा।
जुअजणचित्ताहरिणी पिअसहि दिट्ठा तरुणी ॥ ७६ ॥
[सारंगिका]

७६. उदाहरण —

हे प्रियसखि, (मैंने) हरिण के समान नेत्रवाली, कमल के समान मुखवाली, युवकों के चित्त का अपहरण करनेवाली उस तरुणी को देखा।

टिप्पणी—सरिस्सा < सदृश > सरिस > सरिस्सा (द्वित्व तथा दीर्घीकरण की प्रवृत्ति) (राज॰ सरीसो—सदृश)।

°चित्ताहरिणी < °चित्तहरिणी—इसमें 'आ (चित्ता) छंदोनिर्वाहार्थ प्रयुक्त हुआ है।

पाइत्ता छन्द :—

कुंती पुत्ता जुअ लहिअं तीए विप्पो जुअ कहिअं।
अंते हारो सह भणिअं त पाइत्ता फणिभणिअं ॥ ८० ॥

---

७६. सरिस्सा—A सरस। कमलसरिस्सा—C कमलविसाला। तरुणी—A C तरुणी। दिट्ठा—C K दिट्ठा।

८०. तीए—B C तीअे। जुअ—A B जुग। सह—B सहि। त पाइत्ता 'भणिअं—C पाइत्ता कमठ कहिअं N पाइत्तास फणिभणिअए।

८०. जहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ में दो कुन्तीपुत्र अर्थात् कर्ण (गुरुद्वयात्मक गण) हो, इसके बाद विप्र (चतुर्लघ्वात्मक गण) तथा अंत में हार (गुरु) हो, उसे पिंगल के द्वारा भणित पाइत्ता छंद (समझो)।

(पाइत्ता —SSSS, IIII, S)।

टिप्पणी—जणिअं < जनित' > जणिओ < जणिउ > जणिअ। इसी 'जणिअ' को छंदोनिर्वाहार्थ 'जणिअं' बना दिया गया है।

जहा,

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जलसमला।
णच्चे विज्जू पिअसहिआ आवे कंता कहु कहिआ ॥८१॥

[पाइत्ता]

८१. उदाहरण :—

हे प्रियसखि, कदम्ब फूल गये हैं, भौंरे घूम रहे हैं, जल से श्यामल मेघ दिखाई दे गये हैं, बिजली नाच रही है, कहो प्रिय कब आयँगे ?

टिप्पणी—समला < श्यामला > सामला > साँवला (अप०)। वस्तुतः इस मध्यग 'म' का विकास 'वँ' होता है। 'समला' (साँवला) को छन्दोनिर्वाह के लिए 'समला' बना दिया है। (तु० राज० साँवँळो, व्रज० साँवरो) इस संबंध में इतना संकेत कर दिया कि 'वँ' के नासिक्य तत्त्व (नेजल एलिमेंट) का प्रभाव पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वरों पर भी पाया जाता है। प्रा० पैं० के साँवला (वर्तनी, सामला) का उच्चारण साँवँला (S ã w̃ l a) रहा होगा, यह उच्चारण आज भी राज० में सुरक्षित है।

णच्चे < नृत्यति वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व०।

आवे ∠ आयाति, भविष्यत् के अर्थ में वर्तमान कालिक प्रयोग—आगमिष्यति—(आयास्यति) प्र० पु० ए० व०।

कंता < कांत', छंदोनिर्वाहार्थ पदांत 'अ' का दीर्घीकरण।

कहु < कथय, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

कहिआ < कदा।

---

८१ फुल्ला—C फुल्लो। णीवा—A. णीपा। जलसमला—C. °समरा, N जलसमरा। कहु—N, सहि। कहिआ—B. सहिआ।

कमल छंद —

सरसगणरमणिआ दिअवर जुअ पलिआ ।
गुरु धरिअ पइपओ दहकलअ कमलओ ॥ ८२ ॥

८२. जहाँ प्रत्येक चरण में सरसगण से रमणीय (सुंदर गणवाले) दो द्विजवर (चतुर्लघ्वात्मक गण) पड़ें, अंत में गुरु धरा गया हो, तथा दस मात्रा हो, (यह) कमल छंद है।

(कमल :—IIII, IIII, S)।

टिप्पणी—पलिआ < पतिता > पडिओ > पडिअ > पडिअ। छन्दोनिर्वाहार्थ पदांत 'अ' को दीर्घ बना दिया गया है। कर्मवाच्य भूत० कृदंत।

धरिअ— < धृत > धरिओ > धरिअ-धरिअ। कर्मवाच्य भूत० कृदंत।

जहा,

चल कमलणअणिआ खलिअथणवसणिआ ।
हसइ परणिअलिआ असइ घुअ वहुलिआ ॥८३॥

[कमल]

८३. उदाहरण—

चंचल कमल के समान नेत्रों वाली वधू जिसके स्तन का वस्त्र खिसक रहा है, दूसरों के समक्ष हँसती है, तो वह निश्चय ही असती (दुश्चरित्र) है।

टिप्पणी—परणिअलिआ— < परनिकटे, यहाँ छन्दोनिर्वाहार्थ 'अ' को जोड़ा गया है। वस्तुतः 'परणिअलि (इ' अधिकरण ए व० की विभक्ति) ही मूल शब्द है। निअल, तु 'नियर (जायसी), जेहि पछी के नियर होइ कहै बिरह कै बात (जायसी)।

---

८२ सरस—C सुपिअ। दिअवर—C N दिअगण। पलिआ—C अ पलिआ। गुरु 'पओ—C कमलगण पइ पओ N पइ पअ।

८३ कमल°—C चलकमलणअणा। खलिअ—C खसइ। वसणिआ—C K. वसणआ। असइ—B अशइ। धुअ—A धुव।

वहुलिआ—वधू+टी+का (वधूटिका)>अप० वहु+डी (ली) +आ (वहुडिआ), वहुलिआ-वहुलिया; इसमे एक साथ दो दो स्वार्थे प्रत्यय पाये जाते हैं। (तु० बहुरिया (कवीर))।

विंब छंदः—

रअइ फणि बिंब एसो गुरुजुअल सव्वसेसो ।
सिरहि दिअ मज्झ राओ गुणह गुणिए सहाओ ॥८४॥

८४ जहाँ सिर पर (पदादि में) द्विज (चतुर्लघ्वात्मक गण), मध्य में राजा (मध्यगुरु चतुष्कल; जगण) तथा शेष में दो गुरु दिये जायँ, गुणियों के सहायक फणी (पिंगल) इसे बिंव कहते हैं (फणी ने इस विंव छन्द की रचना की है), इसे गुणो (समझो)। (विंवः— IIII,ISI,SS)।

टिप्पणी—सिरहि—<शिरसि, सिर + हि, अधिकरण कारक ए० व०।

गुणहि—अनुज्ञा म० पु० व० व०।

जहा,

चलइ चल वित्त एसो णसइ तरुणत्तवेसो ।
सुपुरुसगुणेण वद्धा थिर रहइ कित्ति सुद्धा ॥८५॥

[विंव]

८५. उदाहरण—

यह चञ्चल धन चला जाता है, तरुणत्व का वेप (यौवन) (भी) नष्ट हो जाता है, अच्छे पौरुष गुणों से (गुण रूपी रस्सी से) बाँधी हुई शुद्ध कीर्ति स्थिर रहती है।

टिप्पणी—तरुणत्त—< तरुणत्वं (दे० पिशेल § ५९७, त्व>त्त, तु० पुमत्त < पुंस्त्व), रुक्खत्त (रूक्षत्व) मणुयत्त (मनुजत्व), भट्टित्त (भर्तृत्व)।

---

८४ रअइ–C. रइअ। जुअल–A. जुवल। सिरहि–C. सिरसि। मज्झ–C K मम्झ।

८५. चलवित्त–B. चलि चित्त। तरुणत्तवेसो–B. तरुणंत°। सुपुरुस–A.B. सुपुरिस। वद्धा–C. णद्धा।

तोमर छंद—

जसु आइ हत्थ विआण तह बे पओहर जाण।
पभणेइ णाअणरिंद इम माणु तोमर छंद ॥८६॥

८६ जिसके आदि में हस्त (गुर्वंत सगण) समझो, तब दो पयोधर (जगण) जानो, नागों के राजा पिंगल कहते हैं कि इस तरह तोमर छन्द मानो। (तोमर ।।ऽ।ऽ।,।ऽ।)।

टिप्पणी—आइ—<आदौ।

विआण—वि + जानीहि जाण < जानीहि, माणु < मन्यस्व (मानय), ये सब आज्ञा म० पु० ए० व० के रूप हैं।

जहा,

चलि चूअ कोइलसाव महुमास पंचम गाव।
मण मज्झ वम्मह ताव णहु कंत अज्ज वि आव ॥८७॥
[तोमर]

८७. उदाहरण—

कोई विरहिणी सखी से कह रही है—

(हे सखि,) कोयल के बच्चे आम की ओर जाकर बसंत समय में पंचम का गान कर रहे हैं। मेरे मन को कामदेव तपा रहा है, प्रिय अभी तक नहीं लौटा है।

टि०—चलि—< चलित्वा; पूर्वकालिक क्रिया रूप।

कोइलसाव—< कोकिलशावाः कर्ताकारक ब० व० में प्रातिपदिक का प्रयोग।

गाव—< गायति; वर्तमानकालिक प्र० पु० ब० व० शुद्ध धातु का प्रयोग।

मण मज्झ— कुछ टीकाकारों ने 'मनोमध्ये' माना है, हमने 'मनो मम' अर्थ किया है, हमें दूसरा अर्थ ठीक जँचता है।

मज्झ—< मम (दे० पिशेल § ४१८, § ४१८)।

---

८६ जसु—A जस्। विआण—A वैआण। बे— N व। जाण—A,B जाउ। णरिंद—C णरेंद। इम—C एम। माणु—K,O, जाण।

८७ मज्झ—K मज्झ। मज्झ—N अज्झु।

ताव—< तापयति; णिजंत क्रिया रूप, '√तप+णिच्+० (शून्य तिङ्) = ताव्+० = ताव, णिजंत का वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व० ।

अज्जु—< अद्य > अज्ज > अज्जु; (हि० आज)।

आव—< आयाति, वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व० 'शून्य विभक्ति' या शुद्ध धातु रूप ।

रूपमाला छंदः—

णाआराआ जंपे सारा ए, चारी कण्णा अंते हारा ए ।
अट्ठाराहा मत्ता पाआए, रूआमाला छंदा जंपीए ॥८८॥

८८ (जहाँ प्रत्येक चरण में) चार कर्ण (गुरुद्वयात्मक गण) तथा अंत में हार (गुरु) हों अर्थात् जहाँ नौ गुरु हों, तथा अठारह मात्रा हों, यह उत्कृष्ट रूपमाला छंद कहा जाता है, ऐसा नागराज पिंगल कहते हैं।

(रूपमाला—SSSSSSSSS)

टि०—जंपे—< जल्पति, वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व० ।

अट्ठाराहा—< अष्टादश, ('अट्ठारह' का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप, 'अट्ठारह' के लिए दे० पिशेल § ४४३)।

जंपीए—< जल्प्यते, कर्मवाच्य वर्तमान प्र० पु० ए० व० ।

जहा,

जं णच्चे विज्जू मेहंधारा पंफुल्ला णीपा सद्दे मोरा ।
वाअंता मंदा सीआ वाआ, कंपंता गाआ कंता णा आ ॥८९॥

[रूपमाला]

८९. उदाहरण —

किसी विरहिणी की उक्ति है।

'बिजली नाच रही है, मेघांधकार (फैल गया है), कदंब फूल

---

८८ जंपे—N जप्पे। अट्ठाराहा—N अट्ठाराहा। छंदा—C. छंदो। जपीए—A. जंपाए, C. जपू से।

८९ पफुल्ला—C. पफुल्लो। सद्दे—C. सद्दे। वाअंता—C. वीअंता। मत्ता—C मत्ता।

गये हैं, मोर शब्द कर रहे हैं, शीतल पवन मंद मंद चल रहा है; इस लिये मेरा शरीर काँप रहा है, (हाय) प्रिय (अभी तक) नहीं आया।

टि०—मेहंधारा—<मेघांधकार; 'पदांत आ' छन्दोनिर्वाहार्थ है।

पंफुल्ला—< प्रफुल्ला > पफुल्ला, इसी 'पफुल्ला' में छन्दोनिर्वाहार्थ अनुस्वार का समावेश कर 'पंफुल्ला' बना दिया गया है। यह कर्मवाच्य-भाववाच्य भूतकालिक कृदंत रूप हैं।

सद्दे—< शब्दायंते, वर्तमानकालिक प्र० पु० ब० व०।

वाअंता—< वान्त (वर्तमानकालिक कृदंत रूप, ब० व०)।

कंपंता—<कम्पत् (गात्रं=गाआ) वर्तमानकालिक कृदंत ए० व० (कंपंत) का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप।

आ—<आयात >आओ >आआ >आ (हि० आया, जो वस्तुत 'आ आ' का ही श्रुतियुक्त रूप है; रा० आयो)।

दशाक्षरप्रस्तार, संयुताछंद—

जसु आइ हत्थ विआणिओ तह बे पओहर जाणिओ।
गुरु अंत पिंगल जंपिओ सइ छंद संजुत थप्पिओ ॥९०॥

९०. हे सखि, जिसके आदि में (प्रत्येक चरण में) हस्त (गुर्वंत सगण) इसके बाद दो पयोधर (मध्यगुरु जगण) तथा अंत में गुरु हो, वह पिंगल द्वारा उक्त संयुता छन्द है। (संयुता—IIS ISI,ISI,S)।

टिप्पणी—विआणिओ—<विज्ञातः, जाणिओ <ज्ञात, जंपिओ <जल्पितं।

थप्पिओ—<स्थापितं, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप।

जहा,

तुह जाहि सुंदरि अप्पणा, परिचज्जि दुज्जणजप्पणा।
विअसंत केअइसंपुडा ण हु ए वि आविअ वप्पुडा ॥९१॥

---

९० जसु—A जह। सइ—B तह C जोर N सहि।

९१ तुह—B. तुहु। परिचज्जि—K परिवेज्जिअ। संपुडा—N संपुडा। णहु—K. णिहु। एवि—K एहु। आविअ—A आवइ, K. आविद। वप्पुडा—O N वप्पुडा।

९१. उदाहरण—

कोई सखी नायिका को स्वयं अभिसरण करने की सलाह देती कह रही है —

हे सुन्दरी, तू स्वयं ही दुष्ट व्यक्तियो के द्वारा स्थापित व्यवस्था (कुलीनाचरण) को छोड़कर अपने आप ही (उसके समीप) जा, ये केतकी के फूल फूल रहे हैं और वह वेचारा अभी भी नहीं आया है।

टिप्पणी—तुह—<त्वं; मूलत. 'तुह' म० भा० आ० मे सम्प्रदान-सम्बन्ध कारक ए० व० रूप है (दे० पिशेल § ४२१ पृ० २९७) वैसे प्राकृत मे 'तुह' का प्रयोग कर्म कारक ए० व० मे भी मिलता है (वही § ४२० पृ० २९८)। कर्ताकारक ए० व० मे अपभ्रंश में इसका रूप 'तुहुँ' मिलता है (पूर्वी अप०) (तगारे § १२० ए)। तगारे ने भी 'तुह' शब्द का संकेत सम्प्रदान-सबंध-अपादान कारक ए० व० मे किया है (वही § १२० ए, पृ० २१६) अवहट्ठ काल मे आकर सबधवाले रूपों का इतना अधिक प्रसार हुआ है कि वे कहीं कहीं कर्ता-कर्म में भी प्रयुक्त होने लगे हैं। अथवा इसका विकास सीधे 'तुहुँ' से भी माना जा सकता है। अवहट्ठ मे कर्ता कारक ए० व० 'उ' के लोप का प्रभाव यहाँ पड़ा जान पड़ता है तथा 'तुहुँ' >तुहु >तुह के क्रम से इसका विकास हुआ है।

जाहि—<याहि, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

अप्पणा—<आत्मना, प्रा० में 'अप' (आत्मन्) शब्द के करण ए० व० में 'अप्पण' (म०, अर्धमा०, जैनम०, शौ०), अप्पेण, अप्पेणं (अर्धमा०), अप्पाणेणं (अर्धमा०), अप्पणेण (म०) रूप मिलते हैं (दे० पिशेल § ४०१)। प० अप० मे इसके अप्पे, अप्पि, अप्पु (?) अप्पा-ए, अप्पुणु, अप्पएण, अप्पणें, तथा पूर्वी अप० मे अप्पहि (दोहाकोष) रूप मिलते हैं। 'अप्पण' रूप सम्बन्ध कारक में मिलता है (दे० तगारे § १२९ ए)। इसी 'अप्पण' का 'आ' वाला रूप 'अप्पणा' है।

परितज्जि ∠ परित्यज्य, पूर्वकालिक क्रिया रूप।

विअसंत केअइसंपुडा—प्राय सभी टीकाकारों ने इसे समस्त पद 'विकसत्केतकीसपुटे' (काले प्रावृषि इति शेष) का रूप माना है। एक टीकाकार ने 'विकसंतु केतकीसंपुटा' अर्थ किया है। ये दोनों अर्थ गलत हैं। मैं इसका अर्थ 'विकसंतः केतकीसपुटाः (संति)' करना

ठीक समझता हूँ, तथा 'पिअउत' को समस्त पद का अंग नहीं मानता, न इसे अमुक्त प्र० पु० ब० व० का रूप ही। वस्तुतः यह वर्तमान कालिक क्रिया के लिए वर्तमानकालिक कृदंत का ब० व० के अर्थ में शुद्ध प्रातिपदिक प्रयोग है।

आविअ ∠ आयात > आइओ > आइअ से 'व' श्रुति वाला रूप 'आविअ' बनेगा।

बप्पुडा—देसी शब्द (अर्थ 'वराक, बेचारा), (पू० राज० 'बापड़ो' म० बापुडे)।

चंपकमाला छंद —

हार ठवीजे काहलदुज्जे कुंतिअ पुत्ता ए गुरुजुत्ता।
हत्थ करीजे हार ठवीजे चंपअमाला छंद कहीज ॥९२॥

९२ जहाँ पहले हार (गुरु) स्थापित किया जाय, इसके बाद दो काहल (लघु), फिर गुरुयुक्त कुंतीपुत्र (कर्ण अर्थात् द्विगुरु गण), फिर हस्त (सगण) किया जाय और अंत में पुनः हार (गुरु) स्थापित किया जाय उसे चम्पकमाला छंद कहा जाता है।

(चंपकमाला—SIISSSIISS)।

टिप्पणी—ठवीजे करीजे, कहीजे (स्थाप्यते, क्रियते, कथ्यते), कर्मवाच्य रूप।

जहा,
ओग्गरभत्ता रंभअपत्ता, गाइक घित्ता दुद्धसजुत्ता।
मोइणिमच्छा णालिचगच्छा, दिज्जइ कंता खा पुणवंता ॥९३॥
[चंपकमाला]

९३ उदाहरण —
केले के पत्ते में दूध से युक्त ओगर का भात तथा गाय का घी,

---

९२ ठवीजे—C ठविज्जै। हत्थ—C कर। करीजे—C, ठवीए। ठवीजे—C करीजै। कहीजे—C सुणीजे।

९३ ओग्गर—A ओगर। दुद्ध—C K, दुग्ध। सजुत्ता—A सुजुत्ता, C सुसजुत्त, N. सुजुत्ता। णालिच—B K णालिच। पुणवंता—C पुणमन्ता।

मोइणि मत्स्य (विशेष प्रकार की मछली) तथा नालोच के गुच्छे का साग प्रिया के द्वारा दिया जाता है और पुण्यवान् व्यक्ति खाता है।

टिप्पणी—°भत्ता, पत्ता, °जुत्ता, घित्ता, °मता इन सभीमें छन्दोनिर्वाहार्थ पदांत 'अ' को दीर्घ बना दिया गया है।

रम्भअपत्ता < रम्भापत्रे, यहाँ 'पत्त' (पत्ता) का अधिकरण ए० व० के अर्थ मे शुद्ध प्रातिपादिक प्रयोग है।

गाइक घित्ता (गाय का घी) 'क' के लिए दे० परसर्ग।

दिज्जइ ∠ दीयते, कर्मवाच्य रूप।

खा < खादति—वर्तमान प्र० पु० ए० व० के लिए शुद्ध धातु का प्रयोग।

सारवती छंद :—

दोह लहू जुअ दीह लहू, सारवई धुअ छंद कहू।
अंत पओहर ठाइ धआ, चोद्दह मत्त विराम कआ ॥९४॥

९४ जहाँ प्रत्येक चरण में क्रम से दीर्घ के वाद दो लघु, फिर दीर्घ के वाद एक लघु तथा अंत में पयोधर (जगण) तथा फिर ध्वज (IS) स्थापित कर चौदह मात्रा पर विराम किया जाय, उसे सारवती छंद कहो।

(सारवती —SIISIISIIS)

टिप्पणी—कहू (कहु) < कथय—आज्ञा म० पु० ए० व०, पदांत 'उ' को छंदोनिर्वाहार्थ दीर्घ कर दिया है।

ठाइ < स्थापयित्वा—पूर्वकालिक क्रिया।

कआ<कृत > कओ > कअ (पदांत 'अ' का दीर्घीकरण)।

जहा,

पुत्त पवित्त वहुत्त धणा, भत्ति कुटुम्बिणि सुद्धमणा।
हक्क तरासइ भिच्च गणा को कर वब्बर सग्ग मणा ॥९५॥

[सारवती]

---

९४ धुअ—A धुव। ठाइ—N. ठान। चोद्दह—C. चउद्दह, N चोदह।

९५ हक्क—C हक्के।

९५ उदाहरण —

पुत्र पवित्र हो, (घर में) बहुत धन हो, पत्नी पवित्र मनवाली तथा भक्त (पतिव्रता) हो, नौकर हाँक (डाट) से ही डरते हों, तो बब्बर कहता है, स्वर्ग की इच्छा (मन) कौन करे ?

टिप्पणी—तरासइ < त्रस्यति।

हक्क < हकारेण (हाँक), करण ए० व०।

कर < करतु—अनुज्ञा, प्र० पु० ए० व०।

सग्ग < स्वर्ग—अधिकरण ए० व०।

सुषमा छंद —

कण्णो पढमो हत्थो सुभलो, कण्णो विअलो हत्थो चउथो।
सोला कलआ छक्का वलआ, एसा सुसमा दिट्ठा सुसमा ॥९६॥

९६ जहाँ प्रत्येक चरण में पहले कर्ण (द्विगुरुगण), दूसरे हस्त (गुर्वंत सगण), तीसरे कर्ण (द्विगुरु गण), तथा चौथे हस्त (गुर्वंत सगण) हो तथा सोलह मात्रा हों, (जिनमें) छः वलय (गुरु) (तथा चार लघु हों), यह प्राणों के समान प्यारा (अतिसुसमा) सुसमा छंद है।

(सुसमा —SSIISSSIIS)।

टिप्पणी—पढमो < प्रथमः, विअलो < तृतीयः, चउथो < चतुर्थ।

जहा,

भोहा कविला उच्चा णिडला, मज्झे पिअला णेत्ता जुअला।
रुक्खा वअणा दंता विरला, कैसे जिविआ ताका पिअला ॥९७॥

[सुषमा]

९७ उदाहरण —

जिसकी भौंहें कपिल (भूरी) हों, ललाट ऊँचा हो, दोनों नेत्र बीच में पीले हों, वदन रूखा हो, तथा दाँत विरल हों, उसका प्रिय कैसे जी सकता है ?

---

९६ सुभलो—A सुभलो C सुगलो। चउथो—C चअलो। सुसमा—A सुसमा।

९७ कविला—C कपिला। णिडला—A णिअरा, B णिरला, C K हिअला। मज्झे—K मज्झ। णेत्ता—C णअणा। विरला—C विअला। कैसे—A B कैसे। जिविआ—C चिविआ।

टिप्पणी—इस पद्य के कई शब्दों मे छदोनिर्वाहार्थ पदांत में दीर्घीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है :—भोहा, उच्चा, णिअला, पिअला, जुअला, रुक्खा, वअणा, पिअला।

पिअला < पीत + ल (स्वार्थे) > *पिअलो > पिअल (पिअला), (रा० पीळो, व्रज० पीरो)।

पिअला < प्रिय + ल (स्वार्थे) > *पिअलो > पिअल (पिअला)। (हि० प्यारा, राज० प्यारो)।

केसे—<कथं।

जिविआ—<जीवति, यहाँ भी 'अ' छन्दोनिर्वाहार्थ प्रयुक्त हुआ है, इसकी पहली स्वर ध्वनि (ई) का ह्रस्वीकरण भी छन्दके लिए ही हुआ है।

अमृतगति छंद —

दिअवर हार पअलिआ, पुण वि तह ट्ठिअ करिआ।
वसु लहु बे गुरुसहिआ, अमिअगई धुअ कहिआ ॥९८॥

९८ जहाँ प्रत्येक चरण में, पहले द्विजवर (चतुर्लघ्वात्मक गण) तथा बाद मे हार (गुरु) प्रकट हो तथा पुन वैसे ही स्थापित किये जायँ, आठ लघु तथा दो गुरु से युक्त वह छंद अमृतगति कहा जाता है। (अमृतगति— IIIISIIIIS)

टिप्पणी—करिआ—<कृता', कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत ब० व०।
कहिआ—<कथिता, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत (स्त्रीलिंग)।

जहा,

सरअसुधाअरवअणा विअअसरोरुहणअणा।
मअगलकुंजरगमणी पिअसहि दिट्ठिअ तरुणी ॥९९॥

[अमृतगति]

---

९८ वसु-B वहु। अमिअगई-N. अमिअगइ।

९९ सरअ-B सरस। °सुधाअरवअणा-C. सुहात्रणणअणा। विअअ°-A. विकच°, C. चवलसरोरुहवअणा, K विकअ°। मअ°-C गअ मअ° गमणा। पियसहि°—C. जिविअ समासअ रमणा। दिट्ठिअ—A.B दिठ्ठा।

९९. उदाहरण—

हे प्रियसखि, (मैंने) शरत् के चन्द्रमा के समान मुखवाली, विकसित कमल के समान नयन वाली, मदमत्त कुंजर के समान गति वाली तरुणी को देखा।

टिप्पणी—मअगल—<मदगल (पु० हि० मैगल 'हाथी')।

दिट्ठिय—<दृष्टा स्त्रीलिंग कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त का प्रयोग।

एकादशाक्षर प्रस्तार, बंधु छंद —

णीस सरोरुह एह करीजे, तिण्णि भआगण अत्थ भणीजे।
सोलह मत्तह पाअ ठवीजे, दुग्गुरु अंतहि बंधु कहीजे ॥१००॥

१०० जिसके प्रत्येक चरण में तीन भगण कहे जायँ, तथा अन्त में दो गुरु स्थापित किये जायँ और सोलह मात्रा हों, उसे बंधु (नामक छन्द) कहा जाता है। इसे नीलसरोरुह भी कहा जाता है (अथवा ऐसा नीले बालों वाले पिंगल ने कहा है)।

टिप्पणी—करीजे—(क्रियते), कहीजे (कथ्यते) ठवीजे (स्थाप्यते) भणीजे (भण्यते), ये सब कर्मवाच्य रूप हैं।

अत्थ—<अत्र।

मत्तह—<मात्रा', 'ह' अप० में मूलतः संबंध कारक की सुप् विभक्ति है, जिसका प्रयोग धीरे-धीरे अन्य विभक्तियों में भी होने लगा है। कर्त्ताकारक ब० व० में इसका प्रयोग संदेशरासक में भी मिलता है—'अमुणंतणि अमुणह णहु पवेसि' (२१), अमुणंतेण, अमुणा न खलु प्रवेशिन') दे० संदेशरासक (भूमिका) § ५१। (२) इसका प्रयोग प्राचीन मैथिली में देखा गया है, जहाँ इसके 'अह-आह' रूप विशेषण तथा कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत के ब० व० में पाये जाते हैं। कइसनाह बेताळह (=कीदृशा वेताळा')', 'अनेक ऋषिकुमार वसुभाह (वर्णरत्नाकर)। डॉ चाटुर्ज्या ने इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० 'स्य' से मानी है, जो मूलतः अप० में सम्बन्ध कारक ए० व०

१ णीस—C णीउ। सरूअह—C सरोवर। करीजे-B करीजे। अत्थ—N तत्थ। भणीजे—C परीजे, B करीजे, K. कहीजे। पाअ—C पाउ। कहीजे—A. करीजे, C मुणिजे, K मणीजे।

का रूप था। धीरे-धीरे यह संबंध व० व० मे तथा अन्यत्र भी प्रयुक्त होने लगा। (दे० वर्णरत्नाकर (भूमिका) § २६)।

जहा,

पंडववंसहि जम्म धरीजे, संपअ अज्जिअ धम्मक दिज्जे।
सोउ जुहिट्ठिर संकट पावा, देवक लिक्खअ केण मिटावा ॥१०१॥

[वधु]

१०१ उदाहरण—

जिसने पाडववंश में जन्म धारण किया गया, संपत्ति का अर्जन करके उसे धर्म को दिया, उसी युधिष्ठिर ने संकट प्राप्त किया, दैव के लेख को कौन मिटा सकता है?

टिप्पणी—पंडववंसहि—<पांडववंशे, अधिकरण ए० व०।

धरीजे—(ध्रियते), दिज्जे (दीयते) कर्मवाच्य रूप।

अज्जिअ—<अर्जयित्वा, पूर्वकालिक क्रिया रूप (अज्ज+इअ)।

धम्मक—<धर्माय, 'क' सम्प्रदान-सबंध का परसर्ग, दे० भूमिका।

पावा—<प्राप्त कर्मवाच्य भूतकालिक कृदत रूप 'पाआ' का व-श्रुतियुक्तरूप (पाव् आ)।

देवक लिक्खअ—<दैवस्य लिखितं, 'क' संबंध का परसर्ग दे० भूमिका।

केण—केन, मिटावा, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त का 'व-श्रुति वाला रूप। (मिटाव् आ) (हि० मिटाया, पू० रा० मटायो)।

सुमुखी छद —

दिअवर हार लहू जुअला, वलअ परिट्ठिअ हत्थअला।
पअ कल चोदह जप अही, कइवर जाणइ सो सुमुही ॥१०२॥

---

१०१ जम्म-B. जन्म। धरीजे-A.B धरिज्जे, C करीजे। धम्मक-दिज्जे—A. धम्मके दिजे, C धम्म धरीजे। सोउ-C सोइ। जुहिट्ठिर-C. जुधिट्ठिर, K जुहुट्ठिर। देव-C दइअ, A B. दैवक। लिक्खअ-A B N. लेक्खिअ, C लेक्खल।

१०२ परिट्ठिअ-C पविठ्ठिअ। चोदह-A B चौदह, C चउदह, K चउद्दह, N चोदह। जाणइ—A. जाणह, B. जाणहि, K. बल्लहि। सो-K. C. हो।

१०९. पहले द्विजवर (चतुर्लघ्वात्मक गण), फिर हार (गुरु), फिर दो लघु शल्य (एक गुरु), तब हस्तवल (गुर्वंत सगण) हो, तथा प्रत्येक चरण में १४ मात्रा हो, वह सुमुखी छंद है, ऐसा कविवर सप राज (अहि, पिंगल) ने कहा है। सुमुखी — ।।।।ऽ।।ऽ।।ऽ = प्रत्येक चरण ११ वर्ण।

टिप्पणी—परिट्ठिअ—∠परिस्थिता', परि + √ठा + इअ, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय।

चोद्दह—<चतुर्दश >चउद्दह >चोद्दह >चोद्दह।

जंप—<जल्पति, वर्तमान प्र० पु० ए० व० शुद्ध धातु रूप।

अही—<अहिः, छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप।

जहा

अइचल जोव्वणदेहधणा, सिविणअसोअर बंधुअणा।
अवसउ कालपुरी गमणा परिहर बब्बर पाप मणा ॥१०३॥
[सुमुखी]

१०३. उदाहरण—

यौवन देह तथा मन अत्यन्त चंचल है; बांधव स्वप्न के समान हैं; कालपुरी में अवश्य जाना है। बब्बर कहता है, अपने मन को पाप से हटाओ (अथवा अपने पापी मन को रोको)।

टिप्पणी—अइचल—<अतिचलानि, कर्ता ब० व० में प्रातिपदिक का प्रयोग।

जोव्वणदेहधणा—<यौवनदेहधनानि (°धण प्रातिपदिक रूप का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घरूप) जोव्वण <यौवन।

सिविणअसोअर—<स्वप्नसोदर कर्ता कारक ब० व०; सिवि णअ < स्वप्न, इ का दो स्थान पर आगम; 'प' का लोप।

कालपुरी—< कालपुर्यां अधिकरण ए० व०।

गमणा—(=गमण का दीर्घ रूप, छन्दोनिर्वाहार्थ) ∠ गमनं; (भाववाचक क्रियामूलक पद)।

---

१०३. जोव्वण-A. B C K. जोव्वण, N जुव्वण। सिविणअ-A सिवि णअ C सिविणअ। बंधुअणा- N. E. जण।

पाप मणा-(१) पापात् मन' (परिहर); (२) पाप मनः परिहर ।

दोधक छंद'—

चामर काहल जुग्ग ठवीजे, हार लहू जुअ तत्थ धरीजे ।
कण्णगणा पअ अंत करीजे, दोधअ छंद फणी पभणीजे ॥१०४॥

१०४. चामर (गुरु), तथा दो काहल (दो लघु) को स्थापित करना चाहिए, तब एक हार (गुरु) तथा दो लघु को दो बार धरना चाहिए, प्रत्येक पद के अन्त मे कर्ण गण (गुरुद्वयात्मक गण) करना चाहिए—इसे फणी (सर्पराज पिंगल) दोधक छंद कहते हैं।

दोधक छन्द'—SIISIISIISS = ११ वर्ण ।

टि०—°जुग्ग—< °युगं, द्वित्वप्रवृत्ति ।

ठवीजे— ∠ स्थाप्यते, धरीजे ∠ ध्रियते, करीजे ∠ क्रियते, ये तीनों कर्मवाच्य रूप हैं।

पभणीजे—यह भी कर्मवाच्य रूप ही है, यद्यपि, टीकाकारों ने इसे कर्तृवाच्य रूप 'प्रभणति' माना है। तुक मिलाने के लिए इसे कर्मवाच्य रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसका संस्कृत रूपान्तर "दोधकं छन्द फणिना प्रभण्यते" होना चाहिए।

जहा,

पिंग जटावलि ठाविअ गंगा, धारिअ णाअरि जेण अधंगा ।
चंदकला जसु सीसहि णोक्खा, सो तुह संकर दिज्जउ मोक्खा॥१०५

[दोधक]

१०५. उदाहरण'—

जिन्होने पीली जटा में गंगा स्थापित की है, जिन्होंने अर्धांग में

---

१०४ चामर–B. चामल। धरीजे—C करीजे। अंत–C अतर। करीजे–C. दीजे। दोधअ छद°—N. दोधक छन्दह णाम करीजे, C °फणीस भणीजे ।

१०५ ठाविअ—N धारिअ। धारिअ—C. ठाविअ। णोक्खा—B. चोक्खा। तुअ—A B तुह। दिज्जउ—A. दीज्जउ। मोक्खा—A. साक्खा, B. N. सोक्खा।

नागरी (गौरी) धारण की है, जिनके सिर पर सुंदर चन्द्रकला है, वे शंकर तुम्हें मोक्ष दें।

टि —पिंग जटावलि ठाविअ गंगा—एक टीकाकार ने इसे समस्त पद मानने की भूल की है—'पिंगलजटावलिस्थापितगंग'। वस्तुतः यह 'पिंगजटावल्यां स्थापिता गंगा' है।

ठाविअ—< स्थापिता, √ठाव + इअ। णिजंत क्रिया रूप से कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत स्त्रीलिंग, ए० व०।

धारिअ—∠ धृता कर्मवाच्य भूतका० कृदंत रूप, स्त्री०।

अधंगा—=अधंग का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप, ∠ अर्धांगे, अधिकरण ए० व०।

णोक्खा—देशी शब्द, सं० 'रमणीया' के अर्थ में।

तुअ—∠ तुभ्यं।

दिज्जउ—विधि प्रकार उ० पु० ए० व० का रूप, 'दद्यात्'।

मोक्खा—(=मोक्ख का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप) < मोक्षं, कर्म कारक ए० व० में प्रातिपदिक का प्रयोग।

शालिनी छंद—

> कण्णो दुण्णो हार एक्को विसज्जे,
> सल्ला कण्णा गंध कण्णा सुणिज्जे।
> वीसा रेहा पाअ पाए गणिज्जे,
> सप्पाराए सालिणी सा मुणिज्जे ॥१०६॥

१०६. दुगना कर्ण (दो बार दो गुरु), इसके बाद फिर एक हार (गुरु) दिया जाय फिर क्रमशः शल्य (एक लघु), कर्ण (दो गुरु), सुने जायँ प्रत्येक चरण में बीस मात्रा गिनी जायँ, सर्पराज पिंगल ने उसे शालिनी माना है। (शालिनी SSSSSISSISS=११ वर्ण)।

टि०—विसज्जे—(=विसृज्यते), सुणिज्जे (=श्रूयते), गणिज्जे (=गण्यते), मुणिज्जे (=मन्यते), कर्मवाच्य रूप।

---

१०६. सल्ला—C सल्लो। सुणिज्जे—C सुणिज्जे, N पुणिज्जे।

जहा,

रंडा चंडा दिक्खिदा धम्मदारा,
मज्जं मंस पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा,
कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो ॥१०७॥

१०७ उदाहरण—

चंडा (कोपवती) मंत्रानुसार दीक्षित रंडा ही जहाँ पत्नी है; (जहाँ) मद्य पीया जाता है, और मांस खाया जाता है, भिक्षा भोजन है तथा चर्मखंड शैय्या है, वह कौल धर्म किसे अच्छा न लगेगा ?

यह उदाहरण कर्पूरमंजरी सट्टक से लिया गया है, वहाँ यह प्रथम यवनिकांतर का २३ वाँ पद्य है, इसकी भाषा प्राकृत है।

टि०—पिज्जए—(पीयते), खज्जए (खाद्यते), कर्मवाच्य रूप।

दमनकछंद —

दिअवरजुअ लहु जुअल, पअ पअ पअलिअ वलअ।
चउ पअ चउ वसु कलअं, दमणअ फणि भण ललिअं ॥१०८॥

१०८ जहाँ प्रत्येक चरण में दो द्विजवर (अर्थात् दो बार चतुर्लघ्वात्मक गण, आठ लघु) फिर दो लघु तथा अंत में एक गुरु (इस प्रकार १० लघु तथा एक गुरु) प्रकटित हों, जहाँ चारों चरणों में (मिलाकर) चार और आठ अर्थात् ४८ मात्रा हो, फणिराज पिंगल उस ललित छंद को दमनक कहते हैं। (दमनक—ॗॗॗॗॗऽ=११ वर्ण)

टि०—पअलिअ—< प्रकटितं, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप।
कलअं—< कला (छंदोनिर्वाहार्थ अनुस्वार)।

---

१०७ दिक्खिदा—C दिक्खिआ। अ—K आ। भिक्खा—C भिषा। सेज्जा—C. सज्जा। कोलो—C. कोण्णो।

१०८ दिअवर—B. द्विजवर। लहु—B लघु। फणि भण ललिअ—C. भण फणि भणिअ।

जहा,

परिणअससहरवअणं विमलकमलदलणअण ।
विहिअअसुरकुलदलण, पणमह सिरिमहुमहण ॥१०९॥
[दमनक]

१०९. उदाहरण—

पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाले, विमल कमलपत्र के समान नेत्र वाले, असुर कुल का दलन करनेवाले, श्रीमधुसूदन (कृष्ण) को प्रणाम करो।

टि०—पणमह—प+√णम+ह, आज्ञा म० पु० ब० व०।

सेणिका छंद—

ताल णंदए समुद्दतूरआ, जोहलेण छंद पूरआ।
गारहाइँ अक्खराइँ आणिआ, णाअराअ जंप एअ सेणिआ ॥११०॥

११० जिस छंद में क्रमशः ताल, नन्द, समुद्र तथा तूर्य (ये चारों गुर्वादि त्रिकल 'ऽ।' के नाम हैं) हों तथा अंत में जोहल (रगण) से इस छंद को पूरा किया गया हो तथा ग्यारह अक्षर जानो,—नागराज पिंगल ने इसे सेणिका छंद कहा है।

(सेणिका—ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ)।

जहा,

कंपि पत्थिपाअ भूमि कंपिआ,
टप्पु खुदि खेह सूर झंपिआ।
गोडराअ जिण्णि माण मालिआ,
कामरूअराअबंदि छोडिआ ॥ १११ ॥
[सेणिका]

१०९ परिणअ—C पमजिअ। विहिअ°—C बंदिअ°। सिरि°—A सि।

११० गारहाइँ—N. गारहाइ। अक्खराइँ—B अक्खराणि, N. अक्खराइ। आणिआ—C आणिअं। जंप एअ सेणिआ—A एअ°, C जंपए सुसेणिआ, N जंपि एअ सेणिआ।

१११ टप्पु—C टप्पि। गोडराअ—A B N गोडराअ, C. K. गोलराअ। बंदि—C बंधि। छोडिआ—C K. छोडिआ, N छोडिआ।

१११. उदाहरण :—

पैदल सेना के चरणों से पृथ्वी एकदम काँप उठी, (घोड़ों की) टापों से उडी धूल ने सूर्य को ढँक दिया, (उस राजा ने) गौडराज को जीत कर उसके मान को समाप्त कर दिया; तथा कामरूप-राज के बंदी को छुडा दिया।

टिप्पणी—कंपिआ (= कंपिअ का दीर्घ रूप अथवा 'स्वार्थे क' का रूप *'कंपितिका' (भूमिः) से), कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत।

झंपिआ (=झंपिअ—आच्छादितः, छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप)। कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत।

मोलिआ (– मोटित), छोडिआ (मोचितः, √छोड देशी धातु है), इनमें भी छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ स्वर पाया जाता है—वास्तविक रूप 'मोलिअ' 'छोडिअ' होगा।

जिण्णि < जित्वा, पूर्वकालिक क्रिया रूप।

मालती छंद :—

> कुंतीपुत्ता, पंचा दिण्णा जाणीआ,
> अंते कंता एक्का हारा माणीआ।
> पाआ पाआ मत्ता दिट्ठा वाईसा,
> मालत्ती छंदा जंपंता णाएसा ॥ ११२ ॥

११२. हे प्रिय, जहाँ प्रत्येक चरण मे पाँच कुंतीपुत्र (गुरु) दिए हुए समझो, तथा अंत में एक हार (गुरु) माना जाय, प्रत्येक चरण में २२ मात्रा देखी जाय, नागेश पिंगल इसे मालती छंद कहते हैं।

टिप्पणी—दिण्णा < दत्ता।

जाणीआ, माणीआ—ये वस्तुतः 'जाणिअ, माणिअ' के छंदोनिर्वाहार्थ (मेत्रि काजा) विकृत रूप है। इस तरह ये मूलत. कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप हैं।

जंपंता=जपंत, यह वर्तमानकालिक कृदत रूप है :—

सं० जल्पन् >जंपंतो>जंपंत का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप है। णाएसा (= णाएस) < नागेशः।

---

११२. कंता—C कण्णा। दिट्ठा—C. दिण्णा। वाईसा—C. वाइसा। छंदा—C. माला।

जहा,

ठामा ठामा हत्थी जूहा देक्खीआ,
णीला मेहा मेरु सिंगा पेक्खीआ ।
वीराहत्था अग्गे खग्गा राजंता,
णीला मेहा मज्झे विज्जू णच्चंता ॥ ११३ ॥
[मालती]

११३ उदाहरण —

स्थान स्थान पर हाथियों के झुंड दिखाई पड़ रहे हैं, जैसे मेरु के शृंग पर नील मेघ दिखाई पड़ रहे हों, वीरों के हाथों के अग्र भाग में खड्ग सुशोभित हो रहे हैं; जैसे नील मेघों के बीच बिजली नाच रही हो ।

टिप्पणी—ठामा ठामा (= ठाम ठाम) 'स्थाने-स्थाने' अधिकरण एक वचन ।

देक्खीआ (दृक्खिअ < दृष्ट), पेक्खीआ (पेक्खिअ < प्रेक्षितं) अथवा इन्हें व० व० रूप भी माना जा सकता है, किंतु फिर भी दीर्घ 'ई' छन्दोनिर्वाहार्थ ही है ।

राजंता—(= राजंत अथवा व० व०), णच्चंता (= नच्चंत, छंदोनिर्वाह दीर्घरूप), ये दोनों वर्तमानकालिक कृदंत रूप हैं ।

इन्द्रवज्रा छंद—

दिज्जे तआरा जुअला पएसु, चंदे णरेंदो गुरु जुग्ग सेस ।
जपे फणिंदा धुअ इंदवज्जा, मत्ता दहा अट्ठ समा सुसज्जा ॥११४॥

---

११३ देक्खीआ—B देखीआ C पेक्खीअ । णीला—C णई । सिंगा—C सिंगे । पक्खीआ—C देक्खीअ । राजंता—C वजंता N रजन्ता । णीला णच्चन्ता—C विज्जु मेहा मज्झे णच्चंता ।

११४ दिज्जे°—B दिज्जे त यारा, C दिज्जेइ दीए जुअला पएसु । पएसु—A पएसु N पएसु । फणिंदा—B फणीदा, C मणिंदो । धुअ—B धुव । अट्ठ—C अट्ठ ।

११४. प्रत्येक चरण मे दो तगण दिये जायँ, अंत मे जगण तथा दो गुरु हो, फणींद्र कहते हैं कि यह इंद्रवज्रा छंद है, तथा इसमें दस और आठ (अर्थात अठारह) मात्रा प्रत्येक चरण मे होती हैं।

(इन्द्रवज्रा—SSISSIISISS=११ वर्ण)

टि०—दिज्जे—< दीयते (कर्मवाच्य), अथवा इसे 'दद्यात्' (विधि प्रकार) का रूप भी माना जा सकता है।

पएसु—< पदेषु; 'प्राकृत' विभक्ति 'सु' अधिकरण ब० व०।

जपे—< जल्पति, वर्तमान प्र० पु० ए० व०।

जहा,

मंतं ण तंतं णहु किंपि जाणे,
झाणं च णो किंपि गुरुप्पसाओ।
मज्जं पिआमो महिलं रमामो,
मोक्खं वजामो कुलमग्गलग्गा ॥११५॥

[इन्द्रवज्रा]

११५. उदाहरण—

न मैं मत्र ही जानता हूँ, न तंत्र ही, न ध्यान ही करता हूँ, न कोई गुरु की कृपा ही है। हम मद्य पीते हैं, महिला के साथ रमण करते हैं तथा कुल (कौल) मार्ग मे लगे रह कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

यह पद्य भी कर्पूरमंजरी सट्टक का है। वहाँ यह प्रथम यवनिकांतर का २२ वाँ पद्य है। इसकी भाषा भी प्राकृत है।

टि०—जाणे—(जानामि), वर्तमान उत्तम पु० ए० व०। पिआमो (पिवाम.), रमामो (रमाम. ', जामो—(याम), वर्तमान उत्तम पु० ब० व० (प्राकृत रूप)।

---

११५ जाणे—C जणं। मोक्खं—B मोख। वजामो—K. बजामो, N. चजामो।

उपेंद्रवज्रा छंद

> णरेंद एक्का ठवणा सुसज्जा,
> पओहरा कण्ण गणा मुणिज्जा ।
> उविंदवज्जा फणिराअदिट्ठा
> पढंति छेआ सुहवण्णसिट्ठा ॥११६॥

११६ उपेंद्रवज्रा—

जहाँ आरम्भ में एक नरेंद्र (जगण) सुसज्जित हो, फिर पयोधर (जगण) हो तथा अंत में कर्ण गण (दो गुरु) जानना चाहिए । यह फणिराज पिंगल के द्वारा दृष्ट शुभवर्णों से युक्त उपेन्द्रवज्रा छन्द है, इसे विदग्ध व्यक्ति पढ़ते हैं ।

उपेंद्रवज्रा—ISISSISISS = ११ वर्ण ।

टि —मुणिज्जा—टीकाकारों ने इसे (१) ज्ञायते–ज्ञायंते, (२) ज्ञातः के द्वारा अनूदित किया है । इस प्रकार यह कर्मवाच्य रूप प्रतीत होता है, किंतु इसे क्रिया रूप मानने पर 'मुणिज्जइ' अथवा 'मुणिज्जे' रूप होना चाहिए । संभवतः 'सुसज्जा' की तुक पर 'मुणिज्जे' को 'मुणिज्जा' बना दिया है । या 'मुणिज्ज' को वस्तुतः कर्मवाच्य का 'स्टेम' है, छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ कर दिया है । अथवा इसे संस्कृत 'मननीय' >म भा० आ० रूप का रूप भी माना जा सकता है इसका सं० रूप 'मननीया' (ज्ञेया) मानना होगा ।

दिट्ठा—(= दृष्टा) सिट्ठा (= सृष्टा), छेआ < छेका ।

जहा,

> सुधम्मचित्ता गुणमंत पुत्ता, सुकम्मरत्ता विणआ कलत्ता ।
> विसुद्धदेहा धणमंत गेहा कुणंति के बब्बर सग्ग णेहा ॥११७॥
> [उपेंद्रवज्रा]

११७ उदाहरण—

धर्मचित्त गुणवान् पुत्र, सुकर्मरत विनयशील पत्नी; विशुद्ध देह धनयुक्त घर हो, तो बर्बर कहते हैं, स्वर्ग की इच्छा कौन करेंगे ?

---

११६ णरेंद—A.B णरिंद । फणिराअ— —C फणिराउ° । सुहवण्णसिट्ठा—C सुहदंसदिट्ठा ।

११७ कलत्ता–C करत्ता, K. कलत्ता ।

टि०—कलत्ता, देहा, गेहा, रोहा आदि शब्दों मे छन्दोनिर्वाहार्थ पदान्त अ का दीर्घ रूप पाया जाता है।

उपजाति छंद—

इंद उविंदा एक्क करिज्जसु, चउअग्गल दह णाम मुणिज्जसु।
समजाइहिँ समअक्खर दिज्जसु, पिंगल भण उवजाइहि किज्जसु ११८

[अडिल्ला]

११८ इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा को एक करना चाहिए, इसके चार अधिक दस (अर्थात् चौदह) नाम (भेद) समझो, समान जाति वाले वृत्तों के साथ समान अक्षर दो, पिंगल कहते है—इस प्रकार उपजाति (छंद की रचना) करनी चाहिए।

टि०—उविंदा—$\angle$ उपेंद्रा > उवेंदा > उविदा।

करिज्जसु, मुणिज्जसु, दिज्जसु, किज्जसु—ये चारो विधि प्रकार के म० पु० ए० व० के रूप हैं।

चउ अक्खरके पत्थर किज्जसु, इंद उविंदा गुरु लहु बुज्झसु।
मज्झहिँ चउदह हो उवजाइ, पिंगल जंपइ कित्ति वोलाइ ॥११९॥

[अडिल्ला + पज्झटिका]

११९ चार अक्षरों का प्रस्तार करो, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा के गुरु लघु समझो (अर्थात् इन्द्रवज्रा में आद्यक्षर गुरु होता है, उपेन्द्र-वज्रा मे लघु), मध्य में चौदह उपजाति होती हैं—ऐसा कीर्ति से वेल्लित पिंगल कहते हैं।

टि०—अक्खरके—'के' परसर्ग (सम्बन्ध कारक का परसर्ग) है।

जहा,

बालो कुमारो स छमुंडधारी, उप्पाअहीणा हउँ एक्क णारी।
अहण्णिसं खाहि विसं भिखारी, गई भवित्ती किल का हमारी ॥१२०

[उपजाति]

---

११८ एतत्पद्य–C प्रतौ न प्राप्यते। उवजाइहि—A उपजाइ कहि।

११९ उविदा–B उपेंदा। गुरु लहु बुज्झसु–C लहु गुरु दिज्जसु, A °बुज्जसु।

१२० उप्पाअ–C. उप्पाअ, K. उप्पाउ। अहण्णिस–C. अहर्णिस।-खाहि–C खासि। विस– A विशं, C विख। गई–C गतिर्भवित्ती, N गइ°।

१२० उदाहरण—

पार्वती शिव से अपनी स्थिति का वर्णन कर रही हैं —

कुमार (स्वामी कार्तिकेय) बालक है, साथ ही छः मुँह वाला है, मैं उपायहीन अकेली नारी हूँ, और (तुम) भिखारी (बन कर) रात दिन विष का भक्षण करते रहते हो; बताओ तो सखी, हमारी क्या दशा होगी ?

टि —हउँ—उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम इसकी उत्पत्ति निम्न क्रम से हुई है—प्रा० भा० आ० अहम् > म० भा० आ० अहकं ('क' स्वार्थे)>परवर्ती म० भा० आ० हकं, हमं, हउँ>अप० हउँ-हउ (अननुनासिक रूप) (ब्रज० हौं, गु० हूँ)।

खाहि—√खा + हि, वर्तमान म० पु० ए० व०।

भिखारी—<भिक्षा-कारिक>* भिक्खा-आरिअ >* भिक्खा रिअ>*भिक्खारी>भिखारी।

भवित्ती—भवित्री।

हमारी—*अस्म-कर >अम्हअर >* अम्हार > हमार 'हमारी' 'हमार-हमारा' का स्त्रीलिंग रूप है।

किती वाणी माला साला, हंसी माआ आआ वाला।
अद्दा भद्दा पेम्मा रामा, रिद्धी बुद्धी तासु णामा ॥१२१॥
[विद्युन्माला]

१२१ उपजाति के चौदह भेदों के नाम —

कीर्ति, वाणी, माला, शाला, हंसी, माया, जाया, बाला, आर्द्रा, भद्रा, प्रेमा, रामा, बुद्धि ऋद्धि—ये उनके नाम हैं।

द्वादशाक्षर प्रस्तार विद्याधर छंद —

चारी कण्णा पाए दिण्णा सव्वासारा,
पाआअंते दिज्जे कंता चारी हारा।
छण्णावेआ मत्ता गण्णा चारी पाआ,
विज्जाहारा जंपे सारा णाआराआ ॥१२२॥

१२१ गणा—रा।

१२२. जहाँ प्रत्येक चरण मे चार कर्ण (गुरुद्वय, अर्थात् आठ गुरु), तब अंत मे चार गुरु (हार) दिये जायँ, जहाँ चारो चरणो में छानवे मात्रा हों, नागराज उसे विद्याधर छंद कहते हैं।

टिप्पणी—दिण्णा < दत्ता, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत।

दिज्जे—कर्मवाच्य रूप।

छण्णावेआ ∠ षण्णवतिः (प्रा० पैं० मे इसका 'छण्णवइ' रूप भी मिलता है। दे० १-९५। दे० पिशेल § ४४६। अर्धमा० 'छण्णउई')।

(विद्याधर :—SSSSSSSSSSSS = १२ वर्ण)।

जहा,

जासू कंठा वीसा दीसा सीसा गंगा,
णाआराआ किज्जे हारा गोरी अंगा।
गत्ते चम्मा मारू कामा लिज्जे कित्ती,
सोई देओ सुक्खं देओ तुम्हा भत्ती ॥१२३॥

[विद्याधर]

१२३. उदाहरण —

जिनके कठ में विप दिखाई देता है, सिर पर गगा है, नागराज को हार बनाया है, तथा गोरी अग में है, जिनके शरीर पर गज चर्म है, जिन्होंने कामदेव को मार कर कीर्ति प्राप्त की है, वही देव तुम्हें 'भक्ति' के कारण सुख दें।

टिप्पणी—इस पद्य में छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घस्वरांत की प्रवृत्ति बहुतायत से है।

दीसा (= दीस < दृश्यते, कर्मवाच्य रूप। 'दीस' केवल धातु रूप है। सविभक्तिक रूप 'दीसइ' होगा)।

भुजगप्रयात छंद :—

धओ चामरो रूअओ सेस सारो,
ठए कंठए मुद्दए जत्थ हारो।

---

१२३. जासू कठा वीसा दीसा—N. वीसा कण्ठा वासू दीसा। कंठा—C. कठे। गोरी—B गोरी। गत्ते—K. गते। गत्ते चम्मा—C. गल्ले चाम। सोई—C सोऊ। देओ सुक्ख देओ—N देऊ सुक्ख देओ, K. देऊ सुक्ख देऊ। तुम्हा—C अह्मा।

१२४ वीस—N. वीस। एतत्पद्य C. प्रतौ न प्राप्यते।

१२६. इस सुंदरी के चरणों में अत्यधिक मदमत्त हाथी स्थित है (यह मदमत्त गज के समान गति वाली है), तथा कटाक्ष में तीक्ष्ण बाण धरे हुए हैं, इसकी भुजाएँ पाश हैं, भौंह धनुष के समान हैं,—अरे यह सुदरी तो कामदेव रूपी राजा की सेना है।

टि०—ठवीआ—< स्थापितः (=ठविअ का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप, णिजंत का कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत)।

धरीआ—< धृता. (= धरिआ; ब० व० रूप, 'इ' का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप)।

धणूहा—< धनु' (अर्धतत्सम रूप 'धनुह' का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप, अथवा तद्भव 'धणु' + 'ह' (स्वार्थे) = धणुह का विकृत रूप)।

लक्ष्मीधर छंद—

हार गंधा तहा कण्ण गंधा उणो,
कण्ण सद्दा तहा तो गुरूआ गणो।
चारि जोहा गणा णाअराआ भणो,
एहु रूएण लच्छीहरो सो मुणो ॥१२७॥

१२७ जहाँ हार (गुरु) तथा गध (लघु) हों, फिर कर्ण (दो गुरु) तथा गध (लघु) हों, तथा कर्ण (गुरुद्वय) तथा शब्द (लघु) हो, तथा अत में तगण एव गुरु हो—जिस छद के प्रत्येक चरण में (इस प्रकार) चार योधा गण (रगण) पडे, नागराज कहते हैं, वह लक्ष्मीधर छंद है, ऐसा समझो।

टि०—भणो—(भण का तुक के लिए विकृत रूप) < भणति।

मुणो—आज्ञा, म० पु० ए० व० (हि० मानो)।

जहा,

भंजिआ मालवा गंजिआ कण्णला,
जिण्णिआ गुज्जरा लुंठिआ कुंजरा।

धणूहा—N धनूहा, B धणूसा। सेणा—A सणा, १२६—C. १२२। भुजंगप्रयात—K भुअगपआत।

१२७. लच्छीहरो—B लच्छीधरो।

१२८ कण्णला—C. N काणला। जिण्णिआ—N. णिज्जिआ। गुज्जरा-

धगला मगला मोडिआ मोडिआ,
मेच्छआ कंपिआ किनिआ थप्पिआ ॥१२८॥

[छप्पीसर]

१२८ कोई कवि किसी राजा का वर्णन कर रहा है —

उसने मालव देश के राजाओं को भगा दिया (हरा दिया), कर्णाटदेशीय राजाओं को मार दिया, गुर्जरदेशीय राजाओं को जीत लिया तथा हाथियों को छुट लिया, उसके डर से बंगाल के राजा भग गये, उड़ीसा के राजा ध्वस्त हो गये, म्लेच्छ काँप उठे तथा (इस प्रकार उसने) कीर्ति स्थापित की।

टि —भंजिआ—(भग्ना'), गंजिआ (=*गंजिता'), लिप्पिआ (जिता'), लुठिआ (लुठिता') मोडिआ (मोटिता'), कंपिआ (कम्पिता') कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त ब० व०।

मगला—कर्मवाच्य भूत० कृदंत ब० व० 'ल' प्रत्यय (दे० भूमिका)।

थप्पिआ—< स्थापिता; कर्मवाच्य भू० कृदंत स्त्री० ए० व०।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'भंगला' को कृदन्त रूप न मानकर देश नाम का वाचक माना है, वे मगला (=भागला) का अर्थ 'भागलपुर' करते हैं। (दे० हिन्दी काव्यधारा पृ० ३६८)

तोटक छंद —

सगणा धुअ चारि पलंति जही, भण सोलह मत्त विराम कही।
इह पिंगलिअ भणिअं उचिअं, इह तोटअ छंद वरं रइअं ॥१२९॥

१२९. जहाँ चार सगण पड़ें तथा सोलह मात्रा पर विराम (चरण समाप्त) हो, पिंगलिकों ने कथित कहा है, यह श्रेष्ठ तोटक छन्द (पिंगल ने) बनाया है (तोटक—IISIISIISIIS=१२ वर्ण)

N कुलकुआ। कुंअरा—A कुमरा। लुंठिआ—N लुठिआ। भंगला—N भड्डआ। मंगला—N मड्डआ। मोडिआ—N मोडिआ। मोडिआ—O मुडिआ N मोडिआ। मेच्छआ—A मिच्छआ। कंपिआ—N कम्पिआ। १२८—C ११५।

१२९. धुअ—N धुअ K धुव। जही—B जिही। भण—N पण। पिंगलिअं—N पिंगलअं। रइअं—N रचिअं।

टिप्पणी—पलंति—(=पडंति) <पतंति।

जही—<यत्र। कही < कथित० > कहिओ > कहिअ > कही (ध्यान रखिये यह स्त्रीलिंग रूप नहीं है)।

'पिंगलिअं, भणिअं, उचिअं, वरं, रइअ'—में छन्दोनिर्वाहार्थ अनुस्वार है।

जहा,

चल गुज्जर कुंजर तेज्जि मही, तुअ वब्बर जीवण अज्जु णही।
जइ कुप्पिअ कण्ण णरेंदवरा, रण को हरि को हर वज्जहरा ॥१३०॥

१३०. उदाहरण —

हे गुर्जरराज, हाथियों को छोडकर पृथ्वी पर चल, वब्बर कहता है, आज तेरा जीवन नहीं (रहेगा), यदि नरेन्द्रो मे श्रेष्ठ कर्ण कुपित हो जायँ, तो युद्ध में विष्णु कौन हैं, शिव कौन हैं, और इन्द्र कौन हैं?

टिप्पणी—चल—आज्ञा म० पु० ए० व०।

कुंजर—<कुंजरान्, कर्म व० व० में प्रातिपदिक का प्रयोग।

तुअ—<तव (दे० पिशेल § ४२१ पृ० २९७)।

कुप्पिअ—<कुपितः (=कुपिअ, द्वित्वप्रवृत्ति छन्दोनिर्वाहार्थ)।

रण—<रणे, अधिकरण कारक ए० व० में प्रातिपदिक का प्रयोग।

तेज्जि—<त्यक्त्वा, पूर्वकालिक रूप।

सारंगरूपक छंद —

जा चारि तक्कार संभेअ उक्किट्ठ,
सारंगरूअक्क सो पिंगले दिट्ठ।
जा तीअ वीसाम संजुत्त पाएहि
णा जाणिए कंति अण्णोण्णभाएहि ॥१३१॥

१३१ जहाँ चार तकार (तगण) का उत्कृष्ट संबंध हो, पिंगल ने उसे सारंगरूपक के रूप में देखा गया है, जहाँ प्रत्येक चरण में तृतीय

---

१३०. गुज्जर–N. गुञ्जर। कुजर–A. कुञ्जर। तेज्जि–C. तज्जि। तुअ– B रुह। कुप्पिअ–C कोप्पिअ, N कोपइ।

१३१ उक्किट्ठ–C उक्किट्ठ। दिट्ठ—C दिट्ठ। पाएहि—C. पाएहि। कंति–A. किंत्ति, C कत्ति। अण्णोण्ण—C. अण्णण्ण। भाएहि–C. भाएण।

अक्षर पर यति (विश्राम) हो, इस छंद की कांति किसी से नहीं जानी जा सकती। (सारंगरूपक —SSISSISSISSI = १२ वर्ण)

टिप्पणी—उक्किट्ठु—< उत्कृष्ट।

वीसाम—< विश्राम, > विस्सामो > विस्सामु > वीसाम।

जाणिए—ज्ञायते (प्राकृतरूप आत्मनेपदी)।

जहा,

रे गोड थक्कंतु ते हत्थिजूहाइ,
पल्लट्टि जुज्झंतु पाइक्कवूहाइ।
कासीस राआ सरासारमग्गेण
की हत्थि की पत्ति की वीरवग्गेण ॥११२॥
[सारंगरूपक]

११२ हे गौडराज, तुम्हारे हाथियों के झुण्ड आराम करें, तुम्हारे पैदल सिपाहियों की सेना लौटकर लड़े, काशीश्वर राजा के बाणों की वृष्टि के आगे हाथियों से क्या, पैदलों से क्या, वीरों से क्या ?

टिप्पणी—थक्कंतु—(= श्राम्यन्तु), जुज्झंतु (युध्यताम्), अनुज्ञा म० पु० ब० व०।

पल्लट्टि—(= पलट्टि) < परावर्त्य, पूर्वकालिक क्रिया 'इ' का छन्दोनिर्वाहार्थ द्वित्व।

मौक्तिकदाम छंद —

पओहर चारि पसिद्धह ताम,
ति तेरह मत्तह मोत्तिअदाम।
ण पुव्वहि हार ण दिज्जइ अंत,
विहू सम भग्गल छप्पण मत्त ॥११३॥

---

११२ गोड—A गोढ C गउड। थक्कंतु—K थक्केंति। जूहाइ—A B जुहार, C जूहाई। जुज्झंतु—A जुज्झन्तु N जुज्झंतु, C. चलंत। वूहाइ—A B. वूहार, C व्यूहाई N वूहाई।

११३ ताम—A B. जाम। पुव्वहि—N पुव्वहि। हार—A N हार।

१३३. जहाँ चार पयोधर (जगण) प्रसिद्ध हो, (प्रत्येक चरण में) तीन और तेरह (अर्थात् ३+१३=१६) मात्रा हो;—वह मौक्तिकदाम छंद है, यहाँ आदि में या अंत में हार (गुरु) नहीं दिया जाता; यहाँ (सोलह चरणों में) दो सौ अधिक छप्पन (२००+५६= २५६) मात्रा होती हैं। (इस प्रकार एक छंद में २५६–४=६४ मात्रा होती हैं।)

टिप्पणी—जाम < यस्मिन्, दिज्जइ < दीयते। कर्मवाच्य रूप।

(मौक्तिकदाम—ISIISIISIISI=१२ वर्ण)।

जहा,

> कआ भउ दुब्बरि तेज्जि गरास,
> खणे खण जाणिअ अच्छ णिसास।
> कुहूरव तार दुरंत वसंत,
> कि णिद्दअ काम कि णिद्दअ कंत ॥१३४॥
>
> [मौक्तिकदाम]

१३४. उदाहरण :—

किसी विरहिणी की दशा का वर्णन है।

भोजन (ग्रास) छोड़ कर उसकी काया दुबली हो गई है, क्षण क्षण में निःश्वास ज्ञात होता है, कोकिला की तार ध्वनि के कारण यह वसंत दुरंत (हो गया है), क्या काम निर्दय है अथवा कांत (पति) निर्दय है ?

टिप्पणी—कआ (=काआ) < काया, छन्दोनिर्वाहार्थ ह्रस्वीकृत रूप।

भउ < भूता, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप।

गरास < ग्रास, 'अ' ध्वनि का आगम।

---

१३४ भउ—C. भअ, N भनु। दुब्बरि—C N. दुब्बर। तेज्जि—N तज्ज। अच्छ—C. दीह। दुरंत—C. दुरन्त। वसंत—C. वसन्त। कंत—C कन्त।

मोदक छंद —

> तोटअ छंद विरीअ ठविज्जसु,
> मोदअ छंदअ णाम करिज्जसु ।
> चारि गणा भगणा सुपसिद्धउ,
> पिंगल जंपइ कित्तिहि लुद्धउ ॥१३५॥

१३५ तोटक छंद को विपरीत (उलटा) स्थापित करना चाहिए, तथा इस छंद का नाम मोदक करना चाहिए, इसमें चार भगण प्रसिद्ध हैं, कीर्तिलुब्ध पिंगल ऐसा कहते हैं ।

टिप्पणी—विरीअ < विरीतं (= विपरीत) ।

(मोदक = SII SII SII SII = १२ वर्ण)

जहा,

> गज्जउ मेह कि अंबर सावर,
> फुल्लउ णीव कि बुल्लउ भम्मर ।
> ऐक्कउ जीअ पराहिण अम्मह,
> की लउ पाउस कीलउ वम्मह ॥१३६॥
> [मोदक]

१३६ उदाहरण :—

कोई विरहिणी कह रही है :—

बादल गरजें, आकाश श्यामल (हो), कदंब फूलें, अथवा भौंरे बोलें हमारा जीव अकेला ही पराधीन है, इसे या तो वर्षा ऋतु ले ले, या कामदेव ले ले ।

टिप्पणी—गज्जउ < गर्जतु; फुल्लउ < फुल्लतु, बुल्लउ, √बुल्ल देशीधातु + उ, ये सब अनुज्ञा म० पु० ए व० के रूप हैं ।

सावर (=सावँर) < श्यामल > सामलो > सावँर > सावर ।

पराहिण (= पराहीण) < पराधीन, छंदोनिर्वाहार्थ दीर्घ 'ई' का ह्रस्वीकरण ।

१३५. तोटअ —A तोलअ॰ N तोडअछंद । विरीअ—N विपरीअ । ठविज्जसु—N ठविज्जसु । मोदअ छंदअ—N मोदअछंद ।

१३६ सावर—C N सामर । बुल्लउ भम्मर—C भम्मउ भामर । एक्कउ—C एक्कल । की लउ—A की लेउ ।

तरलनयनी :—

णगण णगण कइ चउगण,
सुकइ कमलमुहि फणि भण ।
तरलणअणि सव करु लहु,
सव गुरु जवउ णिवरि कहु ॥१३७॥

१३७. हे कमलमुखि; जहाँ नगण, नगण इस प्रकार चार गण हो (अर्थात् चार नगण हो), सुकवि फणी कहते हैं उस तरलनयनी छंद में सब वर्णों को लघु करो तथा समस्त गुरुवाले भेदों का निराकरण करके उसे (तरलनयनी छंद) कहो ।

(तरुणनयनी'—।।। ।।। ।।। ।।।=१२ वर्ण)

टिप्पणी—णिवरि—<निवार्य, पूर्वकालिक क्रिया ।

जहा,

कमलवअण तिणअण हर, गिरिवरसअण तिसुलधर ।
ससहरतिलअ गलगरल, वितरउ महु अभिमत वर ॥१३८॥

[तरलनयनी]

१३८. उदाहरण —

कमल के समान नेत्रवाले, गिरिवरशयन, त्रिशूलधर, चन्द्रमा के तिलक वाले, त्रिनेत्र शिव, जिनके गले में गरल है, मुझे अभीष्ट वर दें ।

टिप्पणी—तिसुलधर—(=त्रिसूलधर, अर्धतत्सम रूप 'ऊ' का ह्रस्वीकरण छन्दोनिर्वाहार्थ) ।

वितरउ—अनुज्ञा प्र० पु० ए० व० ।

महु—<मह्य (दे० तगारे § ११६ ए०, पृ० २०९) ।

---

१३७ गण—N गुण । सुकइ—A. सूकइ । जवउ—A अवउ । कहु—A. कइ । C. प्रतौ "तरलणअणि सर सव लहु स गुरु जअण णिरवि करहु" इत्येतत् उत्तरार्धे प्राप्यते ।

१३८. तिणअण हर—A. तिण हर । तिसुलधर—C तिसूलधर । ससहर—B. ससधर । गलगरल—A B N गलगरल, C. मअणदम, K पलअकर । वितरउ—C N. वितरहि । महु—N महि । अभिमत—B. अहिमत ।

सुंदरी छंद—

णगण चामर गंधजुआ ठवे,
चमर सल्लजुआ जइ संभवे।
रगण एक्क पअंतहि लेक्खिआ,
सुमुहि सुंदरि पिंगलदेक्खिआ ॥१३९॥

१३९ हे सुमुखि जहाँ क्रमशः नगण, चामर (एक गुरु), गंधयुग (दो लघु) स्थापित किए जायँ, तथा फिर चामर (एक गुरु), शल्ययुग (दो लघु) हों, तथा अन्त में एक रगण लिखा जाय, उसे पिंगल ने सुन्दरी नामक छन्द (के रूप में) देखा है।

(सुन्दरी ॥S॥S॥SIS = १२ वर्ण)

इसी को संस्कृत छन्दःशास्त्र में 'द्रुतविलंबित' कहते हैं'—द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ'।

टि —ठवे—< स्थाप्यते; संभवे < संभवति (संभवइ>संभवे) (वैकल्पिकरूप 'सहोइ' होगा)।

लेक्खिआ—<लिखित', देक्खिआ <दृष्ट =*दृष्टित ये दोनों वस्तुतः 'लेक्खिअ', 'देक्खिअ' के छंदोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप हैं।

जहा,

वहइ दक्खिण मारुअ सीअला रवइ पंचम कोमल कोइला।
महुअरा महुपाण बहूसरा, भमइ सुंदरि माहव संभवा ॥१४०॥
[सुंदरी]

१४० उदाहरण—

कोई सखी कलहांतरिता नायिका को समझाती कह रही है—

---

१३९. एक्क—C लेक्क। पेक्क—B एक। लेक्खिआ—C देक्खिआ। देक्खिआ—C पेक्खिआ।

१४ मारुअ—A माहअ। सीअला—A सिअला। रवइ—K. चवइ। बहूसरा—C महसुरा। भमइ—N चरइ, C ववइ। सुंदरि—A सुंदरि। माहव—B. माहइ। संभवा—B संभरा। माहवसंभवा—C संभर माहवा N संभममाहरा।

शीतल दक्षिण पवन बह रहा है, कोयल कोमल पंचम स्वर में कूक रही है। मधुपान के कारण अत्यधिक शब्द करते भौंरे घूम रहे हैं, (सचमुच) वसंत उत्पन्न हो गया है।

टि०—बहूसरा—<बहुस्वराः।

त्रयोदशाक्षर प्रस्तार, माया छंदः—

कण्णा दुण्णा चामर सल्ला जुअला ज
बीहा दीहा गंधअजुग्गा पअला तं।
अंते कंता चामर हारा सुहकाआ
बाईसा मत्ता गुणजुत्ता भणु माआ ॥१४१॥

१४१. जहाँ प्रत्येक चरण में दुगने कर्ण (दो गुरुद्वय अर्थात् चार गुरु), फिर चामर, दो शल्य (लघु) तब दो दीर्घ (गुरु) तथा दो गंध (लघु) प्रकट हों, पद के अन्त में सुंदर चामर तथा हार (दो गुरु) हों, तथा बाईस मात्रा हो, उसे शुभशरीर एवं गुणयुक्त माया छन्द कहो। (माया —ऽऽऽऽऽ।।ऽऽ।।ऽऽ=१३ वर्ण)

टि०—जं—<यत्र, त < ता।
पअला—<प्रकटिता.।

जहा,

ए अत्थीरा देक्खु सरीरा घरु जाआ,
वित्ता पुत्ता सोअर मित्ता सबु माआ।
काहे लागी बब्बर वेलावसि मुज्झे,
एक्का कित्ती किज्जइ जुत्ती जइ सुज्झे ॥१४२॥
[माया]

---

१४१ बीह दीह—C. दीहा बीहा, N बीहा°। पअला—C. पलिआ (=पतिता.)। तं—B ज। कंता—C कण्णा। सुकाआ—A सुहकाआ। भणु—A भणू।

१४२. देक्खु—N. देक्ख। सरीरा—K. शरीरा। सोअर—B सोहर। मित्ता—A मित्त। वेलावसि—C N बोलावसि। मुज्झे—C N. मुम्भे। किज्जइ-C किज्जहि। सुज्झे—C N सुम्भे, A. सूम्भे, B, सूज्झे।

१४० उदाहरण—

देख, यह शरीर अस्थिर है, घर, जाया, वित्त, पुत्र, सहोदर, मित्र सभी माया है। बब्बर कहता है, तू इसके लिए मायावश मुग्ध होकर क्यों विलम्ब कर रहा है; यदि तुझे सूझे तो तू किसी युक्ति से कीर्ति (प्राप्त) कर।

टि —अथीरा—(=अथिर <अस्थिर, छन्दोनिर्वाहार्थ रूप)

देक्ख—अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

सरीरा, वित्ता, पुत्ता मित्ता—(छन्दोनिर्वाहार्थ प्रातिपदिक का दीर्घरूप अथवा इन्हें 'आ' वाले ब० व० रूप भी माना जा सकता है, जैसा कि एक टीकाकार ने इन्हें ब० व० रूप माना है।)

काहे लागी—लागी' सम्प्रदान का परसर्ग इसकी व्युत्पत्ति सं० 'लग्नं' से है।

वेलावसि—< विलम्बयसि; अथवा वेलापयसि (नाम धातु का णिजंत रूप), वर्तमान म० पु० ए० व०।

किज्जइ—कर्मवाच्य।

सुज्झे—वर्तमानकालिक म० पु० ए० व० (हि० सूझे)।

तारक छंद—

> ठइ आइ लहू जुअ पाअ करीजे,
> गुरु सल्लजुआ भगणा जुअ दीजे।
> पअ अंतइ पाइ गुरू जुअ किज्जे,
> सहि तारअ छंदह णाम भणिज्जे ॥१४२॥

१४२ जहाँ प्रत्येक चरण के आरम्भ में दो लघु स्थापित कर एक गुरु तथा दो शल्य (लघु) किये जायँ तथा दो भगण दिये जायँ, तथा चरण के अंत में दो गुरु किये जायँ—हे सखि, उस छंद का नाम तारक कहा जाता है।

---

१४२ गुरु सल्लजुआ दीजे—N गुरु सल्लजुआ गुरु सल्लजुआ के, C गुरु सल्लजुअ जुअ दीजे। पअ अंतइ—N पअप्रान्त हि O. पअ अंतरि। तारअ छंदह—N तारअच्छन्दह। णाम—C णाअ। भणिज्जे—N मणीज्जे। १४२—) १४ ।

टि०—करीजे, दीजे, किज्जे, भणिज्जे—कर्मवाच्य रूप ।

अंतह—< अंते, अधिकरण ए० व० ।

छंदह—< छंदस', सबध ए० व० ।

जहा,

णव मंजरि लिज्जिअ चूअह गाछे,

परिफुल्लिअ केसु णआ वण आछे ।

जइ एत्थि दिगंतर जाइहि कंता,

किअ वम्मह णत्थि कि णत्थि वसंता ॥१४४॥

[तारक]

१४४. उदाहरण :—

आम्र वृक्ष ने नई मंजरी धारण कर ली है, किंशुक के नये फूलों से वन पुष्पित है, यदि इस समय में (भी) प्रिय विदेश (दिगत) जायेगा, तो क्या कामदेव नहीं है, अथवा वसंत नहीं है ?

टिप्पणी—लिज्जिअ, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत ।

चूअह गाछे < चूतस्य वृक्षे—'ह' सबंध कारक ए० व० का चिह्न ।

गाछ—देशी शब्द (राज० 'गाछ'), 'ए' करण कारक ए० व० का चिह्न ।

केसु < किंशुकं > किंसुअ > केसुअ > केसु ।

आछे < अस्ति (गुज० छे, पूर्वी राज० छै), सहायक क्रिया ।

जाइहि > यास्यति, भविष्यत् कालिक क्रिया प्र० पु० ए० व० ।

णत्थि < न + अस्ति = नास्ति ।

णआ (=णअ), कंता (=कत), वसता (=वसंत) छन्दोनिर्वाहार्थ पदात स्वर का दीर्घीकरण ।

कद छद —

धआ तूर हारो पुणो तूर हारेण,

गुरू सद्द किज्जे अ एक्का तआरेण ।

---

१४४ णव—C. ठवि । मजरि—A. मञ्जरि । लिज्जिअ—A किज्जिअ । गाछे—N गाच्छे । केसु णआ°—A.B. केसू णआ, C. केसुल्लआवण । एत्थि—C. एत्थ । किअ—C कि । णत्थि—N णच्छि । १४४—C १४१ ।

१४५ धआ—N धजा । गुरु तआरेण—C. गुरु काहला कण्ण एक्केण

फईसा कण्णा कंदु जंपिज्ज णाएण
असी होइ चो अग्गला सब्ब पाएण ॥१४५॥

१४५ जहाँ प्रत्येक चरण में क्रमशः ध्वज (लध्वादि त्रिकल, ।ऽ), तूर्य (गुर्वादि त्रिकल ऽ।), हार (गुरु), पुनः हार (गुरु) के साथ सूर्य (ऽ।) हो, तथा अंत में एक सगण के साथ गुरु तथा शब्द (लघु) किये जायें—कवीश नाग (पिंगळ) ने कहा है कि इस कंद नामक छंद में सब चरणों में चार अधिक अस्सी अर्थात् चौरासी मात्रा होती हैं।

(कंद—।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ।ऽऽ। = १२ वर्ण)

टि —किज्जे—<क्रियते, कर्मवाच्य रूप।

जंपिज्ज—<जल्प्यते, धातु के कर्मवाच्य शुद्ध मूल का म० पु० ए० व० में प्रयोग।

देइ भुअंगम अंत लहु तेरह वण्ण पमाण।
चउरासी चउ पाअ कल कंद छंदु पर जाण ॥१४६॥

[दोहा]

१४६ अंत में भुजगम (गुरु) तथा लघु तेरह वर्ण प्रमाण से तथा चारों चरणों में ८४ मात्रा होने पर कंद छन्द जानो।

टि०—देइ—<दत्त्वा, पूर्वकालिक क्रिया।

चउरासी—<चतुरशीति (अपमा० चउरासीइं, चोरासीइं, चौरासी, जैनमहा० चउरासीइं, चुरासीइं, दे० पिशेल § ४४६) (हि० चौरासी, पू० राज० चोरासी)।

जहा

ण र कंस जायेहि हो ऐक्क बाला इ,
हऊँ देवईपुत्त हो वंसकालाइ।

पाएण। कईसा—N कण्णा। कंदु—C छंदु। चो—A. चउ, B चौ। १४५—C १४२ N १६१।

१४६ A B C प्रतिषु निर्णयसागरसंस्करणे च न प्राप्यते।

१४७ हो—B N हे C हउ। बालाइ—C. बाला N बालाइ।

तहा गेण्हु कंसो जणाणंदकंदेण

जहा हत्ति दिट्ठो णिआणारिविंदेण ॥१४७॥

[कंद]

१४७ उदाहरण :—

'हे कंस, यह न समझ कि मैं एक बालक हूँ, मैं तेरे वंश का काल देवकीपुत्र हूँ।' इस प्रकार कहकर जनानंदकंद श्रीकृष्ण ने कंस को इस तरह पकडा कि वह अपनी स्त्रियों के द्वारा मारा हुआ देखा गया।

टिप्पणी—जाणेहि—वर्तमान म० पु० ए० व०।

हउँ—उत्तमपुरुष वाचक सर्वनाम (दे० भूमिका)।

गेण्हु < गृहीतः, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत।

ह त्ति < हत इति (=हअ त्ति)। छन्दोनिर्वाह के लिए 'अ' का लोप।

दिट्ठा < दृष्टः।

णिआणारिविंदेण < निजनारीवृन्देण। 'णिआ' में आ का दीर्घीकरण छन्दोनिर्वाहार्थ।

पंकावली छंद :—

चामर पढमहि पाप गणो धुअ,

सल्ल चरण गण ठावहि तं जुअ।

सोलह कलअ पए पअ जाणिअ,

पिंगल पभणइ पंकअवालिअ ॥१४८॥

१४८ जहाँ प्रत्येक चरण में पहले चामर (गुरु), फिर पापगण (सर्वलघ्वात्मक पंचकल), फिर शल्य (लघु), फिर दो चरणगण

हउँ—K. मुहे। देवई—A. B देवइ। गेण्हु—A. गण्हु, K. गण्ह, N गेह्न। हत्ति—N. ह त्ति, K हति। दिट्ठो—C. K. दिट्ठो। विंदेण—A. वृन्देण।

१४८ गणो—A. B. गणा। धुअ—B धुव। जुअ—A. B. ज्जुव। पए पअ.—N. पआपअ, B पअप्पअ। सोलह—A. सोल। पभणइ—B. पभणिअ। १४८—C. १४४।

(भगण) की स्थापना करो; प्रत्येक चरण में सोलह कला समझी जायँ, पिंगल (उसे) पंकावली (छंद) कहते हैं।

(पंकावली —ऽ।।।।।ऽ।।ऽ।।=१३ वर्ण)

टिप्पणी—पढमहि < प्रथमे।

ठावहि < स्थापय, निर्जंत आज्ञा म० पु० ए० व०।

जाणिअ < ज्ञात', कर्मवाच्य भूत कालिक कृदंत रूप।

पंकअयालिअ (=पंकावलिअ) < पंकावलिकां, कर्म ए० व० छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप।

यहा,

जो जण जणमउ सो गुणमंतउ,
जे कर पर उअआर हसंतउ।
जे पुण पर उअआर विरुज्झउ
तासु जणणि किं ण थक्कउ वंझउ ॥१४६॥
[पंकावली]

१४६ उदाहरण —

उसी व्यक्ति ने जन्म लिया है (उसीका जन्म सफल है), वही व्यक्ति गुणवान् है, जो हँसते हुए दूसरे का उपकार करता है और वह जो परोपकार के विरुद्ध है, उसकी माँ बाँझ क्यों न रही ?

टिप्पणी—कर < करोति, वर्तमान प्र० पु० ए० व० में शुद्ध धातु का प्रयोग।

हसंतउ < हसन्, वर्तमानकालिक कृदंत रूप।

विरुज्झउ < विरुद्धः कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप।

तासु < तस्य > तस्स > तसु > तासु।

थक्कउ < तिष्ठतु; टीकाकारों ने इसे वर्तमानकालिक रूप 'तिष्ठति' माना है, जो गलत है; वस्तुतः यह आज्ञा प्र० पु० ए० व० रूप है।

---

१४६ जण—C N जग। जणमउ—A B. जणमेउ। गुणमंतउ—C गुणमन्तउ। उअआर—A B K उअआर। हसंतउ—C हसन्तउ। विरुज्झउ—C K विरुज्झउ, A विरुज्झउ, B विरुज्झउ। तासु—A तासु, B C N तासु, K तसु। थक्कउ—A B थक्कउ, N थक्कउ C थाकउ, K थक्कउ। वंझउ—A B वम्भउ, N. वम्झउ, K. वंझउ।

चतुर्दशाक्षरप्रस्तार, वसततिलका:—

कण्णो पइज्ज पढमे जगणो अ वीए,
अंते तुरंग सअणो य अ तत्थ पाए।
उत्ता वसततिलआ फणिणा उकिट्ठा,
छेआ पढंति सरसा सुकइंददिट्ठा ॥१५०॥

१५०. जहाँ प्रत्येक चरण में पहले कर्ण (दो गुरु) पड़े, फिर जगण तथा इसके अंत में तुरंग (सगण) तथा सगण (अर्थात् दो सगण) और यगण पड़ें,—फणिराज पिंगल के द्वारा कथित सुकवियों के द्वारा दृष्ट छंद वसंततिलका को सरस विदग्ध व्यक्ति पढ़ते हैं।

टिप्पणी—पइज्ज—कर्मवाच्य धातु का शुद्ध मूल रूप। (पत्+य >पअ+इज्ज) (वर्तमान ए० व० रूप 'पइज्जइ', 'पडिज्जइ' होगा)।

तत्थ<तत्र।

(वसंततिलका :—SS।S।।।S।।S।SS=१४ वर्ण)।

जहा,

जे तीअ तिक्खचलचक्खुतिहाअदिट्ठा,
ते काम चंद महु पंचम मारणिज्जा।
जेसं उणो णिवडिआ सअला वि दिट्ठी,
चिट्ठंति ते तिलजलंजलिदाणजोग्गा ॥१५१॥
[वसंततिलका]

१५१. उदाहरण :—

उस नायिका ने जिन लोगों को अपने तीक्ष्ण तथा चंचल नेत्रों के त्रिभाग से भी देखा है, उन्हें कामदेव, चंद्रमा, वसंत और कोकिला

---

१५०. पइज्ज—A. ठविज्ज। पढमे—C. पढमो। अ वीए—C. ठविज्जे। सअणो—C. सगणो। यअ—K जअ। तत्थ—N. तच्छ। फणिणा उक्किट्ठा—C फणिराउदिठ्ठा, K °उक्किठ्ठा। पढंति—K पठंति। C N °दिठ्ठा।

१५१. °हाअ°—K. °हाव°। जेसं—C. जेसु। णिवडिआ—A. णिविडिआ, B N. णिवडिआ, C K णिवडिदा। चिट्ठंति—C वट्टन्ति। °जलंजलि—A. °जलञ्जली।

का पंचम स्वर शीघ्र ही मार डालेंगे। और जिन लोगों पर उसकी पूरी दृष्टि पड़ गई, वे तो तिलप्रक्षांजलि देने के योग्य है (वे तो मरे ही हैं)।

टिप्पणी—तीस < तस्या (दे० पिशेल § ४२५ पृ० ३००)।
मारणिज्जा < मारणीया (इन्न < सं० मनोयर)।
जेसं < येषां। निवडिआ < निपतिता।
चिट्ठंति < तिष्ठंति।

(यह पद्य कर्पूरमंजरी के द्वितीय यवनिकान्तर का पाँचवाँ पद्य है, भाषा प्राकृत है।)

चक्कपद छंद —

समणिअ चरण गण पलिअ मुहो,
संठविअ पुणवि दिअवरजुअलो।
से करअलगण पअ पअ मुणिओ,
चक्कपअ पभण फणिवइ भणिओ ॥१५२॥

१५२ जहाँ आरंभ (मुख) में, चरण गण (भगण) गिरे, उसे कह कर पुनः दो द्विजवर (दो बार सर्वलघ्वात्मक चतुर्मात्रिक) को स्थापित कर, प्रत्येक चरण के अंत में करतल गण (सगण) समझा जाय, फणिपति के द्वारा कथित उस छंद को चक्कपद कहो।

(चक्कपद—ऽ।।।।।।।।।।ऽ=१४ वर्ण)।

टिप्पणी—समणिअ < संभण्य, पूर्वकालिक क्रिया।
संठविअ < संस्थाप्य, पूर्वकालिक क्रिया।
पलिअ < पतितः, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप।
मुणिओ < मत (ज्ञात), भणिओ < भणितः, कर्मवाच्य भूत कालिक कृदंत।
पभण—आज्ञा म० पु० ए० व० (प+√भण+०)

---

१५२ पलिअमुहो—C. पढमउं म माणवे। करअलगण—A करतल गण, C. करअ गण। चक्कपअ ...भणिओ—B चक्कपअम भणु, N चक्कपअम भणु, C. °फणिवइवर भणिओ।

जहा,

खंजणजुअल णअणवर उपमा
चारुकणअलइ भुअजुअ सुसमा।
फुल्लकमलमुहि गअवरगमणी
कस्स सुकिअफल विहि गढु तरुणी ॥१५३॥
[चक्रपद]

१५३. उदाहरण :—

जिसके नेत्रों की श्रेष्ठ उपमा दो खंजन हैं, तथा सुंदर कनकलता के समान दोनों हाथ हैं, प्रफुल्लित कमल के समान मुखवाली, गजवर-गमना, वह रमणी विधाता ने किसके पुण्य के लिए गढी है ?

टिप्पणी—विहि < विधिना, करण ए० व० के अर्थ मे प्रातिपदिक का प्रयोग।

गढु ∠ घटिता > घडिआ > घडिअ > घडु > गढु। प्राणता (aspiration) का विपर्यय (Metathesis)।

पचदशाक्षरप्रस्तार, भ्रमरावली छंद —

कर पंच पसिद्ध विलद्धवरं रअणं
पभणंति मणोहर छंदवरं रअणं।
गुरु पंच दहा लहु एरिसिअं रइअं,
भमरावलि छंद पसिद्ध किअ ठविअं ॥१५४॥

१५४ जहाँ पाँच कर (गुर्वंत सगण) प्रसिद्ध हो, तथा इस प्रकार सुदर रचना की गई हो,—इसे मनोहर श्रेष्ठ छन्दोरत्न कहते हैं—पाँच गुरु तथा दस लघु इस प्रकार रचना की जाय, इसे (पिंगल ने) प्रसिद्ध भ्रमरावली छन्द बनाकर स्थापित किया है।

---

१५३ खजण°—C. खंजणउ°। सुसमा—A सूसमा, B. एतत्पदं न प्राप्यते। कस्स—C तुम्ह। सुकिअ—A सुकिअ। विहि—C. विहु। गढु—B. गढ K गढु।

१५४ पसिद्ध–B सिद्ध। विलद्ध—C. तिलद्ध। रअण—C. वअण। रइअ—C. रविअ। ठविअं–N. ठइअम्।

(भ्रमरावली — ||S||S||S||S||S = १५ वर्ण)

टिप्पणी—रअणं—<रचनं; रअणं < रत्न (त का लोप अ का आगम) ।

परिसिअं—<प्रसादश>पसारिस—पआरिसिअं>परिसिअं ।

किअं—<कृतं, ठविअं <स्थापितं, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूप ।

जहा,

तुअ देव दुरितगणाहरणा चरणा

जइ पावउ चंदकलाभरणा सरणा ।

परिपूजउ तेज्जिअ लोम मणा भवणा

सुह दे मह सोकविणासमणा समया ॥१५५॥

[भ्रमरावली]

१५५ उदाहरण—

हे चन्द्रकला के आभूषणवाले देव, हे शिव, यदि मैं पापों के समूह का अपहरण करनेवाले तुम्हारे चरणों को शरण रूप में प्राप्त करूँ, तो लोभ में मन तथा घरबार छोड़कर सदा आपकी पूजा करूँ, हे लोगों के शोक का निवारण करने में मनवाले, हे शांति रखनेवाले (समन), मुझे सुख दो।

टिप्पणी—°चरणा सरणा मणा भवणा समणा समया— इन सभी में छन्दोनिर्वाहार्थ पदान्त स्वर को दीर्घ बना दिया गया है।

पावउ—<प्राप्नोमि, वर्तमानकाल उत्तम पु० ए० व० (हि० पाऊँ)

परिपूजउ—<परिपूजयामि, वर्तमान उत्तम पु० (हिंदी पूजूँ) ।

तेज्जिअ—त्यक्त्वा, पूर्वकालिक क्रिया रूप ।

दे—<देहि, आज्ञा म० पु० एक व० (√दे + ०) ।

मह—<मह्यं ।

---

१५५. तुअ—B तुइ । परिपूजउ—B परिपूजअ, C परिपूजउँ । तेज्जिअ—C तेज्जिए । भवणा—C भरण । सुह दे मह—A सुह दे मइ, C सुख देखउ । °सोक—C, लोक । १५५—C १५१ ।

सारंगिका छंदः—

कण्णा दिण्णा सत्ता अंते एक्का हारा माणीआ,
पण्णाराहा हारा सारंगिक्का छंदा जाणीआ।
तीसा मत्ता पाए पत्ता भोईराआ जंपंता
छंदा किज्जे कित्ती लिज्जे सूणी मत्था कंपंता ॥१५६॥

१५६. जहाँ प्रत्येक चरण में पहले सात कर्ण (गुरु द्वय) अर्थात् १४ गुरु दिये जायँ तथा अन्त में एक हार (गुरु) समझो; (इस तरह) पन्द्रह गुरु (होने पर) सारंगिका छन्द जाना जाता है। भोगिराज (सर्पराज पिंगल) कहते हैं, इसमें प्रत्येक चरण में तीस मात्रा होती हैं, इस छन्द की रचना करो, कीर्ति प्राप्त करो, (इसे) सुनकर (श्रोता वा) मस्तक काँपने (झूमने) लगता है।

(सारंगिका—SSSSSSSSSSSSSSS=१५ वर्ण, ३० मात्रा)

टिप्पणी—माणीआ—<मत (='माणिअ' का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप)।

जाणीआ—<ज्ञातः (='जाणिअ' का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप)
ये दोनों कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त के रूप हैं।

जंपंता—<जल्पन् (=जपंत का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप) वर्तमानकालिक कृदत रूप।

किज्जे, लिज्जे—विधि प्रकार म० पु० ए० व०।

सूणी—< सुणिअ < श्रुत्वा, पूर्वकालिक रूप, छन्दोनिर्वाहार्थ 'उ' का दीर्घ रूप)।

कंपंता—<कम्पमानं (=कंपत छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप)।

जहा,

मत्ता जोहा वड्ढे कोहा अप्पाअप्पी गव्वीआ
रोसारत्ता सव्वा गत्ता सल्ला भल्ला उट्ठीआ।

---

१५६ माणीआ–C पाईआ। पण्णाराहा–B पण्णाहीरा। सारंगिका–C सारंगिक्का। पाए पत्ता–C पाएँ पाएँ। छंदा–C चो छंदा। किज्जे–C विज्जे। मत्था—K. मंथा। १५६–C १५२।

१५७ वड्ढे–C दिठ्ठे, K. बठ्ठे, N वट्टे। अप्पाअप्पी–C. अप्पा-

हत्थीजूहा सज्जा हूआ पाए भूमी कंपता
लेही देही छोडो ओड्डो सव्वा सूरा जंपता ॥१५७॥
[सारंगिका]

१५७ उदाहरण—

क्रोध से बढ़े हुए (अत्यधिक क्रोधवाले) मस्त योद्धा अहमहमिका (एक दूसरे की होड़) से गर्वित होकर—रोष से जिनके सारे अंग लाल हो उठे हैं—शल्य तथा भालों को उठाये हैं। हाथियों के झुंड सज गये, उनके पैरों से पृथ्वी काँप रही है, और सभी शूर वीर चिल्ला रहे हैं —"लो, दो, छोड़ दो, ठहरो !"

टिप्पणी—गव्वीआ— =गव्विआ < गर्विता' कर्मवाच्य भूत० कृदन्त ब० व०, इ का दीर्घीकरण छन्दोनिर्वाहार्थ।

उट्ठीआ— =उट्ठिआ कर्मवाच्य भूत कृदन्त ब० व, 'इ' का दीर्घीकरण छन्दोनिर्वाहार्थ।

लेही—(=लेहि), देही (=देहि), छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घीकरण। इन दोनों पद्यों में दीर्घीकरण के कई स्थल हैं।

चामर छंद—

चामरस्स बीस मत्त तीणि मत्त अग्गला,
अट्ठ हार सत्त सार ठाइ ठाइ णिम्मला।
आइ अंत हार सार कामिणी मुणिज्जए,
अक्खरा दहाइ पंच पिंगले भणिज्जए ॥१५८॥

१५८ हे कामिनि चामर छंद में प्रत्येक चरण में तीन अधिक बीस मात्रा (अर्थात् २३ मात्रा होती हैं;) तथा स्थान स्थान पर आठ हार (गुरु) तथा सात सार (लघु होते हैं);—इसमें दस और पाँच (पन्द्रह) अक्षर (होते हैं), ऐसा पिंगल ने कहा है।

क्रमे। सज्जा— O लेज्जा। गव्वीआ-O गब्बीआ, N गव्वीआ। पाए- C पाएँ। छोडो-C. छडो।

१५८. बीस-C. बीह। तीणि-O तीनि। अग्गल-O मक। ठाइ ठाइ—O ठाईं ठाईं। मुणिज्जए-O मुणिजए।

टिप्पणी—ठाइ ठाइ—<स्थाने स्थाने।

कामिणी— = कामिणि, संबोधन ए० व० छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घीकरण।

मुणिज्जए—< मन्यते, भणिज्जए < भण्यते।

(छन्दोनिर्वाहार्थ पादांत में गुरु के लिए आत्मनेपदी का प्रयोग। प्रा० पैं० की भाषा में मुणिज्जइ, भणिज्जइ रूप होने चाहिएँ।)

(चामर —SISISISISISISIS = १५ वर्ण, २३ मात्रा)

जहा,

> झत्ति जोह सज्ज होइ गज्ज वज्ज तं खणा,
> रोस रत्त सव्व गत्त हक्क दिज्ज भीसणा।
> धाइ आइ खग्ग पाइ दाणवा चलंतआ,
> वीरपाअ णाअराअ कंप भूतलंतआ ॥१५९॥

[चामर]

१५९ उदाहरण—

योधा लोग एक दम सुसज्जित हो रहे हैं, उस समय रणवाद्य गर्जन कर रहे हैं, रोष के कारण समस्त शरीर में रक्त हुए योद्धाओं के द्वारा भीषण हाँक दी जा रही है, दौड़कर, आकर, खड्ग पा कर, दैत्य चल रहे हैं, तथा वीरों के पैर के कारण पृथ्वीतल (पाताल) में शेषनाग काँप रहा है।

टिप्पणी—गज्ज < गर्जति, वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व०।

वज्ज ∠ वाद्यानि (हि० बाजा)।

दिज्ज < दीयते, कर्मवाच्य रूप है, अर्थ होगा 'योद्धाओं के द्वारा हाँक दी जा रही है।' टीकाकारों ने इसे कर्तृवाच्य 'ददाति' से अनूदित किया है, जो गलत है।

धाइ (धाविअ < धावित्वा), आइ (< आइअ), पाइ (< पाइअ ∠ प्राप्य), पूर्वकालिक रूप।

चलंतउ < चलन्, वर्तमानकालिक कृदंत रूप।

---

१५९ गज्ज–C. णज्ज। हक्क दिज्ज भीसणा–C टीह विज्जु भीसणा। चलतआ–C चलन्तओ, N चलतउ। भूतलतआ–C भूतलतओ, N. भतलतउ. K भतलतगा।

निशिपाल छंद —

> हार धरु तिण्णि सरु इण्णि परि तिग्गणा,
> पंच गुरु दुण्ण लहु अंत कुरु रग्गणा।
> एत्थ सहि चंदमुहि वीस लहु आणआ,
> सप्पवर सप्प भण छंद णिसिपालआ ॥१९०॥

१९० प्रत्येक चरण में क्रमशः एक हार (गुरु) तथा तीन शर (लघु) (देकर) इस क्रम से तीन गणों की स्थापना करो, अंत में रगण करो, इस तरह पाँच गुरु तथा इसके दुगने (दस) लघु (प्रत्येक चरण में) हों, हे चंद्रमुखि, हे सखि, यहाँ बीस मात्रा लाओ (अर्थात् यहाँ प्रत्येक चरण में ५ गुरु+१० लघु=२० मात्रा धरो); कविवर (अथवा काव्य की रचना करने में श्रेष्ठ) सर्पराज (पिंगल) कहते हैं कि यह निशिपाल छंद है।

(निशिपाल —SIIISIIISIIISIS=१५ वर्ण)।

टिप्पणी—इण्णि < अनया।

एत्थ < अत्र।

जहा,

> जुज्झ भड भूमि पल उट्ठि पुणु लग्गिआ,
> सग्गमण खग्ग हण कोइ णहि भग्गिआ।
> बीर सर तिक्ख कर कण्ण गुण अप्पिआ,
> इत्थ सह घोड़ रह चाउ सह कप्पिआ ॥१९१॥
>
> [निशिपाल]

१९१ उदाहरण —युद्ध का वर्णन है —

युद्ध में योद्धा पृथ्वी पर गिरते हैं फिर उठ कर (युद्ध करने में)

---

१९० धरु—O धर। सरु—O, सर। इण्णि—K तिणि। सप्पवर—O सप्पभण।

१९१ जुज्झ—O K जुज्झ। पल—K, पड। उट्ठि पुणु—O, पुणु उठि N, उट्ठि पुणु, K उट्ठि पुणु। अप्पिआ—O अप्पिअआ। इत्थ—K, पत्थ। घोड़—O घोड़ु। चाउ—O चाँप सह कप्पिआ N पाअ सह कप्पिआ।

लग गये हैं, स्वर्ग की इच्छावाले (वीर) खड्ग से (शत्रु को) मार रहे हैं, कोई भी नहीं भगा है, वीरों ने तीक्ष्ण वाणों को धनुष की प्रत्यंचा को कान तक खींच कर अर्पित कर दिया है, इस तरह वणों को मार कर दस योद्धा पैरों साथ काट दिये हैं।

(कुछ टीकाकारों ने 'वीर सर' के स्थान पर 'वीस सर' पाठ लिया है, तथा 'इत्थ' के स्थान पर 'पत्थ' (पार्थ.) पाठ माना है। इस तरह वे इसे अर्जुन की वीरता का वर्णन मानते हैं और अर्थ करते हैं .— 'अर्जुन ने एक साथ धनुष की प्रत्यंचा कान तक चढ़ा कर वीस वाण फेंके तथा दस योद्धाओं को मार गिराया।')

टिप्पणी—जुज्झ < युद्धे, अधिकरण ए० व०।

उट्ठि < उट्ठिअ < उत्थाय, पूर्वकालिक क्रिया रूप।

लग्गिआ < लग्ना', भग्गिआ (=भग्गिअ) ∠ भग्न' (छंदोनिर्वाहार्थ तुक के लिए पदांत स्वर का दीर्घीकरण), अप्पिआ < अर्पिताः।

कप्पिआ < कल्पिता , कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप।

मनोहंस छंद —

जहि आइ हत्थ णरेंद विण्ण वि दिज्जिआ,
　　गुरु एक्क काहल बे वि अंतह किज्जिआ।
गुरु ठाइ गंध अ हार अंतहि थप्पिआ,
　　मणहंस छंद पसिद्ध पिंगल जंपिआ ॥१६२॥

१६२ जहाँ प्रत्येक चरण के आरभ में हस्त (सगण), तथा दो नरेन्द्र (जगण) दिये जायँ, फिर एक गुरु स्थापित कर, अंत में फिर गंध (लघु) तथा हार (गुरु) स्थापित किये जायँ, वह पिंगल के द्वारा प्रसिद्ध मनोहंस छंद है।

(मनोहंस —IISISIISISIISIS=१५ वर्ण)

---

१६२. जहि–C जहिँ, N जिह। आइ–B आहि। दिज्जिआ—A. दिज्जिए, B. दिजए। अंतह–C.N. तक्कह। अंतहि–C अंतह। जंपिआ–N जप्पिआ। किज्जिआ–A B किज्जिए।

टिप्पणी—जहि—< यस्मिन् । दिज्जिअा < देयाः, किज्जिआ < करणीया ।

ठाइ—< स्थापयित्वा । थप्पिआ < स्थापिताः, जंपिआ (= जंपिअ < जल्पितं (छन्दोनिर्वाहाय 'अ' का दीर्घीकरण) ।

जहा,

> सहि फुल्ल केसु असोअ चंपअ मंजुला,
> सहआरकेसरगंधलुद्धउ भम्मरा ।
> वह दक्ख दक्खिण वाउ माणह भंजणा,
> महुमास आविअ लोअलोअणरंजणा ॥१६३॥
> [मनोहंस]

१६३. उदाहरण—

हे सखि, किंशुक, अशोक, चम्पक, और मंजुल (वेतस) फूल गये हैं, भौंरे आम के केसर की सुगन्ध के लोभी (हो गये हैं), (मानिनियों के) मान का भंजन करनेवाला चतुर दक्षिण पवन बह रहा है; लोक-लोचनों को प्रसन्न करनेवाला मधुमास (वसंत) आ गया है ।

टि०—फुल्ल—< फुल्लानि । भम्मरा < भ्रमराः कर्ता ब० व० ।

माणह भंजणा—मानस्य भंजनः; 'ह' संबंध कारक ए० व० का प्रत्यय; भंजणा (= भंजण) में पदांत 'अ' का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घीकरण ।

आविअ—< आयातः (= आइअ का व-श्रुतियुक्त रूप) ।

°रंजणा—(= लोअलोअणरंजण) छंदोनिर्वाहाय पदान्त 'अ' का दीर्घीकरण) ।

मालिनी छंद—

> पढम रसलहिअं मालिणी णाम वुत्त,
> चमर विअ पसिद्धं बीअ ठाणे णिबद्ध ।

---

१६३. केसु—A किंसु । मंजुला—C मंजुरा N वञ्जुला । सहआर—B. सहकार । भम्मरा—N भम्मरा । लोअण—C. लोचन । आविअ—B आविआ ।

१६४. लहिअं B लहिअं । वुत्तं—A वृत्तं । चमर—A चरम, N परम । पसिद्धं—A B विसद्धं । बीअ ठाणे णिबद्धं—A B °णिबद्धं, C. णिविद्धं,

सर गुरुजुअ गंधं अंत कण्णा सुवद्धं,
भणइ सरस छंद चित्त मज्झे णिहित्त ॥१६४॥

१६४. जहाँ पहले दो रस (सर्वलघु त्रिकल) हो तब दूसरे स्थान पर तीन चामर (गुरु) निबद्ध हो, अन्त में क्रमश शर (लघु), दो गुरु, गंध (लघु) तथा कर्ण (दो गुरु) हो, उसे (पिंगल) मालिनी नामक छंद कहते हैं, यह सरस छन्द (सहृदयों के) चित्त मे बसा हुआ है।

(मालिनी:—।।। ।।। SSSISSISS = १५ वर्ण)

टि०—सहित्तं—(= सहित तत्सम रूप का छंदोनिर्वाहार्थ द्वित्व)।

णिहित्तं—(णिहितं, अर्धतत्सम रूप का छंदोनिर्वाहार्थ द्वित्व)

वुत्तं—वृत्तं।

चित्त मज्झे—<चित्तमध्ये (= चित्ते) 'मज्झे' अधिकरण का परसर्ग।

जहा,

वहइ मलअवाआ हंत कंपंत काआ
हणइ सवणरंधा कोइलालाववंधा।
सुणिअ दह दिहासुं भिंगझंकारभारा
हणइ हणइ हंजे चंड चंडाल मारा ॥१६५॥

[मालिनी]

१६५. मलयवायु वह रहा है, हाय शरीर काँप रहा है, कोयल का आलाप कानों के रंध्र में मार रहा है, दसों दिशाओं में भौंरों की गूँज सुनाई देती है, हे सखी, अत्यधिक क्रोधी, चण्डाल के समान निर्दय, कामदेव मारे डालता है, मारे डालता है।

टिप्पणी—सुणिअ—टीकाकारों ने इसे 'श्रूयते', 'श्रूयते' से अनुदित किया है, वस्तुतः यह कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप 'श्रुता' है।

N. वीअ ठा मोणिवद्धम्। कण्णा सुवद्धं–A. B. °णिवद्धं, N. °णिवद्धं, C. °सुणिद्धं। छदं–A. B. कव्वो। मज्झे–C सठे, K. मझ्झे, N. मज्जे। णिहित्त—C णिवद्धं।

१६५. हंत कंपंत—C. हन्त कंपन्ति। सवणरंधा—C सरसवधा। सुणिअ—A. सूणिअ। दिहासुं—C दिसाअ, N. दिसेसु। चढ—C. हंत।

विसेसु < विशासु, 'सुं' प्राकृत में अधिकरण ब० व० का प्रत्यय है।

हंजे—सखी को संबोधन करने के लिए प्रयुक्त होता है।

सरभ छंद —

मणिअ सुपिअ गण सर लहु सहिओ,
तह दिअवर जुअ करअल लहिओ।
पउ पउकल गअ पअ पअ मुणिओ,
सरह सुपिअ कह फणिवइ भणिओ ॥१६६॥

१६६ जहाँ प्रत्येक चरण में पहले सुप्रिय गण (द्विकलात्मक गण) को कह कर, शर (एक लघु) तथा लघु दे, तब दो करतल (चतुष्कलात्मक गण) लिये जायँ, इस प्रकार प्रत्येक चरण में चार चतुष्कल गण (४×४=१६ मात्रा) समझे जायँ,—हे प्रिय, उसे फणिपति के द्वारा भणित शरभ छंद कहो।

(शरभ —||||||||||||||S=१५ वर्ण)।

टिप्पणी—लहिओ (√लह्+इअ) (कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत) < लब्ध। मुणिओ < मतः, भणिओ < भणितं।

जहा,

तरल कमलदल सरिसउ णअणा,
सरअसमअससिसुसरिस वअणा।
मअगलकरिवरसअलसगमणी
कमण सुकिअफल विहि गडु तरुणी ॥१६७॥
[सरभ]

---

१६६ सुपिअ—A सुपिअ C स पिअ। लहु—B B सर। सर लहु सहिओ—C पअगण सहिओ। तह ˙˙˙लहिओ- N. तह विहु करअल पअ पअ लहिओ। मुणिओ—C मुणिओ। कह—C गण।

१६७ सरिसउ—C N सरिसुअ। सुसरिस—A सुसरिस। मअगल- C. मअगअ। विहि—C विहु। गडु— C गठ।

१६७. उदाहरण :—

चंचल कमल पत्र के समान नेत्रवाली, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान मुखवाली, मदमत्त हाथी के समान मंथर (सालस) गतिवाली, रमणी, किस सुकृतफल के कारण ब्रह्मा ने गढ़ी (बनाई) ?

टिप्पणी—मअगल < मदकल। (मि० राज० हि० मयगल, मैगल—"मदि माता मयगल सिणगार्या" (कान्हडदे प्रबंध १-४४)। कमण < केन (= कवॅण)।

षोडशाक्षरप्रस्तार, नाराच छंद :—

णरेंद जत्थ सव्वलो सुपण्ण चक्क दीसए,
पइक्क ठाम पंचमे पआ चऊ सवीसए।
पलंत हार चारु सारु अंत जस्स वट्टए,
पसिद्ध ए णराउ जंप गंध वंधु अट्ठए ॥१६८॥

१६८ जिस छद के प्रत्येक चरण में सबल नरेंद्र (जगण) तथा सुपर्ण (रगण) क्रमश. दो बार दिखाई दें, पॉचवें स्थान में पदाति (जगण) हो, तथा चरण में २४ मात्रा हों, जिसके अंत में सुंदर तथा श्रेष्ठ हार (गुरु) हो, (यहॉ) आठ (अक्षर) गंध (लघु) होते हैं, यह प्रसिद्ध नाराच छंद कहा जाता है।

(नाराच :—।ऽ।ऽ। ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ=१६ अक्षर, २४ मात्रा)।

टिप्पणी—दीसए (दृश्यते), वट्टए (वर्त्तते), अपवाद रूप आत्मनेपदी (छन्दोनिर्वाहार्थ प्रयुक्त)।

पलंत—टीकाकारों ने इसे 'पतंति' के द्वारा अनूदित कियो है, वस्तुत यह 'पतन्' है, वर्तमानकालिक कृदंत रूप।

जहा,

चलंत जोह मत्त कोह रणकम्मअग्गरा,
किवाण वाण सल्ल भल्ल चाव चक्क मुग्गरा।

---

१६८ णरेंद—A B. णरिंद। चक्क—N वे वि। चऊ सवीसए—A B. चउ सवीसए, N. चतूरुवीसए। हार—N हारु। वट्टए—C वद्धए, N. वट्ठए। पसिद्ध ··· अट्ठए—N. पसिद्ध ए णराउ जम्पु गन्धबंधुअट्टए।

१६९ मत्त कोह—C N सत्तुखोह। रण—C O. वम्म। सल्ल—

पहारवारधीर वीरवग्ग मज्झ पंडिआ
पअट्ठ ओट्ठ दंत दव सेण सेण मंडिआ ॥१६९॥
[नाराच]

१६९. उदाहरण —
सेनाप्रयाण का वर्णन है —
कृपाण बाण, शल्य, भाले, चाप, चक्र और मुद्गर के साथ क्रोध से मत्त रणकर्म में दक्ष, योद्धा चल रहे हैं, (ये वीर) शत्रु के प्रहार को रोकने में धीर तथा वीरों के वर्ग में पंडित हैं; (इन्होंने) अपने ओठ दाँतों से काट रक्खे हैं,—ऐसे योद्धाओं के चलने से सेना सुशोभित हुई है।

टिप्पणी—चलंत < चलन्त', वर्तमान कालिक कृदंत कर्ता ब० व०।

मत्त कोह—टीकाकारों ने इसे 'क्रोधमत्ता' समस्त पद माना है; समवत' यह 'समासे पूर्वनिपातानियमात्' का प्रभाव है। मेरी समझ में मत्त तथा कोह अलग अलग शब्द हैं, मैं इनका संस्कृत अनुवाद 'मत्ताः क्रोधेन' करना ठीक समझता हूँ, एक में कर्ता ब० व० में प्रातिपदिक का प्रयोग है, अन्यत्र करण ए० व० में।

पअट्ठ < प्रदष्ठ, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप।
सेण < सेना, (स्त्रीलिंग अकारांत शब्द)।
मंडिआ < मंडिता; कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत स्त्रीलिंग।

[नील]

सीलसरूअ विआणहु मत्तह बाइसही,
पंचउ भग्गण पाअ पआसिअ एरिसही।
अंत ठिआ जहि हार सुणिज्जइ हे रमणी,
वावण अग्गल तिण्णि सआ धुअ मत्त मुणी ॥१७०॥

C सेरू। चाव—C चाप। पहार —N. पहारधीरमारमारम्मारम्म-पंडिअम। दंत दव—N दन्त दइ C दव दव।

१७. सीलसरूअ—A B N सीलसरूअ, C. K सील सिरोव। बाइसही—C बे सिरही। पंचउ—N पञ्च। वावण—C. बावन। धुअ—A B. धुव।

१७० हे सुन्दरि, नील छंद के स्वरूप को जानो, (यहाँ) बाईस मात्रा होती हैं, तथा इस प्रकार (प्रत्येक) चरण मे पाँच भगण प्रकाशित हो, पदांत में हार (गुरु) समझा जाय, तथा (चार छंद या सोलह चरणों में) बावन अधिक तीन सौ मात्रा समझी जायँ।

(नील :—SIISIISIISIISIIS=१६ अक्षर, २२ मात्रा) (सम्पूर्ण छंद की मात्रा ३५२÷४=८८ मात्रा (२२×४)।

टिप्पणी—विआणहु=वि+√आण (=√जाण)+हु आज्ञा। म० पु० ब० व०।

मत्तह < मात्रा', 'ह' मूलतः संबंध ए० व० का प्रत्यय है, जो कर्ता ब० व० मे भी प्रयुक्त होने लगा है, दे० भूमिका।

पआसिअ < प्रकाशिता, ठिआ (=ठिअ) ∠ स्थित. (छंदो निर्वाहार्थ पदांत 'अ' का दीर्घीकरण)।

मुणिज्जइ < मन्यते, कर्मवाच्य रूप।

बावण < द्वापञ्चाशत > बावण्णं > बावण (हि० रा० बावन)। (पञ्चाशत् के म० भा० आ० में 'पण्ण' 'वण्ण' दो रूप मिलते हैं, दे० पिशेल § २७३, § ४४५)।

जहा,

सज्जिअ जोह विवड्डिअ कोह चलाउ धणू,
पक्खर वाह चलू रणणाह फुरंत तणू।
पत्ति चलंत करे धरि कुंत सुखग्गकरा
कण्ण णरेंद सुसज्जिअ विंद चलंति धरा ॥१७१॥
(नील)

१७१ उदाहरण —

अत्यधिक प्रवृद्ध क्रोध वाले योद्धा सज गये हैं, वे (क्रोध से) धनुप चला रहे हैं, फुरकते शरीर वाला सेनापति (रणनाथ) सजे हुए

---

१७१ विवड्डिअ—C विवड्डिअ, K. विवड्डिअ। चलाउ—B चलाइ। पक्खर—C. N. पक्खरु। वाह चलू—A. वाह चल, C धारु धलू, N वाह चमू°। रणणाह—C N णरणाह। फुरंत—N फुल्न्त। चलत—C पल्त। कण्ण—N पुण्ण।

(पाखर वाले) घोड़े से आ रहा है। पदाति (पैदल सिपाही) हाथ में भाले लेकर तथा सुंदर खड्गों से युक्त होकर चले आ रहे हैं। राजा कर्ण के सुसज्जित होकर चलने पर पृथ्वी चलने (डगमगाने) लगती है (अथवा पर्वत डगमगाने लगते हैं)।

टि०—सज्जिअ—<सज्जिता, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत का प्रयोग।

विअड्डिअकोह—<विवर्धितकोपा', कर्ता ब० व०।

चलाइ—√'चल का णिजंत रूप √'चला होगा, इसी में 'इ' जोड़ दिया गया है क्रिया पद 'चलाइ' होना चाहिए, जो केवल एक हस्तलेख (B) में पाया जाता है।

चलू (=चलु)—<चलित' (छंदोनिर्वाहार्थ पदांत 'उ' का दीर्घ)

फुरंत तण्—<स्फुरत्तन्' , फुरंत, वर्तमानकालिक कृदंत।

चलंत—<चलन्त' ('पत्तय' का विशेषण) वर्तमान कालिक कृदंत।

धरि—<धरिअ<धृत्वा (✱ धार्य) पूर्वकालिक क्रिया रूप।

सुसज्जिअ—<सुसज्ज्य पूर्वकालिक क्रियारूप।

चलंति—<चलति, वर्तमानकालिक कृदंत का अधिकरण ए० व० रूप।

चलंति—यहाँ टीकाकारों ने 'चलंति' का अनुवाद '(धरा) चलति' किया है। यदि इसे समापिका (फाइनिट) क्रिया माना जाता है तो अनुस्वार को छन्दोनिर्वाहार्थ मानना होगा तथा उत्तम 'चलति' (छन्दोनिर्वाहार्थ सानुस्वाररूप 'चलंति') प्रा० पैं० की भाषा में अपवाद स्वरूप होगा अथवा इसे असमापिका क्रिया का वर्तमानकालिक कृदंत रूप मान कर स्त्रीलिंग रूप (चलंत+इ, (स्त्रीलिंग प्रत्यय) मानना होगा जो धरा का विशेषण है। एक तीसरा मत यह भी हो सकता है कि इसको समापिका क्रिया के वर्तमान ब० व० का रूप माना जाय, तथा इस तरह संस्कृत अनुवाद किया जा सकता है—'धरा' पर्वताः चलंति दोलायंते इत्यर्थः'। मेरी समझ में पिछली दो व्युत्पत्तियाँ ठीक होंगी।

चञ्चला छंद :—

दिज्जिए सुपण्ण आइ ऐक्क तो पओहराइ,
　　हिण्णि रूअ पंच चक्क सव्वलो मणोहराइ।
अंत दिज्ज गंध बंधु अक्खराइ सोलहाइ,
　　चंचला विणिम्मिआ फणिंद एउ वल्लहाइ ॥१७२॥

१७२. जहाँ प्रत्येक चरण के आदि में रगण दिया जाता है, तब एक जगण हो, इस क्रम से पाँच मनोहर सबल चक्र (गण) दिये जायँ, अंत में गंध वर्ण (लघु अक्षर) दिया जाय तथा सोलह अक्षर हों,—इसे फणीन्द्र ने वल्लभा (प्रिय) चंचला छन्द बताया है।

(चंचला —SISISISISISISISI = १६ वर्ण)

टि०—दिज्जिए—विधि रूप (हि० दीजिये)।

हिण्णि—<अनया, पदादि में 'प्राणता', हिण्णि = ह इण्णि (= इण्णि)।

जहा,

कण्ण पत्थ ढुक्कु लुक्कु सूर बाण संहएण,
　　घाव जासु तासु लग्गु अन्धकार संहएण।
ऐत्थ पत्थ सट्ठि बाण कण्णपूरि छड्डुएण,
　　पेक्खि कण्ण कित्ति धण्ण बाण सव्व कट्टिएण ॥१७३

[चंचला]

---

१७२ दिज्जिए—C. N दिज्जिआ। पओहराइ—A पआहराहि, C. N. पओहराइँ। हिण्णि—C. कण्ण। चक्क—N वक्क। मणोहराइ—C. N. मणोहराइँ। दिज्ज—C किज्ज। बंधु—C बध, N वण्ण। अक्खराइ सोलहाइ—C अक्खराइँ सोहराइँ, N अक्खराइ सोलहाइँ। विणिम्मिआ—K. विणिंमिआ फणिंद—N. फणिंदु। एउ—C N एहु। वल्लहाइ—C N. दुल्लहाइँ। १७२—C. १८६, N. २०६।

१७३. पत्थ—C पथ्थ। ढुक्कु—C ढुक्क। सहएण—C सघएण। जासु तासु—C N जाहु ताहु। लग्गु—B. C. लग्ग, N लागु। संहएण—C ससएण। सट्ठि—साठि। छड्डुएण—N छुट्टुएण। पेक्खि—C. पेक्ख।

१७३ उदाहरण—

कोई कवि कर्ण तथा अर्जुन के युद्ध का वर्णन कर रहा है—

कर्ण तथा अर्जुन (पार्थ) युद्ध के लिए एक दूसरे से भिड़ गये, बाणों के समूह के द्वारा सूर्य छिपा लिया गया, अन्धकार के समूह ने जिस किसी के घाव लगा दिया (अथवा अन्धकार समूह में भी शब्द वेधी होने के कारण उन्होंने एक दूसरे को घाव लगा ही दिया), इसी अवसर में अर्जुन ने साठ बाणों को (धनुष में चढ़ाकर) कान तक खींचकर छोड़ दिया, उन्हें देखकर यशस्वी कर्ण ने सभी बाणों को काट दिया।

टि —मुक्कु—<मोकिता', छुक्कु <निष्ठोन'।

मुक्कुपण, कट्टुपण—इन दोनों के 'मुक्ता' 'कर्तिता' अनुवाद किये गये हैं। पर यह 'ण' समस्या बन गया है। 'छुक्कुए' 'कट्टुए' को तो °ए वाले कर्ता ब० व० रूप मान सकते हैं जो प्रा० पैं० की भाषा में अपवाद रूप में कुछ मिल जाते हैं, पर 'ण' के साथ ये रूप किस कारक के होंगे ? इन्हें करण ए० व० के रूप तो माना नहीं जा सकता है। सम्भवतः 'संहृपण' 'संहृपण' की तुक मिलाने के लिए यह 'ण' प्रयुक्त हुआ है। यदि इन्हें 'कट्टुए ण', 'छुक्कुए ण' रूप माना जाय तो कुछ समस्या सुलझ सकती है तथा इन्हें 'मुक्ता ननु' 'कर्तिताः ननु' से अनूदित किया जा सकता है। इसका संकेत कोई संस्कृत टीकाकार नहीं देता।

महारूपक छंद —

> जो लोआण सहे मिंधुट्टे विज्जुट्ठे सासट्ठाणो,
> मुज्जाणो णाओ छद्दुट्ठावे कम्णट्ठे हंसट्ठाणो।
> छंदु ग्गामंतो बुत्तो कंतो सब्वे सो सम्माणोओ,
> बम्हाण रूअं छदो एसो लोआणं मक्खाणीओ ॥१७४॥

कट्टिपण—B. कट्टिपण C कट्टपण K. कट्टिपण। १७३—C १९९ N २७।

१७४ सहे—N सच्चे। मिंधुट्टे—C मिंधुट्ठे N मिम्भोट्ठे। विज्जुट्ठे—C. विज्जुट्ठा, K. विज्जुट्ठे। सासट्ठाणो—C हसट्ठाणे K सासट्ठाणे N हंसट्ठाणे। मुज्जाणो—N मुज्जाण। णाओ—C णाओ N णाऊ। छद्दुट्ठावे—C छद्दुट्ठावे A B K. छंदुट्ठावे, N. कम्पट्ठाण। हंसट्ठाणो—

१७४. जो (ब्रह्म) लोगों के बिंबोष्ठ में, विद्युत्स्थान (दाँतों) में तथा नासिका स्थान में रहता है, जो छंद का गान करनेवाले सभी लोगों के द्वारा सम्मानित है, यह सुंदर हंस के समान गति वाला, ब्रह्मरूपक छंद आठ कर्ण (आठ गुरुद्वय अर्थात् सोलह गुरु) के द्वारा ज्ञानी पिंगल (नाग) ने बताया है, इस छंद का मैंने लोगों के लिए वर्णन किया है।

ब्रह्मरूपक '—SSSSSSSSSSSSSSSS = १६ वर्ण।

टिप्पणी—वट्ट < वट्टइ < वर्त्तते।

छंदट्ठावे = छंद + उट्ठावे।

जहा,

उम्मत्ता जोहा उट्ठे कोहा ओत्था ओत्थी जुज्झंता,
मेणक्का रंभा णाहं दंभा अप्पाअप्पी बुज्झंता।
धावंता सल्ला छिण्णो कंठा मत्था पिट्ठी पेरंता,
णं सग्गा मग्गा जाए अग्गा लुद्धा उद्धा हेरंता ॥१७५॥

[ब्रह्मरूपक]

१७५ उदाहरण —

क्रुद्ध उन्मत्त योद्धा उठ उठ कर एक दूसरे से लड़ते तथा अपने आपको दंभ से मेनका तथा रंभा का पति समझते हुए, भाले से कटे

C. सारत्ताणो, N सारट्ठाणे। वुत्तो कंतो—N फण्णा वुत्तो। कतो ' ' सम्माणीओ—C सव्व सेसो णाम भणीओ। बम्हाण—B ब्रम्माण, C. बभाणो, N बह्माणो, K बह्माण। रूअ—B रूप, C. N रूओ। लोआण—B लोअण, N लोकाणं। वक्खाणीओ—A वक्खाणिओ। १७४-C १७०, N २०८।

१७५ उट्ठे—A उठे, C उठ्ठे। ओत्था ओत्थी—B. ओआ ओच्छी, C ओथ्था ओथ्थी, N. उप्पाउप्पी। जुज्झंता—A. C जुम्झंता। णाहं—C. लाहे, N णाहे। बुज्झंता—A. C बुम्झंता। सल्ला—C. सटा। छिण्णो—C छिण्णे, N छिण्णा। पिट्ठी—C पिठ्ठी। पेरंता—C णच्चन्ता, N. सेक्खत्ता। ण सग्गा—N संमग्गा। मग्गा—N भग्गा। १७५-C. १७१, N २०९।

सिरवाले योद्धा मस्तक को पीछे गिरा कर दौड़ते हुए स्वर्ग की इच्छा से ऊपर जाते हुए ऊपर (मेनकादिको) ढूँढ़ रहे हैं।

टिप्पणी—थोरया थोरथी < स्थाय स्थाय।

थंभा < स्तम्भात्=थंभ, अपादान में प्रातिपदिक का प्रयोग। पदांत 'अ' का छंदोनिर्वाहार्थ दीर्घीकरण। अथवा इसे प्रा० का 'आ' सुप् प्रत्यय वाला अपादान रूप भी माना जा सकता है।

अप्पा अप्पी < आत्मानं आत्मान।

जुज्झंता (*युध्यन्त = युध्यमानाः), जुज्झंता (*युध्यंत = युध्यमानाः)।

पेरंता < पातयंतः। हेरंता √हेर (देशी धातु) + अंत व० कृ० रूप।

सप्तदशाक्षर प्रस्तार, पृथ्वी छंद —

पओहर सुइ दिठ्ठआ सहअ हत्थ एक्को दिआ,
पुणो वि तह सठिआ सहअ गंध सज्जा किआ।
पलति वलआ जुआ विमल सद्द हारा ठणो
पअक्करसम बीसआ पुहविणाम छंदो मुणो ॥१७६॥

१७६ जहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ में पयोधर (जगण) हो, तब एक हस्त (सगण) दिया जाय फिर इसी तरह जगण-सगण रखे जायें, तब एक गंध (लघु) सजाया जाय फिर दो वलय (दो गुरु), विमल शब्द (एक लघु) तथा हार (एक गुरु) पड़ें; इस प्रकार प्रत्येक चरण में चार अधिक बीस मात्रा (२४ मात्रा) हों इसे पृथ्वीनामक छंद समझो।

पृथ्वी —ISI, IIS, ISI IIS, ISS IS= १७ वर्ण।

दि —दिआ—< दत्त।

सज्जा किआ—< सज्जीकृत।

---

१७६ दिठ्ठआ—C K दिठ्ठआ। एक्को—A B एक्का। पुणोवि—B पुणोपि। सज्जा—C एक्को N सज्जो। पलति—C वलंत। बीसआ—N बीसआ। मुणो—C भणो। १७६—C १७२ N २१७।

जहा,

झणज्झणिअणेउरं रणरणंतकंचीगुणं,
सहासमुहपंकअं अगुरुधूमधूपुज्जलं।
जलंतमणिदीविअ मअणकेलिलीलासरं,
णिसामुहमणोहरं जुअइमंदिरं रेहइ ॥१७७॥
[पृथ्वी]

१७७ उदाहरण —

झणझण शब्द करते भूषणों वाला, हास्ययुक्त मुखकमल वाला, अगुरु की धूप से सुगन्धित, मणि दीपकों से जाज्वल्यमान, मदनकेलि का लीला सरोवर, रात्रि के आरम्भ के समय मनोहर युवतिमंदिर (युवतियों का महल) सुशोभित हो रहा है।

टि०—इस पद्य की भाषा प्राकृत है। इस पद्य में नपुसक कर्ता ए० व० के अ वाले रूप मिलते, जो प्रा० पैं० की भाषा में अपवाद स्वरूप हैं।

मालाधर छंद —

पढम दिअ विप्पआ तहअ भूवई थप्पिआ,
चरण गण तीअओ तहवि भूवई दीअओ।
चमर जुअ अग्गला विमल गंध हारुज्जला
भणइ फणिसेहरा मुणहु छंद मालाहरा ॥१७८॥

१७८. जहाँ प्रत्येक चरण में पहले विप्र (सर्वलघु चतुष्कल), तब भूपति (जगण) स्थापित किया जाय तीसरे स्थान पर चरण गण (भगण) तथा फिर भूपति (जगण) दिया जाय, फिर दो चामर (गुरु), एक विमल गंध (लघु) तथा एक उज्ज्वल हार (गुरु) हो—सर्पों के शेखर (सर्पश्रेष्ठ) पिंगल कहते हैं, इसे मालाधर छंद समझो हैं।

१७७ झणज्झणिअ—B झणझणिअ, K झणम्झणिअ। णेउर—C N भूसण। कंचीगुणं—K काचीगुण। धूपुज्जलं—C धूमुज्जल। °दीविअ—C. दीपअं। लीलासरं—C °कीलासर। णिसामुह°—C णिसासुह°। जुअइ—B N जुवइ। रेहइ—K राजते। १७७—C १७३, N २१८।

१७८ एतत्पद्य—A. प्रतौ न प्राप्यते। तह अ—N तहवि। भूवई—V. भूअइ। तहवि—B N तहअ। फणिसेहरा—B फणिसारआ, N फणिणाहरा।

(माळाधरः—IIIIISISIIISISSIS = १७ वर्ण)

टि —विप्पआ—(=विप्पअ) < विप्रक' (पद्यांत अ का छंदोनिर्वाहार्थ दीर्घ)।

फणिसेहरा— = फणिशेखर' ।

जहा,

वहइ मलआणिला विरहिचेउसंतावणा,
रअइ पिक पंचमा विअसु केसु फुल्ला वणा ।
तरुण तरु पेल्लिआ मउलु माहवीवल्लिआ
वितर सहि णेत्तआ समअ माहवा पत्तआ ॥१७९॥
[मालाधरा]

१७९. उदाहरण—

मलयानिल बह रहा है, विरहियों के चित्त को संतापित करने वाला कोकिल पंचम स्वर में बोल रहा है, किंशुक विकसित हो गए हैं, वन फूल गया है, वृक्षों में नये पल्लव आ गए हैं, माधवी लता मुकुलित हो गई है, हे सखि, नेत्रों को विस्तारित करो, देखो, वसन्त का समय आ गया है।

टिप्पणी—माहवा— < माधव' (पद्यांत अ का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घीकरण)

पत्तआ—< प्राप्त-क' (स्वार्थे क) (=पत्तअ पद्यांत अ का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घीकरण)।

अष्टादशाक्षर प्रस्तार मंजीरा छंद—

कुंतीपुत्ता तिण्णा दिण्णउ अंधा संठवि एक्का पाए,
एक्का हारा दुज्जे कण्णु गधा सठवि जुग्गा लाए ।
चारी हारा मञ्झाकारउ पाआ अंतहि सज्जीभाए,
सप्पाराआ सुद्धाकाअउ जंपे पिंगल मंजीरा ए ॥१८०॥

---

१७९ संतावणा—B संतावणा। रअइ—B रवइ, N कुणइ। वणा—B वणं। पेल्लिआ—C N पल्लवा। मउलु—B मउल, K ममहु N मउर। वितर B वितर। माहवा—B मावदा। १८—C १७१ N ११।

१८ एक्का हारा दुज्जे—C हारा एक्का दिज्जे, N हार एक्क दुज्जे।

१८० जहाँ प्रत्येक चरण में मस्तक पर (आरंभ में) तीन कुन्तीपुत्र (कर्ण, गुरुद्वय) दिये जायँ, फिर क्रमशः एक पाद (भगण), एक हार (गुरु), दो ककण (गुरु), तथा गध (लघु) का युगल (अर्थात् दो लघु) स्थापित कर, सुदर (भव्याकार) चार हार (गुरु) चरण के अत मे सजाये जायँ,—शुद्धकाय सर्पराज पिंगल ने इसे मंजीरा छंद कहा है।

(मंजीरा .—SSSSSSSIISSSIISSSS = १८ वर्ण)

टि०—मंथा—∠ मस्तके, मस्तक 7 मत्थअं 7 मत्थउ 7 मंथा, अनुस्वार अनुनासिक ध्वनि म के कारण है, यह पराश्रय अनुनासिकीकरण (डिपेंडेंट नेजेलाइजेशन) का उदाहरण है।

जुग्गालाए—< युगल के अर्धतत्सम 'जुगल' का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप।

सज्जीआए—< सज्जिता, सज्जिआ का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप। 'ए' वाला अंश तुक के लिए पाया जाता है।

सुद्धाकाअउ—< शुद्धकायक, सुद्ध के अन्तिम अक्षर की स्वर ध्वनि का छदोनिर्वाहार्थ दीर्घीकरण।

जहा,

गज्जे मेहा णीलाकारउ सद्दे मोरउ उच्चा रावा,
ठामा ठामा विज्जू रेहउ पिंगा देहउ किज्जे हारा।
फुल्ला णीवा पीवे भम्मरु दक्खा मारुअ वीअंताए,
हंहो हंजे काहा किज्जउ आओ पाउस कीलंताए ॥१८१॥
[मंजीरा]

ककणु—C कणा। लाए—C पाए, N जाए। हारा—C हारउ। सज्जीआए—C सटीआए। सुद्धा—C. सुद्धा। १८०—C. १७६, N २२७.

१८१ णीलाकरउ—C णीलाकाअउ (= नीलकाया)। मोरउ—A. B C. मोरा। उच्चा—A उचा। रेहउ—A B. रेहइ। किज्जे—A कीज्जे, C किज्जउ। पीवे—C. भम्मे, N वोल्ले। भम्मरु—C भमरा। हहो हजे—K हजे हजे। काहा—C. काहे। °कीलताए—C. °की अता ए (= प्रावृट् आगता किं (वा) अन्तोऽन्त), N थारू पाउस कील ताए (=आगता प्रावृट् तावत्)। १८१—C. १७७, N. २२८.

१८१ उदाहरण—

मीठे मेघ गरज रहे हैं, मोर ऊँचे स्वर में शब्द कर रहे हैं, स्थान स्थान पर पीले देह वाली बिजली सुशोभित हो रही है (मेघों के द्वारा बिजली का) हार (धारण) किया जा रहा है कदंब फूल गये हैं, भौंरे बोल रहे हैं, यह मधुर वायु चल रहा है हे सखी, बता क्या करूँ, वर्षाऋतु क्रीडा करती आ गई है।

टि —गज्जे— ∠ गर्जति। टीकाकारों ने इसे ब० व० माना है 'मेघा' गर्जन्ति'। या तो यहाँ 'आधी एकवचन' माना जा सकता है, अथवा 'मेहा' को ब० व० रूप मानने पर उसके साथ 'गज्जे' ए० व० क्रिया का प्रयोग वाक्यरचनात्मक विशेषता को द्योतित करता है। ध्यान देने की बात तो यह है कि इसका विशेषण 'कीलाकारंत' भी ए० व० में ही है।

काहा— ∠ किं,

किज्जे— < क्रियते (=किज्जइ 7 किज्जे) कर्मवाच्य रूप, किज्जउ < क्रियताम् (अथवा विधि का रूप)।

कीलंताए— < क्रीडन्=कीलंत का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप।

क्रीडाचक्र (क्रीडाचक्र) छंद —

ज इंदासणा एक्क गण्णा सुहावेहि पाएहि पाए

जं वण्णा दहा अट्ठ सोहे सुदंडा सुठाए सुठाए।

कहा तिण्णि गुण्णा सहा सम्मत्ता होइ मत्ता सुपाए,

फणिंदा भणंता किलाचक्क छंदो णिबद्धाइ जाए ॥१८२॥

१८२. जहाँ प्रत्येक चरण में एक इन्द्रासन (यगण) ही सुशोभित हो तथा जहाँ सुंदर लघु अक्षर वाले (यगण में आद्यक्षर सदा लघु होता है) अठारह अक्षर स्थान स्थान पर (प्रत्येक चरण में) सुशोभित हों

---

१८२ सुहावेहि—C सुहावेइ N सु होवेइ। जं वण्णा दहा अट्ठ सोहे सुदंडा—C वण्णा " सोह दंडा सुठाए N दहा अट्ठ वण्णा सुहावेइ दण्डा। सुदंडा—A सुदंडा। सम्मत्ता—A B संठमा। होइ—A होति B होंति। सुठाए—B हुठाए। किलाचक्क—B किलाइक्क, N किला चन्द। छंदो—A छंदा B चदा। १८२—C १७८ N ११६।

जहाँ सुंदर चरण में दस की तिगुनी (तीस) सबल मात्रा हों—फणीन्द्र कहते हैं, वह क्रीडाचन्द्र (क्रीडाचक्र) छंद निबद्ध होता है।

(क्रीडाचन्द्र :—(छ यगण) ISS ISS ISS ISS ISS ISS= १८ वर्ण)।

टिप्पणी—सुहावेहि ∠ शोभायते (सुहावेइ के अंतिम स्वर की सप्राणता (एस्पिरेशन)। 'सुहावेइ' वस्तुत णिजत का रूप होगा। प्रा० पैं० की भाषा का वास्तविक रूप 'सुहावइ' होना चाहिए।

जहा < यत्र।

जहा,

जहा भूत वेताल णच्चत गावंत खाए कवंधा,
सिआ फारफेक्कारहक्का रवंता फुले कण्णरंधा।
कआ टुट्ट फुट्टेइ मंथा कवंधा णचंता हसंता,
तहा वीर हम्मीर संगाम मज्झे तुलंता जुझंता ॥१८३॥

१८३. उदाहरण —

जहाँ भूतवेताल नाचते हैं, गाते हैं, कवंधों को खाते हैं, शृगालियाँ अत्यधिक शब्द करती चिल्लाती है, तथा उनके चिल्लाने से कानों के छिद्र फूटने लगते हैं, काया टूटती है, मस्तक फूटते हैं, कवंध नाचते हैं और हँसते हैं—वहाँ वीर हमीर संग्राम में तेजी से युद्ध करते हैं।

टिप्पणी—णच्चत, गावत (नृत्यन्, गायन्), वर्तमानकालिक कृदंत रूप।

खाए < खाअइ < खादयति।
टुट्ट < त्रुटति, फुट्टेइ < स्फुटति।
तुलंता < त्वरयन्।
जुझंता < युद्ध्यमान (* युद्ध्यन्) वर्तमानकालिक कृदंत।

---

१८३ जहा—C जहीं, N जहाँ। भूत—C. भूत। कवंधा—N. कक्कवन्धा। रवता—N चलन्ती। टुट्ट— N टुट्ट। तहा—C. N. तहाँ। मज्झे-A. B C. मम्झे, N मज्ज। जुझता—A जुझता, B जुज्झंता, C. धुल्लता, N जुलन्ता, K जुग्रता। १८३-C १७६, N २२०।

चर्चरी छंद—

आइ रगण हत्थ काहल ताल दिज्जहु मज्झआ,
सद्द हार पलत्त विण्ण वि सव्वलोअहि बुज्झिआ।
चे वि काहल हार पूरहु सख ककण सोहणा,
णाअराअ भणत सुंदरि चच्चरी मणमोहणा ॥१८४॥

१८४ जहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ क्रमशः रगण, हस्त (सगण), काहल (लघु), ताल (गुरु लघु रूप त्रिकल ऽ।) देना चाहिए, मध्य में शब्द (लघु), हार (गुरु) दो बार पड़ें, अंत में दो काहल (लघु) एक हार (गुरु), तब फिर सुंदर शख (लघु) तथा कंकण (गुरु) हों,—नागराज कहते हैं, हे सुंदरि, यह मन को मोहित करने वाला चचरी छंद है।

(चचरी —ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ = १८ वर्ण)।

दि —दिज्जहु—विधि प्रकार (आप्टेटिव) का म० पु० ब० व०।

पलंत—< पतन् (अथवा पतन्तौ) वर्तमानकालिक कृदंत।

सव्वलोअहि—< सर्वलोके, 'हि' करण ए० व०।

बुज्झिअ—< बुद्धं (कुछ टीकाकारों ने इसे 'चर्चरी' का विशेषण माना है —'बुद्धा' (स्त्रीलिंग), अन्य ने इसे 'विण्ण वि' का विशेषण माना है—बुद्धं' (पु० नपुं रूप)।

पूरहु—< पूरयत, आज्ञा म० पु० ब० व०।

जहा,

पाअ णेउर झंझणक्कइ हससद्दसुसोहणा,
थूरथोर थणग्ग णच्चइ मोत्तिदाम मणोहरा।
वामदाहिण धारि धावइ तिक्खचक्खुकडक्खआ,
काहु णाअर गेहमंडणि एहु सुंदरि पेक्खिआ ॥१८५॥
[चचरी]

---

१८४ हत्थ—C मत्त। मज्झआ—A मज्झआ B मज्झअ N म ज्झअ। बुज्झिआ—A बुज्झआ B बुज्झिअ C बुज्झिआ। चे वि—A देवि। मन —A,B मन। १८४—C १८ N १११।

१८५ झंझणक्कइ—B णाझणक्कइ। सुसोहणा—A सुसोहणा। गहे—

१८५. उदाहरण.—

(इसके) पैरों मे नूपुर, हंस के शब्द के समान सुंदर शब्द कर रहे हैं, मनोहर मुक्ताहार स्थूल स्तनाग्र पर नाच रहा है (अथवा मुक्ताहार स्तनाग्र पर थोडा थोडा नाच रहा है), इसके तीखे चक्षु'कटाक्ष वायें और दाहिने वाण की तरह दौड रहे हैं, किस सौभाग्यशाली पुरुष के घर को सुशोभित करने वाली यह सुदरी दिखाई दे रही हैं ?

टि०—झंझणकइ—< झणझणायते, ध्वन्यानुकृति (ओनोमेटोपोइक) क्रिया, वर्तमान प्र० पु० ए० व० ।

थूरथोर—(१) स्थूलेस्थूले, (२) स्तोकं स्तोकं ।

काहु—< कस्य ।

पूरिस—< पूरुष , असावर्ण्य का उदाहरण, जहाँ परवर्ती 'उ' को 'इ' वना दिया गया है ।

पेक्खिअआ—< प्रेक्षिता (=प्रेक्षितिका), कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत स्त्रीलिंग रूप, वस्तुत 'प्रेक्षिता' से प्रेक्षिता > पेक्खिआ> पेक्खिअ अप० में होगा, इसका आ वाला रूप स्वार्थे क वाले रूप से विकसित हो सकता है, अत हमने इसकी व्युत्पत्ति कोष्ठक में '*प्रेक्षितिका' से सकेतित की है)।

एकोनविंशत्यक्षर प्रस्तार, शार्दूलसट्टक छंद —

मो सो जो स त तो समंत गुरवो एऊणविंसा वणो,
पिंडोअ सउ वीस मत्त भणिअं अट्ठासी जोणी उणो ।
जं छेहत्तरि वण्णओ चउ पओ वत्तीस रेहं उणो
चोआलीसह हार पिंगल भणे सद्दूल सट्टा मुणो ॥१८६॥

A.B. थूल, C थोर थोर, N. थोल थोल। धारि—K वाण, A.B. वालि कढक्खआ—K. कढक्खआ । काहु—N. काहि । णाअर—C पुरुस, N. पूरिस । एहु—N एह । पेक्खिअआ—C देक्खिअ, N पेक्खआ । १८४—C. १८१, N २३२ ।

१८६. सतओ समंत—C सततीस मत्त । एऊणविंसा वणो—A. B एऊणविंसावणो, C एउण्णविंसाउणो, K एऊणविसाउणो, N एगुणविंसा वणा । वीस—B विंस, N वीस । अट्ठासि जोणी ऊणो—C अट्ठासि जोणिप्पुणो,

चचरी ४१—

आइ रगण हत्थ काहल ताल दिज्जहु मज्झआ,
सद्द हार पलत्त बिण्ण वि सव्वलोअहि बुज्झिआ।
बे वि काहल हार पूरहु सख कंकण सोहणा,
णाअराअ भणंत सुंदरि चच्चरी मणमोहणा ॥१८४॥

१८४ जहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ क्रमशः रगण, हस्त (सगण), काहल (लघु), ताल (गुरु लघु रूप त्रिकल ऽ।) देना चाहिए, मध्य में शब्द (लघु), हार (गुरु) दो बार पड़ें, अंत में दो काहल (लघु) एक हार (गुरु), तब फिर सुंदर शंख (लघु) तथा कंकण (गुरु) हों,—नागराज कहते हैं, हे सुंदरि, यह मन को मोहित करने वाला चचरी छंद है।

(चचरी —ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ = १८ वर्ण)।

टि —दिज्जहु—विधि प्रकार (ओप्टेटिव) का म० पु० ब० व०।

पलंत—< पतन् (अथवा पतन्तौ) वर्तमानकालिक कृदंत।

सव्वलोअहि—< सर्वलोकैः, 'हि' करण ब० व०।

बुज्झिअ—< बुद्धं (कुछ टीकाकारों ने इसे 'चच्चरी' का विशेषण माना है —'बुद्धा (स्त्रीलिंग), अन्य ने इसे 'बिण्ण वि' का विशेषण माना है— बुद्धं (पु नपु० रूप)।

पूरहु—< पूरयत, आज्ञा म० पु० ब० व०।

जहा,

पाअ णेउर झंझणक्कइ हंससद्दसुसोहणा,
थूरथोर थणग्ग णच्चइ मोत्तिदाम मणोहरा।
वामदाहिण धारि धावइ तिक्खचक्खुकडक्खआ,
काहु णाअर गेहमंडणि एहु सुंदरि पेक्खिआ ॥१८५॥
[चचरी]

---

१८४ हत्थ—C मत्त। मज्झआ—A मज्झआ B मज्झआ N म ज्झआ। बुज्झिआ—A बुज्झआ B बुज्झिआ C बुज्झिआ। बे वि—A देवि। भण°—A, B भण। १८४—C १८ N १११।

१८५. झंझणक्कइ—B झणझणक्कइ। सुसोहणा—A सुसोहणा। थूर—

फैले हुए फणों से साँस लेने के कारण क्षीण हो गए थे, अब शीघ्र ही विरहिणियों के निःश्वास का सम्पर्क पाकर शैशव काल में ही मानो तारुण्यपूर्ण हो गए हैं।

यह कर्पूरमंजरीसट्टक के प्रथम जवनिकांतर का २० वाँ पद्य है। भाषा प्राकृत है।

टि०—दरिद्दत्तणं—<दरिद्रत्वं, सिसुत्तणे < शिशुत्वे (दे० पिशेल § ५९७)। 'त्तण' की उत्पत्ति पिशेल ने वैदिक प्रत्यय 'त्वन' से मानी है।

शार्दूलविक्रीडित का द्वितीय लक्षण —

पत्थारे जह तिण्णि चामरवरं दीसंति वण्णुज्जलं,
उक्किट्ठं लहु विण्णि चामर तहा उट्ठीअ गंधुग्गुरो।
तिण्णो दिण्णसुगंध चामर तहा गंधा जुआचामरं
रेहंतो धअपट्ट अंत कहिअं सद्दूलविक्कीडिअं ॥१८८॥

१८८ जिस छन्द के प्रसार में उज्ज्वल वर्ण वाले (अथवा वर्णों के कारण उज्ज्वल) तीन चामर (गुरु) दिखाई देते हों, तथा फिर से उत्कृष्ट लघु तथा चामर (गुरु) हों, तब गंध (लघु) तथा गुरु उठे हों, तब तीन गन्ध (लघु) दिये जायँ, तब दोन गुरु हों, तथा फिर एक लघु तथा दो गुरु हों, अन्त में ध्वजपट्ट (लघ्वादि त्रिकल ।S) सुशोभित हों, तो उसे शार्दूलविक्रीडित कहा जाता है।

टि०—चामरवरं, वण्णुज्जलं, उक्किट्ठं, चामरं, कहिअं, सद्दूलविक्कीडिअं—ये सब प्राकृत रूप हैं, जो नपुंसक ए० व० में पाये जाते हैं। प्रा० पैं० की भाषा में °अ वाले रूप अपवाद स्वरूप हैं।

रेहंतो—<राजन्, वर्तमानकालिक कृदन्त रूप।

---

१८८ जह—C तह। वण्णुज्जल—A वणूज्जल B वणुज्जल। उक्किट्ठ—C तत्थेअ, N तच्चेअ। उट्ठीअ—N उट्टेअ। गंधुग्गुरो—N गधग्गुरे। सुगंध—A सूगध। तिण्णो—N तिण्णे। गंधाजुआ—N गधाअवे। रेहंतो—N रेहन्ता। धअवट्ट—C धअपट्ट, N फणिवण्ण। कहिअ—N. करणे। °सद्दूलविक्कीडिअ—C अत करणे सद्दूल सट्टा मुणो N. °सद्दूलसट्टा मुणे। १८८—C. १८४, N २४०।

१८६ जहाँ प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण तथा गुरु हों, (इस प्रकार) १९ वर्ण हों, तथा सम्पूर्ण छन्द में १२० मात्रा कही गई हैं, इनमें ८८ मात्रा योनि है, (अर्थात् ८८ मात्रा गुर्वक्षरों की है, भाव यह है यहाँ ४४ अक्षर गुरु होंगे—शेष लघु), जहाँ चारों चरणों में ७६ वर्ण हों तथा (इनमें) ३२ लघु (रेखा) अक्षर हों, ४४ गुरु हों, इसे पिंगल कवि ने शार्दूलसट्टक छंद समझा है।

टि०—एऊणविंसा—< एकोनविंशति, (निर्णयसागर प्रति में 'एगूणविंसा' पाठ है, पिशेल ने इसी पाठ का संकेत किया है—पिशेल पृ० ४४२)। इसके अन्य रूप ये हैं—'एगूणवीसं' (अर्धमागधी), अउणवीसई अऊणवीसं (अर्धमा०, जैनमहा०) दे० पिशेल § ४४४। (हि० उन्नीस, राज० उगणीस)।

छेहत्तरि—< षट्सप्तति, (जैनमहा० 'छावत्तरिं' पिशेल § ४४६)।

(शार्दूलसट्टक—SSS||S|S|||SSS|SS|S = (१९ वर्ण)

जहा,

जे लंका गिरिमेहलाहि खलिआ संभोअखिण्णोरई
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणं।
ते एह्लिं मलआणिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो
जादा झत्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥१८७॥
[शार्दूलसाटक]

१८७ उदाहरण—

मलयाचल के वे पवन जो लंका के पर्वत से स्खलित हो गए थे और जो सम्भोग के कारण थकी हुई सर्पिणियों के अपने बड़े और

N सद्दाविं कोसी पुण। कव्वलो—C कव्वले। जइ—C जाउ जसो—C पआ। चाआवलिह—C पफलोहर A पीआवलेहर B पोआवलेहर। सद्दूलसट्टमुणो— C सद्दूल सो लइह, N सद्दूलसट्टा मुणे। १८६—C १८२ N २१८।

१८७ मेहलाहि—C मेहलानु। खलिआ—A खलीआ। फारुप्फुल्ल—A फारुप्फुल। एह्लिं—A इहि C एहि, N इण्हिं। संपक्किणो—A निम्मल। १८७—C १८३ N २१९।

फैले हुए फणों से साँस लेने के कारण क्षीण हो गए थे, अब शीघ्र ही विरहिणियों के निःश्वास का सम्पर्क पाकर शैशव काल में ही मानों तारुण्यपूर्ण हो गए है।

यह कर्पूरमंजरीसट्टक के प्रथम जवनिकांतर का २० वाँ पद्य है। भाषा प्राकृत है।

टि०—दरिद्दत्तणं—<दरिद्रत्वं, सिसुत्तणे < शिशुत्वे (दे० पिशेल § ५९७)। 'त्तण' की उत्पत्ति पिशेल ने वैदिक प्रत्यय 'त्वन' से मानी है।

शार्दूलविक्रीडित का द्वितीय लक्षण —

पत्थारे जह तिण्णि चामरवरं दीसंति वण्णुज्जलं,
उक्किट्ठं लहु विण्णि चामर तहा उट्ठीअ गंधुग्गुरो।
तिण्णो दिण्णसुगंध चामर तहा गंधा जुआचामरं
रेहंतो धअपट्ट अंत कहिअं सद्दूलविक्कीडिअं ॥१८८॥

१८८. जिस छन्द के प्रसार में उज्ज्वल वर्ण वाले (अथवा वर्णों के कारण उज्ज्वल) तीन चामर (गुरु) दिखाई देते हों, तथा फिर से उत्कृष्ट लघु तथा चामर (गुरु) हों, तब गंध (लघु) तथा गुरु उठे हों, तब तीन गन्ध (लघु) दिये जायँ, तब तीन गुरु हों, तथा फिर एक लघु तथा दो गुरु हों, अन्त में ध्वजपट्ट (लघ्वादि त्रिकल ।ऽ) सुशोभित हो, तो उसे शार्दूलविक्रीडित कहा जाता है।

टि०—चामरवरं, वण्णुज्जलं, उक्किट्ठं, चामरं, कहिअं, सद्दूलविक्कीडिअं—ये सब प्राकृत रूप हैं, जो नपुंसक ए० व० में पाये जाते हैं। प्रा० पैं० की भाषा में °अ वाले रूप अपवाद स्वरूप हैं।

रेहंतो—<राजन्, वर्तमानकालिक कृदंत रूप।

---

१८८ जह—C तह। वण्णुज्जल—A. वण्णूज्जल B वणुज्जल। उक्किट्ठ—C तत्थेअ, N तच्चेअ। उट्ठीअ—N उट्ठेअ। गंधुग्गुरो—N गधग्गुरे। सुगंध—A सुगध। तिण्णो—N तिण्णे। गंधाजुआ—N गंधाअवे। रेहंतो—N रेहन्ता। धअवट्ट—C धअपट्ट, N फणिवण्ण। कहिअ—N. करणे। °सद्दूलविक्कीडिअ—C. अंत करणे सद्दूल सट्टा मुणो N °सद्दूलसट्टा मुणे। १८८—C. १८४, N २४०।

यथा,

ज धोअंजणलोललोअणजुअं लग्गालअग्गं मुहं,
हत्थालंबिअकेसपल्लवचए घोलंति जं बिंदुणो।
जं एक्कं सिचअंचलं णिवसिदं तं ण्हाणकेलिट्ठिदा,
आणीदा इअमब्भुदेक्कजणणी जोईसरेणामुणा ॥१८९॥

[शार्दूलविक्रीडित]

१८९. उदाहरण —

इस सुंदरी की आँखों का अंजन धुला हुआ है और इसलिए इसकी आँखें चंचल हैं, मुख पर अलकें बिखरी हुई हैं उसने हाथ से अपने बालों को पकड़ रक्खा है और बालों से पानी की बूँदें टपक रही हैं इसका शरीर केवल एक ही वस्त्र से ढँका है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि योगीश्वर (भैरवानंद) ने स्नान क्रीडा के बाद ही इस अपूर्व सुंदरी को यहाँ उपस्थित कर दिया है।

यह भी कर्पूरमंजरी सट्टक के प्रथम जवनिकांतर का २१ वाँ पद्य है। भाषा प्राकृत है।

चन्द्रमाला छंद —

ठवि दिअवरजुअल मज्झ करअल करहि
पुण वि दिअवरजुअल सज्झ सुरअल करहि।
सरसगण विमल जह थिट्ठविअ विमल मइ
तुरिअ कइ उरअवइ चदमल कहइ सइ ॥१९०॥

१८९— धोअ —C N धोअं°। पल्लव—C पल्लअ। हत्थालं बिअ°—N हत्थालंबिद°। घोलंति—K घोलंदि। सिअअंचलं—C N सिचअंचलं। ण्हाणं —C णाणं° N ह्राणं°। केलिट्ठिदा—K केलिट्टिआ C N केलिट्ठिदा। इअमब्भुदेक्कजणणी—K इअमअम्भदेक्कजणणी।
१८९—C १८५, N २४१।

१९ —मज्झ—A मज्झ, C मज्झ। करहि—N करहिँ। सुरअल— N करअल। जह—N जहि। थिट्ठविअ —N सुठि ठवइ मन गइ। तुरिअ कइ—N विमल मइ। सइ—N सोइ। सरसगण सइ—C उरअ गन विमलमइ जोइ सुणि करहि। विमलमइ उर अंकर चंदमाल कहइ सोइ॥ १ —C १९१ N २४२।

१९० हे बुधजन, आरंभ में द्विजवर युगल (चतुर्लघ्वात्मक गणद्वय, आठ लघु) स्थापित कर, मध्य में करतल (सगण) करो, फिर आठ लघु (द्विजवरयुगल) सजाओ, जहाँ निर्मल सरस गणों की स्थापना की जाय, विमलमति वाले आशुकवि (त्वरितकवि) सर्पराज (उरगपति) पिंगल ने इसे चद्रमाला छंद कहा है।

(चन्द्रमाला :—IIIIIIIIISIIIIIIII = १९ वर्ण)।

टिप्पणी—ठइवि <स्थापयित्वा, णिजंत का पूर्वकालिक क्रिया रूप।

करहि < कुरु, √कर + हि, आज्ञा म० पु० ए० व०।

चंदमल < चन्द्रमाला, छन्दोनिर्वाहार्थ 'मा' के 'आ' का ह्रस्वीकरण, वास्तविक रूप 'चन्दमाल' होना चाहिए।

कहइ < कथयति, वर्तमान प्र० पु० ए० व०।

जहा,

अमिअकर किरण धरु फुल्लु णव कुसुम वण,
कुविअ भइ सर ठवइ काम णिअ धणु धरइ।
रवइ पिअ समअ णिक कंत तुअ थिर हिअलु,
गमिअ दिण पुणु ण मिलु जाहि सहि पिअ णिअलु ॥१९१॥

[चंद्रमाला]

१९१. उदाहरण :—

कोई सखी नायिका को अभिसरणार्थ प्रेरित कर रही है :—

अमृतकर (चन्द्रमा) किरणों को धारण कर रहा है वन में नये फूल फूल गए हैं, क्रुद्ध होकर कामदेव बाणों को स्थापित कर रहा है, तथा अपने धनुष को धारण कर रहा है, कोयल कूक रही है, समय भी सुंदर (नीका) है, तेरा प्रिय भी स्थिरहृदय है, हे सखि, गए दिन फिर नहीं मिलते, तू प्रिय के समीप जा।

टिप्पणी—भइ < भूत्वा।

ठवइ < स्थापयति, धरइ < धरति।

१९१—धरु—C. धरइ, N धर। फुल्लु णव कुसुम वण—C फुल्लु णव कमलवणु, N फुल्लवहुकुसुमवण। धणु धरइ—C. N धरइ धणु। समअ—C. समअ अ। कंत—N किंत। हिअलु—N. हियलु। मिलु जाहि—C मिल जाहि, N मिल णाहि। सहि—C सहिअ। १९१—C. १९४, N २४३।

णिक—देशी शब्द 'णीक', राज० नीको (= अच्छा)।
हिअलु <*हृदय-ल ('ल स्वार्थे)।
गमिअ < गतानि (= गमितानि)।

धवलाछंद:—

करिअ चउ दु गुण जुअ विमलमइ महिअले,
ठअ ठइ रमणि सरसगण पअ पअ पले।
दिअगण चउ चउपअहि मण फणिवइ सही
कमल गण सरसमण सुमुहि धवलअ कही ॥१९२॥

१९२ हे सरस मन वाली, हे सुमुखि, हे रमणि, जिस छंद के प्रत्येक चरण में पड़नेवाले सरस गण वाले चार द्विजगण (चार चतुर्लघु) स्थापित कर अन्त में कमल गण (सगण) चारों चरणों में किया जाय, उस छन्द को निमलबुद्धिवाले फणिपति ने पृथ्वीतल पर धवला कहा है।

(धवला —IIII,IIII,IIII,IIII,IIS = १९ वर्ण)

टि०—करिअ—कर्मवाच्य रूप 'क्रियते'।
<क्रियते—>करिअइ >करिअ।
ठअ—<स्थापयित्वा, पूर्वकालिक क्रिया रूप (√ठा+इअ)।
पले—पतिताः, 'ए' कर्ता कर्म ब० व० का विभक्ति चिह्न है।
सही—(हि० राज० सही)।
धवलअ—<धवलकं।

जहा

तरुण तरणि तवइ धरणि पवण वह खरा,
लग णहि जल बड मरुथल जणजिअणहरा।

---

१९२ करिअ° भये—C पतइ चउ लघु जुअल विमल मइ महिअले N करइ चउमुणि जुअइ। रमणि सरसगण—C रमण गति समन। पअहि—C पअम N पअहिं। सही—C मही। कमल गण°—C, कर अमल हरिअ तक्खणि धवली।

१९३ तरुण— तप। वह—A वहइ। तवइ धरणि—C वहइ लोअइ। ढुवइ—C ढोअइ। हम —C हमे एकहि।

दिसइ चलइ हिअअ डुलइ हम इकलि वहू,
घर णहि पिअ सुणहि पहिअ मण इछइ कहू ॥१९३॥
[धवला]

१९३ उदाहरण —

कोई स्वयंदूती पथिक से कह रही है —

तरुण (मध्याह्न) सूर्य पृथ्वी को तपा रहा है,—तीक्ष्ण पवन चल रहा है, पास में पानी भी नहीं है, लोगों के जीवन का अपहरण करने वाला यह बहुत बडा मरुस्थल है, दिशायें भी जैसे घूम रही हैं, हृदय डोल रहा है, और मैं अकेली वहू हूँ, प्रिय घर पर नहीं है। हे पथिक, सुन, कहीं तेरा मन (ठहरना) चाहता है क्या ? (अथवा हे पथिक, सुन अपने मन की इच्छा को कह।)

टि०—लग—<लग्नं (समीप में)। एक टीकाकार ने इसे मैथिली प्रयोग माना है—'लग इ [ति] निकटवाचको मिथिलादेशीय.। —द्रे० कलकत्तासंस्करण पृ० ५४२।

हिअअ—<हृदय।

डुलइ—<दोलायते (मूलतः नाम धातु), √डुल+इ वर्तमान प्र० पु० ए० व०, हि० डोलना।

इकलि—<एकला, (एकल से स्त्रीलिंग रूप)।

सुणहि—<शृणु।

इछइ कह—(१) इच्छा कथय, (२) इच्छया कथय, (२) इच्छति कुत्र। एक हस्तलेख ने 'इछल कहू' पाठ माना है, जहाँ तीसरी व्युत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। हमने 'इच्छति कुत्र' वाला अनुवाद ठीक समझा है, वैसे कोष्ठक में अन्य अर्थ का संकेत भी कर दिया गया है।

शंभु छंद —

अवलोआ णं भणि सुच्छंदं मण मज्झे सुक्खं सवुत्तं,
सुपिअं अंते ठवि हत्था दिज्जसु कुंतीपुत्तं संजुत्तं ॥
गण अग्गा दिज्जसु एअं किज्जसु अंते सत्ता हारा जं
इअ वत्तीसा णिअ मत्ता पाअह छंदो संभू णामा अं ॥१९४॥

---

१९४ भणि—N भण। सुच्छदं—C. N. ए छद। सुपिअं—C. सुपिअ। हत्था—C N. हत्थो। दिज्जसु—C. दिज्जहु (उभयत्र)।

१९४ यह शोभन छंद है, ऐसा कह कर, मन में सुख का अनुभव कर तुम (इसे) देखो। इस छन्द के आरंभ में कुन्तीपुत्र (गुरुद्वयात्मक गण) से युक्त हस्त (सगण) देकर इस तरह फिर गणों की रचना करो, फिर सुप्रिय (लघुद्वय) स्थापित करो, चरण के अंत में सात हार (गुरु) की स्थापना करो, इस प्रकार जहाँ बत्तीस मात्रा प्रत्येक चरण में हो वह शंभु नामक छंद है।

(शंभु—सगण, दो गुरु (कर्ण), सगण, दो गुरु, दो लघु (सुप्रिय), सात गुरु = ||S, SS, ||S, SS, ||, SSSSSSS = ३२ मात्रा, १९ वर्ण)।

टि —अवलोआ < अवलोकय मनुः ठवि < स्थापयित्वा; पूर्वकालिक क्रिया।

दिज्जसु किज्जसु—विधि प्रकार के मध्यम पुरुष ए० व० के रूप।
पाअह—< पादेषु, अधिकरण ब० व० का रूप दे०, भूमिका।

जहा,

सिअविट्ठी किज्जइ जीआ लिज्जइ बाला वुड्ढा कंपंता,
वह पच्छा वाअइ लग्गे काअइ सव्वा दीसा झंपंता।
जइ अप्पा रूसइ चित्ता हासइ अग्गी पिट्ठी थप्पीआ,
कर पाआ संमरि किज्जे भित्तरि अप्पाअप्पी सुक्कीआ ॥१९५॥
[शंभु]

१९५. उदाहरण —

ठंड की वर्षा (महावट) हो रही है, जीव लिया जा रहा है बच्चे और बूढ़े जाड़े के मारे काँप रहे हैं पछाँह हवाएँ चल रही हैं, शरीर के लगती हैं, सब दिशाएँ (जैसे) घूम रही हैं। यदि आत्मा रुष्ट होता है,

---

अवलोआ दिज—C °अम, N अवलोअ चअस्स। पाअह—C पाअहि, N. सुप्। °सामार्थ—C °मार्थ N संभूतमेव।

१९५. सिअट्ठी—C दिट्ठा। किज्जइ—N किज्जिअ। जीआ—C जीआ। बाला—A बाल। पच्छा—N पश्चा। लग्गे—N लग्गे। वह—C वर, N वर। वहूणा—N वाअइ। रूसइ—C N. रोसइ। हासइ—C होइ N हो सइ। पिट्ठी—C पट्ठे, B पेट्ठे। संमरि—C सम्मरि। किज्जे—C किज्जइ।

तो हे सखि, चिंता होती है, आग को पीठ की ओर स्थापित किया जाता है, हाथ और पैरों को सिकोड़ कर अपने आप को किसी तरह छिपाया जाता है।

टि०—सिअविट्ठी—< शीतवृष्टिका > सीअविट्ठिआ > सीअविट्ठिअ > सीअविट्ठी।

यहाँ छन्दोनिर्वाहार्थ प्रथमाक्षर की दीर्घ ध्वनि 'ई' को ह्रस्व कर दिया गया है।

किज्जइ, लिज्जइ—कर्मवाच्य के रूप।

वाअह—< वाताः, कर्ता ब० व० मे 'ह' विभक्ति, दे० भूमिका।

काअह—< काये (अथवा कायेषु) अधिकरण के लिए 'ह' विभक्ति, जो अधिकरण ए० व० ब० व० दोनों में पाई जाती है, दे० भूमिका।

संभारि—< संभार्य (अथवा संभाल्य) पूर्वकालिक क्रिया रूप। (हि० सँभालना, राज० समाळवो (-*सम्हाळवो) < सं० सम्भालयति)।

भित्तरि—< अभ्यन्तरे, क्रियाविशेषण (हि० रा० भीतर)।

विंशत्यक्षरप्रस्तार, गीता छंद :—

जहि आइ हत्थ णरेंद विण्ण वि पाअ पंचम जोहलो,
जहि ठाइ छट्ठहि हत्थ दीसइ सद्द अतहि णेउरो।
सइ छंद गोअउ मुद्धि पीअउ सव्वलोअहि जाणिओ,
कइसिट्ठिसिट्ठउ दिट्ठ दिट्ठउ पिंगलेण बखाणिओ ॥१९६॥

१९६. हे मुग्धे, जहाँ आरम्भ मे हस्त (सगण) तथा दो नरेन्द्र (जगण), तब पाद (भगण) (दिये जायँ) तथा पाँचवाँ गण जोहल (रगण) (हो), जहाँ स्थान पर हस्त (सगण) तथा अन्त में शल्य (लघु) तथा नूपुर (गुण) दिखाई दें, वह छंद सब लोगोंने अच्छा (नीका) समझा है, कवि सृष्टि के द्वारा निर्मित, दृष्टि (कविदृष्टि अथवा छन्द-शास्त्र) के द्वारा दृष्ट, उस छंद को पिंगल ने गीता (छंद) कहा है।

---

१९६ जहि—C. जइ, N जँहि। विण्ण वि—N वि ट्ठवि। पंचम—C. पचइ। जोहलो—C. तोमरो। °छट्ठहि—C. जहि अट्ठहि, N. जँहि ठाइ छठहि। दीसइ—C दिस्सइ। सद्द—A B सल्ल। सइ—A B. सोइ, C.K. सुइ।

(गीताः—IIS,ISI ISI,SII S'S,SII,SI = २० वर्ण)

टिप्पणी—जहि—<यस्मिन्, ठाइ <स्थाने।

छद्दहि—<षष्ठे; 'हि' अधिकरण ए० व० की विभक्ति।

दीसइ—<दृश्यते, कर्मवाच्य क्रिया रूप।

णीचड—हि० नीका, रा० नीको।

कोअहि—<°कोके, करण ब० व० की विभक्ति 'हि'।

वखाणिओ—व्याख्यात'।

√बखाण नाम धातु है, जिसका विकास सं० 'व्याख्यान' से है।

जहा,

सइ फुल्ल केअइ चारु चंपअ चूअमंजरि वंजुला,

सव दीस दीसइ केसुकाणण पाणबाउल भम्मरा।

वह पोम्मगंध विबंध बंधुर मंद मंद समीरणा,

पियकेलिकोतुकलासलंगिमलग्गिमा तरुणीजणा ॥१९७॥

[गीता]

१९७ उदाहरण—

बसन्त ऋतु का वर्णन है

केतकी, सुन्दर चम्पक, आम्रमंजरी तथा वंजुल फूल गये हैं, सब दिशाओं में किंशुक का वन (पुष्पित किंशुक) दिखाई दे रहे हैं; और भौंरे (मधु के) पान के कारण व्याकुल (मस्त) हो रहे हैं, पद्म-सुगन्ध युक्त (विबन्धु) तथा मानिनियों के मानभंजन में दक्ष (बंधुर) मंद मंद पवन बह रहा है, तरुणियाँ अपने पति के साथ केलिकौतुक तथा लास्यभंगिमा (लास्य लंगिमा) में व्यस्त हो रही हैं।

टि —दीस—<दिशि, अधिकरण ए० व० में शून्यविभक्ति रूप।

दीसइ—दृश्यते, कर्मवाच्य रूप।

---

१९७ सइ—C N सहि। फुल्ल—A B फुल्लु। चूअ—C चुअ। वंजुला—A B वञ्जुअ। पोम्म—A पम्म, C N मंधबन्धु। कोतुक—A. B C कौतुक, N कोउक। तरुणीजणा—C तरुणीगणा। १९७—C २ N २५४।

वाउल—<वातुला, कर्ता ब० व० (भम्मरा का विशेषण)
(हि० बावला, पू० राज० बावळो)।

पोम्म—<पद्म >पउम >पोम्म।

लग्गिआ—<लग्ना, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त, √लग+इअ।

गंडका छंद :—

रग्गणा पलतआ पुणो णरेंद कंतआ सुछक्कएण,
हार एक्क मंतही सुसद्द पाअ अंतही सुसक्कएण।
गंडआ गणेहु ए सुवण्ण सख वीसए फणिंद गाउ,
तीस मत्त पाअ पत्त हार तीअ भाअए सुसद्द आउ ॥१९८॥

१८९. जहाँ प्रत्येक चरण में पहले रगण पड़े, फिर सुंदर नरेंद्र (जगण) पड़े, इस तरह छ. गण हो, (अर्थात् एक रगण फिर एक जगण, फिर एक रगण, जगण, फिर एक रगण, एक जगण पड़े), चरण के अंत में एक हार (गुरु) दो, तथा फिर सुंदर शब्द (लघु) अपने शक्ति के अनुसार दो। इसे गंडका छंद गिनो (समझो), इसमें संख्या में वीस वर्ण होते हैं, प्रत्येक चरण में ३० मात्रा होती है, इसमें तीसरा भाग (⅓ वर्ण) अर्थात् दस वर्ण हार (गुरु) होते हैं, शेष लघु होते हैं।

(गण्डका .— SIS, ISI, SIS, ISI, SIS, ISI, S, I=२० वर्ण, ३० मात्रा=१० गुरु+१० लघु=३० मात्रा)।

टिप्पणी—अंतही=अंतहि, छन्दोनिर्वाहार्थ पदात 'इ' का दीर्घीकरण। <अते। अधिकरण ए० व० का रूप 'हि' विभक्ति।

भाअए < भागेन (=भागकेन) करण ए० व० 'ए' विभक्ति।

---

१९८ सुछक्कएण—C. सुछंदएण। हार—A. B. हारु। मंतही—N. दिज्जही। अंतही—N. किज्जही। ए ·· गाउ—N एहु वङ्कसङ्कसङ्कले फणिन्द गाउ। वीसए—C. ककणे। पाअ—A. B पाउ। °भाअए°—N. °भागए सुसद्द। १९८—C २०१, N २५५।

जहा,

ताव बुद्धि ताव सुद्धि ताव दाण ताव माण ताव गव्व,
जाव जाव हत्थ णच्च विज्जुरेह रंग णाइ एक्क दव्व ।
एत्थ अत्थ अप्प दोस देव रास होइ णट्ठ तोइ सव्व,
कोइ बुद्धि कोइ सुद्धि कोइ दाण कोइ माण कोइ गव्व ॥१९९॥
[गंडका]

१९९ उदाहरण —

बुद्धि तभी तक है, शुद्धि तभी तक है, दान तभी तक है, मान तभी तक है और गर्व भी तभी तक है, जब तक कि हस्ततल में बिजली की रेखा के समान अकेला द्रव्य नाचा करता है। यदि वही द्रव्य अपने दोष से या दैवरोष से नष्ट हो जाता है, तो बुद्धि क्या है, शुद्धि क्या है, दान क्या है, मान क्या है, और गर्व क्या है ?

टिप्पणी—ताव < तावत्, जाव < यावत्।

विज्जुरेह < विद्युद्रेखा। अपभ्रंश में स्त्रीलिंग आकारांत शब्दों में अकारांतता पाई जाती है, दे० भूमिका।

एकविंशत्यक्षर प्रस्तार, स्रग्धरा छंद —

बे कण्णा गंधहारा वलअ दिअगणा हत्थहारा पलता,
एक्कल्ला सल्ल कण्णा पअपअसहिआ कण्णा अंत कंता ।
बीसा एक्कग्गला ज पलइ लहु गुरु भारहा होइ दीहा,
पिंडा बत्तीस अग्गा सउ फणि भणिआ सद्धरा होइ सुद्धा ॥२००॥

---

१९९ बुद्धि—A B. बुद्धि । सुद्धि—A B. सुद्धि । जाव जाव—A B जाव । हत्थ ... दव्व—C ताव जाव हत्थ णच्च सम विज्जु रंग एक्कु दव्व N जाव जाव हत्थ तरल णच्च सम विज्जुरेह एक्क दव्व । देव—A दैव । १९९—C २ १, N १५९ ।

२०० पलंता—C पलांता । एक्कल्ला—C एकल्ला N एकल्ल । पअपअ —N पअपअ° । कण्णा—C कण्णा । बीसा ... गुरु—N बीसा एक्कग्गा कण्ण पअहि लहु गणा । भारहा—N भारहा । सुद्धा—C, N सुद्धा । २०० —C २ १ N १६१ ।

२००. जहाँ प्रत्येक चरण मे आरंभ मे दो कर्ण (दो गुरुद्वयात्मक गण अर्थात् चार गुरु) हों, फिर गंध (लघु) तथा हार (गुरु) हो, तब हस्त (सगण) तथा हार (गुरु) पडे, तब अंत में एक शल्य (लघु) तथा कर्ण (दो गुरु) हों, जिसके साथ ध्वजगण (लघ्वादि त्रिकल ।ऽ) हो, तथा फिर सुंदर कंकण (गुरु) (पडे), जहाँ एक अधिक बीस (इक्कीस) वर्ण हों, जिनमें १२ दीर्घ हों (९ लघु) तथा सब कुल बत्तीस अधिक सौ (१३२) मात्रा हों, वह पिंगल के द्वारा कथित सुंदर स्रग्धरा छन्द है।

(स्रग्धरा :—SSSSISSIIIIIISSISSISS =१२ गुरु+९ लघु (२१ वर्ण) =३३ मात्रा, कुल छन्द ३३×४=१३२ मात्रा)।

जहा,

ईसारोसप्पसादप्पणदिसु बहुसो सग्गगंगाजलेहिँ,
आमूलं पूरिदाए तुहिणकरकलारुप्पसिप्पीअ रुद्दो।
जोण्हामुत्ताहलिल्लं णदमउलिणिहित्तग्गहत्थेहिँ दोहिँ,
अग्घं सिग्घं व देंतो जअइ गिरिसुआपंकेरुहाण ॥२०१॥

[स्रग्धरा]

२०१. उदाहरण.—

शिवजी के मस्तक पर गंगा को देखकर कुपित पार्वती की ईर्ष्या तथा रोष को शान्त करने के लिए उनके पैरों पर बार बार गिरते हुये तथा अपने झुके मस्तक पर रखे दोनो हाथों के अग्रभाग के द्वारा गगा जल से पूर्ण चन्द्रकला रूपी सीप से चन्द्रमा रूपी मोती से युक्त अर्घ्य को पार्वती के चरणों के प्रति अर्पित करते भगवान् शकर की जय है।

टि०—इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है।

नरेन्द्र छंद —

आइहि जत्थ पाअगण पअलिअ जोहल अंत ठवीजे,
काहल सद्द गंध इअ मुणिगण कंकण अंत करीजे।

---

२०१ जोण्हा–C. जोहा, N. जोह्ना। णदमउलिणिहित्ति–N णदसिर णिहिट्ठ अग्गहत्थेहि। व देंतो–A वे देंतो, B व देंतो, K व देत्तो, N. दअन्तो। २०१–C. २०४, N २६२।

२०२. आइहि जत्थ–C. गण पअलिअ, N. आइहिँ जत्थ। इअ–N.

सहइ एक्क भेरि चल्लु खरखइ फुक्कइ संख सुमज्झा,
चामरजुग्ग अंत जहि पअलिअ एहु णरेंदउ कज्जा ॥२०२॥

२०२ नरेंद्र छंद —

जहाँ प्रत्येक चरण के आरंभ में पादगण (भाग) पड़े, फिर जोहल (रगण) रखा जाय, तब सात काहल, शंख, गंध (ये सब एक लघुगण के नाम हैं) दिये जायँ अर्थात् सात लघु हों, तब कंकण (गुरु), भेरी (लघु), किया जाय, तथा बाद में नरपति (जगण) पड़े तथा सुमध्य शंख (लघु) फूँका जाय, जहाँ अंत में चामरयुग (दो चामर, दो गुरु) प्रकटित हों, यह नरेंद्र नामक काव्य (छंद) है।

(नरेंद्र—ऽ।।, ऽ।ऽ,।।।।।।।, ऽ।ऽ।।ऽऽ =२१ वर्ण)

जहा,

फुल्लिअ केसु चंप तह पअलिअ मंजरि तेज्जइ चूआ,
दक्खिण वाउ सीअ भइ पवहइ कंप विओइणिहीआ ।
केअइ धूलि सव्व दिस पसरइ पीअर सव्वइ भासे,
आउ वसंत काइ सहि करिअइ कंत ण थक्कइ पासे ॥२०३॥
[नरेन्द्र]

२०३ उदाहरण —कोई विरहिणी वसंत का वर्णन कर रही है —

किंशुक फूल गया है, चम्पक प्रकटित हो गये हैं आम बौर छोड़ रहा है, दक्षिण पवन शीतल होकर बह रहा है, वियोगिनी का हृदय काँप रहा है, केतकी का पराग सब दिशाओं में फैल गया है सब कुछ पीला दिखाई दे रहा है, हे सखि, वसंत आ गया है, क्या किया जाय, प्रिय तो समीप है ही नहीं।

जुग । अंत N आई । भेरि-A भेरी । चल्लु-A.B चल । फुक्कइ-C फुंक्कइ, N फुरइ । णरेंदउ—A C. णरिंदइ । कज्जा—A B छंदा । २०२—C २०५, N २११ ।

२०३ फुल्लिअ-A B फुल्लिअ । केसु चंप-C. चंपकेसु । पअलिअ-C विअलिअ । तेज्जइ-N तेजिअ । सीअ-C सीअल । सव्व दिस-C दिसे दिसे । पीअर-B पीअर । आउ-C आउ । काइ-C काइँ । सहि B सखि । करिअइ-N करिअउ । २०३—C २०६, २१४ ।

टिप्पणी—तेज्जइ—< त्यजति ।

हीश्रा—<(=हिआ) <हृदय >हिअअ>हिआ, कर्ता ए० व० ।

श्राउ—<आयात, कर्मवाच्य (भाववाच्य) भूतकालिक कृदन्त रूप ।

काइ—<किं (दे०—किमः काइक्वणो वा, हेमचंद्र ८.४.३६७ । साथ ही राज० कॉइ (उ० कॉइ) ।

थक्कइ—<स्थगयति अथवा तिष्ठति ।

पासे—<पार्श्वे (हि० रा० 'पास') ।

द्वाविंशत्यक्षरप्रस्तार, हंसी छंद—

विज्जूमाला आई पाए तिअ दिअगण तह बहु गुणजुत्ता,
अंते कण्णा सुद्धा वण्णा भण फणिवइ कइवर गुणजुत्ता ।
जं बत्तीसा मत्ता थक्के पअ पअ पअलिअ लहु गुरु सोहा,
एसो हंसी णामा छंदो सअल विवुहअण किअ मण मोहा ॥२०४॥

२०४. जहाँ प्रत्येक चरण में आरम्भ में विद्युन्माला (आठ गुरु) हों, फिर बहुगुणयुक्त तीन द्विजगण (अर्थात् तीन वार चार लघु, १२ लघु हों), अंत में शुद्ध वर्ण कर्ण (गुरुद्वय) हो, गुणयुक्त कविवर फणिपति (पिंगल) कहते हैं, जहाँ प्रत्येक चरण में बत्तीस मात्रा हों, जिनमें लघु तथा गुरु की शोभा प्रकटित हो, यह हंसी नामक छंद है, जिसने समस्त विद्वानों के मन को मोहित कर लिया है ।

(हंसी —SSSSSSSS, IIIIIIIIIIII, SS=२२ वर्ण, ३२ मात्रा) ।

टिप्पणी—थक्के<थक्कइ, वर्तमानकालिक क्रिया प्र० पु० ए० व० ।

किअ < कृतं ।

जहा,

णत्ताणंदा उग्गे चंदा धवलचमरसम सिअकरविंदा,
उग्गे तारा तेआहारा विअसु कुमुअवण परिमलकंदा ।

---

२०४ आई—N पाए । कइवर—C करिवर । गुणजुत्ता—C. गणजुत्ता । थक्के—C हत्थ । लहुगुरु—N गुरु लहु । एसो ··· छन्दो—N एसा ··· छन्दो । २०४—C २०७, N. २६७ ।

२०५. सम—C. कर । विअसु—C. विअस । भासे—N. भासा ।

सद्द एक्क भेरि चलु णरवइ फुक्कइ संख सुमज्झा,
चामरजुग्ग अंत जहि पअलिअ एहु णरेंदउ छन्दा ॥२०२॥

२०२ नरेंद्र छंद —

जहाँ प्रत्येक चरण के आरंभ में पादगण (भगण) पड़े, फिर जोहल (रगण) रखा जाय, तब सात काहल, शब्द, गंध (ये सब एक लघुगण के नाम हैं) दिये जायँ अर्थात् सात लघु हों, तब कंकण (गुरु), भेरी (लघु), दिया जाय, तथा बाद में नरपति (जगण) पड़े तथा सुमध्य शंख (लघु) फूँका जाय, जहाँ अंत में चामरयुग (दो चामर, दो गुरु) प्रकटित हों, वह नरेंद्र नामक काव्य (छंद) है।

(नरेंद्र—SII, SIS,IIIIIII, SIISIISS =२१ वर्ण)

जहा,

फुल्लिअ केसु चंप तह पअलिअ मंजरि तेज्जइ चूआ,
दक्खिण वाउ सीअ भइ पवहइ कंप विओइणिहीआ ।
केअइ धूलि सव्व दिस पसरइ पीअर सव्वइ भासे,
आउ वसंत काइ सहि करिअइ कंत ण थक्कइ पासे ॥२०३॥

[नरेन्द्र]

२०३ उदाहरण—कोई विरहिणी वसंत का वर्णन कर रही है —

किंशुक फूल गया है, चम्पक प्रकटित हो गये हैं आम बौर छोड़ रहा है, दक्षिण पवन शीतल होकर चल रहा है वियोगिनी का हृदय काँप रहा है केतकी का पराग सब दिशाओं में फैल गया है सब कुछ पीला दिखाई दे रहा है, हे सखि, वसंत आ गया है, क्या किया जाय, प्रिय तो समीप है ही नहीं।

एअ । अंत N अहँ । भेरि–A भेरी । चलु–A.B चल । फुक्कइ–C. फुंकइ, N पूरइ । णरेंदउ—A C णरिंदउ । छन्दा—A B छंदा । २०२—C १५, N २६१ ।

२०३ फुल्लिअ–A B फुल्लिअ । केसु चंप–C. चंपकेसु । पअलिअ–C *विअसिअ । तेज्जइ–N तेज्जिअ । सीअ–C सीअल । सव्व दिस–C दिसे दिसे ।* पीअर–B पीअर । आउ–C आइ । काइ–C काइँ । सहि B सखि । करिअइ–N करिज्जउ । २०३—C १६, २६४ ।

टिप्पणी—तेज्जइ—< त्यजति।

हीआ—<(=हिआ) <हृदय >हिअअ>हिआ, कर्ता ए० व०।

आउ—<आयात, कर्मवाच्य (भाववाच्य) भूतकालिक कृदन्त रूप।

काइ—<कि (दे०—किम. काइकवणो वा, हेमचंद्र ८.४.३६७। साथ ही राज० कॉइ (उ० कॉइ)।

थक्कइ—<स्थगयति अथवा तिष्ठति।

पासे—<पार्श्वे (हि० रा० 'पास')।

द्वाविंशत्यक्षरप्रस्तार, हंसी छंद—

विज्जूमाला आई पाए तिअ दिअगण तह बहु गुणजुत्ता,
अंते कण्णा सुद्धा वण्णा भण फणिवइ कइवर गुणजुत्ता।
जं बत्तीसा मत्ता थक्के पअ पअ पअलिअ लहु गुरु सोहा,
एसो हंसी णामा छंदो सअल विबुहअण किअ मण मोहा ॥२०४॥

२०४. जहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ में विद्युन्माला (आठ गुरु) हों, फिर बहुगुणयुक्त तीन द्विजगण (अर्थात् तीन बार चार लघु, १२ लघु हों), अंत में शुद्ध वर्ण कर्ण (गुरुद्वय) हो, गुणयुक्त कविवर फणिपति (पिंगल) कहते हैं, जहाँ प्रत्येक चरण में बत्तीस मात्रा हों, जिनमें लघु तथा गुरु की शोभा प्रकटित हो, यह हंसी नामक छंद है, जिसने समस्त विद्वानों के मन को मोहित कर लिया है।

(हंसी :—SSSSSSSS, ||||||||||||, SS = २२ वर्ण, ३२ मात्रा)।

टिप्पणी—थक्के < थक्कइ, वर्तमानकालिक क्रिया प्र० पु० ए० व०।

किअ < कृत।

जहा,

णत्ताणंदा उग्गे चंदा धवलचमरसम सिअकरविंदा,
उग्गे तारा तेआहारा विअसु कुमुअवण परिमलकंदा।

---

२०४ आई—N पाए। कइवर—C करिवर। गुणजुत्ता—C. गण-जुत्ता। थक्के—C. हत्थ। लहुगुरु—N गुरु लहु। एसो ... छन्दो—N. एसा... छन्दो। २०४—C २०७, N. २६७।

२०५. सम—C. कर। विअसु—C. विअस। भासे—N भासा।

मासे कासा सव्वा आसा महुर पवण लहु लहिअ करंता,
हंसा सद्दू फुल्ला बंधू सरअ समअ सहि हिअअ हरंता ॥२०५॥
[हंसी]

२०५ उदाहरण —

शरत् ऋतु का वर्णन है —

नेत्रों को आनंदित करनेवाला धवल चामर के समान श्वेत किरणों वाला चन्द्रमा उग आया है, तेजोयुक्त तारे उग गये हैं, सुगंध से भरे कुमुद खिल गये हैं, सब दिशाओं में काश सुशोभित हो रहा है, मधुर पवन मंद मंद गति से बह रहा है, हंस शब्द कर रहे हैं, बंधूक पुष्प फूल गये हैं, हे सखि शरत् ऋतु हृदय को हरता है।

टिप्पणी—विअसु < विकसितं (कुमुदवनं का विशेषण) कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप।

सद्दू < शब्दायंते। (यहाँ 'ऊ' ध्वनि समस्या है, क्या यह 'सद्दु' < शब्दिता (कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप) का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप है ?)

हरंता (= हरंत का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप) < हरन् ('अस्ति' इति शेष)। वर्तमानकालिक क्रिया के लिए वर्तमानकालिक कृदंत का प्रयोग।

अथोविंशत्यक्षरप्रस्तार, सुंदरी छंदः—

जहि आइहि हत्था करअल तत्था पाअ लहू गुण वण्ण गण्णा,
ठवि चामरआ काहलजुअ संका सल्ल परिट्ठइ बे वि भणा।
पअ अंतहि सक्को गण पभणिज्जे तेइस वण्ण पमाण किआ,
इअ मत्तहि पोमावइ पभणिज्जे वण्णहि सुंदरिआ भणिआ ॥२०६॥

२०६ जहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ में हस्त (सगण), तब करतल

आसा—B वाय। लहु—N. लहू। सरअ—B सरम। २०५—C. २०८, N १९८।

२०६ जहि—N जहिँ। परिट्ठइ—C परिठिअ। भणा—C गणा। इअ—N ऐहु। मत्तहि—C मत्तह। पोमावइ—C पउमावइ। २०६—C. २०९, N २०१।

(सगग) तत्र पाद (भगण), तत्र दो लघु तथा कर्ण (दो गुरु) स्थापित करके क्रमश: चामर (गुरु), काहल युग (दो लघु) तथा चंक (गुरु) हो, तव पहले शल्यद्वय (दो लघु) के बाद पादांत में शक्रगण (पट्कल का चौथा भेद, ऽ।।ऽ) हो, इस प्रकार तेईस वर्ण प्रमाण किये हो, यह छंद मात्रावृत्त में पद्मावती तथा वर्णिक वृत्त में सुंदरी कहलाता है।

टिप्पणी—पभणिज्जे < प्रभण्यते। कर्मवाच्य रूप।

मत्तहि < मात्राभि: (स्त्रीलिंग), वण्णहि < वर्णै दोनों करण व० व० के रूप हैं।

आइहि सगणा बे वि गण तिज्जे सगणा अंत।
भगणा सगणा कण्ण गण मज्झे तिण्णि पलंत ॥२०६ क॥
[दोहा]

२०६ क (सुन्दरी छंद में) आदि में दो सगण हो, अन्त में, तीन सगण हों, तथा मध्य में क्रमश: भगण, सगग तथा दो गुरु होये हैं।

(सुंदरी, ।।ऽ,ऽ।।,।।ऽ,।।ऽ,ऽऽ,।।ऽ,।।ऽ,।।ऽ,=२३ वर्ण, ३२ मात्रा)

जहा,

जिण वेअ धरिज्जे महिअल लिज्जे पिट्ठिहि दंतहि ठाउ धरा।
रिउवच्छ विआरे छल तणु धारे वंधिअ सत्तु सुरज्जहरा॥
कुल खत्तिअ तप्पे दहमुह कप्पे कंसिअ केसि विणासकरा,
करुणा पअले मेछह विअले सो देउ णराअण तुम्ह वरा ॥२०७॥
[सुंदरी]

२०७ उदाहरण:—

जिन्होंने वेद धारण किया, पीठ पर पृथ्वीतल धारण किया, दाँतों पर पृथ्वी स्थापित की, शत्रु के वक्षःस्थल को विदीर्ण किया, छल से (मानव या वामन) शरीर धारण कर शत्रु को बाँधा तथा उसके राज्य

---

२०६ क एतत्पद्य—A C N प्रतिपु न प्राप्यते।

२०७ सत्तु सुरज्जहरा—N सत्तुपआल धरा। तप्पे—N कपे। कप्पे—C. कंपे, N कट्टे। मेछह—N मेच्छह। णराअण—C णराइण, N. णराअणु २०७—C. २१०, N २७२।

का अपहरण किया, क्षत्रियकुल को संतप्त किया, दशमुखों (रावण के दसों मुखों को) काटा, कंस तथा केशी का विनाश किया, (बुद्धावतार में) करुणा प्रकटित की, तथा (कल्कि रूप में) म्लेच्छों को विदलित किया, वे नारायण तुम्हें वर दें।

टि —धरिज्जे, दिज्जे—< ध्रियते, दीयते (*दीयते)।

टीकाकारों ने इनका अनुवाद 'धृत' (धेर'), गृहीतं (गहीअउं) किया है, किंतु ये कृदन्त रूप न होकर कर्मवाच्य क्रिया के तिङन्त रूप हैं।

ठाउ—स्थापिता, 'उ' कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप दे० भूमिका।

विआरे—< विदारितं (रिपुवक्ष'), धारे < धृता (तनु)

कम्पे—< कम्पितं कम्प < कम्पितं (कम्पितानि, भुवनानि)।

पअासे—< प्रकटिता, विमले < विदलिता'।

ये सभी कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत के रूप हैं जिनमें *ए चिह्न पाया जाता है, संभवतः यह कर्ता ब० व० के विकारी रूपवाले ए चिह्न से संबद्ध है।

कुल खत्तिअ—इसकी व्युत्पत्ति दो तरह से मानी जा सकती है। या तो इसे (१) क्षत्रियकुलं मानकर अपभ्रंश समास में पूर्वनिपात वाले नियम की अवहेलना कहा जा सकता है, जो अपभ्रंश की खास विशेषता है, या (२) कुलं क्षत्रियाणां, मानकर 'खत्तिअ' का संबंध कारक ब० व० में शून्य-विभक्ति (शुद्ध प्रातिपदिक) वाला प्रयोग माना जा सकता है। संस्कृत टीकाकारों ने दोनों तरह का अनुवाद किया है। मैं द्वितीय व्युत्पत्ति के पक्ष में हूँ।

चतुर्विंशत्यक्षरप्रस्तार, दुर्मिला छंद —

दुमिलाइ पआसउ वण्ण विसेसउ दीस फणिंदह चारुगणा,
भणु मत्त बतीसह जाणह सेसह अट्ठह ठाम ठई सगणा।
गण अण्ण ण दिज्जइ कित्ति लहिज्जइ लग्गइ दोस अणेअ सही,
कइ तिण्णि विरामहि पाअह पाअह ता दह अट्ठ चउद्दही ॥२०८

२०८. पआसउ—B पआसइ, C पआसहि, N पआसतु। विसेसउ—B विसेसइ, C विसेसहि। दीस—C दीव। चारुह—C चारुगण।

२०८. फणीन्द्र पिंगल दुर्मिला को प्रकाशित करते हैं, यहाँ विशिष्ट वर्ण दिखाई देते हैं, सुंदर गणवाली ३२ मात्रा जानो, तथा आठ स्थान पर सगण होते हैं; इसमें अन्य गण नहीं दिया जाता, प्रत्येक चरण में १०, ८ तथा १४ मात्रा पर कीर्ति प्राप्त करे, (ऐसा न करने पर) अनेक दोष लगते हैं।

(दुर्मिला .—IIS, IIS, IIS, IIS, IIS, IIS, IIS, IIS=२४ वर्ण, ३२ मात्रा, १० मात्रा, ८ मात्रा तथा १४ मात्रा पर यति)।

टिप्पणी—दीस < दीसइ < दृश्यते, कर्मवाच्य क्रिया के मूल रूप (स्टेम) का प्र० पु० ए० व० में प्रयोग।

जहा,

पहु दिज्जिअ वज्जअ सिज्जिअ टोप्परु कंकण बाहु किरीट सिरे,
पइ कण्णहि कुंडल जं रइमंडल ठाविअ हार फुरंत उरे।
पइ अंगुलि मुद्दरि हीरहि सुंदरि कंचणविज्जु सुमज्झ तणू,
तसु तूणउ सुंदर किज्जिअ मंदर ठावह वाणह सेस धणू ॥२०६॥

[दुर्मिला]

२०९. उदाहरण .—

किसी राजा के युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय की सज्जा का वर्णन है :—

ठाम—C. ठाइ। तिण्णि—C तीणि। विरामहि—C विसामहि। पाअह पाअह—C. पाअहि पाअहि। चउद्दह ही—C. चउद्दह री, N. चउद्दह मत्त सही। २०८—C. २११, N २७७।

२०६ सिज्जिअ—N. सज्जिअ। फुरंत—N लुरत्त। मुद्दरि—N मुदरि। सुमज्झ—N सुसज्ज। तूणउ—N दूणउ। किज्जिअ ' ' वाणह—N तावअ णाअअ त खण सुन्दर।

C. प्रतौ एतत्पद्यस्य निम्न पाठांतर प्राप्यते।
पहु दिज्जअ टोप्पर मत्थअ कंकण बाहु किरीट सिरे
पहि कण्णहि कुंडल लग्गइ गंडल वाहअ हार तुरत उरे।
पअंगुलि मुदरि हीरहि मुदरि कचणरज्जु ससज्ज तणू
तसु तूणउ सुन्दरि णावअ पावहि त खणु सुदरि सेस धणू॥

२०९—C. २१२, N २७८।

राजा (प्रभु) ने रणवाद्य (के बजाने की आज्ञा) दे दी, (अथवा प्रभु ने वज्र—हीरों) से युक्त टोप को सिर पर सजाया तथा हाथ में कंकण एवं सिर पर किरीट धारण किया, रविमंडल के समान कुण्डलों को दोनों कानों में पहना तथा वक्षस्थल पर आभास्यमान हार स्थापित किया, प्रत्येक अँगुली में हीरों की मुँदरी धारण की, तथा स्वर्णविद्युत् के समान सुंदर शरीर को सुसज्जित किया।

किरीट छंद—

ठावहु आइहि सक्कगणा सह
सल्ल विसज्जहु बे वि तहा पर,
णेउर सद्दसुअ सह णेउर
ए परि बारह भग्ग गणा कर।
काहलजुग्गल अंत करिज्जसु ए
परि चोविस वण्ण पआसहु,
पत्तिस मत्त पअप्पअ लेक्खहु
अट्ठ भआर किरीट विसेसहु ॥२१०॥

२१० किरीट छन्द का लक्षण—

आरम्भ में एक शक्रगण (ऽ।।ऽ) स्थापित करो, उसके बाद दो शल्य (लघु) दो उसके बाद एक नूपुर (गुरु) तथा बाद में दो शब्द (लघु) तथा फिर एक नूपुर (गुरु)—इस परिपाटी से बारह गणों रचना करो। अंत में दो लघु (दो काहल) करना चाहिए, तथा इस प्रकार २४ वर्णों को प्रकाशित करो। प्रत्येक चरण में ३२ मात्रा लिखो, तथा किरीट छंद को आठ भकार से विशिष्ट बनाओ।

(किरीट छंद—ऽ।।×८)।

टिप्पणी—ठावहु—स्थापयत (√ठाव+हु, आज्ञा म० पु० ब० व०)
आइहि—< आदौ, (आइ+हि, सप्तमी ए० व०)।

---

२१० भग्ग—N भाङ्ग। चोविस—C चउबिह, B N चौविस, K चोविह। पत्तिस—C पतीस। लेक्खहु—M लेख। भआर—N भमार।
२१०—C. २११, M २०६।

२१२. शाल्डूर छंद का लक्षण :—

हे रजनीप्रभुवदने (चन्द्रमुखि), हे कमलदलनयने, हे मनोहरणि, जिस छंद में एक कर्ण (SS) पहले पडे, तत्र चतुर्लघु (द्विज) गणों को स्थापित कर गुर्वन्त चतुर्मात्रिक गण (सगग ।।S) को स्थापित करे, उसे शाल्डूर कहते हैं। इस छंद के प्रत्येक चरण में ३२ मात्रा स्थापित करे, तथा अंत में करतल (=सगण) प्रकटित होता है, और मध्य में द्विजगण (सर्वलघु चतुर्मात्रिक गग) हो । यह छंद मात्रा एवं वर्णों से सुललित (सुंदर) होता है। यहाँ छ: सर्वलघु चतुष्कल किये हैं, ऐसा कविदिनकर (कविश्रेष्ठ) भुजगपति पिंगल कहते हैं।

(शालूर SS, ।।।।×६, ।।S=२९ वर्ण, ३२ मात्रा) ।

जहा,

जं फुल्लु कमलवण वहइ लहु पवण,
भमइ भमरकुल दिसि विदिसं ।
झंकार पलइ वण रवइ कुइलगण,
विरहिअ हिअ हुअ दर विरसं ।
आणंदिअ जुअजण उलसु उठिअ मण,
सरसणलिणिदल किअ सअणा ।
पल्लट्ट सिसिररिउ दिअस दिहर,
भउ कुसुमसमअ अवतरिअ वणा ॥२१३॥

[शाल्डूर]

२१३ शाल्डूर छंद का उदाहरण :—

कोई कवि वसन्त का वर्णन कर रहा है :—आज वन में सरस-

पअलिउ—N वअलिअ । दिअविलअं—N दिअगणअ । पए—C. पअ २१२—C २१५ N २८६ ।

२१३ कुइल—A B कोइल, C कोकिल, K. कुहिल । विरहिअ ··—C विरहिहिआतरुअरु विरस, N. विरहिअगणमुह अइविरसम् । पल्लट्ट—C. N पल्लट्टि । उलसु—A B हुलसि । दिअस—N दिवस । दिहर—N. दिघर । अवतरिअ—N. अवअविअ । २१३—C २१६, N. २६० ।

को छोड़कर भाई एवं पत्नी (सुन्दरी) को साथ ले वन चले गये, तथा जिन्होंने विराध को मारा एवं कबंध (नामक राक्षस) का हनन किया, जिन्हें हनुमान मिले, जिन्होंने बालि का वध किया तथा सुग्रीव को निष्कंटक राज्य दिया और समुद्र बाँधकर रावण का नाश किया, वे राघव तुम्हें निर्भय (अभय) प्रदान करें।

टिप्पणी—बप्पह—< *बप्पु (बप्प + ह षष्ठी ए० व०)।

ठक्कि—< शक्तिः, सिरे-सिर + ए, सप्तमी ए० व०।

जिणि—< येन।

लिज्जिअ—सं० नीता, यह वस्तुतः कर्मवाच्य रूप 'लिज्जइ' से भूतकालिक कृदन्त रूप है। √लिज्ज + इअ (= इआ) स्त्रीलिंग रूप।

तज्जिअ—< त्यक्त्वा, √तेज्ज + इअ, पूर्वकालिक क्रिया रूप।

लगिगअ—< लग्नो (= लग्न), √लग्ग + इअ, भूतकालिक कृदन्त √लग्ग धातु स० के भूत० कर्म० कृदन्त 'लग्ग' से विकसित हुआ है।

मिलिल्लिअ—(= मिलिअ) < मिलिअ (√मिल + इअ भूत० कर्म० कृदन्त); छन्दोनिर्वाहार्थ 'ल' का द्वित्व।

सुग्गीवह—< सुग्रीवाय, 'ह' यहाँ सम्प्रदान (संबंध) का चिह्न है।

शालूर छन्द—

कणअ पढम दिअ सरस सुपअ
धुअ पअहि पलइ तह ठअ वर।
सल्लूर सुमणि मणहरणि रमणिपहु
वअणि कमलदलणअणि वरं।
बत्तीसह कल पअ ठवह पमलिउ
तह मह करअल दिअ विलच्चं।
मत्ता वण सुललिअ लउ पउफल
किअ कइ दिणअर भण सुअअपए ॥२१२॥

---

२१२. सुपअ—O N. पअइ। ठअ—O N. ठविअ। वरं—N वरं। करअल—O. मत मड, N. मड पड। लउ—O. N ठवु।

२१२. शालूर छंद का लक्षण :—

हे रजनीप्रभुवदने (चन्द्रमुखि), हे कमलदलनयने, हे मनोहरणि, जिस छंद में एक कर्ण (SS) पहले पड़े, तब चतुर्लघु (द्विज) गणों को स्थापित कर गुर्वन्त चतुर्मात्रिक गण (सगण ||S) को स्थापित करे; उसे शालूर कहते हैं। इस छंद के प्रत्येक चरण में ३२ मात्रा स्थापित करे, तथा अंत में करतल (=सगण) प्रकटित होता है, और मध्य में द्विजगण (सर्वलघु चतुर्मात्रिक गण) हो। यह छंद मात्रा एवं वर्णों से सुललित (सुंदर) होता है। यहाँ छः सर्वलघु चतुष्कल किये हैं, ऐसा कविदिनकर (कविश्रेष्ठ) भुजगपति पिंगल कहते हैं।

(शालूर SS, |||| × ६, ||S=२९ वर्ण, ३२ मात्रा)।

जहा,

जं फुल्लु कमलवण वहइ लहु पवण,
भमइ भमरकुल दिसि विदिसं।
झंकार पलइ वण रवइ कुहलगण,
विरहिअ हिअ हुअ दर विरसं।
आणंदिअ जुअजण उलसु उठिअ मणा,
सरसणलिणिदल किअ सअणा।
पल्लट्ट सिसिररिउ दिअस दिहर,
भउ कुसुमसमअ अवतरिअ वणा ॥२१३॥

[शालूर]

२१३ शालूर छंद का उदाहरण :—

कोई कवि वसन्त का वर्णन कर रहा है :—आज वन में सरस-

पअलिउ—N वअलिअ। दिअविलअ—N दिअगणअ। पए—C. पअं
२१२—C २१५ N २८६।

२१३. कुहल—A B कोइल, C कोकिल, K. कुहिल। विरहिअ...—C विरहिहिआतरुअरु विरस, N. विरहिअगणमुह अदविरसम्। पल्लट्ट—C. N पल्लट्टि। उलसु—A B. हुलसि। दिअस—N दिवस। दिहर—N. दिघर। अवतरिअ—N. अवअविअ। २१३—C २१६, N. २६०।

कमल दल के बिछौनेवाला वसन्त आ गया है, कमलवन प्रफुल्लित हो गया है, मन्द मन्द पवन बह रहा है; दिशाओं और विदिशाओं में भौंरे घूम रहे हैं, वन में झंकार (भौंरों की गुंजार) पड़ रही है, कोकिलसमूह विरहियों के सामने कठोर स्वर में कूक रहा है युवक आनंदित हो उठे हैं, मन तेजी से उल्लसित हो उठा है; शिशिर ऋतु लौट गया है, और दिन बड़े हो चले हैं।

मत्तारोत्तीर्ण अपभ्रंश, त्रिभंगी —

सव पअहि पढम भणा दहअ सुपिअ
गण भगणा तह अंता गुरुजुग्गा हत्थ पलंता।
पुण वि अ गुरुजुअ लहुजुअ वलअ
जुअल कर अपइ णाआ फणराआ सुंदरकाआ।
पअ पअ तलहि करहि गअगमणि ससि
वअणि चालिस मत्ता पुत्ता एहु णिरुत्ता,
गुणि गण भण सव पअ वसु रस जुअ सअ
पअला तिअभंगी सुहअंगी सज्जनसंगी ॥२१४॥

२१४ त्रिभंगी छंद का लक्षण—हे गजगमने, हे शशिवदने! समस्त पदों में पहले दस प्रियगण (लघुद्वयात्मक गण, ॥) करो, अन्त में भगण (S॥) हो, तब दो गुरु (SS) तथा एक हस्त (सगण ॥S) पड़े, तब फिर दो गुरु, दो लघु, तथा दो गुरु करो। (इस तरह प्रत्येक चरण में ३४ वर्ण हों)। सुन्दर शरीर वाले फणिराज नाग कहते हैं कि इस प्रकार चरण को ४२ मात्रा से युक्त करो। इस प्रकार समस्त छन्द के चारों चरणों में १६८ मात्रा पड़े, वह शुभ अंगों वाली, सज्जनों की प्रिय, त्रिभंगी है।

(त्रिभंगी—॥ × १० + S॥ + SS + ॥S + SS + ॥ + SS = ३४ वर्ण ४२ मात्रा कुल वर्ण १३६, मात्रा १६८)।

---

२१४ दहअ—N दह, B दह अहु, C दह अहु पिअगण। पलंता—C. पलंता। करहि—N करहि। चालिस—N, चालिस। गुणि गण भण—N गणि भण। जुअ सअ—N एस सअ। २१४—C २१७, N १८०।

जहा,

> जअइ जअइ हर वलइअविसहर
> तिलइअसुंदरचंदं मुणिआणंदं सुहकंदं ।
> वसहगमण करतिसुल डमरुधर
> णअणहि डाहु अणंगं रिउभंगं गोरिअधगं ॥
> जअइ जअइ हरि भुजजुअधरु गिरि
> दहमुहकंसविणासा पिअवासा सुंदर हासा ।
> वलि छलि महि हरु असुरविलअकरु
> मुणिअणमाणसहंसा सुहभासा उत्तमवसा ॥२१५॥

[त्रिभंगी]

२१५ त्रिभंगी छन्द का उदाहरण:—

साँपो का कंकण धारण करने वाले, सुदर चन्द्रमा के तिलक वाले, मुनियों के आनंद, सुखकन्द, वृषभवाहन (वृषभगमन), हाथ में त्रिशूल तथा डमरु धारण करने वाले, शिव की जय हो, जय हो, जिन्होंने नेत्र से कामदेव को जला डाला तथा शत्रु का भंग किया और जो पार्वती को अर्धांग में धारण करते हैं। हाथों पर पर्वत धारण करने वाले रावण तथा कंस के विनाशक, पीतांबरधारी, (क्षीर) सागर में निवास करने वाले, पृथ्वी में वलि को छलनेवाले तथा दैत्यों का नाश करने वाले

---

२१५. वसह–A B. वरद । डाहु–N दाहु । गोरि–C N. गौरि । सुंदर-हासा–N. सायर वासा । °हरु–N हलु, C छलिअ महिअ अर । मुणि ·· ·· वंसा–C मुणिजणमाणसहसा पिअउत्तिमवसा । २१५—C २१८, N २८८ ।

निर्णयसागरसंस्करणे २६१ सख्यक निम्नपद्य प्राप्यते । एतत्प्रक्षिप्तं वर्तते ।

अथ सवैया छंदः—

> छद्दह मत्तह पढमहि दिज्जह मत्त एअत्तिस पाए पाअ
> सोलहपञ्चदहहि जइ किज्जह अन्तर ठाए ठाइ ।
> चोवीसा स मत्त भणिज्जइ पिङ्गल जम्पइ छन्दमु सार
> अन्त अ लहुअ लहूअ दिज्जहु णाम सवैआ छन्द अपार ॥ (२६१)

नि० सा० सं० पृ० २२६

मुनियों के मानसहंस, शुभकर्मविधायक, उत्तम वंश में उत्पन्न हरि (विष्णु) की जय हो, जय हो।

वर्णवृत्तों की अनुक्रमणिका

सिरि १, काम २, महु ३, मही ४, सारु ५, तासी ६, पिआ ७, ससी ८, रमणा ९, जाआ पंचाल १०, मइंद ११, मंदर १२, कमल १३, तिण्णा १४, धारी १५, णगाणिआ १६, संमोहा १७, हारीम १८, हंसा १९, जमका २०, सेसा २१, तिल्ला २२, विज्जोहा २३, तह चउरंसा २४, मथाणा २५, संखणारी २६, मालती २७, दमणा २८, समाणिआ २९, सुवासउ ३०, करहंची ३१, ता सीसा ३२, विज्जूमाला ३३, पमाणी ३४, मल्लिआ ३५, तुंगा ३६, कमला ३७, दीसा महालच्छी ३८, सारंगिक्का ३९, पाइत्ता ४०, कमला ४१, बिंब ४२, तोमर ४३, रूअमाला ४४, संजुत्ता ४५, चंपअमाला ४६, सारवई ४७, सुसमा ४८, अमिअगई ४९, बंधु ५०, तह सुमुही ५१, दोधअ ५२, सालिणी ५३, दमणाअ ५४, सेणिआ ५५, मालची ५६, तह इंदवज्जा ५७, उविंदवज्जा ५८, उवजाइ ५९, विज्जाहर ६०, भुजंगा ६१, लच्छीहर ६२, तोलअ ६३, सारंग ६४, मोत्तिअदाम ६५, मोदअ ६६, तरलणअणि ६७, तह सुंदरि ६८, माआ ६९, तारअ ७०, कंदु ७१, पंकावली ७२, वसंततिलआ ७३, चक्कवअ ७४, भमरावलि ७५, तदा सारंगिक्का ७६, चामरु ७७, तह णिसिपाला ७८, मणहंस ७९, मालिणि ८०, सरहो ८१, णराउ ८२, णीलु ८३, तह चंचला ८४, तक्खर बंभारूअक जुता ८५, पुहवी ८६, मालाहरा ८७, मंजीरा ८८ जाणहु, कीलाचंदा ८९, चर्चरी ९०, तह सद्दूला ९१, चित्र सद्दूला ९२, जाणहु, चंदमाला ९३, धवलंगा ९४, सभू ९५,

गीआ ९६, तह गंडक्का ९७, सद्दूरआ ९८, णरिंदउ ९९, हंसी १००, सुंदरिआ १०१, दुम्मिला १०२, मुणहु, किरीट छंदा १०३, तह वे सालूरा १०४, त्रिअ तिभंगी १०५, कइ पिंगल भणिअ पंचगल सउ सव्वा जाणहु धरकइ मुणा हृव्व ।

टिप्पणी—निर्णयसागर प्रति में ९१–९२ दोनों को एक ही संख्या में 'सद्दूलासट्टअ (९१) माना है, तथा बाद में 'सवैआ (१०५)' छंद जोड़कर १०५ की संख्या पूरी की गई है। कलकत्ता प्रति मे 'दोधक (५२) को 'बंधु' से अभिन्न मानकर उसे 'दोधक ५०' लिखा है। इस तरह वहाँ १०४ संख्या होती है। 'कइ पिंगल ·· ' इत्यादि वाक्य कलकत्ता प्रति में नहीं है। कलकत्ता संस्करण की एक संस्कृत टीका भी संख्या १०४ ही मानती है—'चतुरधिकशतं वृत्तं जल्पति पिंगलराज. ।' (कलकत्ता संस्करण पृ० ५९३)

वड़ौदा से प्राप्त हस्तलेख (O) के अनुसार पाठान्तर

मात्रावृत्त प्रकरण

१. पढम—पढम । जअइ—जअई ।

२. जिण्णो—जिणो ।

५. इहिकारा—इहिआरा । असेस, सविहास—असेस वि सविहास ।

६ माणहिँ—माणहि । काइँ—काइ । करिए—करिअए ।

७ सद्दज—सद्दजे । तुह—तुहुँ । °हृदहिँ—°हृदहिं । उल्हसत—उल्हसत ।

८ वण्णो—वणो ।

९. छोड्डि—छोटि । तइँ—तइ । इथि—इत्थि । णदिहिँ—णइ । चाहहि—चाहसि ।

१० तेम ण ..तुला—तेम ण तुला ।

११ कव्व—कव्य । °खग्गहिँ—°खग्गहिं । जाणेइ—जाणेई ।

१२ छप्पच°—छपच° ।

१३. भेआ अट्ठाइ—भेओ अट्टाइ । डगणस्स पच भेआ—°भेओ । वे—वे ।

१४ हेट्ठठाणे—हेट्ठठाणे । गुरुलहू—गुरुलहु ।

१५. कलिचदो—किणी अधो । छमत्ताण—छमत्ताइ ।

४५. (अथ वर्णपताका) अक—अके । पत्थरसख—पत्थरसखे ।

४६. (अथ मात्रामेरु) कोट्टा—कोठा ।

४७. उत्ररल—उअरल । वुज्झहु वुज्झहु—वुज्झउ वुज्झउ ।

४८ (अथ मात्रापताका) ले—लइ । लोप—लोपे । आणहु—जाणहु । तिणि लोपे—तिण लोपे । गाव—गावहु । मिलाव—मिलावहु ।

४९ (अथ वृत्तस्य लघुगुरुज्ञान) पूच्छल—पूछल । वण्ण—अक । मिटाव—मेटाव । जाणिव्वउ—आणिव्वउ ।

५० (अथ सकलप्रस्तारसंख्या) सहस्साइँ—सहस्साइ । वाआलीस—वाआलिस । समग्गाइँ—समगाइ ।

५१. चउअण्ण—चउण । सत्तावण्णी—सत्तावण्णी । उग्गाउ—उगाहहु । कल—कला । किज्जइ—दिज्जइ । सिंहिणी—सीहिणी । अग्गल—अग्गा । खंध—खिंध ।

५२ वीसाइँ—वीसाइ । जुअलाइँ—जुअलाइ ।

५३ कित्ती—कीत्ती । जाव .—जाव अ अप्प ण दसेई ।

५४. अट्ठारहेहिँ—अट्ठारहेहि ।

५५. जिविज्जइ—जिविज्जिअ । अणुणिज्जइ—अणुणिज्जिअ । कआवराहो—किआवराहो । अग्गी—अगी ।

५६. छट्ठ—छठ्ठ ।

५७. मत्ताइँ—मत्ताइ ।

५८ रेहाइँ—रेहाइ । लच्छी—लछी ।

५९ तीसक्खराहिँ—तीसक्खराहि । लच्छी—लछी । णामाइँ—णामाइ ।

६०-६१. रिद्धी—ऋद्धी । धाई—राई । विसा वासीआ—विसाअ वासीआ । सिद्धी अ हसीआ—सीही हसीआ ।

६२ वी—विय । अहिवरलुलिअ—अहिवरलुलिअ । चउत्थए—चउपआ ।

६३ णाअक्केहिँ—णाअक्केहि ।

६४ भणिआ—भणिआ । वेसी—वसि ।

६५. पआसेइ—पआसेई ।

६६ मत्ताइँ—मत्ताई । पच्छिम—पछिम । दलेण—दलेहि । जपिअ—भणिअं ।

६७ तुम्ह—तुम । घणु अ—घणुइ ।

१४७ मतिवर—मल्लवर। चलिश्र—चलिश्र। हम्मीर—हवीर। पाश्र-भर—पाश्रभरे। श्राण—श्रणु। दरमरि .—दमलि दमसु विप्पक्ख।

१४८. न प्राप्यते।

१४९ मत्त चारि—चारि मत्त। गणह—गणश्र।

१५० दिज्जहु—दिज्जहि।

१५१. मालवराश्र—मालउराश्र। रिउगणह—रिउगण।

१५३ दिज्जइ—दिज्जिश्र। तिणि—वे वि। तहँ—ताहि। लइ—लए।

१५४. कइ—कहु। एक्कइ—एक्कलु।

१५५ दाणव—दाणउ। देव—देउ।

१५६–१५७ न प्राप्येते।

१५८, णव—णउ। जिम—जेम। रगण—रश्रण।

१५९. णव—णउ। तत्थ—तरणि।

१६०. श्रहि .—महि ललइ श्रहि पलइ गिरि चलइ। मुश्रल .—भल जिविश्र उठ्ठए। धुमइ—चलइ।

१६१- सह—हस।

१६३. लहु—वहु। कुहर—गुहर। कइ—कत।

१६४. णव—णउ। श्रतए कएणो—श्रतक्कएणो। सेसवि—सेसम्मि।

१६४ णव—णउ।

१६६. गणश्र—मलश्र।

१६७ श्रतह दिज्जइ—श्रतहि ठिश्रा।

१६९ सेवश्र—सेइक। जइ—जए।

१७०. जमक—जमश्र।

१७१ गुणवति—गुणमति।

१७२ एहु—एम।

१७३ पढम दल—पश्र पश्र।

१७४. छाश्रण—छाएण। विमल—निविड। वित्तक—वित्तकं।

१७६ सुभम—सुक्ख।

१७७ ग्यारह—रुद्दह।

१७८ लोलइ—लूलइ।

१७९ हिश्रश्रतले—हिअश्ररए।

१८०. दिश्र—दिग। लोरहि [illegible] ारहि। सरवरु—सरश्ररु। कमल—कमल।

२०६. धणेश—धणेस। जस हि° —जासु टेश्रावा। देव—देउ। हो तसु भग—होत सुभग। २०९–१९८।

चर्णवृत्त प्रकरण

१. दीहा वीहा—गौहा वीहा।

३. सुब्भ—सूह।

८. रखो—रक्खो।

१० सुब्भ—सुभ्भ।

११. कण्णो—कण्णा। तिव्वण्णो—तीवण्णा।

१२. तुम्हाण श्रम्हाण—श्रह्माण तुह्माण। रक्खे—रक्खो।

१५. यो—गो। जणीश्रो—श्रणीओ।

२०. सघारि—संहारि।

२२. स कृत—सुकृत।

२८. इण्णो—रण्णो। पुत्तो धुत्तो—पुत्ता धुत्ता। जुत्तो—जुत्ता।

२६. वि—स।

३०. सुब्भ—सुभ्भ।

३१. णगाणिश्रा—गगालिश्रा।

३२ पसएण—पसण्णि। फुरतश्रा—फुरतती।

३३, हारा—हारो। सारा—सारो।

३४. तेल्लोक्का—तिल्लोश्रा। सोक्ख—सुक्ख। देऊ—देउ।

३५. हारीश्र छदो—हारीश्र बधो।

३६ भत्तिमत्ता—भत्तिजुत्ता। धम्मेक्कचित्ता—धम्मेकचित्ता।

३७ पिंगल—पिंगले।

३८. मह—महु। चलावे—डोलावे।

३६ गुण—मण। भण—गुण।

४२. हम्मारो—सहारो। सहारो—हमारो,

४३ तिल्ल—डिल्ल।

४५ पचा—पच।

४६ णिब्भश्रा—णिम्भआ।

४८ न प्राप्यते।

४६ भुअणश्रणदो—गश्रणश्रणदो। °कदो—°वदो। कण्हो—कह्नो।

५१ पढीश्र—पढित्त।

९०. पिंगल—पिंगले। सइ—सोइ। छद—छदु।

९१. सपुहा—सपुला। णहु—णिहु। आविश्र—आइहि।

४२ ए गुरुजुत्ता—हारसजुत्ता। करीजे—करिज्जे। ठवीजे—ठविज्जे। कहीजे—करिज्जे।

९३ पुणवता—पुणमंता।

९४ चोद्दह—चउदह।

९५ इक्क—इक्के।

९६ पढमो—पअलो। चउथो—पअलो।

९७. भोहा—भउहा। वेसे—कइसे। ताका—ताको।

९९. °सुधाअर—सुहाअर। विअअ°—विमल°। मअगल°—मअगअ°। दिट्ठिअ—दिट्ठउ।

१०० कहीजे—करीजे।

१०१ पडउ—पडउ। धरीजे—करीजे। धम्मक दिज्जे—धम्म करीजे। मिटावा—मेटाआ। १०१–१००।

१०२ जप—जपु। कइवर जाणइ—कइअणवा लहिहो।

१०३ अवसउ—अउसउ।

१०४ छद फणी पभणीजे—छदु फणिदे भणीजे।

१०५ धारिअ—ठाविअ। तुइ—महु।

१०६ विसज्जे—विसज्जो। गणिज्जे—मुणिज्ज। मुणिज्जे—भणिज्ज।

१०७ खज्जए—खज्जिए।

१०९. परिणअ°—पअलिअ°।

१११ टप्पु—टप्पे। जिण्णि—जीणि। वदि—वध।

११२ दिट्ठा—दिण्णा।

११३. णीला—गाइ।

११६ सुहव्वण्णसिट्ठा—°सट्ठा।

११९ उवजाइ—उअजाइ।

१२०. बालो कुमारो—बाल कुमारः। विसं—विख। भवित्ती—भवित्री।

१२२ छण्णावेआ—छेण्णावेआ।

१२३ गोरी—गारी। तुम्हा भत्ती—उम्मा मत्ता।

१२६ पाश—फास। भोहा—भउहा।

१२८ लुठिआ—लुलिआ। मोडिआ—मुडिआ।

१३०. मही—देही। रण—रणे।

जहा, पर जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चंदणरसो,
णदक्खारो हारो मलअपवणा देहदवणा।
मिलाणी वाणीली जलदिव जलद्दा तणुलदा,
वइट्ठा ज दिट्ठा कमलवअणा दीहणअणा ॥१७८॥
सिहरिणी

दिअपिअ गुरु गव्वक्खणा लआरा ठवीआ तहा,
पुणवि चमर दुण्ण सद्दा सुसज्जा करीआ तहा।
तह वि अ णिअ दुण्ण वका वि सखावि हारा दिए,
कमलवअणि मोत्तिहारा फणिंदा भणिआ पिए॥

जहा, अमिअवमिअ चंदविंबमुही पेक्खतिस्सा जहा,
विमलकम फुल्ल ओल्ला अणेत्ता फुरता तहा।
दसण वितत्तिसुद्ध कुन्दा कणीआ धरीआ जहा,
अहरविमलबंधु फुल्ले सरिस्सा करीआ तहा ॥१८०॥
मोत्तिहार

१८०. लाए—जाए। १८०-१८१।

१८१ उच्चा—उठ्ठा। हारा—हावा। १८१-१८२।

१८२. ज वण्णा—तरडा।

१८३. णच्चत—गाचत। फारफेक्कार°—फेरफक्कार°। जुर्भता—जुलता।

१८४. धारि—वालि। णाअर—गूरिस।

१८६ चोआलीसह .... मुणो—एआलीसह णाम पिंगल कई सद्दूल सो सट्टओ। १८६-१८७।

१८९. अत कहिअ सद्दूलविक्कीडिअ—अतकरणे सद्दूल सट्टा मुणो।

१९०. ठइवि—ठइ।

१९१ धणु धरइ—वरइ धणु।

१९३ जणजिअणहरा—जणजिउणहरा। हम—हमे।

१९५ वुड्ढा—वृद्धा। रुसइ—रोसइ। थप्पीआ—थक्कीआ।

१९७ जह—जहि।

२०० मुद्धा—सुद्धा।

२०२ इअ—एम। फुक्कइ—फुंक्कु।

२०३ चप—चद।

परिशिष्ट

(प्राकृतपैंगलम् की संस्कृत टीकायें)

परिशिष्ट (१)

रविकर उपनाम श्रीपति कृत पिंगलसारविकाशिनी टीका

[मात्रावृत्त प्रकरण]

श्री गणेशाय नमः ॥ ॐ नमो महेश्वराय ॥

गौरीकल्पलताविभक्तवपुषं श्रीकंठकल्पद्रुमं
भक्तानामचिरादभीष्टफलदं नत्वा सतां प्रीतये ॥
वेदे वृत्तमदीपयद्ग्रथितवान् यो वृत्तरत्नावलीं
श्रीमत्पिंगलनागराजरचनां व्याख्याति स श्रीपतिः ॥१॥

तर्काभियोगरणकर्कशता मतौ चेत्सूक्तिः कुतोऽत्र (१ य) मधुरा मधुरा न मत्रे ।
दृष्ट यतोस्ति सुकुमारशिरीषपुष्पे वृन्तं निसर्गकठिनं खलु चित्ततोऽपि ॥२॥

टीकाऽस्ति पिंगलग्रंथे यत्रप्यन्या पुरातनी ।
विशेषं तदपि ज्ञात्वा धीराः पश्यत मत्कृतिं ॥३॥

इमां छन्दोविद्यां सदयहृदयः प्राह गिरिशः
फणींद्रायाख्यातः स गरुडभिया पिंगल इति ।
द्विजस्यास्य स्नेहादपठदथ शिष्योतिसुमतिः
स्वकातां संबोध्य स्फुटमकथयत्सोखिलमिदं ॥४॥

१ इहाथात. सुमतिस्तां विद्यामधीत्य छंदोग्रंथं साधारणजनोपयोगार्थमपभ्रंशेन चिकीर्षुस्तस्य विघ्नविघातद्वारा समाप्तिकामः स्वगुरोः पिंगलाचार्यस्योत्कीर्तनरूपं शिष्टाचारपरिप्राप्तं मंगलमादौ कुर्वन्नाह ।

जो विविह इति—

प्राकृता नाम देवी वाक्तद्भव प्राकृतं विदुः । अपभ्रष्टा च या तस्मात्सा त्वपभ्रंशसंज्ञका ॥ तिङंते च सुबंते च समासे तद्धितेपि च । प्राकृतादल्पभेदैव अपभ्रष्टा प्रकीर्तिता ॥ देशभाषां तथा केचिदपभ्रंशं विदुर्बुधाः ॥ तथा, संस्कृते प्राकृतेवापि रूपसूत्रानुरोधतः । अपभ्रंशः स विज्ञेयो भाषा या यत्र लौकिकी ॥

यो विविधमात्रासागरपारं प्राप्तोपि विमलमतिहेलं । प्रथमं भाषातरंडो नागः स पिंगलो जयति ॥ अस्यायमर्थः । स नागः पिंगलो जयति उत्कर्षेण वर्त्तता

(बर्धतां) । एतेन तदधीनसमुद्रे यत्नना समुद्रिमार्गमानेन नासांसनीया गुरव इति दोषो न स्यात् । स च मो विमलमतिर्देवं यथा स्यादेवं विविधमात्रासागर पारं प्राप्तोपि । अपि संभावनायां अवधारणे इति प्राञ्चः । विविधमात्रा गुरुलघु रूपा सैव सागरो दुर्विज्ञेयत्वात् । मात्रासाम्येनात्र वर्णस्यापि प्रश्नं तस्य मात्रार्थद तत्वात् । तथाहि, एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते । त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकं ॥ निर्मलबुद्ध्या अनायासेन गुरुलघुरूपमात्रावर्णसमुद्रस्य पारं तीरं गत (।) येपक्षं गत । इह ग्रंथे आदौ मात्रोच्चार्यर्तनाम्मात्राया एव प्राधान्यादत्रोपन्यास इत्यन्ये । प्रथममादौ भाषातरंडः भाषा लौकिकप्रयोग भाषा एव तरंडा नौर्यस्य स । तथा भाषाकवित्वे पिंगल एव आद्यकविरिति प्रसिद्धमेव । भाषाभाषाशब्दयोः हृस्वत्वं । पादप्रतिनी तरंडा नौरिति हारावली । तथा च प्रसिद्धि । कुसुमोदर्गवस्य पुरस्तात् प्रबोधवचनेन प्रत्युपकारवनमभावेन एकदैकत्र लिखितं द्वितीयस्थाने द्रष्टव्ये तदैव गरुत्मता पिंगलो भोक्तव्य इति व्यवस्थाप्य (सा) षड्विधतत्प्रस्तारं कृत्वा समुद्रे निर्ममे पारं गत्वा आत्मानं रक्षितवान् । ततो देशान्तरमपि । पिंगलो जयति । यो विमलमतिर्देवं यथा स्या देवं विविधमात्रासागरमपि प्राप्तः नानाविधमात्रैव सागर इत्युमानपूर्वपदः कर्मधारय एव उपमानानि सामान्यवचनैरिति समासः । अवधारणविशुद्धमात्राराय भाषासागरयोः साम्यं । कथंभूता पापो शव धर्मबुद्ध्येन । अपिच्छतात् प्रायशम्भवन (भावा) वैपयारी भिक्षुक शेषनागस्त्वेन जाता । शा च इति वाक्यं यथा राज्ञी राज्ञी । तर्हि सागरपारं कथं प्राप्त इत्याह । प्रथमं भाषातरंडा आदौ प्रबोधवचनमेव तरंडा नौका यस्य स तथोक्तः ॥

१ ननु गुरुलघुरूपमात्रासागरे को गुरुः को लघुरित्याह दीहो इति दीर्घः संयुक्तपरो बिन्दुयुता पादितश्चरणान्ति स गुरुर्वक्ष्ये द्विमात्रो अन्यो लघुर्भवति शुद्ध एककलः । अयमर्थः । स गुरुर्भवति त्रिमात्रस्य द्विमात्रो मात्राद्वयस्य ... कीदृशो सेवनीया ... । ... दीर्घो हस्वेतरः । तेन प्लुतोपि गुरुः । आकारादिप्रभृति संध्यक्षराणि गुरुरित्येव । अपरः तथा बिन्दुयुतो वर्णो गुरुः । संयुक्तः परो यस्येति बहुव्रीहिः । यथा पृथ्वामव इत्यत पकारस्य गुरुत्वं । बिन्दुना बिंदुना वा युत इति समासादनुस्वारविसर्गयोग्रहणं । विसर्गोत्तरस्याप्यग्रे प्रभवाद्विविधेप्य नोक्त । संस्कृते तथाप्युपलक्षणमिति । पादितश्च चरणान्ते, च शब्दो विकल्पार्थः । तेन पादान्ते वैकल्पिकोयं विधिः । उक्तादन्यो वर्णं एकमात्रारूपो वा पञ्चमात्रो वा लघुर्भवति । स चैककलात्मकः । कथं विन्यसनीयमित्याह । शुद्धः सरलो देवाकार इति भावः ॥

२ उदाहरणैम स्पष्टीकरोति माई इति दश्यशेराहाना । हे मातः त्वं शंभु

कामयमाना सा गौरी गर्हितत्व (? ग्रहिलत्वं) करोति। वरगुणरहित पतिमिच्छ-तीत्यर्थः। त क यो देवमात्राख्यप्रसिद्धो रूपेण सौदर्येण हेयो विरूपाङ्गत्वात्। हीनोऽकुलिनो अलक्ष्यजन्मत्वात्। जीर्णो जरातुरो रोगादिना कठस्थितविपत्वाद्वेति शेषः। महावृद्ध इत्यर्थ. कदाचिद् ब्रह्मणोप्याद्यत्वात् ॥

४. गुरोरपवादमाह कत्थवि इति। कुत्रापि सयुक्तपरो वर्णो लघुर्भवति दर्शनेन लक्ष्यानुरोधेन। यथा उदाहरति परिस्खलति चित्तधैर्ये। तरुणीकटाक्षे निर्वृत्त सगत। उद्दत्यादित्युत्व। परिल्हसइ इत्यत्र सयुक्तपरतया गुरुत्वे गाथालक्ष-णविरोधापत्तेः ॥

५. गुरुताविकल्पमाह इहिआरा इति। इकारहिकारौ बिंदुयुक्तौ, एओ शुद्धौ वर्णमिलितावपि लघू। रहव्यजनसयोगे परत. अशेषमपि सविभाष। एतदशेष सविभाष सविकल्प लघु भवति यथासन्निवेशं लघु गुरु च भवती-त्यर्थ.। एतत् कतमत् इकारहिकारौ सानुस्वारौ ए ओ इत्येतौ अचौ शुद्धौ केवलौ चकारादौ मिलितावपि च लघू भवतः। रह इत्येताभ्या हल्भ्या यः संयोगस्तस्मिन् परत. पूर्वमक्षर च अथवा परत्र पदाते अशेषमपि सविकल्प गुरुत्वमापद्यते। सिंहिणी छदः।

६. उदाहरति यथा माणिणि इति। सखी वदति। मानिनि, मानैः किं फल, एष यदि चरणे पतित कात.। एओ जे इति वारेंद्री भाषा। एष यदीत्यर्थः। अत्रार्थांतरन्यासः। सहजेन भुजगमो यदि नमति तदा मणिमत्रौ किं कुरुतः। तावन्मान. प्रकर्तव्यो यावत्पादानतो भवेदिति भरते मानकाल. प्रियप्रणिपातपर्यंतः कथित.।

७ रहव्यजनसयोगे यथा उदाहरति, चेउ इति। हे चेतः, सहजेन त्व चचलसुन्दरि(? री)हृदये वलत् सत्। खुल्लणा इति देशीयभाषा अज्ञे वर्तते। हे अज्ञ पदमपि न ददासि क्रीडसि पुनरुल्लसत्। वैकल्पिकी विभाषा।

८ अपर विशेषमाह, जइ इति। यदि दीर्घोपि च वर्णो लघुजिह्वया पठितो भवति सोपि लघुः। वर्णोपि त्वरितपठितो यदि तदा द्वौ त्रीनपि वर्णानेकं जानीत। गाथा छदः।

९. उदाहरति अरेरे इति। हे कृष्ण, क्षुद्रा नाव वाहय संचाल्य दुख न देहि। त्व अस्या नद्या सतार्य यत्प्रार्थयसि तद्गृहाण। नाविकबुद्ध्या रे इति संबोधनं युक्त। प्रथमप्रतीके लघुजिह्वया एतत् लघुत्व। द्वितीयप्रतीके डगमगेत्य-नुकरणशब्दार्थोयमकारगकारमकाराणा त्वरितपठितानामेकवर्णता।

१० किमनेन परिश्रमेणेत्यत आह। जेम ण इति। यथा न सहते कनक-तुला तिलतुलनामर्द्धार्द्धेन इत्थ न सहते श्रवणतुला अपच्छद छदोभगेन। यथा

१५. अथ षट्कलप्रस्तारे गणाना नामानि, हर, इति। हरः १ शशी २ शरः ३ शक्रः ४ शेष. ५ अहि' ६ कमल ७ ब्रह्मा ८ किणिग्रध ९ ध्रुव १० धर्मः ११ शाली १२ चरः १३ एते त्रयोदश इष्टदेवता षण्मात्रे प्रस्तारे जाताना त्रयोदशगणाना ज्ञातव्या' । एतदीयत्वेन एतान्येव नामानि तेषा गणाना बोद्धव्यानि। प्रयोजनमग्रत एव हि। ते ते शब्दाः प्रत्येक ज्ञेयाः।

१६. पचकलप्रस्तारे गणाना नामानि, इंद्रासण इति। इन्द्रासनः १ अपरशूर' २ चाप. ३ हीरश्च ४ शेखरः ५ कुसुम. ६ अहिगणः ७ पापगणः ८ ध्रुव निश्चित पचकले गणे कथिताः, अर्थाद्देवता' ।

१७. चतु'कलाना गणाना नामानि, गुरुजुअ इति। गुरुयुग. कर्णः १ गुर्वंत करतल २ गुरुमध्य. पयोधर' ३ आदिगुरुर्वसुश्चरणः ४ विप्र' सर्वलंघुभिः ५।

१८ अथ त्रिकलाना त्रयाणानामेकैकया गाथया नामानि, धअ इति। लघुकालत्वेन आदौ लघु विन्यस्य त्रिकलप्रस्तारे प्रथममेतानि नामानि हे पण्डिताः जानीत यूयमित्यर्थ.। नामान्यस्य ध्वज चिह्न चिरंचिरालय' तोमर तुम्बुरपत्रं चूतमाला रस वासः पवन. वलय लघुकालत्वेनेति विषमकलप्रस्तारे प्रथमतो लघुर्लेखनीय इत्यभिप्राय पिंगल. स्फुटीचकार।

१९. मध्यगणस्य नामानि, सुर इति। सुरपतिः पटहः ताल करताल. आनंद' छदः निर्वाण ससमुद्र। कथ समुद्रेण सह वर्तत इति ससमुद्र।

२०. अथातगणस्य नामानि, भावा इति। अस्य त्रिलघुगणस्य इति नाम कविवर. पिंगलो भणति भावः १ रस २ ताण्डव ३ नारी ४ कुलभावि (मि) नी ५ एतन्नामपचक त्रिलघुगणस्येत्यर्थ ।

२१ द्विकलप्रस्तारे गुरुर्लघुयुग च भवति तत्र गुरोर्नामानि णेउर इति। अनेन गुरोर्नामानि भवति, नूपुर १ रसना २ आभरण ३ चामरं ४ फणी ५ मुग्धा ६ कनक ७ कुडलक ८ चक्र ९ मानस १० वलय ११ हारावलीति १२।

२२ लघुयुगरूपगणस्य नामानि, णिअ इति। द्विलघोर्गणस्य समासकविदृष्ट संक्षेपकविदृष्ट नाम, निजप्रिय. १ परमप्रियः २ सुप्रिय. ३। समासकविः पिंगल अल्पाक्षरेण प्रचुरार्थप्रतिपादकत्वात्। अथ यद्यपि चतुर्मात्राप्रस्तारे प्रतिगणमेकैकानि कथितानि नामानि तावता शास्त्रव्यवहारो न स्यादिति पुन. प्रतिगणमेकैकया गाथया फणिराज प्रतिगण भणति।

२३ सुरअलअ इति। तस्य चतु कलप्रस्तारेण व्यक्तीकृत्य कथितस्येत्यर्थ'। कर्णसमानेन यथापूर्वं कर्ण इति नाम तथा तत्समानेनैव नामसमूहेन लक्षितोऽय गणः। सुरचलक गुरुयुगल रसिकमनोलग्न मनोहरणं सुमति लम्बित लहलहित।

२४ गुर्वेकगणस्यैतानि नामानि, कर इति। करः १ पाणिकमलं २ हस्तः ३ बाहुः ४ भुजदण्डः ५ प्रहरणं ६ अशनिः ७ गजाभरणं ८ रत्नं ९ नाना भुजाभरणानि।

२५. मध्यगुरुगणस्यैतानि नामानि, भुअ इति। भूपतिः १ अश्वपतिः २ नरपतिः ३ गजपतिः ४ वसुधाधिपः ५ राजा ६ गोपालः ७ अमरो नायकः ८ चक्रवर्ती ९ पयोधरः १० पवनः ११ नरेंद्रः १२।

२६ गुर्वादिगणस्यैतानि नामानि, पअ इति। पदः १ पादः २ चरणयुगलं ३ चमरं प्रकरणमपि गंडः ४ तातमहः ५ तात ६ पितामहः ७ रहनः ८ नूपुरः ९ रत्नं १ वंशयुगलेन ११।

२७ अथ चतुर्लघुगणस्यैतानि नामानि, पठमं इति। प्रथमं ईदृशि विप्रः १ द्वितीये शरः २ पंचमादिविविधाकारेण द्विजवरः ३ चरमे चतुर्थे पादे भवति चतुर्लेन (१ म) लघुकेन (१ न)।

२८. पंचकलानां प्रत्येकं नामानि, मुणरेंद इति। मुनरेंद्रः १ अहिः २ कुंजरः ३ गजवरदंती ५ अथ मेघः ६ ऐरावतः ७ तारापतिः ८ गगनं च ९ सर्प १ सरूपः।

२९ मध्यलघुकस्य पंचकलगणविशेषस्य नामानि पक्खि इति। मध्यलघुके गणे एतानि नामानि विजानीहि। एतानि कानि पक्षी १ विराजः २ मृगेंद्रः ३ वीणा ४ अहिः ५ पदः ६ अमृतं ७ योद्धा ८ सुकर्णः ९ पन्नगाशनः १ गरुडः।

३ पुनः पंचकलगणमात्रस्य नामानि वसु इति। वसुविविधप्रहरणेना-नाविधायुधवाचकैः शब्दैः पंचकलो गणो भवति। पंचकले संक्षेपेणोक्तं वसु कथं संस्थापयति। गजरथेति, गज १ रथ १ तुरंग ३ पदाति ४ नाम्ना चतुर्णां भिन्नान् गणान् जानीहि।

३१-३२ अथगुरोर्द्विकलप्रस्तारे कवितामपि नामानि गुरुलघुनामकथन प्रस्तावे स्मारयति, ताटंक इति। ताटंकहारनूपुरकेयूराणि भवंति गुरुभेदाः। गुरोर्ना-मानि भवंतीत्यथः। शरमेरुदंडयष्टिधनुर्णकलापानि रूपाणि लघोः लघोर्नामानि शर इति शरः मेरुः दंडः काहलः अन्ये च ये आयुधाभिधायिनः शब्दाः कनककमलादयः रूपवर्णपरसरादयः कुसुमवाचिनश्च ये शब्दास्तैर्गुरुमेव जानीत।

३३ अथ वर्णगण, मोति इति। मो मगणस्त्रिगुरुः नो नगणस्त्रिलघुः लघुगुर्वादी यभौ लघुगुरौ यगणे गुरुलघो भगणे जगणे मध्यगुरुः। रगणे मध्यलघुः सगणः पुनरंत्यगुरुः तगणेऽपि अंत्यलघुकेन भवतीत्यथः।

३४ अथ गणाना देवता आह, पुहवीति। पृथ्वी १ जल २ शिखी ३ वातः ४ गगन. ५ सूर्य. ६ चद्रमा ७ नाग. ८ एता अष्टगणे इष्टदेवता यथासख्य मगणादित. पिंगलेन कथिताः।

३५ अथ गणाना मित्रामित्रादिक निरूपयति, मगणेति। मगणनगणौ मित्रे भवत.। यगणभगणौ भृत्यौ भवतः। जगणतगणौ उदासीनौ भवतः। अव-शिष्टौ सगणरगणौ अरी भवतः।

३६ अथ गणनां फलानि, मगणेति। मगण' ऋद्धि स्थिरस्कधत्व च ददाति। यगण' सुखसपद ददाति। रगणो मरण सपादयति। जगणः खरकिरण सताप विसर्जयति। तगण. शून्य फल कथयति। सगणः स्वदेशादुद्वासयति। भगण. अनेकमगल स्थापयति। पिंगलकविर्भाषते, यावत्काव्य गाथा द्विपदीं च जानासि तत्र यदि नगण प्रथम भवति तदा तस्य ऋद्धि. बुद्धि सर्वे स्फुरति रणे दुस्तर तरति। तत्र यदि नायकस्य क्रियते तदा तत्कृत मदभद्रफल। देवताना क्रियते चेत्तत्र न गणविचारः।

३७ अथ कवित्वादौ गणद्वयविचारे फलान्याह, मित्ते इति। कथमपि ग्रन्थादौ मदो गणो भवति तदा तद्रक्षार्थं गणद्वयविचार' क्रियते। यदि मित्रगणान्मित्रगण एव भवति तदा ऋद्धि बुद्धि च ददाति। यदि मित्रगणात् भृत्यगणो भवति तदा स्थिरस्कधत्व युद्धे निर्भयत्वं च ददाति। यदि मित्रगणादुदासीनगणो भवति तदा कार्यवधो न भवति। यदि मित्रगणाच्छत्रुगणो भवति तदा गोत्रजा बान्धवाश्च पीडयते। यदि भृत्यगणान्मित्रगणो भवति तदा सर्वं कार्यं भवति भृत्यगणाद्भृत्य-गणे च सर्वे वशगा भवन्ति। यदि भृत्यगणादुदासीनगणो भवति तदा धन नाशमाप्नोति। यदि भृत्यगणाद्वैरिगणो भवति तदा आक्रन्दो भवति नायको विनश्यतीत्यर्थ'।

३८. यदि उदासीनगणान्मित्रगणो भवति तदा कार्यवध कथयति। यदि उदासीगणात् भृत्यगणो भवति यदि उदासीनगणात् उदासीनगग एव भवति तदा न मद्र न भद्र सामान्यमेव फल भवति। यदि उदासीनगणात् शत्रुगणो भवति तदा गोत्रजा अपि शत्रवो भवति। यदि शत्रुगणात् मित्रगणो भवति तदा गृहिणी नश्यति। यदि पुन' शत्रुगणादुदासीनगणो भवति तदा धन नश्यति। यदि शत्रु-गणात शत्रुगण एव भवति तदा नायको नाशमाप्नोति।

३९ अथ मात्रावृत्ताना उद्दिष्ट निरूपयति, पुव्व इति। तत्र पट्कलप्रस्तारे एको गुरु द्वौ लघू पुनरेको गुरुरित्येवमाकारो गण कुत्रोस्तीति प्रश्ने कृते तदाकार गण लिखित्वा पूर्वयुगलसमानाङ्को देय' पूर्वाङ्कमेकीकृत्य तत्सख्याकोग्रे देय इत्यर्थः। तत्र च आदिकलाया प्रथमोंको देय द्वितीयकलाया पूर्वमेकैव कलास्ति पूर्वं

देयः। मध्यशून्यकोष्ठकेषु तदीयतदीयशिरःस्थकोष्ठद्वयाङ्कसमानाङ्को देयः। एवमन्यत्रापि पूरणीयकोष्ठानामुपरि स्थिताङ्कद्वयमेकीकृत्य पूरणं विधेयं। वर्णमेरौ चतुरक्षरप्रस्तारे प्रथमं चतुर्गुरुर्गणोऽस्ति ततस्त्रिगुरवश्चत्वारो गणास्ततो द्विगुरवः षट् गणास्तत एकगुरवश्चत्वारो गणास्ततः सर्वलघुरेको गणोस्तीति स्फोरितमस्ति। एवं पञ्चाक्षरादावपि।

४५. अथ वर्णपताका, उद्दिट्ठा सरि इति। तत्र चतुरक्षरे सर्वगुरुः कुत्र स्थानेऽस्ति, त्रिगुरुः कुत्रास्ति, द्विगुरुः कुत्रास्ति, एकगुरुः कुत्रास्ति, सर्वलघुः कुत्रास्तीति प्रश्ने पङ्क्तिक्रमेणाङ्का धारणीयाः उद्दिट्ठा सरीति। तत्र षोडशाङ्काः पूरयितव्याः। प्रथमपङ्क्त्यधः स्थिताः पूर्वाङ्केनापराङ्कमेकीकृत्य भरणं कुर्यात्। आप्तमङ्कं पूर्वाङ्कस्य परभागे स्थापय। यदि प्रथमपङ्क्तिपूर्वाङ्केन भरणं न भवति तदा द्वितीयपङ्क्तिपूर्वाङ्केनापि पूरणीयं। एवं यावता षोडशाप्यङ्का लभ्यन्ते तावत्कर्तव्यं। एवमन्यत्रापि चोद्यव्यं। चतुरक्षरप्रस्तारे द्वितीयतृतीयपञ्चमनवमस्थानेषु गुरवो गणाः चतुर्थषष्ठसप्तमदशमैकादशत्रयोदशस्थानेषु द्विगुरवः। अष्टमद्वादशचतुर्दशपञ्चदशस्थानेषु एकगुरवः। प्रथमस्थाने चतुर्गुरु, षोडशस्थाने चतुर्लघु। एवं पञ्चाक्षरादावपि ज्ञेयं।

४६ अथ मात्रामेरुः, दुइ दुइ इति। पूर्ववत्प्रश्ने द्वे द्वे कोष्ठे समे लिखितव्ये प्रथमे द्वयं, द्वितीये त्रयं, चतुर्थे त्रयं, पञ्चमे चत्वारि अङ्काः। कोष्ठशब्देनात्र कोष्ठपङ्क्तिरूपं लक्ष्यते। द्वे द्वे कोष्ठपङ्क्ती समे लिखितव्ये इत्यर्थः। एककलाया प्रस्तारो न भवतीति द्विकोष्ठैवादिपङ्क्तिरपि एवं कोष्ठपङ्क्तिषु अधोधःक्रमेण लिखितासु सर्वत्र अन्त्यकोष्ठे प्रथमाङ्को देयः। ततः उपान्त्यकोष्ठेषु एकाङ्कादारभ्य क्रमेण द्वात्रिंशत्पर्यन्तमङ्का देयाः। ततश्च सर्वेषां प्रथमकोष्ठे एकं, ततो द्वयं, तत एकं, ततस्त्रयं, पुनरेकं, ततश्चत्वारि, तत एकं, तत पञ्च, तत एकं, तत षट् इति क्रमेण एकाङ्केण मिलिता अङ्का देयाः। एवमाद्ये अन्त्ये उपान्त्ये कोष्ठके प्रपूर्णे मध्यस्थितशून्यकोष्ठकेषु पूरणीयकोष्ठशिरोङ्केन तच्छिरःकोष्ठस्थपरकोष्ठाङ्कमेकीकृत्याङ्का देयाः। एवं सर्वत्र ज्ञेयं।

४८ अथ मात्रापताका, एक्क लोपे इति। अमुकगणः कुत्रास्तीति प्रश्ने पूर्वयुगलक्रमेणाङ्के दत्ते शेषाङ्केऽग्रिमाङ्के पूर्वाङ्कमेकैकक्रमेण लोपयित्वा एकगुरु जानीहि। एतावता एतदुक्तं प्रथमाङ्कशेषाङ्के लोपयित्वा अवशिष्टशेषाङ्कसदृशप्रस्तारस्थाने एकगुरु जानीहि तथा द्वितीयाङ्कशेषाङ्के लोपयित्वा अवशिष्टशेषाङ्कसदृशप्रस्तारस्थाने एकगुरु जानीहि। एवमेकं गुरुमानीय अनन्तरमेकान्तरितमङ्कद्वयमेकीकृत्य शेषाङ्के लोपयित्वाऽवशिष्टशेषाङ्कसदृशप्रस्तारस्थाने द्विगुरु जानीहि। एवमङ्कत्रयमेकीकृत्य ... अवशिष्टशेषाङ्कसदृशप्रस्तारस्थाने त्रिगुरु

आनीहि । एवं चतुर्गुरुचतुर्गुर्वादिक्रमानेकत्वं । जो पावहि सो पढहि मेलावहु, मत्स्याकमपः । प्राप्यते स हारको भवति स च पतितेन सह गुरुर्भवति पश्चादवैलघुकं भवति । हारयोः अन्तिमोऽगुरुः रिक्तत्वेन सह गुरुर्भवति । अन्येऽष्टा लघवो भवति । तेन शचसे, मत्स्याः एकगुरुसप्तलघ्वात्मकेऽस्मिन् स्थाने पञ्चमाभरा अंतीति भ्यास्याव ।

४९. अथ अमुकच्छन्दसि कति गुरवः कति च लघवः संतीति प्रश्ने इत्थं लघुज्ञानाय यथा प्रक्रिया पुच्छल इति । पृष्टच्छन्दस कला कृत्वा अंकोऽवशेषस्तावं तत्र लुंपेत् । अवशिष्टैरंकैर्गुरुं आनीत । गुरो जाते परिशिष्टान् लघून् आनीत ।

५ अथ अंकसंख्या, व्याख्या इति । अष्टविंशति (? षड्विंशति) तत्र अक्षराणि ततः अक्षरस्य तदर्धानि ततो द्विचत्वारिंशत्स्वर्णं स्वस्मिन्नेकं क्षेपेऽस्मिन् कृतेऽस्य षड्विंशतिवर्णप्रस्तारस्य विषयोऽप्ययमेव ।

५१ अथ गाथाप्रकरणं । तत्र गाहूप्रभृतीनां उद्देशं रचयन्नस्य करोति, होइ इति । चतुःपंचाशन्मात्रो गाहू भवति १ गाथा च सप्तपंचाशन्मात्रा २ तथा विगाथा पश्चार्धस्य विपरीते सप्तपंचाशन्मात्रा भवतीत्यर्थः । द्वितीयार्धलक्षणं प्रथमार्धे प्रथमार्धलक्षणं द्वितीयार्धे ३ उद्गाथा षष्टिमात्रा ४ गाहिनी (? न्या) द्विषष्टि मात्रा दीयते ५ तथैव परार्धे सिंहिनी द्विषष्टिमात्रैव भवति परंतु उत्तरार्धे लक्षणं प्रथमार्धे प्रथमार्धलक्षणं उत्तरार्धे भवतीत्यर्थः । एकमन्योन्यगुणनात्मकानि अक्षरस्थानानि स्कंधके चतुःषष्टि मात्रा भवति ।

५२ अथैतां विशेषलक्षणमाह, पुव्वद्धे इति । पूर्वार्धे उत्तरार्धे च सप्तविंशति मात्रा भवति । अथ पदद्वयमध्ये षष्ठो गणो मध्यगुरुरेव भवति । शर भेद इति लघ्वे नाम ।

५३ यथा चंदो इति । चंद्रः चंदनं हारः तावत् रूपं प्रकाशयन्त्येते यावदेवचरस्य यदा भेदा कीर्तिं वर्णयत् आत्मानं (म) निदर्शयति । तस्यां चतुर्दिशासु च चंद्रश्चापि मलिनीभूतो इत्यन्या ।

५४ अथ गाथा पढममिति । प्रथमे द्वादशमात्रासु विश्रामः । द्वितीये अष्टादशमात्रासु । यथा प्रथमचरणे विश्रामस्तथा तृतीयचरणे विश्रामः । तोये चतुर्थे चरणे पंचदशमात्राभिर्विभूषिता गाथा ।

५५. यथा वेणेति । मानिनीप्रबोधाय सखीवचनं । येन विना न जीव्यते अनुनीयते स कृतापराधोऽपि । प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्निः ।

५६ अथ लक्ष्मीं वर्णं च उद्दिशनिर्धारणमाह, सत्त गणा इति । अत्र चतुर्मात्रा सप्त गणा भवति दीर्घांता दीर्घे इति मात्राद्वयोपलक्षणं विकल्पिता इत्यन्या । अत्र

षष्ठो गणो जगणो भवति। नगणो लघुर्वा चतुर्लघुर्वा गणो भवतीत्यर्थः। एतेन सर्वलघुरपि गाथा भवतीति ज्ञापित। अत्र विषमस्थाने प्रथम-तृतीय पचमस्थाने जगणो न भवति तदा गाथाया उत्तरार्द्धे षष्ठ गण लघुरूपमेव जानीत। षष्ठो गण-एकलघुरूपो भवतीत्यर्थः।

५७. अथ गाथासक्षेपमाह, सव्वाए इति। सर्वस्या गाथायां सप्तपचाशन्मात्रा भवति पूर्वार्द्धे त्रिशन्मात्राः उत्तरार्द्धे सप्तविंशतिर्मात्रा भवति इति।

५८. अथ गाथासु सर्वगुरुर्गाथा कथ्यते, सत्ताईसा इति। सर्वस्या गाथाया सप्तविंशतिर्गुरवो यस्या राजते सा गाथाना मध्ये लक्ष्मीराख्याता त्रिंशदक्षरा।

५९. अथ गुरुह्रासक्रमेण नामभेदानयनप्रकारमाह, तीसक्खरेति। त्रिशद-क्षरा लक्ष्मी. ता सर्वे वदति च विख्याता। एकैकगुरुह्रासेन एकैकवर्णवृद्धया एकैक-नाम भवति।

६०-६१. ततस्तान्येव नामानि स्फोरयन्नाह, लच्छी इति। लक्ष्मी १, ऋद्धिः २, बुद्धि. ३, लज्जा, ४, विद्या ५, क्षमा ६, देही ७, गौरी ८, रात्रि ९ चूर्णा १०, छाया ११, कांति' ११, महामाया १३, कीर्ति १४, सिद्धा १५, मनोरमा १६, गाहिनी १७, विश्वा १८, वासिता १९, शोभा २०, हरिणी २१, चक्री २२, सारसी २३, कुररी २४, सिंही, २५, हंसी २६।

६२ अथ पाठप्रकार दर्शयति, पढम इति। प्रथमपद हसपदवन्मथर पठ्यते, द्वितीय सिंहविक्रमवत् द्रुत पठ्यते, तृतीय गजवरलुलित सलील पठ्यते, चतुर्थे अहिलुलित यथा सर्पाणा शेषे चाचल्य तथाऽवसाने चचल पठ्यत इत्यर्थ.।

६३. अथ गणभेदेन अवस्थाभेदमाह, एक्के जे इति। एकेन नायकेन कुलीना भवति। नायको जगण.। द्विनायका सगृहिणी भवति। नायकहीना रडा भवति बहुनायका वेश्या भवति।

६४. अथ लघुभेदेन जातिमाह, तेरह इति। त्रयोदशभिर्लघुभिर्विप्रा, एकविंशत्या क्षत्रिया भणिता, सप्तविंशत्या वैश्या, शेषा शूद्री भवति गाथा।

६५. गणभेदेन दोषमाह, जा पढम इति। या प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तम स्थाने गुरुमध्या जगणयुक्ता भवति सा गुर्विणी गुणरहिता गाथा दोष प्रकाशयति। अथ च अन्यापि गुर्विणी नायिका गुणरहिता विशिष्टगुणरहिता अशक्त्यादि-दोष प्रकाशयति इति ध्वनि'।

६६ अथ विगाथा, विगाहा इति। विगाथाप्रथमदले सप्तविंशति मात्रा पश्चिमदले त्रिशन्मात्रा इति भणित पिंगलेन नागेन। प्रवर्तिता गाथैवेत्यर्थ, उद्ववनिकापि तादृश्येव।

६७ मया परिहरेति। कश्चिन्मानिनीं प्रबोधयन्ती वर्षाः समागता इति कथयति गीयवते च। हे मानिनि, मानं परिहर बहीहि, नीपस्य कुसुमानि पश्य। तव कृते लम्बदर्पो निष्कम्पहृदयः कामो गुटिकाधनुः लटिकां गृह्णाति विष निर्मितं।

६८. अथोद्गाम, पुष्पदे इति। पूर्वार्धे उत्तरार्धे च त्रिंशन्मात्रा भवंति। हे सुमुखे ऐमणिता कथिता यत्र स एव उद्गाथो वृत्त पिंगलनागेन द्वात्रिं मात्रा क्रमैव भूत इति।

६९. मया सोऊण इति। कश्चित्मानुरागातिशयं चेदिपतौ कथयति। यस्य नाम श्रुत्वा अश्रु नयने प्रगटि व्याप्नोति, तस्य कस्मर वीर चेदिस्येश्वरस्य मुखं यथेष्टं प्रेक्षिष्ये। दर्शने सति नेत्रयोरानंदजं वारि व्याविरस्तीत्यर्थः।

७० अथ गाहिनीसिंहिन्यौ, पुम्बद इति। पूर्वार्धे त्रिंशन्मात्राः पिंगला प्रभणति हे मुग्धे शृणु उत्तरार्धे द्वात्रिंशन्मात्रा एषा गाहिनी। विपरीता सिंहिनी भणिता सत्यं निरीक्ष्यते। सिंहिन्याः पूर्वार्धे द्वात्रिंशत् उत्तरार्धे त्रिंशदिति भेदः।

७१ मया, ईवीरे मुञ्चमये वरणपतितां पत्नीं प्रबोधयन्नाह, मुंचहि इति। हे सुंदरि पादं मुंच, मयैव हसित्वा सुमुखि खड्गं, कल्पयित्वा लंडयित्वा म्लेच्छशरीरं प्रदर्शामि मुखं बन्ने तव ईवीरः।

७२ सिंहिनी यथा। कश्चित्कुमारदित्यं स्तौति भरिवइ इति। नर्तंति कनकस्य वृष्टि तप्यते भुवने दिवानिशं जाग्रत्। निद्रां साहसांको निवदति ईदं च सर्व मिवं च। इंद्रो कर्तं वर्तति अर्थं च भुवन, सूर्यो द्वितीय तप्यतेऽयं च दिवानिश मिति निदाघमासायाः।

७३ अथ स्कंधकं, चउमत्ता इति। चतुर्मात्रिका अष्टगणा भवंति पूर्वार्धे उत्तरार्धे च समरूपाः। द्वात्रिंशन्मात्रांकं पूर्वार्धे एवमुत्तरार्धमपि यत्र तत् स्कंधकं जानीहि। पिंगलः प्रभणति हे मुग्धे बहुसंभेदं।

७४ यथा, सेतुबंधकाव्ये, जं जं इति। यं यं आनयति गिरिं रविरथचक्र परिघट्टनसहं हनुमान्। तं तं लीलया नलो वामकरोत्थितं रचयति समुद्रे।

७५. अथैतस्य सर्वगुरुरूपस्य एकैकगुरुह्रासेन नामभेदमाह नन्दबद्रेखा भंद इति। नंदः १ भद्रः २ शेषः ३ सारंगः ४ शिवः ५ ब्रह्मा ६ वारणः ७ वारुण ८ नीलः ९ मदनः १ तालंकः ११ शेखरः १२ शरः १३ गगनः १४ शरभः १५ विमतिः १६ क्षीरनगरः १७ नरः १८ स्निग्धः १९ स्नेहनः २ मदगलः २१ भोलः २२ शुद्धसरित् २३ कुंभः २४ कलशः २५ शशी २६ जानीहि। शरभः २७ शेष आत्मनेः शशिधरं जानीहि इति अष्टाविंशतिप्रकारं स्कंधकं भवति।

७६. अथानयनप्रकारमाह, अट्ठ इति। अष्टौ यत्र लघवो भवति स नट इति जानीहि। सखीति सम्बोधन। तत एको गुरुस्त्रुट्यति लघुद्वय वर्द्धते तथा तथा नामानि जानीत।

७७ यथा चदा इति। चद्रः कुदः काशः हारः हीर. त्रिलोचनः कैलाशः इत्यादयः यथावत् श्वेतास्तावत्सर्वं तत्र कीर्त्या जित।

७८ अथ द्विपथा, तेरह इति। प्रथमपादे त्रयोदश मात्राः द्वितीयपादे एकादश मात्रा देहि। द्वितीयार्द्धे प्रथमतस्त्रयोदश पुनरेकादशेति द्विपथालक्षण-मेतत्। अन्वर्था चेय सज्ञा। द्वौ पथानौ यस्या सा द्विपथा एतदग्रे व्यक्ती भविष्यति।

७९ यथा सुरतरु इति। सुरतरुः सुरभिः स्पर्शमणि. एते वीरेश्वरस्य न तुल्याः। सुरतरुः कठिनाग, सुरभि पशुः, चिंतामणिः प्रस्तर, तेनास्य साम्य न।

८०. भेदमाह, भमरु इति। भ्रमर. १ भ्रामर. २ शरभः ३ श्येनः ४ मण्डूक. ५ मर्कटः ६ करभः ७ नरः ८ मरालः ९ मदगध १० पयोधर ११ चल १२ वानर. १३ त्रिकलः १४ कच्छप. १५ मत्स्य १६ शार्दूलः १७ अहिवर १८ व्याघ्रः १९ विराल. २० श्वानः २१ उन्दुर. २२ सर्प. २३ एतत् प्रमाणेन एको गुरुस्त्रुट्यति द्वौ लघू वर्द्धते तथा तथा नामानि जानीत।

८१. द्विपथाविशेषमाह, छब्बीस इति। षड्विंशात्त्वरो भ्रमरो भवति। तत्र द्वात्रिंशति गुरवो भवति चत्वारो लघवः। तत एको गुरुस्त्रुट्यति द्वौ लघू भवतस्तदा नामानि वर्द्धते।

८२ यथा जा अद्धग इति। यस्यार्द्धांगे पार्वती शिरसि गगा वसति। यो लोकाना वल्लभः पादौ वदे तस्य।

८३ अथ जातिमाह, बारह इति। द्वादशावधिलघुभिर्विप्रा ब्राह्मणी भवति। तथा द्वाविंशतिभिर्लघुभि. क्षत्रिया भणिता। द्वात्रिंशल्लघुभिर्वैश्या। या इतरा सा शूद्री भवति।

८४ गणभेदे दोषमाह, जिस्सा इति। यस्या प्रथमे तृतीये च चरणे जगणा दृश्यते पादपादेषु। चाण्डालगृहस्थिता सा द्विपथा दोष प्रकाशयति।

८५ उट्टवनिकाप्रकारमाह, छक्कलु इति। आदौ षट्कलगण. ततश्चतु-कलः। ततस्त्रिकलः। अनेन प्रकारेण विषमयो. प्रथमतृतीययोरित्यर्थ.। सदा पादयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तु षट्कल.। ततश्चतु.कलः। अन्ते एककल.।

८६. अथ उक्कच्छा, दिअवर इति। द्विजवरगणयुगल धारय। द्वौ चतुर्लघु-गणावित्यर्थ.। पुनरपि त्रयो लघव प्रकटा। अनेन विधिना विहितानि त्रीणि

पदानि । शोभते यत् छंदः यथा यशो राशौ । एतत् छंदः रक्षितं रघुकुलं हे मृग-नयने । एकादशाक्षरात्मकं च भवति हे गजगमने ।

८७ यथा विशुद्ध इत्यादि सुगमं । भवान इति नृपतिविशेषः ।

८८. भेदमाह आइकम्म इति । आदिकार्ये सर्वलघुरूपं उद्भवनामकं वृत्तं लोहंगिन्यादीनामध्ये हारं, लोहंगिन्यादिमध्यस्य भेदाक्षेपो हारं गुरुमित्यर्थः । आनयनप्रकारमाह । गुरवो वर्धते द्विगुण लघवस्तुट्यति । तथा तथा नामानि जानीहि । तथा च वर्णानुरोधेन लघुप्रभृति । भेदनामानुरोधेन क्रमशःह्रासः क्रियते । तेन अष्टौ नामानि भवंति । प्रत्येकं चतुश्चतुर्गुरुवृद्धिप्रयुक्तलघुह्रासः । एवमेव सर्वेषां लघूनां ह्रासपर्यन्तं बोद्धव्यमिति ।

८९. अथ नामानि लोहंगिनी इति । लोहंगिनी १ हंसिनी २ रेखा ३ तालंकी ४ कंपी ५ गंभीरा ६ काली ७ कलरुद्राणी ८, उद्भवनाम्ना अष्टौ नामानि ।

९० तासां स्वरूपमाह लोहंगिनी इति सर्वगुरुर्लोहंगिनी । अथ चत्वारो गुरवः सा हंसी । तत्र यथा यथा चत्वारो गुरवो वर्धते तथा तथा नामान्यपि वर्धन्ते अवशिष्टवृंदस्य उद्भवस्य नामैव ।

९१ अथ रोला, पअम इति । आदौ चतुर्विंशति मात्रा भवंति, तासु निरंतरा न भवंति किंतु अंतरान्तरा गुरुलघुरूपा भवंति । पिंगलोऽभणत् शेषनागः, स रोला छंदो मते । एकादश गुरवो भवंति तेन रोलाछंदो भवति । एकस्मिन्नेकस्मिन् त्रुटिते गुरौ अन्यदन्यन्नाम रोचते ।

९२ यथा पअभर इति । पादभारेण त्रुट्यति धरणिः, तरणिरथो धूलिभिः छन्नः कूर्मस्य पृष्ठेऽत्यसितः मेरुमन्दरस्य च शिरः कम्पितं क्रोधेन हम्मीरवीर चलितो गजयूथसहितः, कष्टेन कृत आक्रन्दो मूर्छितं म्लेच्छपुत्रैः ।

९३ अथ नामानि मात्रागीर्णत्या आह कुंद (१) इति । कुंदः १ करतलः २ मेघः ३ तालंकः ४ कालरुद्रः ५ कोकिलः ६ कमलः ७ चंद्रः ८ शंभुः ९ चामरः १० गणेश्वरः ११ सहस्राक्षः, शेषो भणति नागराजो भवति फणीश्वरः । द्वितीय दोषनिवृत्त्यर्थमाह वस्तुतः सहस्रनामा एतावत्र नाम्ना भवितव्येन रुचिरूपेण न दोषायेत्यर्थः । अक्षरमध्याह तेरह इति । यत्र त्रयोदशाक्षराणि पादे । एकादश भिन्नेषु अभिहितपदः । एतस्मात् एकान्ते गुरवो द्वौ लघू । एतावति गुरौ चतुर्गुणहासे प्रत्येकं नामानि भवति पूर्ववन्नैव ।

९४ अथ गंधाना, दह सत्त इति । हे मुग्धाः अत्र प्रथमाः सप्तदश वर्णान् भण । तथा द्वितीयदले अष्टादश । यमकयुक्तेन रमयन्, मनोहरगामिनी । यथा

दृश च द्वितीय पदमलकुरुत, भणति पिंगलः। गधानानाम रूपकं भवति पडितजनचित्तहर।

९५. एतदेव लक्षणातरेण द्रढयति द्विपथा छदसा, दह सत्त इति। सप्तदशाक्षराणि प्रथमपदे सस्थापयत, द्वितोये अष्टादशाक्षराणि मात्राया तु यथा सुखमिति।

९६ यथा कण्ण इति। कर्णे चलति कूर्मश्चलति कीदृशः अशरणशून्यः। कूर्मे चलति मही चलति कीदृशी भुवनभयकरणा। मह्या चलत्या महीधराश्चलति। ततः सुरगणाश्चलति। हेतुमाह चक्रवर्तिचलने त्रिभुवन चक्रञ्चलतीत्यत्र कः सदेहः।

९७. अथ चतुपदी, चउपइआ इति। चतुःपदीछद. फणींद्रो भणति। यत्र चतुर्मात्रिकाः सप्तगणा भवति पादात सगुरु कृत्वा त्रिशन्मात्राः धृत्वा एतावता षोडशपदैरशीत्यधिकचतुःशतानि ४८० मात्रा निरुक्ताः। तत्र विशेषमाह छदश्चतुष्टयेन लिख्यते एव न क्रियते। पदचतुष्टयेनैक छदः ताहशछ्दसश्चतुष्टयमित्यर्थं.। दार्ढ्यमाह को जानाति एन भेद न कोपीत्यर्थः। कविः पिंगलो भाषते छदः प्रकाशयति। हे मृगनयने अमृतमेतत्।

९८ यथा जसु सीसहि इत्यादि सुकर।

९९ अथ घात (घत्ता), पिंगलकइ इति। पिंगलकविना दृष्टं छद. उत्कृष्ट घात (घत्ता) इति नाम सख्यामाह द्विषष्ठि मात्राः कृत्वा। चतुर्मात्रिका. गुणा. द्वौ पादौ भण त्रीन् त्रीन् लघून् अते धृत्वा। एतावतैतदुक्त भवति लघुत्रयाधिक चतुष्कलगणसतक भवति।

१००. एतदेव द्रढयति, पढम इति। प्रथमदशसु विश्रामः। द्वितीये दशसु तृतीये त्रयोदशसु विरतिं.। घातो (घत्ता) द्विषष्ठिमात्रिको भवति।

१०१ यथा रणदक्ख इति। रणे दक्षो हतः, कुसुमधनुः कामो जितः, अंधकस्य गधमपि न रक्षितवान्, य. स शंकरो रक्षतु। कीदृश', असुराणा भयकर, येन च गौरी नारी अर्द्धांगे धृता।

१०२ अथ घातानद', सो घत्तह इति। स घातकुले सारः कीर्त्या अगारः इति नागराज. पिंगल' कथयति, यत्र एकादशसु मात्रासु विश्रामो भवति यस्य नद इति नाम भवति, पुनरपि सप्तसु मात्रासु विश्राम। ततस्त्रयोदशसु मात्रासु विश्रामो भवति।

१०३ यथा जे वदिअ सिर गग इत्यादि सुकर।

१०४ अथ षट्पदप्रकरण छप्पअ इति। हे छदोविदः षट्पद छदो जानीत अक्षरसयुक्त उत्तमाक्षरयुक्त एकादशसु कलासु विरतिं। तत. पुनस्त्रयोदशसु

११९ अथानन्तप्रस्तारमाह, चउआलिस इति। आद्ये चतुश्चत्वारिंशद् गुरवः। तस्यान्ते परिहृत्याविगुरवस्ततो गुरुस्थाने लघुद्वयं यद्वत्ते तेन एकसप्ततिप्रस्तारविस्तारो भवति। नाम्नामिति शेषः।

१२ नामसंख्यानयनप्रकारमाह, जत्ते इति। वर्णा मिलित्वा यावन्तः कला भवंति तावतीभ्यस्त्व एव तत्राप्येकं यरं त्यज इति पंचकलस्य नाम ईदृक् प्रमाणेन नामानि भवंति। तथाहि अत्र द्विपंचाशदधिकमेकशतं मात्रा भवति। तत्रार्द्धे त्यक्ते पञ्चसप्ततिरवतिष्ठते तत्रापि पंचसु त्यक्तेषु एकसप्ततिरवशिष्यते।

१२१ तत्रापि सुखं प्रकारमाह अजअ इति। अजयनाम्नि छंदसि पदगे द्व्यशीति ८२ अक्षराणि भवंति। तत्र सप्तति ७ गुरवः द्वादश १२ लघवः। रविपक्षरेखेन द्वादश रेखापक्षेन लघुः एकेन गुर्वक्षरं हसति द्वौ द्वौ लघू वर्द्धेते एवमन्यत्रापि।

१२२-२३ छन्दसां नामान्याह, अजअ इति। अजयः १ विजयः २ बलिः ३ कर्णः ४ वीरः ५ वैतालः ६ बृहन्नलः ७ मर्कटः ८ हरिः ९ हरः १० ब्रह्मा ११ इंदुः १२ चंदनः १३ शुभंकरः १४ श्वानः १५ सिंहः १६ शार्दूलः १७ कूर्मः १८ कोकिलः १९ खरः २० कुंजरः २१ मदनः २२ मत्स्यः २३ तारंकः २४ शेषः २५ सारंगः २६ पयोधरः २७ कुंदः २८ कमलः २९ वारणः ३० भ्रमरः ३१ शरभः ३२ जंगमः ३३ एतान् छंदस्याद्य कथयते, शरः ३४ सुसरः ३५ सारसः ३६ शरकः ३७ इति षट्पदनामानि पिंगलः कथयति। मेरुः ३८ मकरः ३९ मदः ४० सिद्धिः ४१ बुद्धिः ४२ करतलः ४३ कमलाकरः ४४ धवलः ४५ मलयः ४६ ध्रुवः ४७ कनकः ४८ कृष्णः ४९ रंजनः ५० रंजना ५१ मेघाकरः ५२ ग्रीष्मः ५३ गरुडः ५४ शशी ५५ सूर्यः ५६ शल्यः ५७ नरः ५८ तुरगः ५९ मनोहरः ६० गगनम् ६१ रत्नं ६२ नरः ६३ हीरः ६४ भ्रमरः ६५ शेखरः ६६ कुसुमाकरः ६७ ततो दीपः ६८ शंखः ६९ वसुः ७० शब्दः ७१। एतन्नामस्य नागराजः पिंगलः कथयति षट्पदस्य एकसप्ततिर्नामानि। छंदकारः प्रस्तारं कृत्वा कथयति। इति षट्पदप्रकरणं समाप्तं॥

१२४ अथ पज्झटिका पठ मत्त इति। चतुर्मात्रिकान् गणान् चतुःस्थाने कुरुत। पदान्ते पयोधरं जगणं स्थापयित्वा एवं पदचतुष्टयेन चतुःषष्टि ६४ मात्रा भवति। संप्रयासामाह। इदं श्रुत्वा इत्युरगचन्द्रमाः प्रतिपदेऽन्यूनं धरणीपतेः। इति चतुर्भिः पादैः पज्झटिकासंज्ञको भवति। एतावतैवोक्तं षोडशमात्राभिरे(क)चरणः, तथाविधचरणचतुष्टयेन एकं छंदः, तथाविधछंदश्चतुष्टयेन एका पज्झटिकेति।

१२५ यथा जे गंजिअ इत्यादि सुगमं।

१२६. अथ अलिल्ला, सोलह इति। यस्य पादावली पोडशमात्रा, अत्र द्वे यमके भेद कलयतः। कलीवलीकामधेनुः। इल्लडिल्लौ स्वार्थे इति इत्यत्र प्रयोजक.। अप्रयोजकवाचकादौ प्रत्ययः। इहिजेराः पादपूरणे इति ह प्रत्ययः। प्रायो लोप इति प्रायोवचनादावपि ककारलोप.। अत्र पयोधरो जगणो न भवति। कीदृशः अलिल्लह अप्रयोजकः अप्रयोजकवाचकादलशब्दात् इल्लप्रत्ययो ह प्रत्ययश्च। अस्मिन् छदसि जगणो प्रयोजक इत्यर्थः। अते सुपियगणो लघुद्वया-न्तकगणो भवति एतच्छदोऽलिल्लानाम भण।

१२७ यथा, जहि आसार इत्यादि सुकर।

१२८ अथ पादाकुलक, लहु गुरु इति। यत्र लघुगुर्वोर्नियमो नास्ति तदा सर्वे गुरवो निरतरलघवो वा क्रियतामित्याशक्याह, पदे पदे उत्तमा रेखा अत-रातरा लघवो वा भवति। कीदृश छद., सुकविपिंगलस्य कठाभरणरूपमल-करण अत्यन्तानुरागा(त्) फणीद्रेण ग्रैवेयकत्वेन वृतमिति प्रसिद्धि'। सर्पाणा कंठे चलयाकारा रेखा भवति इति। अनेन प्रकारेण षोडशमात्राक पादाकुलक भवति।

१२६ यथा, सेर एक्क इति सुकर।

१३०. अथ रड्डा, पढम इति। प्रथम पचदशसु मात्रासु विरति., द्वितीय-पदे द्वादशसु, तृतीयस्थाने पचदशसु, चतुर्थे एकादशसु, पचमे पदे पचदश-मात्रासु। एवमष्टाधिकषष्ठि मात्रा पदपंचके पूरय। एतदग्रे दोहाछदो दातव्य। एतच्छदो राजसेन इति प्रसिद्ध रड्डेति भण्यते।

१३१. उट्टवनिकाप्रकारमाह षट्पदच्छदसा, विसम इति। विषमे पदे त्रिकल सस्थापय। ततस्त्रय पदातयश्चतुष्कलगणा। अत्रापि प्रथमे नरेंद्रो जगण किं वा विप्र। अतरविप्रमपदे अते लघुद्वय। समपादे पदातित्रयं चतुष्कलत्रय-मित्यर्थ। एतस्याते सर्वलघुरेको गण.। चतुर्थचरणे एकलघुत्यक्ता' एकादश कला इति यावत्। यद्वा चतुर्थ चरणे एक लघुमाकृष्य गृहाण तेनैकादशकलाश्चतुर्थ-चरण इति। एव पचपदोट्टवनिका कृत्वा वस्तु इति नाम पिंगल' कथयति। तदनतर दोषहीन द्विपथाचरण सस्थाप्य राजसेन इति प्रसिद्ध रड्डा भण्यते।

१३२. (१३४) मम इत्यादि सुकर।

१३३ (१३५) एतन्नामान्याह, करही इति। करभी १ नंदा २ मोहिनी ३ चारुसेनी ४ तथा भद्रा ५ राजसेन ६ तालक. ७ हे प्रिये तानि सत वस्तूनि निष्पन्नानि निश्चलानि भवतीत्यर्थ.।

१३४.–१,७ (१३६–१४२) प्रकारमाह, पढम इति। प्रथमतृतीयपचम-पदेषु त्रयोदश मात्रा यत्र भवति, द्वितीयचतुर्थयोरेकादश मात्रा यस्या सा करभी

पथिनयमकमेणोच्यते। अत्र च चतुश्चत्वारिंशदधिकशत मात्रा भवति। सुकवीना इदवधुः पिंगल' कथयति। अथ गुणालकारौ कथयति। यस्यात्मनो शरीरे भूषण-शोभा इमति। भूषणमलंकार. शोभा कातिर्गुण इति शेष'। द्विवचनस्य बहुवचन नित्य, तेन भूषणशोभे यस्यात्मनो दास्य कुर्वंति ('त')। क्रियत्स्याक्गुणशोभ इत्याह। चतुश्चत्वारिंशन्मात्राः। प्राकृते पूर्वपातानियम। तेन व्यवहितेनापि मात्राशब्देनान्वय। श्लेषप्रसादादिगुणा अलकारा.। ता कुंडलिका जानीत, पठित्वा पुनरपि पठ। आवृताभ्या भिन्न न पठ्यते। एकयमक कृत्वा पठत इत्यर्थ.।

१३८ उ(क्त)मेव द्रढयति, पढमहि इति। प्रथम दोहायाश्चत्वारि पदानि ततः पदचतुष्टय काव्यस्य देहि, अनेन प्रकारेण कुण्डलिकाऽष्टपदा भवति, पदे पदे यमक कुरुत।

१३९ यथा ढोल्लेत्यादि सुकर।

१४०. अथ गगनाग., पअ पअ इति। गगनागं स्थापय किं कृत्वा ज्ञात्वा। किं भूत मात्राविभूपितम्। अत्र शरेण ५ अधिका विशतिर्मात्रा भवन्ति। किं भूता लघुगुरुशोपिता मिलिता इत्यर्थ। उट्टवनिकाप्रकारमाह, प्रथम चतुर्मात्रिको गण.। तत' पर यथा सुख गणा प्रकाशिता। कला अक्षराणि भवतीत्याह विंशत्य-क्षराणि पदे लभते। हे प्रिये इति पत्नीसबोधन। गुरु' प्रकाशित।

१४१ उक्तमेव द्रढयति, पढमहि इति। प्रथमे च चतुष्कलो गण। ततः पर यथासुख गणा भवन्ति। अते हार गुरु विसर्जय देहि। विंशत्यक्षराणि पच-विशतिर्मात्रा भवति।

१४२ यथा भजिअ इत्यादि सुकर।

१४३. अथ द्विपदी, आइ इति। छदोद्वयेन लक्षयति, आदिग इद्गणः षट्कलो गणो यत्र भवति। ततो धनुर्द्धरगणद्वय चतुष्कलगणद्वय देहि। ततः पदादिद्वयमेव चतुष्कलगणद्वयमेव स्थापय। वि (विध) विचित्रसुदरं यथा स्यात्तेव।

१४४ सरस्वत्या प्रसाद गृहीत्वा तत्र छदसि पृथिव्या कवित्व कुरुत। हे कविजना, अते मधुकरचरण षट्कल देहि। एव प्रकारेण हे बुधजना, द्विपदी भणत।

१४५. एतदेव प्रकारातरेणाह, छक्कल इति। षट्कल सस्थाप्य चतुष्कलान् पच स्थापय, अंते एकं हारं गुरुं धृत्वा द्विपदीछद कुरुत।

१४६. यथा दाणउ देउ इत्यादि सुकर।

१४७ अथ संखा, छुअ भरि इति । प्रथमं निश्चितं नव विप्रगणान् पृथक् हे कमलस्तनस्तने । कुचस्तनमना सुस्थापयति यत् छन्द । यथा शशी रात्रौ शोभते । पुनरपि विरतिः भवति हे गजगमने । यथा प्रथमपदे नव द्विजगणा तथा द्वितीयपदेऽपीत्यर्थः । अनयोः पदयोः पदयोः पर्यन्ते रगण इति फणिर्भणति । एतच्छन्द स्मर । कीदृशं मनोहरं ।

१४८. एतदेव प्रदर्शयति, बिहु दल इति । दलद्वयेऽपि नव विप्रगणाः पतन्ति । अन्ते षोडशं रगणं स्थापय । एवं सति शंखार्द्धदलेऽपि एकचत्वारिंशत्कला भवन्ति गणास्तु दश ।

१४९. यथा भरि लसइ इति सुगमं ।

१५. अथ शिखा, ससिवअणि इति । सा शिखा, सा च यस्यां शशिवदने हे गजगमने, पदे पदे पद द्विजगणाः सर्वलघुचतुष्कलगणाः पयोधरोऽन्ते । तत्र प्रथमदले विविधपदयुत् प्रथमदल द्विजगणेन अधिकं द्वितीयदलं यस्याः । द्वितीयदले षट्चतुष्कलगणाति जगण इत्यर्थः ।

१५१ तदेव प्रदर्शयति मत्त अट्ठाइस इति । प्रथमदले अष्टाविंशति मात्राः द्वितीयदले द्वात्रिंशत् । पादेषु चतुर्दशमात्रा सा शुद्धा शिखा इति जानीहि ।

१५२ यथा फुल्लिअ महु इत्यादि सुगमं ।

१५३ अथ माला पढम इति । प्रथमचरणे हे शशिवदने, नव ९ द्विजगणाः चतुष्कलसर्वलघुगणाः स्थाप्याः । पुनरपि तथा रगणं स्थापय । अन्ते कर्णो द्विगुरुर्गणो भवति । पिंगलनागो भणति मालाछन्दः । शेषार्द्धमस्य छन्दसो गाथाया ।

१५४ संक्षेपमाह, पढम इति । प्रथमं भवति नव ९ विप्रगणाः । ततो रगणो भवति । गाथार्द्धमन्ते दत्वा मालाछन्दः कुरुष्व ।

१५५. यथा वरिस जल इत्यादि सुगमं ।

१५६. अथ चुलिआला चुलिआला इति । चुलिआला छन्दो भवति । यदि कथयति इत्यर्थः । पदे पदे यदि विशुद्धं कुसुमगणं स्थापय पंचकलं प्रस्तारे च कुसुमगण ।ऽ।। न इत्यन्य इत्यर्थः ।

१५७ तदेव प्रदर्शयति दोहासंखा इति । द्विपदार्द्धकस्योपरि पंचैव मात्राः स्थापय । अष्टाचत्वारिंशन्मात्रात उपरि विंशतिद्वयं चत्वारिंशन्मात्रा भवति; अष्टपंचाशत् मात्रा इत्यर्थः । एतावता चुलिआलार्द्धं उक्तमित्यर्थः ।

१५८. यथा राआ लुद्ध इति सुगमं ।

१५९. अथ सौराष्ट्र सोरट्ठ इति । सा सौराष्ट्रा यस्यां दोहा विपरीता स्थिता । पदे पदे यमकं यस्यां न्यायेन नागराजः कथयति । यमकमनुप्रासः ।

१६०. यथा सो माणिअ इत्यादि सुकर।

१६१. अथ हाकली, सगणा इति। सगणभगणा यत्र भवंति, चतुर्दश मात्राः पदे पतति। विरतौ वक्रो गुरु. स्थाप्य। एव हाकलिरूपकं कथित।

१६२. उपसहरति, मत्त इति। पदे पदे चतुर्दश मात्रा पतति एकादशभिर्वर्णैः उत्तरार्द्धे मात्रास्तथैव अक्षराणि पुनर्दश।

१६३ यथा उच्च इत्यादि सुगम।

१६४ अथ मधुभार', चमु इति। यस्य शेषे एक. पयोधर पतति। द्वौ चतुर्मात्रिकौ गणौ भवत। एष मधुभार.।

१६५. यथा जसु चद इत्यादि सुगम।

१६६ अथ आभीर', रुद्द इति। एकादश मात्रा दीयते। अते पयोधरो जगणो दीयते। एतदाभीरच्छद पिंगलराजो जल्पति।

१६७ यथा सुदरि इति सुगम।

१६८ अथ दडकल., कुतअरु इति। कुतवर धनुर्द्धर हयवर गजराज एते चतुर्मात्रिका एव। तत पदपदो भ्रमर पणमात्र इत्यर्थ। तत. पदातिद्वय चतुर्मात्रिकद्वय द्वात्रिशन्मात्रा पदे सुप्रसिद्धा भवति। एतच्छदो जानीत। बुधजनाना हृदये चिरेऽनुरक्त न कदापि चेतसि त्यजतीत्यर्थ। कियत्यो मात्रा भवन्तीत्याह। विंशत्यधिकशत। कीदृशं पदाग्रकलासुपूर्णे अस्मिन् छंदसि द्वात्रिशत्कलात्मक पद तस्याग्र चतुर्थभाग. अष्टौ तेन सपूर्णे। एतावताऽष्टाविंशत्यधिकशत १२८ कला भवतीत्यर्थ। एतादृशरूपकं फणिना भुवने जगति भाषित किं नाम तदित्याह। दडकल इति निरुक्त गुरुसयुक्त। यच्छंदः पैंगलिका मनसा जपन्ति।

१६९ यथा राअह इत्यादि सुगम।

१७० अथ दीपकं, सिर देह इति। शिरसि चतुर्मात्रिक देहि, अंते एक लघुं कुरु। तयोर्लघुचतुर्मात्रिकयोर्मध्ये एक दत पचकल देहि इति शेषः। तच्छदो दीपकं जानीत।

१७१. यथा जसु हत्थ इत्यादि सुगमं।

१७२ अथ सिंहावलोक, गण विप्प इति। पदे पदे विप्रगणौ धृत्वा भणित सिंहावलोकं छन्दोवर। हे गुणिगणा, मनसा बुध्यध्व नागो भणति। यत्र जगणो न भगणो न कर्णगणो भवति।

१७३ उपसहरति, विप्प इति। विप्रगणसगणौ द्वौ गणौ अत्र अन्ते हार गुरु विसृज। पश्चात् धृत्वा कवित्व कुरु। पदाते यदेवाक्षर तदेवाग्रिमपदादौ कुरु। प्रस्तारे षोडशमात्रा भवतीत्यर्थः।

१७४ यथा कम इत्यादि सुगमं ।

१७५. अथ प्लवंगमः, कस इति । अत्र प्रथमं षण्मात्रो गणः पदे पदे दृश्यते । पञ्चमात्रश्चतुर्मात्रो वा गणो न क्रियते । अंते एकैकं लघुं च स्थापयित्वा स्थाप्य षण्मात्रिकमप्रथमं कृत्वा अन्ते लघुं ततो गुरुं स्थापयेत्यर्थः । हे मुग्धे मनोहरे, प्लवंगमच्छन्दो विचक्षणमुत्कृष्टं शोभते ।

१७६ उपसंहरति, पअ पअ इति । आदौ पदे पदे गुरुमेव पिंगलः कथयति । एकविंशतिमात्रमिदं प्लवंगमं इदं तत्र मात्रामेकविंशतिमवगच्छ ।

१७७ यथा जम्प इत्यादि सुगमं ।

१७८. अथ लीलावती । यत्र छन्दसि लघौ गुरौ नियमो नास्ति । अस्मिन् स्थाने गुरुरित्यादि नियमो नास्तीत्यर्थः । अक्षरेष्वपि न नियमः एतावन्ति अक्षराणि भवन्ति इति नियमो नास्ति । अत्र विषमे समेपि वा स्थाने जगणः पतति । एवं यत्र छन्दसि कुत्रापि न नियमः । न गुरौ न लघौ नाक्षरे नापि च विषमे समे वा स्थाने पगणपाते नियमः । यथा तरङ्गघटनागमेन विषमे समे कुत्रापि न नियमः, सोपि प्रसरति दिक्षु विदिक्षु च अगम्ये गम्येपि । अष्टौ गणाः चतुष्कलाः पतन्ति निरन्तरमेकैकक्रमाः । अन्ते मूर्त निर्मितं सगणं पतति । कर्णमूलः कान्तो मनोहरो गणः । कमलवदनमित्यकलं छन्दः इत्यर्थश्चाह । परिपतति प्रसरति विविधप्रकारेण लीलया हेलया लीलावतीच्छन्दः । पदेषु द्वात्रिंशन्मात्रासु विरामकरं । अथ समाहार । लघौ गुरौ अक्षरे गणादौ न नियमः । केनापि प्रकारेण द्वात्रिंश-न्मात्राः । शेषे सगणस्तासु यथा कर्णम् ।

१८० यथा घर लग्गइ इत्यादि सुगमं ।

१८१ अथ हरिगीता, गण चारि इति । चत्वारो गणाः पञ्चकलाः संस्थाप्यन्तां द्वितीयस्थाने षट्कलं कुरुत । पदान्ते गुरुं कुरुत वर्णनेन सुखाढ्यं समाहरं । कलानां संख्यामाह दश स्थापयित्वा ततो दश कृत्वा ततो हयमानय कुरु इत्यर्थः । एतावता द्वादशाधिकशतं मात्राः ११२ पदचतुष्टये भवन्ति । अत्रोक्तस्य हरिणा गतिः चारि हेतैरुक्तमवति । पदे तु अष्टाविंशतिर्मात्रा भवति । एवं हरिगीता छन्दः प्रसिद्धं कृत्वा आनीतं । पिंगलेन व्याख्यानमुक्तं ।

१८२ तदेव द्रढयति, बीए इति । द्वितीयस्थाने षट्कलं संस्थाप्य पंच कलान् चतुरो गणान् दत्त । द्वादशाधिकशतं मात्रा भवति । मानय गुरुं अन्ते स्थापयत ।

१८३ यथा गअ गअहि इत्यादि सुगमं ।

१८४ अथ त्रिभंगी पढमं इति । प्रथमं दशसु विश्रामः । ततोऽष्टसु विश्रामः । ततः षट्सु विश्रामः । अंते यत्र गुरुः शोभते । तच्छंदः त्रिभंगीनामे

स्थितेनान्वय.। महीतल यन्मोहयति। सिद्धेः कवित्वसिद्धेः सरोवर भवति। वरतरुण छंदसि इति शेष.। दोषमाह। यदि पयोधरो जगणः पतति तदा किमिद मनोहर अपितु न सुन्दर। जगणो न भवतीत्यर्थः। यदि जगणयुक्त भवति तदा यस्य क्रियते तस्य क्वेरपि कलेवर हति। एतादृश त्रिभगीछदः सुखाय आनदाय भवति। इति भणति भणींद्रो विमलमतिः।

१८५ यथा सिर किज्जिअ गग इत्यादि सुगम।

१८६ अथ दुर्मिला, तीस इति। यत्र द्वात्रिंशन्मात्राः एतद्वक्ष्यमाण-लक्षणयुक्ता.। बुधजनराज पिंगलो भाषते, हे नरा इति सबोधन। यदि विश्रा-मस्त्रिषुस्थानेषु एतादृशवक्ष्यमाणेषु भागेषु। अपरमप्याह पदे पदे कर्णगणो दृश्यते। यतिस्थानमाह। तत्र प्रथम. दशसु विश्राम, द्वितीयोऽष्टसु, तृतीयः चतुर्दशसु कृतनियम.। यत् एतादृश छदस्त्रिभुवनवद्य यदि बुध्यते तदा दुर्मिलको भवति।

१८७ यथा जे किज्जिय इत्यादि सुगम।

१८८ अथ हीर, णाअ इति। नागः प्रभणति हीरनामक छद इति चतुर्थपद-शेषस्य योजय। यत्र त्रय षट्कला गणा अते रगण स्थापय। षट्कलेपि नैत्यमाह। हार गुरु स्थापयित्वा हे सुप्रिये शोभने काते विप्रगणैः सर्वलघुचतुष्कलगणैः साद्धल सहित। कलासख्यामाह त्रीन् कृत्वा द्वय कुरु। अकस्य वामतो गतिरिति गुणिते त्रयोविंशति कला' पदे भवति। एतावतीर्मात्रा पदे लेखय। दार्ढ्यमाह। को जानाति, न कोपि जानातीत्यर्थं। दर्पण भणति हीरनामक छद.। कीदृशं सुकवि-दृष्ट। सुकविना पिंगलेन दृष्ट।

१८६ सक्षेपेणाह, हार सुपिअ इति। हारो गुरु. सुप्रियो द्विलघुर्गण। तथाविधगणद्वय विप्रगणो वा हारानतर यत्र एव भिन्नशरीर संबद्धशरीर अते जोहल रगण स्थापय। त्रयोविंशतिमात्राभिर्हीरनामकं छदो भवति।

१९०. यथा धिक्क इत्यादि सुगम।

१९१. अथ जलधर, पअ पढम इति। पदे प्रथमे पतति यत्र शृणु कमलमुखि। दशसु १० वसुषु ८ पुनरपि वसुषु ८ विरति. कृता सर्वत्र पदे द्विजगणो दीयते। तत पर सगणो दीयते। श्रीफणिपतिर्भणति। कथभूत शोभनः कविवर। दश त्रिगुणा कला' कुरु। पुनरपि युगल सस्थापय। अंकतो यथा ३२ अनेन प्रकारेण चतुरश्चरणान् सस्थापय। अथ यदि कथमपि मध्ये गुरु तदा न परिहर। एकेन द्वयेन वा गुरुणा न परिहरणीयमित्यर्थ। बुधजनमनोहरं जल-धरच्छद।

१९२ सक्षेप माह, बत्तीस इति। द्वात्रिंशन्मात्रा भवन्ति। अन्ते सगण

संस्थापय। सर्वे लघव क्रियते। यदि गुरुः क्रियते, तदा एको न किंतु द्वौ गुरू पादे भवतः।

१६३ यथा पुर इत्यादि स्पष्टमुकरणं सुगमं॥ १६३॥

१६४ अथ मदनगृहं, पिअ इति। प्रिये मयामि छंदं इति शेष। मनोहरं मनःप्रियं पयोधरं अग्रे मेलयित्वा, हे सुमुखे, एतच्छंदः सर्वं सम्पूर्णं वा सुखयति। मन स्थिरं कुरु स्थिरेण मनसा कुरु पार्श्व इत्यर्थः। यदि रागेऽनुरागे वर्तते तदा छवियमाति अनुसर। छंदस्येऽस्य छवियमाति। छंदसाघ्राणमाख्य छंदो भणितं। यथा हृदये परमार्थ श्लथं स्खलति सर्वथा रमरणमापं याति। तदथनि कामकारमाह। द्वौ यस्मौ लघू प्रकृत्य संस्थाप्य गुरुं गंधं बद्धा, तथै रसप्रमाणः प्रस रचिव, नव चतुष्कलगणाः प्रमपनित परापां। अंते गुरुं दत्त्वीकृत्य कर्णमूतं गुरुं दरं मेड। यदि आगरं कृत्वा सावधानीभूय निरूप्यते। तदा दरागुरुयुक्तं। चतुः संख्यो पादचतुष्टये चत्वारिंशदनुक्रमा गणा भवंति। एवं मदनगृहं भण्यते।

१६५ संक्षेपेण उक्तं स्थिरीकरोति बे वि इति। द्वे मात्रे शिरसि संस्थाप्य अंते गुरुं कुरु। मध्ये च नव चतुष्कलगणान् दत्त्वा मदनगृहं कुरुत।

१६६ यथा बेढि कंस इत्यादि सुगमं।

१६७ अथ मरहट्टा एहु छंद इति। हे सुरुचणे ि[illegible] पिंगल नागो जल्पति। विश्राम्यति दशसु अक्षरेषु। पुनरष्टाक्षरेषु। पुनरेकादशाक्षरेषु। अत्र अष्टादशछंदेन मात्रा ज्ञातव्याः। मात्रावृत्तेऽस्य छंदसः कथनात्। तदथनिका प्रकारमाह। आदौ षट्कलो गणः। तदा पंच चतुष्कलगणाः। अंते गुरुं लघुं च देहि। एको गुरुरेको लघुरन्ते भवति। षोडशाधिकाः शतं मात्रा ११६ भवंति संपूर्णाः। एवं मरहट्टानाम छंदो भण्यते।

१६८ यथा जद इत्यादि सुगमं।

अथ पूर्वोक्तछंदसां नामानि कथयति तं गाहू इति। गाहू १ गाहा २ विगाहा ३ उग्गाहा ४ गाहिनी ५ सिंहनी ६ स्कंधकं ७ दोहा ८ उक्कच्छा ९ रोला १० गन्धाना ११ चतुष्पदिका १२ घत्ता १३ घत्तानंदा १४ इति पुनरपि। पट्पद १५ पज्झटिका १६ अडिल्ला १७ पादाकुलकं १८ चवपदी १९ पद्मावती २० कुण्डलिका २१ गगनांगं २२ द्विपदी २३ लंबा २४ शिखा २५ माला २६ चुलियाला २७ सौराष्ट्रा २८ हाकली २९ मधुभारः ३० आभीरः ३१ दंडकला ३२ दीपकं ३३ सिंहावलोक ३४ प्लवंगमः ३५ लीलावती ३६ हरिगीता ३७ त्रिभंगी ३८ तथा दुर्मिला ३९ हीरः ४० जलहरः ४१ मदनगृहं ४२ मरहट्टा ४३ इति त्रयश्चत्वारिंशत् छंदांसि भवंति।

इति पिंगलसारविकाशिन्यां टीकायां मात्रावृत्तपरिच्छेदः समाप्तः।

[वर्णवृत्त प्रकरण]

अथ वर्णवृत्तानि । तत्रैकाक्षरपादतः समारभ्यते ।

१. सी सा इति । श्री । यत्र गुरुः ।

२. यथा गौरी रक्षतु त्वामिति शेषः ।

३. अथ कामः, दीहा इति । द्वौ दीर्घौ यः स कामोभिरामः ।

४. यथा जुज्झे इति । युद्धे तुभ्यं शुभं ददातु ।

५. अथ मधुः, लहु इति । लघुद्वयं यत्र तत् मधुनाम छंदः ध्रुवं निश्चयेन ।

६. यथा हर इति । मम मलं हरो हरतु ।

७ अथ मही, लगो इति । लघुर्गुरुर्यत्र सा मही नाम कथिता ।

८ यथा, सती उमा रक्षतु त्वा ।

९ अथ सारु, सारु इति । सारुरेष । यत्रादौ गुरुः । द्वितीयो लघुः ।

१०. यथा संभु इति । शंभुरेष शुभं ददातु ।

११ अथ ताली, तालो इति । ताली जायते । यत्र गुरुः कर्णो द्विगुरुर्गुणः त्रिभिर्वर्णैर्जायते इत्यर्थः ।

१२ यथा अह्माण इति । अस्मान् युष्मान् ।चंडेशो रक्षतु सः ।

१३ अथ प्रिया, हे पिए इति । प्रियाछन्दो लिख्यते । हे प्रिये इति सम्बोधनं । त्रिभिरक्षरैः । अक्षराणि किं रूपाणीत्याह । रे रगणरूपाणि ।

१४. यथा सङ्करो इति । शंकरः शिवः शंकरः कल्याणकरः । पावनः पवित्रताहेतुः न अस्मान् पातु रक्षतु ।

१५ अथ शशी, ससी णो इति । शशी छन्दो भवति । किं भूतं यगणेन नीतं यगणसहितं फणींद्रेण भणितं ।

१६ यथा भवाणी इति । भवानी हसती दुरितं हरतु ।

१७ अथ रमण, सगणो इति । रमणच्छन्दो भवति । हे सखि सगणेन कथितं ।

१८ यथा ससिणो इति । शशिना रजनी पत्या तरुणी शोभते इति शेषः ।

१९ अथ पंचालः, तक्कार इति । तकारस्तगणो यत्र दृष्टः स पंचाल उत्कृष्टः ।

२० यथा सो इति । स ददातु सुखानि, संहृत्य दुःखानि ।

२१ अथ मृगेंद्रः, णरेंद इति । नरेंद्र जगणं स्थापय, मृगेंद्रनामकं छंदः कुरु ।

४१ अथ शेषः, चाराद्दा इति यत्र द्वादश मात्राः। त्रयः कर्णगणा भवंति। देव द्रक्ष्यति, हारषट्कस्य गुरुषट्कस्य वधक शेषराजच्छंदः।

४२. यथा उद्दामा इति, सुगम।

४३. अथ डिल्ला, पिअ इति। प्रिये डिल्लानामछंदः किं लक्षण सगणेन युक्त, षट्वर्णात्मक. पादः यत्राष्टौ कलाः स्थिता।

४४ यथा पिअ भत्ति इत्यादिसुगम।

४५ अथ द्वियोधा अक्खरा इति। द्वियोधा उक्ता यत्र षट् अक्षराणि पादपादे स्थितानि। द्विगुणाः पचमात्रा. यस्या भवति। दशमात्रा इत्यर्थः।

४६. यथा कस सचारणा इत्यादि सुगम।

४७. अथ चौरसा, चउ इति। फणिपतिना पिंगलेन भाषिता चौरसा स्थापय। यत्र द्विजवर. चतुर्लघुगणान्। ततः कर्णो द्विगुरुगणो भवति। कीदृशौ। स्फुटशरसवर्णौ व्यक्तषड्वर्णामित्यर्थ.।

४८. अथ णअण इति सुगम।

४९ अथ मथाना, कामा इति। तत् मथाननामक छद. बुध्यस्व। कामावतारस्य अर्द्धेन पादेन भवति। कामावतारोऽग्रे वक्ष्यमाणो विंशति-कलार-चितपादः। शुद्धा दश मात्राश्चात्र भवति।

५० यथा राआ इत्यादि सुगम।

५१ अथा शंखनारी, पडा इति। पड्भिर्वर्णैरक्षरैर्बद्धा भुजगप्रयातपदार्द्धा; भुगगप्रयातपदार्द्धेन भवतीत्यर्थः। भुजगप्रयातमग्रे चतुर्भिर्यगणैर्भविष्यति। तदर्धेन यगणद्वयेण भवति पदचतुष्टय यत्र, सा शंखनारी कथिता।

५२. यथा गुण इति सुगम।

५३. अथ मालती, धम्र इति। हे काते सा मालती। सा का यस्या आदौ ध्वजः। ततो द्वौ शरौ। ततस्तृतीय मणि जानीहि, अन्ते लघु रचयित्वा।

५४. यथा करा इति सुगम।

५५. अथ दमनक, दिअ इति। दमनकं जानीहि फणिपतिः पिंगलो भणति। यत्र द्विजवरश्चतुर्लघुर्गणः प्रथम क्रियते। ततः सुप्रियो द्विलघुर्गणो भण्यते।

५६ यथा कमलणअणि इति सुगम।

५७. अथ समानिका, चारि इति। हे प्रिये सा समानिका कथिता। यत्रा-तरा चत्वारो हारा गुरवः क्रियंते, त्रयो लघवो दीयंते सप्तभिरक्षरैरास्थिता।

५८. यथा कुञ्जरा इत्यादि सुगम।

५९ अथ सुवास, भणइ इति। भणामि सुवास लघुसु विशेषः। आदौ चतुर्मात्रिक विरच्य अते भगणः क्रियते।

६० यथा गुरुत्वम इत्यादि सुगमं ।

६१ अथ करहंच, चरण गण इति चरणे प्रथमे विप्रगणचतुर्थयुगंक स्थाप्यते । तस्यांते भगणः यत्र स करहंचो मण्यते ।

६२ यथा विप्रउ इति । यदि यदा जीवनं त्यजामि गत्वा देहं तीर्थे इति शेष रमणे सोपि शोपि भवतु निर्गुणः सगुणो वा । परन्तु विरहो मा भवतु ।

६३ अथ शीर्षरूपकं, छत्ता इति । तत् शीर्षरूपकं नाम छंदः । यत्र दश दीर्घा गुरवो भ्रमंते । तेरेव गणः कर्णाः त्रिगुरुगणा भ्रमंते गुरु एवं चतुरश माता भवति ।

६४ यथा चंचा इति सुगमं ।

६५ अथ विद्युन्माला, विज्जुमाला इति । विद्युन्माला षोडशभिर्मात्राभिर्भवति । ताभिरेव पदे लोकाश्चत्वारश्चत्वारः कर्णगणा त्रिगुरवो गणा भवन्ति । एवं रूपकाणि चत्वारि पदानि यस्याः । पभिणवति जानीतेति शेषः । विद्युन्माला ।

६६ यथा उम्मत्ता इति सुगमं ।

६७ अथ प्रमाणिका, लहू इति । लघु गुरु निरन्तरौ यस्यां वा लघु गुरुनिरन्तरा प्रथमं लघुनिरन्तरं गुरुर्भवति इत्यर्थः । सा प्रमाणिकाऽष्टाक्षरा अष्टाक्षरपठिता प्रमाणिका कथनावसरे एव षोडशाक्षरमपि कथयति । यदि प्रमाणिका द्विगुणा क्रियते तदा नाराची मण्यते । नाराचच्छन्दोऽग्रमे कथयति ।

६८ यथा णिसुम्भ इत्यादि सुगमं ।

६९ अथ मल्लिका, हार इति । मल्लिकाछन्दो जानीहि । अष्टभिरक्षरैः कि मुक्ते हारो गुरुर्गन्धो लघुस्तयोर्बन्धनेः प्रथमं गुरुः, तदंतरं लघुरित्यर्थः । तत्र द्वादशमात्रा भवतीति जानीहि ।

७० यथा येन क्लिन्नविप्रवंशः । तत्र के इत्यादि ज्ञिविनुपिकमेषि काराः । स च पातु करिणा येनागो तुभ्यं शुभं ददातु ।

७१ अथ तुंगा तरल इति । हे तरलनयने तुंगाच्छन्दो भवति प्रथम गणे सुरसः शोभन । नगणयुगलेन कृतः । अनन्तरं गुरुद्वयभिरतयः ।

७२ यथा कमलभ्रमरजीव कमलमुखनरीप ताभिर्विधिभिर-तिम्नाः करोति तरणिबिम्ब ।

७३ अथ कमलं पठम इति । एवं प्रकारेण कमलं भवति । यत्र प्रथमं चरणे विप्रगणचतुर्थयुगले भवति । द्वितीय तथा नरेन्द्रो जगणः । तत्र शेष गुरुसहितः ।

७४ यथा विसमर इति सुगमं ।

७५. अथ महालक्ष्मी, दिट्ठ इति। हे शुभे, महालक्ष्मीं जानीहि यत्र योधा रगणो दृष्ट । या नागराजेन पिङ्गलेन रचिता पादे मात्राभि पञ्चदश-कलाभिरिना मित्यर्थ ।

७६. यथा मुंडमाला इत्यादि सुगम ।

७७ अथ सारङ्गिका, दिअ इति। हे सखि सारङ्गिका कथिता। यत्र द्विजन-श्चतुर्लघुर्गण। तत सगण एव प्रकारेण यत्र पदे मात्राणां गुणन। शरा पञ्च मुनि सप्त ७ एताभिर्मात्राभिर्लब्धा द्वादशमात्राभिर्गुणितेत्यर्थ ।

७८ यथा हरिण सरिसा इत्यादि सुगम।

७९ अथ पाइत्ता, कुन्तीपुत्ता इति। पाइत्तारूपकं कथित तत्। यत्र कुन्तीपुत्रद्वय द्विगुरुगणद्वय भवति। तृतीयगणे विप्रश्चतुर्लघुर्गणो भवति ध्रुव निश्चित। अन्ते हारो गुरुरिति ।

८० यथा फुल्ला इति। प्रफुल्ला नीपा। भ्रमति भ्रमर। दृष्टा जल श्यामला। नृत्यति विद्युत् प्रियसहिता। आगमिष्यति कांत कथय कदा।

८२ अथ कमला, सरस इति। हे रमणि, यत्र सरसौ द्वौ द्विजवरगणौ चतुर्लघु-गणौ। सगण प्रतिपदे। चतुर्लघुगणद्वयांतर गुरुरिति यावत्। एव दशकला यत्र भवति सा कमला।

८३ यथा चल इति। चचलकमलनयना स्खलति स्तननिवसन यस्या। हसति परनिकटे। असती ध्रुव वधूटी।

८४ अथ चिंता, रइअ इति। एषा फणिना चिंता रचिता, यस्या सर्वशेषे गुरु युगल गुरुद्वय। शिरसि प्रथमं द्विजवरश्चतुर्लघुगंण। मध्ये राजा जगण.। गुणनाक एव स्वभावा विंत्रेत्यर्थं.।

८५. यथा चल इति। चलति चल चचल वित्तमेतत्। नश्यति तरुणत्वमेपः सुपुरुषगुणेन बद्धा स्थिराऽवतिष्ठते कीर्तिः। तस्मात्कीर्तिरुपार्जनीयेति भाव.।

८६ अथ तोमर, जसु इति। प्रभणति नागनरेन्द्रो नागराज। एव जानीहि तोमरछद। यत्रादौ हस्तचतुष्कलो गणो विजायते। ततो द्वौ पयोधरौ जगणौ जानीहि।

८७ यथा चलि इति। चलित्वा चूते कोकिलशाव मधुमासे पचम गायति। न खलु कांतोऽद्याप्यायाति।

८८. अथ रूपमाला, णाअ। राआ इति नागराजो जल्पति सार। चत्वारः कर्णा द्विगुरवो गणा यत्र अते हारो गुरु.। यस्या पादे अष्टादश मात्रा भवति तत् छदो रूपमाला इति जल्पित।

८९ यथास्य जं फुल्ले इति । यथा नृत्यति विद्युत् । मेघोऽन्धकारः, प्रफुल्लिता नीपाः, शब्दायते मयूराः, शीतपवने मन्दाः शीता वाताः, कंपते कायः, कान्तो नागतः ।

९० अथ संयुता छन्दः इति । तत् छंदः संयुतनामकं स्थापितं । यस्य आदौ ह्रस्वोऽन्त्यगुरुः चतुष्कलगणो निवेशः । ततः पादद्वयं विधीयते । गुरुरन्ते यस्य पिंगले न कल्पितः ।

९१ यथा छन्दः इति । त्वं याहि सुन्दरी आत्मना परित्यज दुर्जनस्थापनां । विकसति केतकीकुसुमं निमग्नमेघागमिष्यति वराकोऽनुकम्प ।

९२ अथ चम्पकमाला, हार इति । चम्पकमाला छंद इति उच्यते । यत्र हारो गुरुः प्रथमं स्थाप्यते । ततः काहलद्वयं लघुद्वयं । ततः कुन्तीपुत्रो द्विगुरुर्गणः । गुरुसंयुक्तः । ततो ह्रस्वोऽन्त्यगुरुः चतुष्कलगणः क्रियते । ततो हारो गुरुः स्थाप्यते ।

९२ यथा ओगरभत्ता इत्यादि सुगमं ।

९३ अथ सरस्वती, दीह इति । ध्रुवं निश्चितं सरस्वतीनाम छंदः कथितं यत्र दीर्घो गुरुः । ततो लघुद्वयं ततो दीर्घः । ततो लघुरेकः । अन्ते पयोधरो जगणः । ततो ध्वज आदिलघुस्त्रिकलगणः । एवं चतुर्दशमात्रा भवति ।

९४ यथा पुत्त इत्यादि सुगमं ।

९५ अथ सुषमा, कण्णो इति । एषा सुषमा छंदसि दृष्टा । यत्र प्रथमं कर्णः प्रकट्यः । द्वितीयो ह्रस्वोऽन्त्यगुरुश्चतुष्कलः । तृतीयः कर्णः । चतुर्थः पुनर्हारः । पदे षोडश कला भण्यते । तासु षट् पतन्ति गुरवः ।

९६ यथा भठ्ठा इत्यादि ।

९७ अथ अमृतगति दिअवर इति । अमृतगतिर्भुवं कथिता यत्र द्विजवरश्च लघुयुग्मस्ततो हारो गुरुः प्रकथितः । पुनरपि तथैव कुरु द्विजवरपश्चान्तरं गुरुरित्यर्थः । एवं सति मध्ये लघवो द्वौ गुरू यत्र भवति ।

९८ यथा तरुण इत्यादि सुगमं ।

९९ अथ बन्धु णील इति । बन्धु क्रियते । निर्भूय । नीलस्वरूपः । यथा नीलनामकं छंदस्तथैव अत्र त्रयो भगणा भवंति । गुरुद्वयं अन्ते कुरु । षोडश मात्रा पदे पदे स्थाप्यते ।

१०० यथा पंडउ इत्यादि सुगमं ।

१०१ अथ सुमुखी, दिअवर इति । सुमुखी कविजनवल्लभा भवति । यस्यां द्विजवरश्चतुर्लघुगणस्ततो लघुद्वयं । ततो पतनं गुरुं परित्यज्य । ततो ह्रस्वोऽन्त्यगुरुश्चतुष्कलगणः । पादे चतुर्दश कलामात्र कविना पिंगलेन कथिताः ।

१०२ यथा मार इत्यादि सुगमं ।

१०३. अथ दोधकः, चामर इति। दोधकछंदः फणींद्रेण कथित। यत्र च प्रथम चामरः गुरुरनतरं काहलयुग लघुद्वय स्थाप्यते। ततो हारो गुरुस्ततो लघुद्वय भ्रियते। पदाते घर्णगणो द्विगुरुर्गण. भ्रियते।

१०४. यथा पिंग इत्यादि सुकर।

१०५. अथ शालिनी, कण्णो इति। सर्पराजेन पिंगलेन सा शालिनी भणिता। यत्र द्वौ कर्णौ द्विगुरुगणौ तत एको हारो गुरुर्विसृज्यते। तत शल्यो लघुरेकस्ततः कर्णो द्विगुरुर्गणः, ततो गध एको लघुस्ततः कर्णौ द्विगुरुगणो ज्ञायते। पादे विंशति रेखाः कला गण्यते।

१०६. यथा रडा इति। रडाचडादीक्षिता धर्म्मदारा मद्य मास पीयते खाद्यते च। भिक्षा भोज्य चर्म्मखण्डं च शैय्या कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः।

१०७ अथ दमनक., दिअवर इति। फणिभणित दमनकं भण्यते। यत्र द्विजवर द्विजयुग चतुर्लघुगणद्वय भवति। ततो लघुद्वय भण्यते पदे पदे वलय गुरु परिस्थापय अते इति शेष', चतु.पदे चतुर्वसुकल द्वादशकलमित्यर्थः।

१०८ यथा पअलिअ इत्यादि सुकर।

१०९. अथ सेनिका, तालणद इति। नागराजेन पिंगलेन जल्पिता एषा सेनिका। यस्या तालो गुरुर्नंदो लघु. समुद्रसख्यस्थाने स्थानचतुष्टये। ततो योधगणेन रगणेन पूर्णा, शेषे रगणो भवतीत्यर्थः। अत्र एकादशाक्षराणि जायते।

११० यथा झत्ति इत्यादि सुकर।

१११ अथ मालती, कुती इति। नागेशो मालतीनाम छदो जल्पति। यत्र कुतीपुत्रा कर्णगणा. पच ज्ञायते। अते शेषे कात. सुदर एको हारो गुरुर्ज्ञायते। पदे द्वाविंशतिर्मात्रा भवंति।

११२. यथा ठामा इति। स्थाने स्थाने हस्तीयूथा प्रेक्ष्यते। यथा मेघा मेरुशृगे दृश्यते। वीरहस्ताग्रे खड्गा वर्तन्ते यथा विद्युन्मेघमध्ये नृत्यति।

११३ अथेंद्रवज्रा, दिज्जे इति। फणींद्र इद्रवज्रा जल्पति ध्रुव निश्चित। यत्र हीरकयुगल पदेषु दीयते हीरक इति पचकलगणस्य नाम। अते तदनतर नरेंद्रो जगण। तत शेषे पदावसाने गुरुद्वय। पदे मात्राश्चाष्टादश सख्या भवति। समानाधिका इत्यर्थ। सुसज्जिता शोभनीकृत्य सज्जिता लिखिता.।

११४ यथा तत इति। तत्र मत्र न किमपि जाने, ध्यान च न किमपि गुरुप्रसादात्, मद्य पिवामि महिला रमामि, मोक्ष च यामि कुलमार्गलग्न इति कस्यचिद् योगिनो वचन।

११५ अथोपेंद्रवज्रा, णरेंद्र इति। फणिराजेन उपेंद्रवज्रा दृष्टा छेका विद-

तोटकनाम छंदो भणित यत्र ध्रुव निश्चितं चत्वारः सगणाः पतति। गणे पदे षोडशमात्रासु विरामकर ।

१२८. यथा चल गुञ्जर कुजर इत्यादि सुकर ।

१२९. अथ सारगः, जा चारि इति । तत्सारगनामक रूपक पिंगलेन दृष्टं । यत् चतुस्तकारसभेदेन उत्कृष्ट विभक्तमित्यर्थः । यत् पदे विश्रामत्रयेण युक्त । न ज्ञायेत कातिरस्य छदसोऽन्योन्यभागेन ।

१३०. यथा रे गोड इत्यादि सुकर ।

१३१. अथ मौतिकदाम, पओहर इति । मौक्तिकदाम छदो भवति । यत्र चत्वारः पयोघरा जगणाः प्रसिद्धाः त्रयाधिकास्त्रयोदशमात्रा यत्र भवति । षोडश मात्रा भवतीत्यर्थ. । न अत्र पूर्वं प्रथम हारो गुरुर्न वा अते । अत्र षट्पचाशद-धिका. शतद्वय मात्रा भवति ।

१३२. यथा कआ भड इत्यादि सुकरं ।

१३३ अथ मोदक, तोडअ इति । मोदकच्छन्दसो नामानि जानीत । यत्र तोटकच्छन्दसो विपरीता गणा स्थाप्यते । तत्र सगणचतुष्टयं प्रसिद्ध भवति सगणो यदि विपरीत क्रियते तदा भगण एव भवति । कीर्तिलुब्ध पिंगलो जल्पति ।

१३४ यथा गज्ज इत्यादि सुकर ।

१३५. अथ तरलनयनी, णगण इति । सुकत्रय कमलानि तत्र रविः सूर्यः फणि पिंगल तरलनयनीं भणति यत्र चत्वारो नगणा भवति । सर्वे लघव एवात्र भवति । गुरुर्यत्नादपि नात्र निरूप्यते ।

१३६ यथा कमलणअण इत्यादि सुकर ।

१३७. अथ सुन्दरी, णगण इति । हे सुमुखि पिंगलेन सुन्दरी कथिता । यत्र नगणस्त्रिलघुर्गण , ततश्चामर गुरु , तत शल्ययुगल लघुद्वय भवति । अत्र एको रगणः पदाते दृष्ट ॥

१३८. यथा वह इत्यादि सुकर ।

१३९ अथ माया, कण्णा दुण्णा इति । माया भणिता । यत्र द्वौ कर्णौ द्विगुरुगणौ ततश्चामर गुरुस्तत शल्ययुगं लघुद्वय, ततो द्वौ दीर्घौ गुरू ततो गन्धद्वयं लघुद्वय प्रपद्यते । अते शेषे चामर गुरुरनतर हारो गुरव. शोभनकाया सुन्दर शरीराः । यत्र गुणयुक्ता छन्दोयुक्ता द्वाविंशतिर्मात्रा भवति ।

१४० यथा ए अथीरा इत्यादि सुकर ।

१४१ अथ तारका, दुइ इति । हे सखि तारकनाम्न. छन्दसो नाम भण्यते । पदे आदौ लघुद्वय स्थापय ततो गुरुस्तदनतर शल्ययुत लघुद्वय च । ततोपि गुरुर्लघुद्वयमेव दीयते । पदात प्राप्य गुरुद्वय क्रियते ।

जल्पति। यत्र सप्त कर्णा द्विगुरवो गणा दत्तास्तदते शेषे एको हारो गुरुर्दत्तः। पञ्चदश हारा गुरवो यत्र पदे त्रिंशन्मात्रा भवन्ति। एतच्छन्दश्चतुष्टयेन कृतेन कृत्वा कीर्तिर्गृह्यते। यः शृणोति स शिरःकंप करोति।

१५४. यथा उम्मत्ता जोहा इत्यादि सुकरं।

१५५. अथ चामरः, चामरस्स इति। चामरस्य छन्दसस्त्रयाधिकविंशति मात्रा भवति तासु अष्ट हारा गुरवोऽन्तरातरा भवंति। सप्त सारा लघवो निर्मलाः। अत्र चादौ अंते च गुरु. सारः ज्ञातः। हे कामिनि पंचदशाधिकैरक्षरैरेतच्छंदो भवतीति पिंगलेन भण्यते।

१५६. यथा झत्ति जोह इत्यादि सुकरं।

१५७. अथ निशिपाल., हार करु इति। सर्पपिंगलो निशिपाल भणति काव्यमना, अत्र हारो गुरुः क्रियते। ततस्त्रयः शरा लघवः एवं प्रकारेण गणत्रय कुरु, अंते शोण न कुरु। एवं पंचगुरव. द्विगुणास्तेषां लघवो दश संख्या भवतिं। हे चंद्रमुखि सखि अत्र विंशति संख्या लघूना जानीहि।

१५८ यथा जुज्झ भड इत्यादि सुकरं।

१५९ अथ मनहंस, जहि इति। मनोहंसनामकं छंद. प्रसिद्धं पिंगलेन व्याख्यातं यत्रादौ हस्तो गणोन्तगुरुश्चतुष्कलगणो भवति। ततो द्वौ नरेंद्रौ जगणौ दीयेते। ततः एको गुरुः दीयते। तत. काहलद्वय लघुद्वयं क्रियते ततो गुरुं स्थापयित्वा गंधो लघुर्दीयते, ततोन्ते गुरु. स्थाप्यते।

१६०. अथ जहि फुल्लु इति सुकरं।

१६१. अथ मालिनी, पढम इति। मालिणीनाम छंदो भण, किं भूतं रससहितं षड्भि. कलाभि इत्यर्थ.। द्वितीयस्थाने निबद्ध. तत' शरो लघुः। ततो गुरुद्वयं ततो गन्धो लघु। ततोन्ते कण्णो द्विगुरुर्गणो यत्र निबद्धः। सरसे सहिते इति नायिकासंबोधनं। कीदृशा चित्तपदे निबद्धा लिखितामित्यर्थः।

१६२ यथा वह इति। वहति मलयवात' हंत कंपते कायः हंति श्रवणरंध्रं कोकिलालापबंध, श्रूयते दशसु दिक्षु भृंगझंकारभार'। हंति हंति हले चेटि चंड. प्रचण्डश्चाण्डालरूपो मार.।

१६३ अथ शरभ, भणिअ इति। फणिपतिना पिंगलेन शरभनामकं छन्दो भणितं। यत्र सुप्रियगणो द्विलघुर्गणः प्रथमं भणितं। ततो रसगणेन षट्कलसर्वलघुगणेन सहितं ततो द्वौ करतलौ द्वौ चतुष्कलगणौ पठे लघो. प्रकारान्तरमप्याह चत्वारः चतुष्कलगणा' प्रतिपदं जाता'। हे सुप्रिये गणय जानीहि।

१६४ यथा तरल इत्यादि सुकरं।

१६५. अथ नाराच, णरेंद इति। नाराचनामकं प्रसिद्धं छंद' पिंगलेन

सहासमुग्धमुखपद्म अगुरुधूपधूमोज्ज्वल ज्वलन्मणिदीपकं मदनकेलिगृहाडम्बरः निशागुणमनोहरः सुतल्पा शय्या राजते शोभते ।

१७५. अथ मालाधरः, पढम इति । फणिशार. फणिश्रेष्ठो भणति मालाधरच्छन्दो जानीहि । यत्र प्रथम विप्रश्चतुर्लघुगणो दीयते ततो भूपतिर्जगणः स्थाप्यते । ततो पञ्चरण आदिगुरुश्चतुष्कलगणः ततोपि भूपतिर्जगण प्रदत्त चामरद्वयाधिक गुरुद्वयाधिकं यथा स्यादेवं विमलो गन्धो लघुस्ततो हारो गुरु. स्थाप्यते । उज्ज्वल छन्द इत्यर्थ. ।

१७६. यथा वहइ इत्यादि सुकर ।

१७७. अथ शिखरिणी, धआ कण्णा इति । हे कमलमुखि एषा शिखरिणी नाम छन्दः, यत्र आदौ ध्वजः, ततो द्वौ कर्णौ, तत सुप्रिययुगल लघुद्वयात्मक गणद्वय, ततो गन्धो लघुरेक, ततो गुरु पुनरपि हार , ततश्चतुश्चरणे नारी इति त्रिलघोर्नाम अन्ते च चामर गुरु । सप्तदश वर्णा नवैव लघव. अष्टौ फणिना गुरव , फणिराज पिंगलो जल्पति ।

१७८ यथा परं जोण्हा उण्हा इत्यादि सुकर ।

१७९. अथ मुक्ताहारः, दिअपिअ इति प्रथम द्विजः । ततः सुप्रिय लघुद्वयं ततो गुरु , ततो गन्धो लघु , तत. कर्णो द्विगुरुर्गण, ततः लकारो लघुः स्थापित ततः पुनश्च गुरुयुग ततो लघु ततो गुरुयुगल शरः लघुः ततो हार एक. । हे कमलमुखि मौक्तिकहार फणिपतिर्भणति हे प्रिये ।

१८०. अथ अमिअ इत्यादि सुगम ।

१८१. अथ मञ्जीरा, कुंतीपुत्ता इति । सर्पराजः पिंगल. शुभकाय शुद्धशरीरो ध्रुवामव्यभिचारिणीं मञ्जीरा जल्पति । यत्र त्रयः कुंतीपुत्रा द्विगुरुगणा एकस्मिन् पादे चरणे मस्तके प्रथमे स्थाप्यन्ते दीयते, ततो हारो गुरु , ततो हस्तोतगुरुश्चतुष्कल गण , तत कंकणद्वय गुरुद्वयं, ततो गन्धद्वय लघुद्वय, चत्वारो हारा चत्वारो गुरव पादा यत्र सज्जन्ते । कीदृशः पिंगल भव्याकार ।

१८२. यथा गज्जे मेहा इत्यादि सुगम ।

१८३. अथ क्रीडाचंद्रः, जे इदासण इति । फणींद्र पिंगलः क्रीडाचंद्रनामकं छंदो भणति । निबद्धं निबद्धभूमि छंदो ग्रथो यत्र । इंद्रासण पञ्चकलगणः पर पादे भवति नान्यो गणः । सुखयति सुख ददाति । तत्राष्टादशसख्यास्तरडा अक्षराणि स्थाने शोभते । यत्र कलाश्च दशत्रिगुणास्त्रिंशत्सख्या भवति । एतेनैतदुक्तं भवति । अष्टादशभिरक्षरैर्यत्र त्रिंशन्मात्रा. कार्या इति ।

१८४. यथा जहा भूत वेताल इत्यादि सुगम ।

१८३ अथ चर्चरी, आइ रगण इति । हे सुंदरि नागराजः चर्चरी भणति । किंभूता मनोमोहनी । यां श्रुत्वा मनो मोहमायाति । यत्र आदौ रगणः । ततो हस्तोऽन्त्यगुरुचतुष्कलगणः । ततो काहलो लघुः । ततो मध्ये तालं आदिगुर्वष्टकलगणं देहि । ततो पदो लघुः तथैव गुरुश्च स्थानद्वये पतति सर्वसार्धविंशत्या वर्णाः कथिता चर्चरीछन्दः । अतः काहलद्वयं लघुद्वयं ततो गुरुः । ततः तालं लघुं ततोऽपि कंकणं गुरुं पूरय ।

१८५ यथा पाअ णेउर इत्यादि सुगमं ।

१८७ अथ शार्दूलसाट्टकं, मो सो जो इति । पिंगलकविः शार्दूलसाट्टकं कथयति । यत्र मो मगणः, स सगणः, जो जगणः, तत् सगणः, ततस्तगणं एव ततोऽपि गुरुर्भवति । अतःपरेन पिंडसमसंख्यापि भवति । तत्र पिंडं शरीरं तत्र तत्स्थानपिण्डस्य कला विंशत्यधिकचतुःशतसंख्या भवति । तथापि मात्रामाह । योनिरशीतीति योनिर्भेदरचनं कलायाः स च गुरुः । अयमर्थः । गुरुकमेका कला अशीतीति छन्द, यत्र पञ्चशतविरामः । चत्वारः पादाः द्वात्रिंशत् रेखा एवं गणनीयमात्राः सर्वानि कथयित्वा परिशेषात् गुरुसंख्यां कथयति । एकोनचत्वारिंशत् नाम संख्यकाश्च गुरवो भवति । एतेन शार्दूल इति संज्ञया मध्ये गुरवः ।

१८८ यथा जे लंका इति । ये लंकागिरिमेखलायाः स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगीस्फुरत्फणावलीपवनेन दरिद्रतां प्राप्ताः इदानीं मलयानिला विरहिणीनिश्वासपरिपूरिताः सद्यः शिशुरवोऽपि मन्यन्ते बालाः स्वस्वपूर्णा इव ।

१८९ तस्यैव प्रस्तारमाह पत्थारे इति । शार्दूलसाट्टकं जानीहि । यत्र प्रस्तारे शंखनिभानि त्रीणि चामराणि भवन्ति यतो गुरवो भवन्ति । कर्णेनोक्तानि दर्शयन्ते । तथा द्वौ लघू ततश्चामरं गुरुः, तथा पुनर्गन्धो लघुः, ततश्चो गन्धा लघवः तथा त्रीणि चामराणि यतो गुरवोऽपि ततो गंधो लघुः, ततो द्वे चामरे द्वौ गुरू शोभेते । अवसरे आदिगुरुविरामो गण इत्यर्थः ।

१९० यथा जं धोअंजण इति । यतो धौतांजनशोभं लोचनयुगलं विलासकामं मुखं इत्याकृष्टे केशपाशलताच्छन्ने पूर्णेन्दुबिम्बमिव, यस्य स्मितावलं विमुग्धं तस्मै स्नानाग्रेशिखिला आनीता योगेश्वरेणापि जगत्त्रुबैकजननी ।

१९१ अथ चंद्रमाला ठवि इति । उरगकविः पिंगलो विमलमतिरवनतमतिः चंद्रमालां कथयति । यत्र द्विजवरयुगलं स्थापयित्वा मध्ये करतलं चतुर्गुरुचतुष्कलगणं कुरु । ततोऽपि द्विजवरगणद्वयं कुरु । मध्ये करतलमपरमध्ये यो भवतीतिगुरुचतुष्कलकरो भूत्वा तस्मादन्तलघुगणद्वयं कुर्वित्यर्थः । यत्र विमलं वचनं श्रुत्वा मनस्येतो यदि स्थापयति नान्यत्र मनो यातीत्यर्थः ।

१९२ यथा अमिअ इत्यादि सुगमं ।

१६३ अथ धवलाग०, कर इति। हे युवति विमलमते एतच्छदः श्रुत्वा महीतले रस करोति कविरिति शेषः। किं कृत्वा पदपदतले सगण सस्थाप्य रमणेगिरे हे रमण सभोगस्तस्य गिरे। यत्र चत्वारो द्विजगणाश्चतुर्लघुगणाः पादचतुष्टयेपि इति धवलागनाम छद फणिपतिर्भणति। कीदृशः सरसमनाः शशिवदने हे इति सबोधन। पुन० कीदृश धवलैर्यैतिभिर्लक्षित। अथवा सरिस इति पाठः तथा धवलैर्यैतिभि० सदृशं समानमिति।

१६४. यथा तरुणतरणि, इत्यादि सुगम।

१६५ अथ शंभुः, अवलोआसु इति। इद छदः शभुनामक अवलोकय। यत् श्रुत्वा मनसि सुख भवति। अते चतुष्कलगण चतुष्टयानतर सुप्रिय द्विलघुगण स्थापय प्रथम हस्तमंतलघुचतुष्कलगण देहि। तत० कुन्तीपुत्रो द्विगुरुर्गणो योजितः। एवमेवाग्रे पुनर्गणद्वय देहि। अते गुरुचतुष्कलगणादनतर द्विगुरुगण एव पुनर्दीयतामित्यर्थ। सुप्रियगण इति प्रथममुक्त। तत सप्त हारा सप्त गुरवो प्रदीयन्ता। एव पदे द्वात्रिंशन्मात्रा भवति।

१९६ यथा सिअविट्ठी इत्यादि सुकर।

१९७ अथ गीता, जहि इति। हे मुग्धे एतच्छंदो गीतानामक गीतं। सकललोकै० परिगृहीत। कविसृष्टिसृष्ट यदा कवीना सृष्टि० कृता तदैव तदपि, कविजनानामिदमतिग्राह्यमित्यर्थं०। दिष्टया भाग्येन दृष्ट पिंगले व्याख्यात। यत्र छदसि आदौ हस्तोंतगुरुचतुष्कलगण०। पचगणो यत्र जोहलो रगण०। तस्याते हस्तो गण अतगुरुचतुष्कलगण। ततः शब्दो लघु० तर्तोते शेषे नूपुर गुरुः।

१९८ यथा जहि फुल्लु केअइ इत्यादि सुकर।

१६६. अथ गडकः, रगण इति। एव गडकनाम छदो गणय। अतिसकष्टमेतच्छद फणीद्रो गायति। यत्र छदसि प्रथमं रगणः पतति। पुनः नरेंद्रो जगण० कात' सुदर। एवमेव रगणजगणाभ्या गणषट्क कुरुत। तत एक हार मत्रयस्व। ततः शोभनः शब्दो अते देय'। एव सति त्रिंशन्मात्राः पादे प्राप्ता भवति। एतासा मात्राणा तृतीयभागो, हारो गुरु०। दश गुरवो दश लघवः भवतीत्यर्थं'।

२००. यथा ताव बुद्धि इत्यादि।

२०१. अथ स्रग्धरा, कण्ण इति। स्रग्धरा फणिना पिंगलेन शुद्धा भणिता। यस्या द्वौ कर्णौ गुरुगणौ, ततो गधो लघु, ततो हारो गुरु', ततो द्विजगणः, ततो हस्तः अतगुरु० चतुष्कलगणः, ततो हारो गुरु०, तत एक० शल्यगणो लघु', तत कर्णो द्विगुरुर्गणः, ततो ध्वजगण आदि लघुस्त्रिकलगण०, ततः ककणगणो

२११ अथ किरीट', ठावहु इति। किरीटनामकं छंदो विशेषय। यत्र आदौ शक्रगणः षट्कलगण. प्रथम स्थाप्यते। तत' शल्यद्वय विसर्जय लघुद्वय देहि। ततो नूपुरः गुरु। तत शब्दद्वय लघुद्वयं कुरु। तथा नूपुरं गुरुः। एवमेव द्वादशगगणान् कुरु, गुरुणा लघुद्वयेनेति अते काहलयुगलं लघुद्वयं स्थापय। एवप्रकारेण चतुर्विंशति वर्णान् प्रकाशय। पदे पदे द्वात्रिंशन्मात्रा लेखय। अष्टौ भगणा भवति।

२१२. यथा वप्पअ भत्ति इत्यादि सुगम।

२१३. अथ द्वितीय त्रिभगी, सव पअहि इति। त्रिभगी भण, किं भूता शुभागी सज्जना सामानिका'। यत्र सकलपदेषु प्रथम दशसु प्रियगणा भण्यते। तत. कातो हस्त आदिगुरुः चतुष्कलगण, ततो गुरुद्वय, ततो वलयरूपो गणो गुरु', ततो द्विलघुर्गण, ततो द्विगुरु, हे गजगामिनि शशिमुखि करयुक्ता मात्राद्वय-संयुक्ताश्चत्वारिंशन्मात्रा यत्र पदे भवति। गणयित्वा भण्यते। सकले छदसि अष्टषष्ठ्यधिकशत मात्रा भवति।

२१४ यथा जअइ इत्यादि सुकर।

२१५ अथ सालूरः, कण्णेक्क इति। सालूरनामक छदो भवति। प्रथम कर्णे द्विगुरुर्गण' एको दीयते। सरसपद ध्रुवमेतच्छदः परिपतति। तत्र यदग्रे वक्ष्य-माण तत्तत्स्थाप्य सुवर शोभनाना मध्ये वर श्रेष्ठ, हे सुभणिते हे मनोहरे हे रजनी-प्रभुमुखि हे कमलनयने द्वात्रिंशन्मात्रा' स्थापय। तस्याते विलये करतलगण पदे देहि। मात्रावर्णसुललितं मध्ये षट्चतुष्कलगणान्सर्वलघुगणान् कुरु इति कवि-दिनकरः भुजगपाद कथयति।

२१६. यथा जं फुल्लु इत्यादि सुकर।

प्रक्षेपशंकानिराकरणाय उक्ताना छदसा नामानि संगृह्य कथयति सिरिकाम इति। श्रीः १ काम. २ मधु ३ मही ४ सार. ५ ताली ६ प्रिया ७ शशी ८ रमणः ९ इति जानीत, पंचालः १० मृगेंद्रः ११ मदरः १२ कमलं १३ तीर्णा १४ धारी १५ नगाणी १६ समोहा १७ हारीतबंध १८ हंसः १९ यमकं २० शेष २१ तिल्ला २२ द्वियोधा २३ तत' चौरसा २४ मथाना २५ शंख-नारी २६ एतत्पर्यंत छदोमिलितेत्यर्थ', मालती २७ दमनकः २८ समानिका २९ सुवास. ३० करहच ३१, तत शीर्परूपकं ३२ विद्युन्माला ३३ प्रमाणिका ३४ मल्लिका ३५ तुगा ३६ कमला दृष्टा ३७ महालक्ष्मीः ३८ सारंगिका ३९ पाइत्ता ४० कमला ४१ बिंबा ४२ तोमर ४३ रूपमाला ४४ सयुक्ता ४५ चपकमाला इति जानी-हि ४६ सरस्वती ४७ सुषमा ४८ अमृतगति' ४९ बन्धु' ५० सुमुखी ५१ दोधकः ५२ शालिनी ५३ दमनक. ५४ सेनिका ५५ मालती ५६ तथा एका इंद्रवज्रा ५७ उपेंद्रवज्रा ५८ एतज्जानीहि। विद्याधरः ५९ तथा भुजगप्रयात ६० लक्ष्मीधरः

परिशिष्ट (२)

श्रीलक्ष्मीनाथभट्ट विरचित "पिङ्गलप्रदीप" समाख्या व्याख्या

प्रथमः परिच्छेदः

गोपीपीनपयोधरद्वयमिलच्चेलाञ्चलाकर्षण
क्ष्वेलिव्यापृतचारुचञ्चलकराम्भोज मजत्कानने ।
द्राक्षामञ्जुलमाधुरीपरिणमद्वाग्विभ्रम तन्मना-
गद्वैतं समुपास्महे यदुकुलालम्ब विचित्र महः ॥

लम्बोदरमवलम्बे स्तम्बेरमवदनमेकदन्तवरम् ।
अम्बेक्षितमुखकमल य वेदो नापि तत्त्वतो वेद ॥

गङ्गाशीतपयोभयादिव मिलद्मालाक्षिकीलादिव
व्यालक्ष्वेलजफूत्कृतादिव सदा लक्ष्म्यापवादादिव ।
स्त्रीशापादिव कण्ठकालिमकुहूधानिव्ययोगादिव
श्रीकण्ठस्य कृशः करोतु कुशल शीतद्युतिः श्रीमताम् ॥

विहितदया मन्देष्वपि दत्तानन्देन वाङ्मय देहम् ।
शब्देऽर्थे सदेहव्ययाय वन्दे चिर गिर देवीम् ॥

भट्टश्रीरामचन्द्रः कविविबुधकुले लब्धदेहः श्रुतो यः
श्रीमान्नारायणाख्यः कविबुधमणिस्तत्तनूजोऽजनिष्ट ।
तत्पुत्रो रामभट्टः सकलकविकुलख्यातकीर्तिस्तदीयो
लक्ष्मीनाथस्तनूजो रचयति रुचिर पिङ्गलार्थप्रदीपम् ॥

श्रीरामभट्टतनयो लक्ष्मीनाथ समुल्लसत्प्रतिभः ।
प्रायः पिङ्गलसूत्रे [illegible] भाष्य [illegible] ॥

जलौकसा तुल्यतमैः [illegible]
सता परानन्दनमन्दिरा [illegible]

परिशिष्ट (२)

श्रीलक्ष्मीनाथभट्ट विरचित "पिङ्गलप्रदीप" समाख्या व्याख्या

प्रथमः परिच्छेदः

गोपीपीनपयोधरद्वयमिलच्चेलाञ्चलाकर्षण-
द्वेलिव्यापृतचारुचञ्चलकराम्भोज मजत्कानने ।
द्राक्षामञ्जुलमाधुरीपरिणमद्वाग्विभ्रम तन्मना-
गद्वैतं समुपास्महे यदुकुलालम्ब विचित्र महः ॥

लम्बोदरमवलम्बे स्तम्बेरमवदनमेकदन्तवरम् ।
अम्बेक्षितमुखकमल य वेदो नापि तत्त्वतो वेद ॥

गङ्गाशीतपयोभयादिव मिलद्मालाक्षिकीलादिव
व्यालक्ष्वेलजफूत्कृतादिव सदा लक्ष्म्यापवादादिव ।
स्त्रीशापादिव कण्ठकालिमकुहूधानिव्ययोगादिव
श्रीकण्ठस्य कृश. करोतु कुशल शीतद्युति. श्रीमताम् ॥

विहितदया मन्देष्वपि दत्त्वानन्देन वाङ्मय देहम् ।
शब्देऽर्थे सदेहव्ययाय वन्दे चिर गिर देवीम् ॥

भट्टश्रीरामचन्द्र कविविबुधकुले लब्धदेह. श्रुतो य.
श्रीमान्नारायणाख्य. कविमुकुटमणिस्तत्तनूजोऽजनिष्ट ।
तत्पुत्रो रामभट्ट सकलकविकुलख्यातकीर्तिस्तदीयो
लक्ष्मीनाथस्तनूजो रचयति रुचिर पिङ्गलार्थप्रदीपम् ॥

श्रीरामभट्टतनयो लक्ष्मीनाथ समुल्लसत्प्रतिभ ।
प्राय पिङ्गलसूत्रे तनुते भाष्य विशालमति. ॥

जलौकसा तुल्यतमै खलै. किं रम्येऽपि दोषग्रहणस्वभावै. ।
सता परानन्दनमन्दिराणा चमत्कृतिं मत्कृतिरातनोतु ॥

तवग्गे अन्ता दह वण्णा पाउवे ण हुअन्ति ॥' अस्यार्थः—ए ओ अ म ल इति पञ्च वर्णाना पुरतः ऐ औ अः य व इति पञ्चैव। सकारस्य पश्चाद्द्वावपि वर्णौ शषौ। कचतवर्गाणामन्त्यास्त्रयः ङञनाः। सभूय दश वर्णाः प्राकृते न भवन्ति। चरणान्ते पातितो वा गुरुरिति। एवविधो यो वर्णः स गुरुर्भवति। अत्र विकल्पार्थे चकारः। किंरूपो गुरुरित्यपेक्षायामुच्यते वक्रः अनृजुः। सोऽपि कतिमात्र इत्युच्यते—द्विमात्रो द्विकल.। उक्त च—'गुरुस्तु द्विकलो ज्ञेयो नागदन्तसमाकृतिः' इति। अन्यो द्वितीयो लघुर्भवति। कीदृशः। शुद्धोऽवक्रः। एककल एकमात्रः। उक्तं च—'लघुस्तदन्यः शुद्धोऽसावेकमात्रः प्रकीर्त्तित.' इति। ताभ्यामेव गणापन्नाभ्या प्रयोजनमिति। गाथा छन्दः॥

३. तानुदाहरणेन दृढीकर्तुमाह—

पार्वत्या शभौ वृते विजयादीनामन्योन्य सलापः। मातरय वरो रूपेण हेयस्त्रिनेत्रत्वात्। हीनो जात्यादिना अलक्ष्यजन्मत्वात्। जीर्णश्च रोगादिना कण्ठस्थितविषत्वात्। वृद्धो वयसा। यद्वा अवृद्धोऽसमृद्ध इत्यर्थ.। दिगम्बरत्वात्। देवः दीव्यति क्रीडतीति देवः पाणि (शि) कः। श्मशानवासक्रीडासक्त एतादृश.। तमपि शभु कामयमानाभिलषमाणा गौरी अहो ग्रहिलत्वमपि (ति) निर्बन्धं करोतीत्युपहासः। अत्र माईत्यादि दीर्घोदाहरणम्। हिण्णो जिण्णो इति सयुक्तपरोदाहरणम्। सभु (इति) सानुस्वारोदाहरणम्। कुणइ इत्यत्र पादान्तलघोर्गुरुत्वोदाहरणमिति। गाथा छन्द.॥

४ एव लक्षणेन गुरुलघुनुपलक्ष्य कुत्रचित्तयोरपवादमाह—

कुत्रचित्स्थले सयुक्त. परो यस्य एवविधः पूर्वो वर्णो लघुरेव भवति दर्शनेन लक्ष्यानुरोधेन यथा। उदाह्रियत इति शेषः। युवतीनेत्रप्रान्ते सपन्न चित्तधैर्यं परिस्खलति। अत्र ह्न इत्यस्य सयुक्तपरस्यापेक्षया पूर्वस्य रिकारस्य गुरोर्लघुत्वम्। तथात्वे छन्दोभगप्रसग.। गाथा छन्द.॥

५ अपवादान्तरमाह—

इकारहिकारौ बिन्दुयुतौ तथा एकारौकारौ च शुद्धौ एकलौ वर्णमिलितौ च तथैव रेफहकारावपि व्यञ्जनेन सह सयुक्ता अपि सर्वे गुरवोऽपि विकल्पेन क्वचिल्लघवो भवन्तीत्यर्थं। सिंहिणी छन्दः॥

६ एतदेवोदाहरणेन दृढीकरोति जहा—यथा—

मानिनि, मानेन किं फल प्रयोजन अथ यदि कान्तश्चरणयोः पतित.। तदा त्यजैन निष्फल मानमित्यर्थं। यदि स्वभावादेव भुजगमः कामुको नमति स्त्रीभिः प्रियवशीकरणाय मणिमन्त्रौ किं क्रियेते। न किमपीत्यर्थं। अर्थान्तरे च भुजगम सर्पो यदि स्वभावेनैव नमति शान्तो भवति तदा गारुडोद्गारिमणिमन्त्रौ

१२. अथ गुरुलघुज्ञानानन्तरं गणाः सावसरास्तत्र च्छन्दःशास्त्रे मात्राप्रस्तारो वर्णप्रस्तारश्चेति प्रस्तारद्वयं तत्र मात्राप्रस्तारे कलागणनापुरःसरं गणव्यवस्था कुर्वन्नाह—

अयमर्थः—टठडढणाः पञ्चाक्षराणि षट्पञ्चचतुस्त्रिद्विकलानां यथासंख्यं संज्ञा भवन्तीत्यर्थः । गाथा छन्दः ॥

१३. अथ तेषां संख्यां भेदमाह—

टगणः षट्कलस्त्रयोदशभेदः । ठगणः पञ्चकलोऽष्टभेदः । डगणश्चतुष्कलः पञ्चभेदः । ढगणस्त्रिकलस्त्रिभेदः । णगणो द्विकलो द्विभेदः । गाथा छन्दः ॥

१४. मात्राप्रस्तारप्रकारमाह—

आत्मबुद्ध्या । अल्पबुद्धयः शिष्या वा । सदृशी सदृशी पङ्क्तिः । कर्तव्येति शेषः । उर्वरिते गुरुं लघु च दत्थ । आदौ सर्वे गुरवो लेख्याः । गुर्वधःस्थित-कलातः प्राग् लघुना कलापूरणं चेद्भवति तदा लघुरेव देयः । नो चेद्गुरुं दत्त्वा अपेक्षितश्चेत्तदा लघुर्देयो यावत्कलापूरणम् । वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'प्रथमगुरो-रधरे लघु दत्त्वा शेषं समानमितरेण । उद्वृत्ते गुरु लघु वा प्रस्तारं सर्वलघु यावत् ॥' अभियुक्तैरप्युक्तम्—'गुरोरधस्तादाद्यस्य लघुं न्यस्योर्ध्ववत्पुनः । पश्चादूने गुरुं न्यस्येल्लघु वापेक्षितं क्रमात् ॥ यावत्सर्वलघुस्तावन्मात्राप्रस्तारके बुधः ।' वर्णवृत्ते तूद्वृत्तस्थले गुरुरेव देय इति नियमः । तदुक्तं वृत्तरत्नाकरे—'पादे सर्व-गुरावाद्याल्लघुं न्यस्य गुरोरधः । यथोपरि तथा शेषं भूयः कुर्यादमुं विधिम् ॥ ऊने दद्याद्गुरूनेव यावत्सर्वलघुर्भवेत् । प्रस्तारोऽयं समाख्यातश्छन्दोविचिति-वेदिभिः ॥' इति । गाथा छन्दः ॥

१५. अथ षट्कलप्रस्तारे त्रयोदशगणानां नामान्याह—

हरः SSS, शशी IISS, सूरः ISIS, शक्रः SIIS, शेषः IIIIS, अहिः ISSI, कमलम् SISI, ब्रह्मा IIISI, कलिः SSII, चन्द्रः IISII, ध्रुवः ISIII, धर्मः SIIII, शालिकरः IIIIII, इति त्रयोदशभेदाः षण्मात्राणां टगणस्येति । एषां पर्यायेणापि गणो बोद्धव्यः । लक्ष्ये तथैव दर्शनात् । गाथा छन्दः ॥

१६ अथ पञ्चकलप्रस्तारेऽष्टगणानां नामान्याह—

इन्द्रासनम् पश्चात्सूरः चापः, हीरः चकारः पादपूरणे । शेखरः कुसुमम्, अहिगणः पापगणः लक्ष्ये तथैव दर्शनात् । 'अहिगणः पापगणो ध्रुवं' इति वा पाठः । तत्र ध्रुवं निश्चितम् । एवं पञ्चकलोऽष्टविधठगणस्य भेदः कथितः । प्रस्तारो यथा—ISS, SIS, IIIS, SSI, IISI, ISII, SIII, IIIII, अत्र पञ्चकलप्रस्तारे आदौ लघु दत्त्वा प्रस्तारो विधेयः । एवमन्यविषयेष्वपि बोद्धव्यम् । अतएव 'लघुकालम्भेन' इति पश्चाद्वक्ष्यति । गाथा छन्दः ॥

१७ अथ चतुष्कलप्रस्तारे पञ्चरूपाणां नामान्याह—

रमीति च दपूरयो । इति गणभेदाः पञ्च । चतुष्कलप्रस्तारो यथा—ऽऽ, ।।ऽ, ।ऽ। ऽ।।, ।।।।, गाथा छन्दः ॥

१८. अथ त्रिकलप्रस्तारे गणभित्याना (मस्य) नामान्याह—

लघुक्रमेण ध्वजादित्रिकलस्य नामानि जानीत । गाथा छन्दः ॥

१९. मनस्वरचन्दश लय । छन्द इत्यपि नामैवा । समुद्र समुद्रवर्तिं तूर्यस्वर्गपि । गुर्वादित्रिकलस्यैतानि नामानि जानीत । गाहू छन्दः ॥

२० मायस्य सनाम रवस्य तालकस्य नारीणां भामिनीनां च यानि नामानि तानि सर्वाणि त्रिलघुगणस्य कुरुतेति कविवरः पिङ्गलः कथयतीति । त्रिकलस्य प्रस्तारो यथा—।ऽ, ऽ।, ।।। गाहू छन्दः ॥

२१ अथ द्विकलप्रस्तारे गणद्वयनामान्याह—

एतेषां पर्यायाणामपि गुरोर्नाम जानीहि । गाथा छन्दः ॥

२२ समाप्ताः सर्वेस्ताः कविना पिङ्गलेन द्वे नामेति शेषः । द्विकलस्य प्रस्तारो यथा—ऽ ।।,

२३ अथ लघ्वानुसारीणि समस्तचतुष्कलानां नामान्यप्याह—

कर्णसमानेन नाम्ना सह रतिका रसवन्तश्चेति । कर्णसमानेन कुम्भीपुत्रादि पर्यायग्रहणम् । लक्षलक्षितानामुक्तनामानां नाम्नाम् । गुरुयुगनामानि गुर्वन्तेन सह ज्ञेयानीत्यर्थः ॥

२४ अथान्त्यगुरोश्चतुष्कलस्य नामान्याह—

नानाकुसुमाभरणं केयूरादि । भवन्ति गुणविख्यातानि नामानि गुर्वन्तस्येति । गाथा छन्दः ॥

२५. अथ मध्यगुरोर्नामान्याह—

भूपतिः । नरवरपतिः । नरपतिः । गजपतिः । वसुधाधिपः । रसज्ञ । गोपालः । षड्गतनायकः । चक्रवर्ती । पयोधरः । स्तनः । नरेन्द्रः । इति नामानि मध्यगुरो चतुष्कलस्य । गाहू छन्दः ॥

२६ अथादिगुरोर्नामान्याह—

पदम् । पादः । चरणयुगलम् । भ्रमर अन्यदित्यपः । गण्डः । बलभद्रः । तातः । पितामहः । दहनः । नूपुरम् । रतिः । चपालगणेन सह इति नामानि पिङ्गलः प्रकाशयतीति योज्यम् । गाथा छन्दः ॥

२७ अथ चतुर्लघोर्नामान्याह—

प्रथमं नामेति त श्रुति । विप्र । द्वितीयं मातृने भूगनिरावलिकमात्रमयात
इति । पञ्चेषुभवनमपञ्चशर इत्यपि । तदपञ्च तथा दर्शनान् । जातिः विलवेच

सह । द्विजवरः । परमः । उपायः । चतुष्कलेन लघुकेन एतानि नामानीत्यर्थः । गाथा छन्दः ॥

२८. अथ पञ्चकलाना कानिचिदुभयवृत्तसाधारणानि नामान्याह—

सुनरेन्द्रः । अहिकः । कुञ्जरः । गजवरः । दन्तः । दन्ती । अथेत्यानन्तर्ये । मेघः । ऐरावत. । तारापतिः । गगनम् । झम्पः । तथा लम्पः । इति पञ्चमात्रस्यादिलघोर्नामानि । गाथा छन्द. ॥

२६. अथ मध्यलघो. पञ्चमात्रस्य नामान्याह—

पक्षी । विराट् । मृगेन्द्रः । वीणा । अहिः । यक्षः । अमृतकम् । जोहलम् । सुपर्णः । पन्नगाशन. । गरुडः । मध्यलघुके पञ्चकले रगणापरनाम्नि इति नामानि विजानीत । ण इति नन्वर्थे । उग्गाहा छन्द ॥

३०. अथ पञ्चकलस्यैव सामान्यनामान्याह—

वहुविविधप्रहरणैरपि तन्नामभिस्तत्पर्यायैरपि पञ्चकलको गणो भवति ।

पुनश्चतुष्कलस्यैवसाधारणा सज्ञामाह—

गजः । रथः । तुरगः । पदातिः । एतन्नाम्ना पर्यायेणापि जानीहि चतुर्मात्रम् । विग्गाहा छन्दः ॥

३१ अथ सामान्यतो गुरुनामान्याह—

ताटङ्कः । हार' । नूपुरम् । केयूरम् । इति गुरुभेदाः । नामभेदाः इत्यर्थः ।

तथैव लघुनामान्याह—

शरः । मेरुदण्ड. । काहला । लघुभेदाः भवन्ति । गाहू छन्दः ॥

३२. अपि च—

शखः । पुष्पम् । काहलम् । रव. । अशेषैरेतैः सह कनकलतापि । कनकलता चेति नामद्वयं वा । रूपम् । नानाकुसुमम् । रस. । गन्धः । शब्दश्चेति लघोः प्रमाणं निश्चयेन नामानि भवन्ति । गाहा छन्दः ॥

३३ अथ वर्णवृत्ताना गणानाह—

मो मगणस्त्रिगुरुस्त्रयोऽपि वर्णा गुरवो यत्र । नो नगणस्त्रिलघु । लघुरादौ यस्य स यगणः । गुरुरादौ यस्यासौ भगणः । मध्ये गुरुर्यस्यासौ जगण. । मध्ये लघुर्यस्यासौ रो रगणः । सगणः पुनरन्ते गुरुर्यस्य । तगणोऽप्यन्ते लघुर्यस्य । अवहट्टभाषाया लिङ्गविभक्तिवचनरचनमतन्त्रम् । ण इति नन्वर्थे । यद्वा अत्यलघुकेन तगणो भवतीत्यर्थ. । एवमष्टौ गणाः । क्रमोऽत्राविवक्षितः । क्रमस्तु वृत्तरत्नाकरे—'सर्वगुर्मो मुखान्तर्लौ यरावन्तगलौ सतौ । ग्मध्याद्यौ ज्भौ त्रिलो नोऽष्टौ भवन्त्यत्र गणास्त्रिकाः' ॥ एतैरेव गणैः समस्तवैखरीसृष्टि-

३७-३८. गणद्वयसंयोगेऽपि फलविशेष इति सूचयितु गणद्वयविचारमाह—

ग्रन्थादौ कवित्वस्य वादौ मित्रमित्रे मगणनगणौ। विपरीतौ वेति सर्वत्र बोध्यम्। ऋद्धिबुद्धी अथ च मङ्गलमपि दत्तः। मित्रभृत्यौ मगणभगणौ नगणयगणौ वा स्थिरकार्यं युद्धे निर्भय यथा स्यात्तथा जय च कुरुतः। मित्रोदासीनयोर्मगणजगणयोर्नगणतगणयोर्वा कार्यबन्धः स्थैर्य नास्ति पुन. पुनः क्षीयते। मित्र शत्रुश्च यदि भवतः मगणरगणौ नगणसगणौ वा तदा गोत्रजा बान्धवाश्च पीड्यते। अरु इत्यानन्तर्ये। भृत्यमित्रयोर्यगणमगणयोर्भगणनगणयोर्वा सर्वं कार्यं भवति। भृत्यभृत्ययोर्यगणभगणयोरायतिरुत्तरकालो वर्धते। भृत्योदासीनयोर्यगणजगणयोर्भगणतगणयोर्वा सर्वं धन नश्यति। भृत्यवैरिणोर्यगणरगणयोर्भगणसगणयोर्वा आक्रन्दो हाहाकारो भवति। पततीत्यर्थः। उदासीनो मित्र च जगणो भगणस्तगणो नगणो वा तदा कार्यं किंचिन्मन्द दर्शयति साधारण फल भवति। उदासीनो यदि भृत्यो जगणो भगणस्तगणो यगणो तदा सर्वा आयतीश्चालयति। उदासीनोदासीनयोर्जगणतगणयोर्मन्दमशुभं वा शुभ वा किमपि फल न दृश्यते। उदासीनो यदि शत्रुर्जगणो रगणस्तगण सगणो वा तदा गोत्रमपि वैरी लुप्यते। यदि शत्रुरनन्तर मित्र रगणो मगण. सगणो नगणो वा भवति तदा शून्य फलं भवति। यदि शत्रुभृत्यौ रगणो यगण. सगणो भगणो वा तदा गृहिणी नश्यति। पुनः शत्रूदासीनयो रगणजगणयोः सगणतगणयोर्वा धन नश्यति। शत्रुस्तथा पुनः शत्रुर्यदि सगणस्तदा नायकः पतति। षट्पदयुग्मेन गणद्वयविचार. कथितः। भूषणेऽपि—'मित्रयोरुदिता सिद्धिर्जय. स्याद्भृत्यमित्रयो.। मित्रोदासीनयोर्न श्री. स्यात्पीडा मित्रवैरिणो.॥ कार्यं स्यान्मित्रभृत्याभ्या भृत्याभ्या सर्वशासनम्। भृत्योदासीनयोर्हानिर्हाकारो भृत्यवैरिणो॥ उदासीनवयस्याभ्या क्षेमसाधारण फलम्। स्यादुदासीनभृत्याभ्यामस्त्रायत्तश्च सर्वत॥ उदास्ताभ्या फलाभावः परारात्योर्विरोधिता। शत्रुमित्र फलं शून्यं स्त्रीनाशः शत्रुभृत्ययो.॥ शत्रूदासीनयोर्हानिः शत्रुभ्या नायकक्षयः॥' इति।

३९ अथानन्तरं छान्दसपरीक्षार्थं कौतुकार्थं च मात्राणामुद्दिष्टमाह—

एतदुक्त भवति—षट्कलप्रस्तारे एको गुरुर्द्वौ गुरू (लघू) एको गुरुरित्येवमाकारो गणः कुत्रास्तीति प्रश्ने कृते तदाकार गण लिखित्वा पूर्वयुगलेन सदृश समानाङ्को देयः। आदिकलाया प्रथमाङ्को देयः। पूर्वयुगलाभावादुत्सर्गसिद्धो द्वितीयोऽङ्कस्तदधस्तदनन्तर पूर्वाङ्कद्वयमेकीकृत्य तत्सख्यकोऽङ्कोऽग्रे पूर्वयुगलसमानाङ्कत्रिपञ्चादिर्देय.। इति पूर्वयुगलक्रमार्थः। अत्र गुरोरुपर्यधश्चाङ्को देयः। द्विकलत्वात्। एतच्च गुरुशिर पदाल्लभ्यते। एव तेष्वङ्केषु शेषे चरमेऽङ्के त्रयोदशरूपे यावन्तो गुरुशिर स्था अङ्कास्तावन्तो लोप्या.। ते च नव ते अवधिरूपे त्रयोदशाङ्के लोप्या.। उर्वरितमङ्क प्रकृते चतुरङ्क मिलित्वा चतुःस्थानभोऽग्र

गण इत्यनया । ते तत्परिपाट्या भुजमुद्दिष्टं कथिताङ्कस्थानं जानीहीति । एवं च पञ्चकलप्रस्तारे द्वौ लघू एको गुरुरेको लघुरन्वयेनैकतमो गणः कुत्र स्थानेऽस्तीति प्रश्ने पूर्वयुगलसमानाङ्कान्दत्त्वा शेषेऽष्टमेऽङ्के गुरुशिरोऽङ्कलुप्तीयोऽङ्को लोप्योऽवशिष्ट पञ्चमाङ्को भवति तस्मात्पञ्चमो गणस्तादृशो भवतीति बोद्धव्यम् । अनेन च तस्य गणस्य स्थानमानयनमुद्दिष्टम् । एवं च षण्मात्रप्रस्तारे प्रथमे शेषे च सर्वे गुर्वेव नास्तीति द्वितीयस्थानादारभ्यान्त्यात्पूर्वस्थानेषु प्रश्न इति बोद्धव्यम् । भूषणेऽपि— दत्त्वा पूर्वयुगाङ्कं गुरुशीर्षाङ्कं विलुप्य शेषाङ्के । अवशिष्टेऽवशिष्टे चिह्नै-रिष्टमुद्दिष्टम् ॥ पादाकुलकं छन्दः ॥

४-४१ अथ मात्राणां पूर्वं रूपं नष्टं तत्र षट्कलप्रस्तारे प्रस्तारान्तरे वा कथंरूपाणि कीदृश (?) इति प्रश्ने उत्तरमाह—

एतदुक्तं भवति—षट्कलप्रस्तारे प्रश्नस्य यावतः कलास्तावत्यः कोष्ठका लिख्यन्ताम् । तत्र पूर्वसदृशा अङ्का एकद्वित्रिपञ्चाष्टत्रयोदशरूपा अङ्का दीयन्ताम् । शेषे पृष्टोऽङ्को लोपनीयः । तत्रावशिष्टे शेषाङ्केऽपराणि लुप्य लिखित्वा पश्य । तत्र प्रकारमाह— यो योऽङ्कः शेषाङ्के लोपयितुं शक्यते स पुनः स्वपार्श्वस्थाङ्कं परमाङ्कं पातयन् गुरुर्भवेत् । षट्कलप्रस्तारे द्वितीयस्थाने कीदृशो गण इति प्रश्ने यथाङ्कं स्थापनीयाः पूर्वयुगलसदृशा अङ्का देयाः । शेषाङ्के त्रयोदश । पृष्टाङ्कलोपे द्वितीयाङ्कलोपे इति एकादशावशिष्टा भवन्ति । तस्मादवशिष्टात्पञ्चलोपेऽष्टावशिष्टत्रयोदशावशिष्ट कलाभ्यामेको गुरुर्भवति । अवशिष्टं त्रयम् । तत्र पञ्चलोपादवशिष्टात्रिलोपे तृतीय-चतुर्थाभ्यामपरो गुरुर्भवति । शेषाङ्के मात्रेयं इति प्रथमं लघुद्वयमेव । तथा च द्वौ लघू च पश्चाद्गुरुद्वयमेव तादृशो द्वितीयो भवतीत्यर्थः । वाणीभूषणेऽपि— 'नष्टे दत्त्वा कलाः क्रमात् पूर्वयुगाङ्कयोजिताः । पृष्टाङ्कहीनशेषाङ्को येन येनैव पूर्यते ॥ परो कलामुपादाय तत्र तत्र गुरुर्भवेत् । मात्राणां नष्टमेतत्तु फणिराजेन भाषितम्' ॥ इति ॥

४२ अथ क्रमप्राप्तं वर्णोद्दिष्टमाह—

अस्यार्थः—चतुरक्षरप्रस्तारे द्वौ गुरू एको लघुः एको गुरुरिति गण कुत्रास्तीति प्रश्ने कृते पूर्वं गणं लिखित्वा प्रथमं प्रथमगुरोरुपरि प्रथमाङ्को देयः । ततो द्विगुणाभिगुणनद्वयाङ्कोपरि । द्वितीयगुरोरप्युपरि द्वितीयोऽङ्कः तृतीये लघो-रुपरि चतुर्थे गुरावष्टमाङ्को देय इति द्विगुणक्रमम् । एवं प्रकारेणोद्दिष्टं गणं कुरु । ततो लघोरुपरि योऽङ्कस्तमाधिकमेकमङ्कं दत्त्वा येन च रूपेण कृते योऽङ्को भवति तदङ्कमाने स्थाने स गणोऽस्तीति । प्रकृते तु चतुर्वर्णोपरि एकमधिकं दत्त्वा पञ्चमोऽङ्कः कर्तव्यः तस्मात्पञ्चमस्थाने तादृशो गणोऽस्तीति ज्ञातव्यम् । भूषणेऽपि—

'उद्दिष्टे वर्णोपरि दत्त्वा द्विगुणक्रमेणाङ्कम्। एक लघुवर्णाङ्के दत्त्वोद्दिष्ट विजानीत ॥' गाथा छन्दः ॥

४३. अथ वर्णाना नष्टमाह—

अत्र भागो नाम नष्टाङ्कस्यार्धीकरणम्। यथा चतुरक्षरप्रस्तारे षष्ठो गणः किमाकार इति प्रश्ने षडङ्कभाग कृत्वा तदर्धे त्रय स्थाप्यम्। अय च समानो भाग.। तत एको लघुर्लेख्य.। अनन्तर द्वयस्य भाग कृत्वा एकं स्थाप्यम्। तदैको लघुर्लेख्यः। ततोऽप्यवशिष्टे विषमे एकं दत्वा एकस्य च भाग कृत्वा एकमेव स्थापनीयम्। तदैको गुरुर्लेख्यः। एव च प्रथमे लघुरनन्तर गुरुस्ततो लघुरन्ते गुरुरेवमाकारश्चतुरक्षरप्रस्तारे षष्ठो गण इति वेदितव्यम्। तथा च वाणी-भूषणे—'नष्टे तु कल्पयेद्भाग समभागे लघुर्भवेत्। दत्त्वैक विषमे भाग. कार्यस्तत्र गुरुर्भवेत् ॥' एव समे भागे लघुर्ज्ञातव्यः। विषमे एक दत्त्वा पुन. पुनर्गुरुर्ज्ञातव्य.। अरिल्ला छन्दः ॥

४४. अथ वर्णमेरुमाह—

'सूचय मेरु नि.शङ्कम्' इति वा। अयमर्थ'—एकाक्षरादि षड्विंशत्यक्षर-पर्यन्त स्वस्वप्रस्तारे कति सर्वगुरव. कत्येकादिगुरव' कति सर्वलघव' कति वा प्रस्तार-सख्येति प्रश्ने कृते मेरुणा प्रत्युत्तर देयम्। तत्रैकाक्षरादिक्रमेण षड्विंशत्यक्षरावधि कोष्ठकान्विरचय्य आदावन्ते च कोष्ठके प्रथमाङ्को देयः मध्यस्थकोष्ठके च तदीयशिरः-कोष्ठद्वयाङ्क शृङ्खलाबन्धन्यायेनैकीकृत्यापर शून्यकोष्ठकमेकीकृताङ्केन पूरयेत्। एवमन्य-त्रापि पूरणीये कोष्ठके कोष्ठानामुपरिस्थितकोष्ठद्वयाङ्कमुक्तबन्धन्यायेन पूरण विधेयम्। एकाक्षरे कोष्ठद्वयं द्व्यक्षरे कोष्ठत्रयमित्यादि प्रत्यक्षरमेकैकवृद्ध्या षड्विंशत्यक्षर-पर्यन्त मेरु कर्त्तव्यः। तत्रैकाक्षरप्रस्तारे आदावेकगुर्वात्मकस्तदन्ते चैकलघ्वात्मकः। द्व्यक्षरे तु सर्वगुरुरादौ मध्ये गुरुद्वयमन्ते च सर्वलघुरिति। त्र्यक्षरे चादौ सर्वगुरुः स्थानत्रये द्विगुरुः स्थानत्रये एकगुरुः अन्ते च सर्वलघुरिति। एव च सुधीभिश्चि-न्तनीयम्। सर्वाङ्गेण प्रस्तारसख्यापि ज्ञायते। तथा च भूषणे—'कोष्ठमक्षरसख्यात-मन्त्याद्योरेकचिह्नितम्। शीर्षकोष्ठद्वयाङ्केन शून्य कोष्ठ प्रपूरयेत् ॥' दोहा छन्दः ॥

४५ अथास्य पताकामाह—

प्राकृते पूर्वनिपातानियमात्प्रथम प्राप्ताकः परित्यज्यताम्। एवमुक्त भवति—पूर्वाङ्कै. परभरणं कुरु पूरयितव्यपक्तेः प्रधानाङ्कस्य पश्चात्स्थिता. पूर्वाङ्का'। भरण पूरण लेखनकोष्ठदानम्। एकत्राधिकस्य प्राप्तौ सा पक्तिरेव तदङ्कम.णे त्यज्यताम्। प्रस्तारसख्याया पताका वा वर्धयितव्या। चतुर्वर्णप्रस्तारे एकद्विचतुरष्टाङ्का देयाः। अत्रैकाङ्कस्य पूर्वाङ्काभावादद्वितीयाङ्कमारभ्य पक्ति' पूर्यते। तत्र पूर्वाङ्क एकाङ्क एव तस्य परे द्वितीयादयः। ते श्चान्यवहितानतिक्रमेण पूर्यन्ते। तथा चैकेन द्वाभ्यां

वा प्रस्तारसख्येति प्रश्ने मेरुणा प्रत्युत्तर देयम्। तत्र द्विकले समप्रस्तारे एकः सर्वगुरुः। द्वितीयो द्विकलात्मक सर्वलघुरिति सङ्केतः। त्रिकले विषमे द्वावेककलौ एकगुरुकौ चान्ते सर्वलघुस्त्रिकल इति समकले। चतुष्कले चादौ द्विगुरुः स्थान-त्रये चैकगुरुर्द्विकलश्चान्ते सर्वलघुरिति। एवमनेन प्रकारेण यावदिच्छ मात्रा मेरावभीष्टमात्राप्रस्तारेषु लघुगुरुप्रक्रिया ज्ञातव्या। अथवा समकलप्रस्तारे वामतः क्रमेण द्वौ चत्वारः षडष्टावनेन क्रमेण गुरुज्ञानम्, विषमे त्वेकत्रिपञ्चसप्तेत्यनेन क्रमेण लघुज्ञानमन्ते च सर्वत्र (लघु) सर्वलघुरिति। उभयत्राप्येको द्वौ त्रय इत्यनया सरण्या दक्षिणतो व्युत्क्रमेण भेदज्ञानम्। अत्र च वामभागे सर्वत्रैकैकाङ्क-स्थले सर्वगुरुरिति शिवम्। वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'द्वय द्वय सम कोष्ठ कृत्वा तेष्वेक्रमर्पयेत् एव द्वयेकत्र्येकचतु क्रमेण प्रथमेष्वपि। शीर्षाङ्कातपराङ्काभ्या शेषकोष्ठान्प्रपूरयेत्। मात्रामेरुरय दुर्गः सर्वेषामतिदुर्गमः॥' दोहापादाकुल कच्छन्दसी॥

४८. अथ मात्रापताकामाह—

उद्दिष्टसदृशा अङ्का स्थाप्याः। ते यथा—एकद्वित्रिपञ्चाष्टत्रयोदशाद्या। ततो वामावर्तेन सर्वान्तिममङ्कं तत्पूर्वेणाङ्केन लोपयेदित्यर्थ.। एकेनाङ्केनाग्रिमाङ्कलोपे कृते एकगुरुरूपमानय अन्तिमलोपे द्विगुरुरूपमानय त्रिभिरन्तिमाकलोपे द्विगुरु-रूपमानयेत्यादि ज्ञेयम्। एतादृशीमेना मात्रापताका पिङ्गल. शेषनागो गायति। अथ च य एना प्राप्नोति स परं जन पताका बोधयतीत्यर्थः। तत्र षट्कलप्रस्तारे यथा उद्दिष्टसदृशा अङ्का एकद्वित्रिपञ्चाष्टत्रयोदश स्थाप्याः ततः सर्वापेक्षया परस्त्र-योदशाङ्कस्तत्पूर्वोऽष्टमाङ्कस्तेनाष्टमाङ्केन त्रयोदशाङ्कावयवे लुप्तेऽवशिष्टाः पञ्च। तस्य पञ्चमाङ्कस्य तत्पूर्वत्र विद्यमानत्वादष्टमाङ्कलोपात्परकलया गुरुभावाच्च पञ्चमा-ङ्कात्पङ्क्तिक्रमो विधेय इति तथा च पञ्चमस्थाने ||||ऽ एवमाकारं रूपमेकगुर्वस्तीति ज्ञान पताकाफलम्। एवमन्यत्रापि गुरुभावो ज्ञातव्य.। तथा पञ्चभिस्त्रयोदशाङ्के लुप्तेऽष्टाववशिष्यन्ते ते तु पञ्चाधो लेख्याः। तथा त्रिभिस्त्रयोदशलोपे दशावशिष्यन्ते तेऽष्टाधो लेख्या.। तथा द्वाभ्या त्रयोदशलोपे द्वाववशिष्यन्ते। द्वयोर्विद्यमानत्वात्। परकलया गुरुरित्युक्तेश्च द्वितीयाकमारभ्य गुरुपङ्क्तिसचारः। ततो द्वाभ्यामष्टभिश्च तल्लोपे त्रयो द्वयध। तत एकाष्टभिस्तल्लोपे चत्वारि त्र्यध। ततः पञ्च। त्रिभि-स्तल्लोपादवशिष्ट. पञ्चमाको वृत्त एवेति पञ्चभिर्द्वाभ्या च तल्लोपे षट् चतुर्णा-मध। पञ्चैकेन तल्लोपे सप्त। षडधो द्वित्रिलोपो वृत्त एवेति एकत्रिभिस्तल्लोपेन च सप्ताध इति द्विगुरुस्थानानि षट् मेरावुक्तत्वात्। तथा त्रिलोपे त्रिगुरुरूपमान येति त्रिपञ्चाष्टलोपे भागो नास्ति। द्वित्रिपञ्चलोपोऽप्यष्टात्मको वृत्त एवेति पञ्च-द्व्येकलोपोऽप्यष्टलोपात्मको वृत्त एवेति एकद्वित्रिलोपोऽपि वृत्त एवेति एकत्र्यष्टभि

ल्लवितेन । तेन सपन्नान् सिद्धाञ्जानीहि । हे लोकाः, एवमत्तरमर्कटीं जानीत । यस्या ज्ञाताया मनस आनन्दो भवति । अथ च य एना बुद्धयते स एव वृत्तादीनि बुद्धयते नान्य' । ततो मर्कटीजाले हस्ती गजो रुद्धयते । दुर्गमत्वादिति भावः ।

श्रीलक्ष्मीनाथभट्टेन　　नारायणतनुभूवा ।
वर्णमर्कटिका प्रोक्ता पञ्चमे प्रत्यये स्थिता ॥

अथ मात्रामर्कटीसप्रतिज्ञमाह—

अथ तत्रैव मात्रादिनिरवधिकमात्राप्रस्तारेषु कतिकतिजातिसम्बन्धिवृत्तादयो भवन्तीति प्रश्ने कृते मात्रामर्कटिकया प्रत्युत्तरं देयमिति मात्रामर्कटीविरचनप्रकाशे लिख्यते—'या पिङ्गलेन कविना न निबद्धा आत्मनो ग्रन्थे । ता मात्रामर्कटिका लक्ष्मीनाथेन विरचिता भणत ॥ तत्र तद्विरचनप्रकारे सार्धेन द्विपथा छन्दसा प्रथमपक्तिसाधनोपायमाह—'मात्रासख्यया कोष्ठ कुरु पक्तिषट्कं प्रस्तारयित्वा । तत्र तत्र द्वादिकानङ्कान्धारय प्रथमपक्तौ विचारयित्वा ॥ आद्याङ्क परित्यज्य सर्वपक्तिमध्ये । भो शिष्य, स्वाभिमतमात्रासख्यया पक्तिषट्क यथा स्यात्तथा कोष्ठक कुरु प्रथमपक्तौ वृत्तपक्तौ यावदित्थ क्रमेण द्वयादिकानङ्कान्स्थापय । सर्वासा पक्तीना मध्ये प्रथमाङ्क परित्यज्य । अत्रैव च प्रतिभाति सर्वकोष्ठेषु प्रथमाङ्कत्यागो न सर्वकोष्ठत्यागपरः किं तु षष्ठगुरुपक्तिप्रथमकोष्ठत्यागपर इति तत्र गुरोरभावात् अतश्च सप्रदायात्पञ्चसु कोष्ठेषु प्रथमाङ्कविन्यासोऽवश्य कर्तव्य एव । अन्यथा वक्ष्यमाणाङ्कविन्यासभङ्गापत्ते । एव कृते प्रथमा वृत्तपक्तिः सिद्धयतीति । अथ द्वितीया प्रभेदपक्तिं साधयति चरमार्धेन—'पूर्वयुगलसदृशानङ्कान्धारय द्वितीयपक्तौ विचारयित्वा ।' एवमुक्त भवति—एकद्वित्रिपञ्चाष्टादोऽशृङ्खलाचन्वन्यायेन क्रमतो धारय । एव कृते द्वितीयप्रभेदपक्तिः सिद्धयतीति । अथ तृतीया मात्रापक्तिं साधयति—पढमेति । प्रथमपक्तिस्थिताङ्कैर्द्वितीया पक्तिं गुणय यो योऽङ्को यत्र पतति त तमेव तृतीयपक्तौ भण । एवकृते तृतीया मात्रापक्तिः सिद्धयतीति । द्विपथाछन्दासि । अथ क्रमप्रप्ता चतुर्थी वर्णपक्तिमुल्लङ्घ्य युगपदेव चतुर्थषष्ठपक्त्यो साधनार्थं तन्मूलभूता प्रथमं तावत्पक्तिं साधयति—पढमेति । तत्र प्रथमे द्वितीयमङ्क षट्स्वपि पक्तिषु प्रथमकोष्ठत्यागाद्द्वितीयकोष्ठमेवात्र प्रथम कोष्ठकम् । अतोऽस्मिन्नेव द्वितीयमङ्क तदपेक्षया द्वितीयकोष्ठके च पञ्चमाङ्क दत्त्वा ततो बाणद्विगुण दश तद्द्विगुण विंशतिश्चेत्येतौ द्वावङ्कौ तृतीयचतुर्थयो कोष्ठयोर्देत्थ । विन्यसतेत्यर्थ. । अथ तत्र पञ्चमकोष्ठपूरणप्रकारमाह—काऊणेति । पञ्चमकोष्ठे स्थितान्द्वयादीनङ्कानेकभाव कृत्वा एकीकृत्य तस्मिन्नेकीकृताङ्के एकमधिक दत्त्वा ततश्च निष्पन्नेनाष्टत्रिंशता पूर्वापेक्षया पञ्चमं कोष्ठक पूर्णं कुरु । अत्रत्यषष्ठकोष्ठपूरणप्रकारमाह—तत्तिअ इति । पूर्वसि

मात्राकोष्ठस्थे नवमाङ्के लोपय। तच्छेषाङ्का दश तान् लघुद्वितीयकोष्ठे लिख। एवमेकगुरुद्वितीयकोष्ठे पञ्चमाकस्तद्द्विगुण दश तांस्तत्समानमात्राकोष्ठस्थे विंशति-रूपे लोपय। तच्छेषाङ्का दश तान् लघुतृतीयकोष्ठे लिख। अनया परिपाट्या यथेच्छ लघुपक्तिकोष्ठाङ्कान्गुरुपङ्क्तिकोष्ठाङ्काश्चानय। एव लघुपक्ति च सपाद्यो वंरिता वर्णपक्ति साधयति—गुरुलघुपक्तिस्थितानङ्कानेकीकृत्य तत्समानवर्णपक्ति-कोष्ठकेषु यावदिच्छं लिख। अथ वर्णपक्तिसाधने प्रकारान्तरमाह—मत्त इति। मात्रापक्तिस्थिताङ्केषु तत्समानगुरुपक्तिस्थितानङ्कांल्लोपय। तच्छेषाङ्कैरपि वर्ण-पक्तिः सिद्ध्यतीति जानीहि। इति गुरुणा गोपितोऽपि मया शिष्यबोधाय विविच्य प्रकाशितः। एव पक्तिषट्क ससाध्य मात्रामर्कटीफलमाह—वित्तमिति। 'वृत्त मेदो मात्रा वर्णा लघुकास्तथा गुरुका। एते षट्पक्तिकृताः प्रस्तारा भवन्ति विस्ताराः॥' मात्रामर्कटीमाहात्म्यमाह—जत्थ इति। यत्र च हस्ती अवरुध्यते बध्यते चित्त च सूत्रसहस्रम्। ता मात्रा मर्कटिका दृष्ट्वा च को न बध्यते सुकवि.॥' को नासक्तो भवतीत्यर्थः। एतत्करण कौतुकार्थमित्याह—नट्ठेति। 'नष्टोद्दिष्ट यथा वा मेरुयुगल यथा पताका वा। मर्कटिकापि तथैव कुतूहलकारिणी भणिता॥ उक्तमुपसहरति—इएेति। इति लक्ष्मीनाथकविना रचिते रुचिरे प्रबन्धेऽस्मिन्। प्रत्ययपञ्चकबन्ध पश्यत छंदस. सर्वस्वम्॥'

५०. अथैकाक्षरादिषड्विंशत्यक्षरपर्यन्त समस्तवर्णप्रस्तारपिण्डीभूतसख्यामाह—

'अङ्कानां वामतो गति.' इति न्यायेन त्रयोदश कोटयः द्विचत्वारिंशल्लक्षाणि सप्तदशसहस्राणि सप्तशतानि षड्विंशतिश्च । सभूयैकाक्षरादिषड्विंशत्यक्षरावधि-प्रस्तारस्य पिण्डसख्येत्यर्थः। अङ्कतोऽपि १३४२१७७२६। 'एकदशशतसहस्रा-युतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशः। अर्बुदमब्जं खर्वनिखर्वमहापद्मशङ्कवतस्मात्॥ जल-धिश्चान्त्य मध्य परार्धमिती दशगुणोत्तरा. संख्या.॥'

५१. अथ 'पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा। वृत्तमक्षरसख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्॥' इति प्रथमं मात्राकृता जातिमभिधास्यन् गाहूप्रभृतीनां जातीनां कलागणनामुद्देशक्रमेणाह—

चतुष्पञ्चाशन्मात्रा गाहू भवति। गाथाया. सप्तपञ्चाशन्मात्रा भवन्ति। तथा विगाथा परावृत्त्य क्रियते। मात्राः पर सप्तपञ्चाशदेव। उद्गाथापि षष्टिकलाः। गाथिन्याश्च द्वाषष्टिकलाः। तथैव परावर्तते सिंहिणी। मात्रा द्वाषष्टिरेव। तानि सप्तरूपाणि अन्योन्य चतुर्मात्रगणानि भवन्ति। स्कन्धके चतु षष्टिर्मात्रा भवन्ति। अत्र सर्वत्र सार्धसप्तगणा' स्कन्धके त्वष्टौ गणा । रङ्गा छद' ॥

५२. अथ गाहू छन्दः—

परमन्ते दलद्वयमध्ये मेरुयुगलं भवति । दलद्वयेऽपि षष्ठे-गण एकलघ्वक्षरो भवतीत्यर्थः । मेरुरिति लघ्वोर्नाम । एतादृशं गाहूछंदो भवति । इदमन्येषामप्यु-दाहरणम् । तथा च वाणीभूषणे—'गाथोत्तरदलतुल्यं पूर्वदलं भवति यदि दले । तामिह फणिपतिभणितामुपगीतिं वर्णयति बुधाः ॥' उद्वणिका यथा—SS, SII, SI, SII, SS, I, SS, S, II SS, IIII, SS, SII, SS, I, SS, S,

५३ गाहूमुदाहरति—यथा—(यथा)

चन्द्रचन्दनहार एते तावदेव रूपं स्वात्मनः रूपैस्वामिमानेन प्रकाशयन्ति यावदेवरस्य राज्ञः कीर्तिर्विस्तारमात्मानं न दर्शयति । ततोऽस्यैतस्य कीर्तिरत्यन्तधवले त्यर्थः । गाहू निवृत्ता ।

५४ अथ गाथा छन्दः—

यस्याः प्रथमे चरणे द्वादशमात्रास्तथा द्वितीयेऽष्टादशभिः संयुक्ता भवन्ति । यथा प्रथमं तथा तृतीयं द्वादशमात्रम् । या चतुर्थे चरणे पञ्चदशभिर्मात्राभिर्भूषिता भवति सा गाथेत्यर्थः । भूषणेऽपि—'आदितृतीये द्वादश दशाष्टमात्रा द्वितीय चरणे च । तुर्ये पञ्चदश स्फुरितं पिङ्गलेनोक्ता ॥' प्राकृते गाथा संस्कृते आर्येति नामभेदः । इदमप्युदाहरणम् ।

५५. गाथामुदाहरति—यथा

कस्याश्चित्कलहान्तरिताया सखीं प्रति वचनम् । येन विना न जीव्यते स कृतापराधोऽप्यनुनीयते । सम्प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्निः । अपि तु सर्वस्य । उद्वणिका यथा—SII, SII, SII IIS, ISI, SS SII, SS, IIII SS, IIS, I, SS S,

५६. अथ गाथायां गणनियममाह—

अत्र चतुर्मात्रा एव गणा दीर्घान्ता गुर्वन्ता इत्यर्थः । अत्र गणो जगणो भवति नगणश्च् वा भवतु इति नियमः । इह विषमे स्थाने प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमस्थाने जगणो न भवति । तथा गाथाया द्वितीयेऽर्धेऽपि षष्ठं गणमेकलघ्वात्मकं विजानीत । भूषणेऽपि—'चतुरमा सदीर्घो सदीर्घो जगणो द्विजो (IIII) ऽथवा भवति । षष्ठं लघूत्तरदले विषमे जगणो न गाथायाः ॥' गाथा छन्दः ॥

५७ सर्वगाथासु सामान्यलक्षणमाह—

सर्वस्या गाथाया सप्तपञ्चाशन्मात्रा भवन्ति । तत्र विशेषः—पूर्वार्धे त्रिंशत् सप्तविंशतिमात्रा परार्धे च । गाथा छन्दः ॥

५८. अथ गाथायाः सप्तविंशतिभेदेषु लक्ष्मीनाम्नीमाद्यां गाथामुप लक्षयति—

यस्या गाथाया सप्तविंशति गुरवः श्लाघ्यास्तिस्रश्च रेखास्त्रयो लघवः। पूर्वार्धे षष्ठजगणरेखाद्वयमुत्तरार्धे च षष्ठलघ्वात्मकरेखामात्र मिलित्वा रेखात्रय यस्या सा ग्रन्थाना मध्ये आद्या त्रिंशदक्षरा सप्तविंशतिगुरुकलघुत्रयवती लक्ष्मीनामधेया भवति। गाथा छन्द.॥

५९. अथ तत्प्रशसापुर.सर भेदानयनप्रकारमाह—

त्रिंशदक्षरा लक्ष्मीं गाथा सर्वे कविपण्डिता वन्दन्ते। अभिवादनपूर्वं स्तुवन्तीत्यर्थ.। अत्र यदा एकैको वर्णो ह्रसति न्यूनत्व प्राप्नोति द्वौ लघू वृद्धिं गच्छतस्तदा सप्तविंशतिनामानि कुरुत। गाथा छन्द.॥

६०–६१. अथाद्या लक्ष्मीमुपलक्षयन्निव गाथाभ्या नामान्युद्दिशति—

अत्र प्रथमा गाथा सप्तविंशतिगुरुकरेखात्रयवती त्रिंशदक्षरा लक्ष्मीः एकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्धया गाथाया. सप्तविंशतिभेदा. स्फुटीकृत्य प्रदर्श्यन्ते—यथा—

२७ गुरु.	३ लघु.	३० अक्षर.	लक्ष्मीः।
२६ गुरु.	५ लघु	३१ अक्षर.	ऋद्धिः।
२५ गुरु.	७ लघु	३२ अक्षर	बुद्धिः।
२४ गुरु.	९ लघु.	३३ अक्षर.	लज्जा।
२३ गुरु	११ लघु	३४ अक्षर	विद्या।
२२ गुरु.	१३ लघु.	३५ अक्षर	क्षमा।
२१ गुरु.	१५ लघु	३६ अक्षर.	देही।
२० गुरु.	१७ लघु	३७ अक्षर.	गौरी।
१९ गुरु.	१९ लघु	३८ अक्षर	धात्री।
१८ गुरु.	२१ लघु.	३९ अक्षर	चूर्णा।
१७ गुरु.	२३ लघु.	४० अक्षर,	छाया।
१६ गुरु.	२५ लघु.	४१ अक्षर.	कान्ति।
१५ गुरु.	२७ लघु	४२ अक्षर.	महामाया।
१४ गुरु.	२९ लघु	४३ अक्षर,	कीर्त्ति.।
१३ गुरु	३१ लघु.	४४ अक्षर.	सिद्धि.।
१२ गुरु.	३३ लघु	४५ अक्षर.	मानिनी।
११ गुरु.	३५ लघु.	४६ अक्षर	रामा।
१० गुरु.	३७ लघु.	४७ अक्षर	गाह्निनी।
९ गुरु.	३९ लघु	४८ अक्षर.	विश्वा।
८ गुरु.	४१ लघु.	४९ अक्षर.	वासिता।

७ गुरु	४३ लघु.	५० अक्षर.	शोभा ।
६ गुरु	४५ लघु	५१ अक्षर.	हरिणी ।
५ गुरु.	४७ लघु	५२ अक्षर.	चक्री ।
४ गुरु	४९ लघु	५३ अक्षर.	सारसी ।
३ गुरु.	५१ लघु	५४ अक्षर.	कुररी ।
२ गुरु.	५३ लघु.	५५ अक्षर.	सिंही ।
१ गुरु	५५ लघु.	५६ अक्षर.	हंसी ।

एते सप्तविंशतिभेदाः । एतासामुदाहरणानि मत्कृतोदाहरणमञ्जर्यां क्रमेण द्रष्टव्यानि ॥

६२ अथ गाथापाठप्रकारमुपदिशति—

प्रथमं पादद्वयमत्र चरणे हंसपदवन्मन्थरं यथा स्यात्तथा पठ्यते । अथवा 'पद-मत्तो' इति क्वचित्पाठः । तत्र प्रथमपादे हंसगमनवत्पठेदित्यर्थः । द्वितीयचरणे सिंह-विक्रमो यादृक् तादृक् पठ्यते । तृतीयचरणे गजवरस्य ललितं यथा गतिविशेषो भवति तथा पठ्यते । चतुर्थेऽपचरणेऽहिवरस्य लुलितं गतिविशेषो यथा भवति तथा पठ्यते । गाथा छन्दः ॥

६३ अथ गणभेदेन गाथायाः सावरणभेदं दोषमाह—

एकेन चैव जगणेन गाथा कुलीना भवति । जगणस्य नायकपर्यायत्वादिति भावः । द्वाभ्यां नायकाभ्यां जगणाभ्यां स्वयंग्राहिका कुलमात्रा भवति । नायकहीना रण्डा भवति । बहुनायका गाथा वेश्या भवति । द्वितीयार्धं स्पष्टम् । गाथा छन्दः ॥

६४ अथ लघुसंख्याभेदेन गाथाया वर्णभेदमाह—

त्रयोदशपर्यन्तं लघुका यस्यां वा तदधिका विप्रा । माहणी ब्राह्मणीत्यर्थः । एक-विंशतिभिर्लघुभिः क्षत्रिया भणिता । सप्तविंशतिभिर्लघुभिर्गाथा वैश्या भवति । शेषा तु ऊनत्रिंशदारभ्य शेषैर्लघुभिः शूद्रा भवति । गाथा छन्दः ।

६५ विषमस्थानस्थजगणाया गाथाया दोषमाह—

या गाथा प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमस्थाने ननु गुरुमध्या जगणयुक्ता भवति गुर्विणीव गुणरहिता स्वपतिसमर्पिता वा गाथा दोषं प्रकाशयति । अतो विषमस्थ नरगणनायका वा न कर्तव्येत्यर्थः । गाथा छन्दः ॥ गाथा निवृत्ता ।

६६ विगाथा छन्दः—

विगाथायाः पूर्वार्धे सप्तविंशतिर्मात्रा भवन्ति । चरमदले कलार्थे ननु त्रिंश

न्मात्रा भवन्तीति जल्पित पिङ्गलेन नागेन। गाथादलवैपरीत्येन विगाथा भवतीत्यर्थः। इदमप्युदाहरणम्। भूषणे तु—'गाथा द्वितीयतुर्यौ पादौ भवतस्तु विपरीतौ। सेय भवति विगाथा फणिनायकपिङ्गलेन सप्रोक्ता ॥' इति ॥

६७ विगाथामुदाहरति जहा—

मानवतीं नायिका प्रति धृष्टस्य नायकस्य वचनम्। यथा हे मानिनि, मान परिहर त्यज। प्रेक्षस्व नीपस्य कदम्बस्य कुसुमानि। युष्मत्कृते खरहृदशोऽत्यन्त कठोराशयः कामोऽस्मिन्वर्षासमये शेषपुष्पाणामभावात् किल गुटिकाधनुर्गृह्णाति। अतस्त्यजैन मानमिति भाव.। अथ वा तादृशीं कान्तकृतानुनयमगृह्णतीं नायिका प्रति दूत्युक्तिः ॥ उट्टवणिका यथा—IIII, SII, SS, SII, IIS, I, SS, SII, SII, SII, IIS, SII, IIS, ISI, IIS, S, विगाहा निवृत्ता ॥

६८ अथोद्गाथा छन्दः—

पूर्वार्धे उत्तरार्धे च यत्र मात्रास्त्रिंशत्सम्यग्भणिता। सुभगेति मात्राविशेषणम्। सा पिंगलकेविहष्टा षष्टिमात्राङ्गा कलाषष्टिशरीरा उद्गाथा वृत्ता। अत्र सर्वत्रात्रहट्टभाषया लिङ्गव्यत्ययः प्रातिपदिकनिर्देशो वा न दोषाधायक इति गुरवः। इदमप्युदाहरणम्। इयमेव ग्रन्थान्तरे आर्यागीतिरित्युच्यते। भूषणे तु—'गाथा द्वितीयतुर्यावष्टादशमात्रकौ भवतः। मात्राषष्टिशरीरा प्रोक्ता सा गीतिरिह हि फणिपतिना ॥'

६९ उद्गाथामुदाहरति—जहा—

चेदिपतावनुरक्ता काचिद्दर्शनोत्कलिकाकुला कुलवधूका निजसखीमाह—यन्नामश्रवणेनापि सात्विकभावाविर्भावादश्रुपातस्तद्वदनदर्शनमतिदूरापास्तमित्युत्कलिकाकुलाह वीरस्य चेदिपते. कथ मुख प्रेक्षिष्यामीति सामुक्त्वावाच. (१)। उट्टवणिका यथा—SS, ISI, SS, SS, IIS, III, SS, SII, IIS, ISI, IIS, SS, IIS, ISI, SS, S, उद्गाथा निवृत्ता ॥

७०. अथ गाहिनीसिंहिन्यौ—

यत्र पूर्वार्धे प्रथमदले त्रिंशन्मात्रा भवन्ति उत्तरार्धे चरमदले द्वात्रिंशन्मात्रा. सभूय द्वाषष्टिर्यत्र भवन्ति, पिङ्गल. प्रभणति मुग्धे शृणु सा गाहिनी छन्दः। तद्विपरीता सिंहिनीं सत्य भण। कथयेत्यर्थ.। अत्र पूर्वार्धे द्वात्रिंशन्मात्रा उत्तरार्धे च त्रिंशन्मात्रा इति विपर्ययार्थं। वाणीभूषणेऽपि—'यदि गाथातुर्यपदं विंशतिमात्र च गाथिनी भवति। फणिपतिपिङ्गलभणित तद्विपरीत तु सिंहिनीवृत्त स्यात् ॥' इदमप्युदाहरणम्।

७१. गाथिनीमुदाहरति—जहा—

सग्रामयात्राया चरणपतिता पत्नीं प्रति हम्मीरवचनम्—मुञ्च सुन्दरि पादम्।

विघ्नं मा कुर्वित्यर्थः । हे सुमुखि, अर्थेन रक्षिता मम खड्गम् । खड्गमहृतानन्तरं प्रतिभनीते—कल्पयित्वा छेदयित्वा म्लेच्छशरीरं प्रेषयते वदनानि युष्माकं मुखं हम्मीरः । अनिच्छल्म्लेच्छशरीरो भवन्मुखं नाकलोकयितुं शक्ष्य इति भावः ॥

७२ खिखिनीमुदाहरति—यथा—

करिचर्मकृतिविभ्रमादिरूपं स्तौति । अस्यार्थः—अयं चन्द्रस्य वृष्टिं वर्षति, इन्द्र स्वकामसमष्टिं वर्षति । अयं भुवनानि तपति सूर्यबिम्बं भुवनं तपति । इन्द्र सूर्ये च दिवसे जागर्ति, अयं तु दिवानिशं वामदेवपरिचित इत्यर्थः । तद्गणविन्यास उभयोरेव—
SI|, SI|, SS, SI|, ||S, ||||, SS, SI|, SI| SI|, SS SI|, ||S, |SI| SS, S, |||||, ||||, SS, SI| ||S, |S|, SS, SSI|SS, SI|SS, SI|, |S, SS, S, ||, गाहिनीखिहिन्यो निवृत्ते ॥

७३ अथ स्कन्धकं छन्दः—

चतुर्मात्रिका गणा अष्टौ भवन्ति पूर्वार्धे उत्तरार्धे च समरूपाः । इत्थमेवेऽपि मिलित्वा चतुःषष्टिमात्रकशरीरं स्कन्धकं विजानीत । पिङ्गलः प्रजल्पति मुग्धे । चतुर्भेदमष्टाविंशतिभेदमित्यर्थः । भूषणेऽपि—'स्कन्धकमपि तथैव पुनः चतुष्कलगणाष्टकेनार्धे स्यात् । चतुष्पष्टिमितमस्तं भवति चतुःषष्टिमात्रकशरीरं नियतम् ॥' इत्यस्मदुदाहरणम् ॥

७४ स्कन्धकमुदाहरति—यथा—

तद्गणविन्यास यथा— SS, SS, ||S, |||| SI|, |S|, ||S, ||—, ||SS, SS, ||S, SI| SS, |S, |SI| SSI|

७५ अथ स्कन्धकस्य व्याप्यव्यापकभावेन तत्तद्गुरुलघुस्वभेदे [लघु] इत्यादिरूपा अष्टाविंशतिभेदाः । तानुद्दिशति—

हे प्रिये, शरभशेषशशधरप्रमुखाः । गुणन् जानीत । अष्टाविंशतिः स्कन्धका इति । यथा—

३० गुरु	४ लघु	३४ अक्षर	नन्दः ।
२९ गुरु	६ लघु	३५ अक्षर	भद्रः ।
२८ गुरु	८ लघु	३६ अक्षर	शेषः ।
२७ गुरु	१० लघु	३७ अक्षर	सारङ्गः ।
२६ गुरु	१२ लघु	३८ अक्षर	शिवः ।
२५ गुरु	१४ लघु	३९ अक्षर	ब्रह्मा ।
२४ गुरु	१६ लघु	४० अक्षर	वारणः ।
२३ गुरु	१८ लघु	४१ अक्षर	वरुणः ।

२२ गुरु	२० लघु	४२ अक्षर	नीलः ।
२१ गुरु	२२ लघु	४३ अक्षर	मदनः ।
२० गुरु	२४ लघु	४४ अक्षर	तालाङ्कः ।
१९ गुरु	२६ लघु	४५ अक्षर	शेखरः ।
१८ गुरु	२८ लघु	४६ अक्षर	शरः ।
१७ गुरु	३० लघु	४७ अक्षर	गगनम् ।
१६ गुरु	३२ लघु	४८ अक्षर	शरभः ।
१५ गुरु	३४ लघु	४९ अक्षर	विमतिः ।
१४ गुरु	३६ लघु	५० अक्षर	क्षीरम् ।
१३ गुरु	३८ लघु	५१ अक्षर	नगरम् ।
१२ गुरु	४० लघु	५२ अक्षर	नरः ।
११ गुरु	४२ लघु	५३ अक्षर	स्निग्धः ।
१० गुरु	४४ लघु	५४ अक्षर	स्नेहः ।
९ गुरु	४६ लघु	५५ अक्षर	मदकलः ।
८ गुरु	४८ लघु	५६ अक्षर	भूपालः ।
७ गुरु	५० लघु	५७ अक्षर	शुद्धः ।
६ गुरु	५२ लघु	५८ अक्षर	सरित् ।
५ गुरु	५४ लघु	५९ अक्षर	कुम्भः ।
४ गुरु	५६ लघु	६० अक्षर	कलशः ।
३ गुरु	५८ लघु	६१ अक्षर	शशी ।

एतेऽष्टाविंशतिभेदाः । एषामुदाहरणान्युदाहरणमञ्जर्यां द्रष्टव्यानि । तालङ्किनी छन्दः ॥

७६. अष्टाविंशतिभेदानयनप्रकारमाह—

अयमर्थः—चतुःषष्टिकलात्मके स्कन्धके त्रिंशद्गुरवश्चत्वारो लघवस्तदा नन्दः । एवमन्येऽपि ज्ञेयाः । षष्ठे जगणस्यावश्यकत्वाच्चत्वारो लघवः इत्युक्तम् । दोहा छन्दः ॥

७७. अथाद्य नन्दमुदाहरति—

कश्चित्कवी राजानं दिवोदास स्तौति—यथा—चन्द्रः कुन्द काशः हारः क्षीरम् त्रिलोचनः शिवः कैलाशः यावद्यावच्छ्वेतानि तावद्धे काशीश, ते कीर्त्या जितानि । तदपेक्षया ते कीर्तिर्धवलेत्यर्थः । उट्टवणिका यथा—SS, SS, SS, SS, SS, ISI, SS, SSII, SS, SS, SS, SS, SS, ISI, SS, SS इति गाथाप्रकरणम् ॥

४ गुरु	४० लघु	४४ अक्षर	व्याघ्रः ।
३ गुरु	४२ लघु	४५ अक्षर	बिडालः ।
२ गुरु	४४ लघु	४६ अक्षर	शुनकः ।
१ गुरु	४६ लघु	४७ अक्षर	उन्दुरः ।
० गुरु	४८ लघु	४८ अक्षर	सर्वलघुः सर्पः ।

एते त्रयोविंशतिभेदाः । एतेषामुदाहरणान्युदाहरणमञ्जर्यां द्रष्टव्यानि । दोहा छन्दः ॥

८२. अथ भ्रमर प्रथममुदाहरति—जहा (यथा)—

८३. अथ लघुसंख्याभेदेन द्विपथाया वर्णभेदमाह—

चतुर्लघुमारभ्य द्वादशलघुपर्यन्ता द्विपथा विप्रा ब्राह्मणी भवति । तथा त्रयोदशलघुकमारभ्य द्वाविंशत्या लघुकैः क्षत्रिया भणिता । त्रयोविंशतिलघुकमारभ्य द्वात्रिंशत्या लघुकैर्वैश्या भवति । या इतरा सा सर्वा शूद्रा भवति । गाथा छन्दः ॥

८४ विषमचरणस्थजगणाय दोषमाह—

यस्या दोहायाः प्रथमे तृतीये च पादे ण ननु जगणा दृश्यन्ते सा दोहा चाण्डालगृहस्थितेव दोषं प्रकाशयति । यद्वा प्राकृते पूर्वनिपातानियमाद्गृहस्थितचाण्डालेव दोषावहा भवति । गाथा छन्दः ॥

८५. दोहाया गणनियममाह—

षट्कलश्चतुष्कलस्त्रिकलश्चानया रीत्या त्रयोऽमी गणा विषमे तृतीये च चरणे पतन्ति । समे पादे तृतीये चतुर्थे च चरणे षट्कलचतुष्कलस्थापनानन्तरमेकामेव कला निवृत्ता कुर्वित्यर्थः । वाणीभूषणेऽपि—

> 'षट्कलतुरगौ त्रिकलमपि विषमपदे विनिधेहि ।
> समपादान्ते चैककलमिति दोहामवधेहि ॥'

दोहा णिब्बुत्ता (दोहा निवृत्ता) ॥

८६. अह रसिआ (अथ रसिका छन्दः)—

प्रथमं द्विजवरगणयोश्चतुर्थलघुकगणयोर्युगलं धारय । पुनरपि च त्रिलघुको गणः पतति । अनेन विधिना विनिर्मितानि षट्पदानि यत्र तत्र छन्दः शोभते । यथा सुशशी रजन्या तथा रसिअउ रसिकानां मध्ये एतदेकादशकलं छन्दः । हे मृगनयने हे गजगमने शोभते इति । भूषणे तु—ललितमिति नामान्तरम् । यथा—'द्विजवरयुगमिह रचय, त्रिलघुकगणमिह कलय, सुललित कलितरसपदि, सरसिजमुखि भवति यदि, जगति विदितललितमिति, वरफणिपतिरिति वदति ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

भूषणेऽपि—'रोलावृत्तमवेहि नागपतिपिङ्गलभणित, प्रतिपदमिह चतुरधिककला-विंशतिपरिगणितम्। एकादशमधिविरतिरखिलजनचित्ताहरणं सुललितपदमदकारि विमलकविकण्ठाभरणम्॥' इति। इदमप्युदाहरणम्॥

९२. रोलामुदाहृति—जहा (यथा)

कश्चित्कविर्वीरहम्मीरप्रयाणमनुवर्णयति—पदभरेण मर्दिता धरणिस्तरणिः सूर्यः स्थितस्तदा धूल्या समाच्छादितः। 'तरणिरथः' इति वा। कमठपृष्ठमधः पतितम्। अतिभारादादिकूर्मोऽप्यधस्ताद् गत इति भाव। मेरुमन्दरयोरपि शिरः कम्पितम् यदा कोपेन चलितो हम्मीरवीरो गजयूथसुयुक्तस्तदा कृतो हाकष्टाक्रन्दः, मूर्च्छित च म्लेच्छानामपि पुत्रैरिति।

९३ यथास्यैकैकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्धया त्रयोदशभेदास्तानुद्दिशति—

यथा—

१३ गुरु	७० लघु	९६ मात्रा	कुन्दः।
१२ गुरु	७२ लघु	९६ मात्रा	करतलः॥
११ गुरु	७४ लघु	९६ मात्रा	मेघः।
१० गुरु	७६ लघु	९६ मात्रा	तालाङ्कः।
९ गुरु	७८ लघु	९६ मात्रा	कालरुद्रः।
८ गुरु	८० लघु	९६ मात्रा	कोकिलः।
७ गुरु	८२ लघु	९६ मात्रा	कमलम्।
६ गुरु	८४ लघु	९६ मात्रा	इन्दु।
५ गुरु	८६ लघु	९६ मात्रा	शम्भुः।
४ गुरु	८८ लघु	९६ मात्रा	चामरः।
३ गुरु	९० लघु	९६ मात्रा	गजेश्वरः।
२ गुरु	९२ लघु	९६ मात्रा	सहस्राक्षः।
१ गुरु	९४ लघु	९६ मात्रा	शेषः।

इति त्रयोदश भेदान् भणति नागराजः। फणीश्वरो जल्पति। त्रयोदशगुरु-संख्यामानय। एकादश गुरून्दत्थ। द्वौ द्वौ लघू प्रतिचरणमभिप्रायेणापीति भावः। अथवा त्रयोदशाक्षरेषु गुरुषु अक्षरमक्षरमेकैको गुरुर्यदि पतति लघुद्वय च वधते तदा तत्तन्नाम जानीत। एतेषामुदाहरणानि द्रष्टव्यानि। रड्डा छन्दः॥

९४. अथ गन्धा छन्दः—

भो सुजना, सप्तदशवर्णान् प्रथमचरणे भणत। तथा द्वितीयचरणेऽष्टादश-भिर्वर्णैरुपलक्षिता यमकयुगचरणा। यमकद्वययुक्तचरणेत्यर्थः। एतादृशमेव द्वितीय-

फणिहारः । यश्च कण्ठस्थितविषः । यस्य पिधानं वासो दिक् । दिगम्बर इत्यर्थः । सतारितस्तारकोपदेशात् संसारो येन तथाभूतः । यश्च किरणावलीना दीप्तिकदम्बाना कन्द उत्पत्तिस्थानम् । 'यद्भासा सर्वमिदं भासते' इति श्रुतेः । नन्दित आनन्दितो हर्षयुक्तश्चन्द्रो यस्मिन् । यस्य नयने भालस्थतार्तीयलोचने अनलो ज्वलन. स्फुरन् । अस्ति इति शेषः । उट्टवणिका यथा—।।ऽ, ।।ऽ, ऽऽ, ।।ऽ, ऽ।।, ।।।।, ।।ऽ, ऽ, ऽऽ, ।।ऽ, ऽऽ, ।।ऽ, ऽऽ, ऽ।।, ऽऽ, ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ऽऽ, ।।ऽ, ऽ।।, ।।।।, ।।ऽ, ऽ, ऽऽ, ।।ऽ, ।।।।, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ऽऽ, ऽ, चौपइया निवृत्ता ।

९९ पिङ्गलकविना द्वाषष्टिमात्राकया कृत्वा अत्युत्कट घत्तानामक छन्दो दृष्टम् । अत्र चतुर्मात्रिकान् सप्तगणान् द्वयोरपि पादयोस्त्रींस्त्रील्लँघूनन्ते धृत्वा मण । अयमर्थ'—घत्ता द्विपदी तत्र चतुष्कला. सप्तगणास्त्रिलघ्वन्ताः । द्वयोरपि चरणयो' समुदिता मात्राश्चतुःषष्टि. कर्तव्या इति । भूषणेऽपि 'इह चतुष्कलगणनिर्मितपद त्रिलघुविरामं भवति यदि । नागाधिपपिङ्गलभणितसुमङ्गलघत्तावृत्तमिट द्विपदि ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१००. एतस्यैव सविश्राम लक्षणान्तरमाह—

प्रथमे चरणे प्रथम दशसु मात्रासु विश्राम. । द्वितीयस्थले अष्टसु । तृतीयस्थले त्रयोदशसु मात्रासु विरतिः । इत्येकत्रिंशत्कलात्मकः प्रथमश्चरणः । एव द्वितीयोऽपि । सभूय द्वाषष्टि कला इत्यर्थ' । गाहू छन्दः ॥

१०१. घत्तामुदाहरति—जहा (यथा)—

रणदक्षः सग्रामकुशलः, दक्षस्य हन्ता, जितकुसुमधन्वा जितकदर्पः । अन्धकस्यासुरस्य गन्वस्यापि विनाशकर । गौरीनारीमर्धाङ्गे धारयति यः । तादृशोऽसुरभयकर. स शंभुर्युष्मान्रक्षतु । उट्टवणिका यथा—।।ऽ, ।ऽ।, ।।ऽ, ।।।।, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।।, ऽऽ, ।।ऽ, ।।।।, ।।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ऽऽ, ।।।, घत्ता निवृत्ता ॥

१०२. अथ त्रिभेदेन घत्तानन्दमाह—

ततश्छन्दो घत्तानाम । सुच्छन्दःसु कुलेन सार जातिश्रेष्ठम् । मात्रात्मकमित्यर्थं । 'जातिर्मात्राकृता भवेत्' इत्युक्तत्वात् । तत्किम् । यत्र प्रथममेकादशसु मात्रासु विश्राम' । पुनरपि सप्तसु । ततस्त्रयोदशसु मात्रासु विश्रामो भवति । तत्कीर्त्या अपारः, अपारकीर्त्तिर्वा, नागराज' पिङ्गलो घत्तानन्दनाम कथयतीति योजना । वाणीभूषणेऽपि—'एकादशविश्रामि तुरगविश्रामि यदि घत्तावृत्त भवति । छन्दो घत्तानन्दमिदमानन्दकारि नागपतिरिति वदति ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१०३ अत्रैव गणनियममाह—

SIIII, IIII, ISI, IIS, IIS, II, SIIS, IIS, ISI, SII, SS, II, SS, ISI, SS, III, SS, IIII, IIII, I, IIS, ISI, IIS, III, SII, SSI, IIII, I

१०७. एतस्यैव प्रकारान्तरेण लक्षणमाह—

पदे पदे प्रतिचरणाधस्तान्निबद्धमात्राश्चतुर्विंशतिः क्रियन्ते। अक्षराडम्बरः सदृश एव भवति। इत्यमुना प्रकारेण कृत छन्द. शुद्ध भण्यते। तत्र गणनियम-माह—आदौ षट्कलो गणो भवति। ततश्चत्वारश्चतुष्कला निरुक्ताः। द्विकल चान्ते स्थापयन्तु। शेषकविना तद्वस्त्विति नामान्तर निरुक्तम्। मात्रासंख्यामाह—संभूय द्विपञ्चाशदधिक मात्राशतक १५२ जानीत। उल्लालेन सहैव गणयन्तु। एतेन काव्यस्य षण्णवत्या ९६ उल्लालस्य षट्पञ्चाशता ५६ सभूय द्विपञ्चाशदधिक शतमित्यर्थः। भोः शिष्या', किमिति ग्रन्थग्रन्थन कृत्वा म्रियध्वमिति। भूषणेऽपि—'षट्कलयादौ तदनु चतुस्तुरग परिसतनु, शेषे द्विकल कलय चतुष्पदमेव सचिनु, छन्द. षट्पदनाम भवति फणिनायकगीतम्, रुद्रे विरतिमुपैति तु पतिसुखकरमुपनीतम्। उल्लालयुगलमत्र च भवेदष्टाविंशतिकलमिदम्, शृणु पञ्चदशे विरतिस्थित पठनादपि गुणिगणहितम्।' इदमप्युदाहरणम्॥

१०८. वस्तुनामक षट्पदमुदाहरति—जहा (यथा)—

यथा शारदः शशिबिम्बः, यथा हरहारहसस्थिति, यथा फुल्ल सितकमलम्, यथा खण्डीकृतः श्रीखण्डः, यथा [गङ्गा] कल्लोलः, यथोज्ज्वलीकृत रौप्यम्, यथा दुग्धवरे मुग्धफेन.। 'फफाइ' इत्यनुकरणम्। ऊर्ध्वं गत्वा स्फुरति। प्रियाप्राप्य प्रसाददृष्टिं पुन. स्मित्वा हसति यथा तरुणीजनः। तथा हे चण्डेश्वर, राज्ञो वरमन्त्रिन्, तव कीर्त्तिः स्फुरति। इति तथ्य पश्य। हरिब्रह्मनामको कविर्भणति। क्वचित् 'पुणु विहसि' इति स्थले 'पलु णिहुइ' इति पाठः, तत्र दृष्टिं पातयित्वा अर्थात्प्रिये निभृत यथा स्यात्तथा हसतीति। उद्दवणिका यथा—ISIII, IIS, IIS, IIS, ISI, II, ISSI, IIII, IIS, IIS, ISI II, ISSI, SS, IIS, SS, IIS, II, ISSI, IIS, ISI, SS, IIS, II, IIS, IIS, SS, IIII, IIII, IIII, IIII, IIS, IIS, IIS, IIS, ISI, IIS, III, षट्पदच्छन्दः खलु छन्दोद्वयेन भवति। काव्यपदचतुष्टयेनोल्लालपदद्वयेनेति॥

१०९ काव्यमात्रालक्षणमाह—

आदावन्ते च यत्र षट्कलगणो गणद्वयस्थाने। मध्ये यत्र तुरगमाश्चतुष्कलास्त्रयो गणा', तत्र तृतीयो जगणो भवति। किं वा विप्रगणश्चतुर्लघ्वात्मको गण.। तत्काव्य छन्दः। एतल्लक्षण बुध्यस्व। यदा काव्याभिधेयमेव छन्दः क्रियते तदैव जगणस्तृतीयो भवति। लघूल्लालेन सम क्रियते तदा न नियमः। तत्र एकादशसु विश्राम इत्याशयः। दोहा छन्द.॥

१११ अथानन्तरं लघुद्वयह्रासेनैकैकगुरुवृद्ध्या नाम्नस्त्रयश्चत्वारिंशद्भेदा-न्वक्तुमिच्छन् सर्वलघुकं शम्भुनामकं छन्दमाह—

चतुर्षष्टिमात्रासु चत्वारिंशद्गुरव एकैकगुरुवृद्धिक्रमेण ज्ञातव्याः। यद्गुरुहीनं सर्वं लघुकं तच्छम्भुनामकं छन्दः। ततो लघुद्वयह्रासेन एकैकगुरुवृद्ध्या नामभेदं कुरुत दोहा छन्दः॥

१११ शम्भुरुदाहरति—जहा (यथा)—

अभिमतफलः शिवं मार्गयते—यस्य च करे फणिपतेः शोभते वलयः कंठे मिलति। तनुमध्ये वरतरुणी पार्वती मिलति। नयने अनिलचलत्प्रज्वलितोऽनलो ज्वलति। गले च गरलं मिलति। विमलः शशी निष्कलङ्कमनाः यस्य च शीर्षे निवसति सुरसरित्स्वामिनी शिरसि वसति। एवंविध, हे शंकर दुरितदलनकर, शशिधर, हे हर, मम दुरितं हर। भयं च मनुष्यमत्सरं हरित्वा वितर। येनाहं कुलकलुषो भयेभ्यो भिन्नो भवामि। अत्र प्रतिचरणं चतुर्विंशतिः कला संभूय षण्णवतिः मात्राः ९६ ज्ञातव्याः। विरतिरेकादशे अष्टमे च। लघुकं शम्भुनामकं छन्दः॥

११२ पुनः शोभार्थं सद्यस्कं भेदमाह—

यथा यथा अन्यो गुरुर्वर्धते तथा तथा नामानि भेदान् कुरु। शंभुमारभ्य गणमनुक्रमयीकृत्य गणय। पञ्चचत्वारिंशन्नामानि जानीहि। दोहा छन्दः॥

११३ ११४ नामान्येवाह—जहा (यथा)—

यानि गुरुवृद्ध्या नामानि तानि। कथ्यन्ते इति शेषः। यथा—

गुरु	९६ लघु	शरभः।
१ गुरु	९४ लघु	शशी।
२ गुरु	९२ लघु	सूर्यः।
३ गुरु	९ लघु	गरुडः।
४ गुरु	८८ लघु	स्कन्धः।
५ गुरु	८६ लघु	विजयः।
६ गुरु	८४ लघु	दर्पः।
७ गुरु	८२ लघु	ताटङ्कः।
८ गुरु	८ लघु	समरः।
९ गुरु	७८ लघु	सिंहः।
१ गुरु	७६ लघु	शेषः।
११ गुरु	७४ लघु	उत्तेजाः।

१२ गुरु	७२ लघु	प्रतिपक्षः ।
१३ गुरु	७० लघु	परिधर्मः ।
१४ गुरु	६८ लघु	मरालः ।
१५ गुरु	६६ लघु	मृगेन्द्रः ।
१६ गुरु	६४ लघु	दण्डः ।
१७ गुरु	६२ लघु	मर्कटः ।
१८ गुरु	६० लघु	मदनः ।
१९ गुरु	५८ लघु	महाराष्ट्रः ।
२० गुरु	५६ लघु	वसन्तः ।
२१ गुरु	५४ लघु	कण्ठः ।
२२ गुरु	५२ लघु	मयूरः ।
२३ गुरु	५० लघु	बन्धः ।
२४ गुरु	४८ लघु	भ्रमरः ।
२५ गुरु	४६ लघु	द्वितीयो महाराष्ट्रः ।
२६ गुरु	४४ लघु	बलभद्रः ।
२७ गुरु	४२ लघु	राजा ।
२८ गुरु	४० लघु	वलितः ।
२९ गुरु	३८ लघु	रामः ।
३० गुरु	३६ लघु	मन्थानः ।
३१ गुरु	३४ लघु	बली ।
३२ गुरु	३२ लघु	मोहः ।
३३ गुरु	३० लघु	सहस्राक्षः ।
३४ गुरु	२८ लघु	बालः ।
३५ गुरु	२६ लघु	दृप्तः ।
३६ गुरु	२४ लघु	शरभ ।
३७ गुरु	२२ लघु	दम्भ. ।
३८ गुरु	२० लघु	अहः ।
३९ गुरु	१८ लघु	ऊद्दम्भः ।
४० गुरु	१६ लघु	वलिताङ्कः ।
४१ गुरु	१४ लघु	तुरंगः ।
४२ गुरु	१२ लघु	हरिणः ।
४३ गुरु	१० लघु	अन्धः ।
४४ गुरु	८ लघु	भृङ्गः ।

यस्य शिवस्य जाया पार्वती अर्धाङ्गे । तिष्ठतीति शेषः । यस्य शीर्षे गङ्गा लुठति । कीदृशी । सर्वाशाः पूरयन्ती । दुःखानि त्रोटयन्ती । यस्य नागराजो हारः । यस्य दिग्वासोऽन्तः । दिगेव वाससो वस्त्रस्याऽन्तोऽञ्चलः यस्य । यस्य सङ्गे वेतालाः । तिष्ठन्तीति शेषः । पिशाचसहचर इत्यर्थः । दुष्टान्नाशयन् उत्साहेन नृत्यन् ताण्डव कुर्वन्, तालैर्भूमिः कम्पिता येन । अथ च यस्मिन् दृष्टे मोक्षः स शिवो युष्माक सुखदोऽस्तु ॥

१२० अथैकसप्ततिभेदानयनप्रकारमाह—

चतुश्चत्वारिंशद्गुरवः काव्यस्य, षड्विंशतिरुल्लालायाः सम्भूय सप्ततिः । तेषु यदैकैकक्रमेण गुरुर्ह्रसति, लघुद्वयं वर्धते तदा सप्ततिसंख्याका भेदा भवन्ति । सर्वशेषे च सर्वलघ्वात्मकमेकम् । एवमेकसप्ततिप्रस्तारः । दोहा छन्दः ॥

१२१ तदेवाह—

अजयनाम्निषट्पदे द्व्यशीत्यक्षराणि । तत्र विवेकः—सप्ततिर्गुरवः, रविसंख्याका रेखा लघवः, ततो यावद्विपञ्चाशदधिकशताक्षरं तावदेकैकमक्षरं सर्वलघुप्रभेदान्त वर्धते । एको गुरुर्ह्रसति । लघुद्वयं वर्धते । अन्यथा परिपाट्या यावत्सर्वलघुर्भवेत्तावल्लघुकान् देहि । इति प्रथमो भेदः ।

१२१, १२२. अथ तानुदाहरति—

यथा—

७० गुरु	१२ लघु	८२ अक्षर	अजयः ।
६९ गुरु	१४ लघु	८३ अक्षर	विजयः ।
६८ गुरु	१६ लघु	८४ अक्षर	बलिः ।
६७ गुरु	१८ लघु	८५ अक्षर	कर्णः ।
६६ गुरु	२० लघु	८६ अक्षर	वीरः ।
६५ गुरु	२२ लघु	८७ अक्षर	वेतालः ।
६४ गुरु	२४ लघु	८८ अक्षर	बृहन्नलः ।
६३ गुरु	२६ लघु	८९ अक्षर	मर्कटः ।
६२ गुरु	२८ लघु	९० अक्षर	हरिः ।
६१ गुरु	३० लघु	९१ अक्षर	हरः ।
६० गुरु	३२ लघु	९२ अक्षर	ब्रह्मा ।
५९ गुरु	३४ लघु	९३ अक्षर	इन्दुः ।
५८ गुरु	३६ लघु	९४ अक्षर	चन्दनम् ।
५७ गुरु	३८ लघु	९५ अक्षर	शुभंकरः ।

५६ गुरु	४ लघु	९६ अक्षर	श्वा ।
५५ गुरु	४२ लघु	९७ अक्षर	सिंहः ।
५४ गुरु	४४ लघु	९८ अक्षर	शार्दूलः ।
५३ गुरु	४६ लघु	९९ अक्षर	कूर्मः ।
५२ गुरु	४८ लघु	१ अक्षर	कोकिलः ।
५१ गुरु	५ लघु	१ १ अक्षर	खरः ।
५ गुरु	५२ लघु	१ २ अक्षर	कुञ्जरः ।
४९ गुरु	५४ लघु	१ ३ अक्षर	मदनः ।
४८ गुरु	५६ लघु	१०४ अक्षर	मत्स्यः ।
४७ गुरु	५८ लघु	१ ५ अक्षर	ताटङ्कः ।
४६ गुरु	६ लघु	१ ६ अक्षर	शेषः ।
४५ गुरु	६२ लघु	१ ७ अक्षर	सारङ्गः ।
४४ गुरु	६४ लघु	१ ८ अक्षर	पयोधरः ।
४३ गुरु	६६ लघु	१ ९ अक्षर	कुन्दः ।
४२ गुरु	६८ लघु	११ अक्षर	कमलम् ।
४१ गुरु	७ लघु	१११ अक्षर	वारणः ।
४ गुरु	७२ लघु	११२ अक्षर	शरभः ।
३९ गुरु	७४ लघु	११३ अक्षर	जङ्गमः ।
३८ गुरु	७६ लघु	११४ अक्षर	पुवीहम् ।
३७ गुरु	७८ लघु	११५ अक्षर	शाला ।
३६ गुरु	८० लघु	११६ अक्षर	शरः ।
३५ गुरु	८२ लघु	११७ अक्षर	सुशरः ।
३४ गुरु	८४ लघु	११८ अक्षर	समरः ।
३३ गुरु	८६ लघु	११९ अक्षर	सारसः ।
३२ गुरु	८८ लघु	१२ अक्षर	शारदः ।
३१ गुरु	९ लघु	१२१ अक्षर	मेरुः ।
३ गुरु	९२ लघु	१२२ अक्षर	मदकरः ।
२९ गुरु	९४ लघु	१२३ अक्षर	मदः ।
२८ गुरु	९६ लघु	१२४ अक्षर	सिद्धिः ।
२७ गुरु	९८ लघु	१२५ अक्षर	बुद्धिः ।
२६ गुरु	१ लघु	१२६ अक्षर	करतलम् ।
२५ गुरु	१ २ लघु	१२७ अक्षर	कमलाकरः ।

२४ गुरु	१०४ लघु	१२८ अक्षर	धवलः ।
२३ गुरु	१०६ लघु	१२६ अक्षर	मनः ।
२२ गुरु	१०८ लघु	१३० अक्षर	ध्रुवः ।
२१ गुरु	११० लघु	१३१ अक्षर	कनकम् ।
२० गुरु	११२ लघु	१३२ अक्षर	कृष्णः ।
१९ गुरु	११४ लघु	१३३ अक्षर	रञ्जनम् ।
१८ गुरु	११६ लघु	१३४ अक्षर	मेघकरः ।
१७ गुरु	११८ लघु	१३५ अक्षर	ग्रीष्मः ।
१६ गुरु	१२० लघु	१३६ अक्षर	गरुडः ।
१५ गुरु	१२२ लघु	१३७ अक्षर	शशी ।
१४ गुरु	१२४ लघु	१३८ अक्षर	सूर्यः ।
१३ गुरु	१२६ लघु	१३९ अक्षर	शल्यः ।
१२ गुरु	१२८ लघु	१४० अक्षर	नवरङ्गः ।
११ गुरु	१३० लघु	१४१ अक्षर	मनोहरः ।
१० गुरु	१३२ लघु	१४२ अक्षर	गगनम् ।
९ गुरु	१३४ लघु	१४३ अक्षर	रत्नम् ।
८ गुरु	१३६ लघु	१४४ अक्षर	नरः ।
७ गुरु	१३८ लघु	१४५ अक्षर	हीरः ।
६ गुरु	१४० लघु	१४६ अक्षर	भ्रमरः ।
५ गुरु	१४२ लघु	१४७ अक्षर	शेखरः ।
४ गुरु	१४४ लघु	१४८ अक्षर	कुसुमाकरः ।
३ गुरु	१४६ लघु	१४९ अक्षर	दीपः ।
२ गुरु	१४८ लघु	१५० अक्षर	शंखः ।
१ गुरु	१५० लघु	१५१ अक्षर	वसु ।
० गुरु	१५२ लघु	१५२ अक्षर (१५२ मात्रा)	शब्दः ।

इति ज्ञात्वा मनसि विचारयित्वा नागराज पिङ्गलः कथयति । इत्येकसप्ततिः षट्पदानां नामानि । छन्दस्कारः प्रस्तार्यं लभते । नामभेदानिति शेषः ॥

१२४ षट्पदच्छन्दसि नामसंख्यानयनप्रकारान्तरमाह—

यावन्तः सर्वे लघवो भवन्ति । द्विपञ्चाशदधिकशतकला इत्यर्थः । तासु कलास्वर्धं विसर्जय । अवशिष्टा षट्सप्तति । तास्वपि शरसंख्या विसर्जय । एवं सति यावत्योऽवशिष्यन्ते । प्रकृते एकसप्ततिः । एतत्प्रमाणाणि नामानीति दोहाछन्दः । एतेषामुदाहरणान्युदाहरणमञ्जरीतोऽवगन्तव्यानि क्रमेण । षट्पद निवृत्तम् ॥

१२५. अथ पज्झटिका (अथ पज्झटिका छन्दः)—

चतुर्मात्रिकाश्चतुरो गणाश्चतुःस्थाने चतुष्कलो स्थापयित्वा नियमेन पयोधरं चतुष्कलं चतुर्थे स्थापयित्वा । एवं पदचतुष्टयेन चतुःषष्टिभिः (कृता) मात्राभिः पज्झटिका भवति । यथा इन्दुश्चन्द्रमाः षोडशकलाभिरमृतं क्षरति तथा षोडश मात्राभिरेकचरणोऽस्याः पीयूषवर्षी भवतीति भावः । तथा इति षोडशकलेन पज्झटिकानामकं छन्दो निष्पाद्यते इति । भूषणेऽप्युक्तम्—'चत्वारि चतुष्कलानि देहि, तत्रापि जगणमन्ते विधेहि । भणिता फणिनायकपिङ्गलेन, पज्झटिकेयं षोडश कलेन ॥ इदमप्युदाहरणम् ॥

१२६. पज्झटिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

कथितमपि कर्णे स्तौति—कर्णस्य पराक्रमं कोऽपि लुप्यते । अपि तु न कोऽपि । येन गञ्जितो गौडाधिपतिः । यस्य भयेन उत्कल उत्कलाधिपोऽपि तत्रत्यो उत्कलेशः पलायितः । गुर्वविक्रमो यस्यैव विक्रमो येन युद्धे जितः । तस्मात्कस्य पराक्रमं जानीयादिति भावः । उद्वणिका यथा—ऽऽ, ||ऽ, ऽ||, |ऽ|, ऽऽ |ऽ| |||| |ऽ| ||ऽ, ||ऽ, ||||, |ऽ|, ऽऽ ||ऽ, ||ऽ, |ऽ|,

१२७ अथाडिल्लाछन्दः—

यत्र षोडशमात्राः पादे लभ्यन्ते । द्वयोरपि चरणयोर्यमकं भवत इति यमकं भवति । न पयोधरः जगणः कथमपि । अन्त्येषु चतुर्ष्वपि चरणेषु सुप्रियो लघुद्वयात्मको गणो भवति यत्र तच्छन्दोऽडिल्लानामकमित्यर्थः । भूषणेऽप्युक्तम्—'छन्दसि षोडशकले विलासिनि प्रतिपदमन्ते यमकविलासिनि । अडिल्लानामपयोधरधारिणि, शेषे नियत सुप्रियधारिणि ॥ इदमप्युदाहरणम् ।

१२८. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

येन कर्णेन [कर्ण] लाहरी देशः मार्गयित्वा दत्तः । येन च सुस्थिरं डाहरराज्यं पार्वतीमाभिषिच्य गृहीतम् । येन च मालवे दुर्गे कीर्तिः स्थापिता । येन च जनमा धर्म धर्मोपमेनार्जितमर्थिभ्यः । स कर्णो जयतीति पर्यवसितम् ॥ उद्वणिका यथा— ||ऽ, ऽ|| ऽ ऽ| ऽ|| ऽ| ऽऽ, ऽ|, ऽऽ, ||||, ऽऽ, ऽ||, ||ऽ, ऽ | ऽ||, ऽ |

१२९. अथ पादाकुलकं छन्दः—

यत्र लघूनां गुरूणां वा एकोऽपि नियमो नास्ति । पदे पदे उत्तमरेखा भवन्ति । अन्तरान्तरा लघुर्गुरुश्च भवतीत्यर्थः । अथ च शुभकेः फणीन्द्रस्य पिंगलस्य कण्ठाभरणं षोडशमात्रं पादाकुलकं छन्दो भवतीति । भूष णेऽपि—'अत्र गुरुलघुनियमविरहितं सुकविपिङ्गलपरिभणितम् । भवति सुरु चिरषोडशकलकं, नामभूषण पादाकुलकम् ॥ इदमप्युदाहरणम् ।

१३०. तदुदाहरति—जहा (यथा)—

कस्यचिद्विदूषकस्य वचनम्—सेरमात्र यदि प्राप्यते घृत तथा मण्डकान् विंशति पचामि नित्यम्। तत्र टङ्कमात्र यदि सैन्धव लवण प्राप्त तदा य एवाह रङ्क. स एवाह राजा उट्टवणिका यथा—ऽ।ऽ।।।ऽ।।ऽऽ, ऽऽऽ।।ऽ।ऽऽ, ऽ।ऽ।।।ऽ।।ऽऽ, ऽ।।ऽ।ऽ।।।ऽऽऽ यथा वा—मलयपवनछन्नकुसुमपरागः, परभृतनिभृतरणितवनभाग । चिरतरसञ्चितमानदुरन्त., कस्य न मुदमुपनयति वसन्त. ॥'

१३१. अथ चउबोलाछन्द.—

षोडशमात्राभिर्द्वौ चरणौ प्रथमतृतीयकौ प्रमाणयत। द्वितीये चतुर्थे चरणे च चतुर्दशमात्राः। एव षष्टिमात्राभिश्चतुष्पद जानीत ॥

१३२. चउबोलामुदाहरति—

कस्याचित्तरुण्यामासक्तस्य [कस्यचित्] वचनम्—हे घणि हे वनिते, मत्तमतङ्गजगामिनि, हे खञ्जनलोचने, हे चन्द्रमुखि, यतश्चञ्चलमिद यौवन हस्तस्थितजलमिव गच्छन्न जानासि। अत' छद्दलेभ्य अस्मदादिविटेभ्य कुतो न समर्पयसि। अग्रे ते भ्रम इति भाव. ॥ उट्टवणिका यथा—ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।-ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽ, ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।, ।।।।ऽ।।ऽ।।ऽ

१३३ अथ रड्डाछन्दः—

प्रथमे पदे पञ्चदश मात्रा विरचय। पदे द्वितीये द्वादश। तृतीयस्थाने पञ्चदशमात्रा जानीत। चतुर्थे एकादशमात्राः। पञ्चमे पञ्चदशमात्रा आनयन्तु। एव पञ्चपदेषु अष्टषष्टिं मात्रा पूरयन्तु। अग्रे दोहां दत्त। राजसेनो नाम राजा सुप्रसिद्धामिमा रड्डा भणति। इदमप्युदाहरणम्।

१३४. एतस्या एव गणनियममाह—

विषमे पदे प्रथमतृतीयपञ्चमे प्रथम त्रिकल स्थापयन्तु। ततस्त्रय' पदातय' चतुष्कलगणा. क्रियन्ताम्। अत्र प्रथमपादस्यान्ते नरेन्द्रो भगण.। किंवा विप्रगण चतुर्लघ्वात्मको भवति। ततोऽपरत्र समे द्वितीये चतुर्थे च द्वे मात्रे प्रथमतो दत्त्वा त्रय पदातय. चतुष्कलास्त्रयोगणा, पूर्वस्थापितमात्राद्वयेन सह कर्तव्या इत्यर्थः। सर्वेषु पदेषु लघुमन्ते विसर्जय तु। चतुर्थे चरणे विचारयित्वा कार्य.। उट्टवणिका विधाय तुरीयचरणे एक लघुमाकृष्य गृह्णन्तु। तेन चतुर्थे चरणे एकादशैव कला.। अतस्तृतीयो गणस्त्रिकलस्त्रिलघ्वात्मको भवति, इत्येवं पञ्चसु पादेषु उट्टवणिका कृत्वा अष्टषष्टिमात्राश्च पूरयित्वा वस्तुभूत तच्छन्दसो नाम पिंगलः करोति। 'वस्तु' इत्येतस्यैव नामान्तरम्। वापा (?) स्थापयित्वा दोषहीनं दोहाचरणं राजसेनो नाम राजा रड्डामिति भणति। षट्पदीच्छन्द. ॥

१३५. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्प्रोषितभर्तृका समागतं वसन्तमवलोक्यात्मानं शोचति—यथा हे सखि, मधुकरो भ्रमरो भ्रमति। कुसुमितमरविन्दम्। विकसितमित्यर्थः। नवकिंशुककाननं च पुष्पितम्। अथ च सर्वदेशे पिकः पञ्चमं कूजति। शीतलपवनो मलयानिलो मलयकुहरगहनवल्लीमभिनवलतां प्रेरयित्वा लघु मम वहति। एवं वसन्ते जाते सति चित्तं च मनोभवशरो हन्ति। दूरे दिगन्तरे कान्तः। कथमिदानीमात्मानं स्थापयिष्यामि। एवं पठितं दुरन्तं दुःखमिति। एतस्या एवाक्षरं भवस्थमिति नामान्तरम्। उद्वणिका यथा—।।, ।।।।, ऽ।। ।ऽ।, ।।ऽ, ।ऽ।, ।।।।, ऽ।, ऽ।।, ।ऽ।, ऽ।।, ।।।।, ।।।।, ।।।, ।।, ।।।, ।ऽ।, ऽ।।, ऽ।ऽ, ।।।।, ।।।, ऽ।ऽ, ।।ऽ, ।, ऽ।ऽ, ।।ऽ, ।।। ।।।।।, ।।ऽ ।

१३६ अथैतस्य छन्दसः सप्तभेदा भवन्तीति नामतस्तानुद्दिशति—
करभी, नन्दा मोहिनी, चारुसेना, भद्रा, राजसेना, तालङ्किनी इति मिले सप्त भेदा वस्तकापरनामकरड्डाच्छन्दसो निष्पन्नाः। दोहाच्छन्दः॥

१३७ तेषां लक्षणमाह—

प्रथमतृतीयपञ्चमपदेषु यस्यास्त्रयोदश मात्राः। अथ च द्वितीयचतुर्थयोरेकादश मात्राः। एवं पञ्च पदानि, एतस्मिन् दोहा यस्यास्तां करभीं भणति। दोहाछन्दः॥

१३८. यस्याः प्रथमतृतीयपञ्चमपादेषु चतुर्दश मात्रा। द्वितीयचतुर्थयोरेकादश तां विचार्य दोहा च दत्वा नन्दां भणति। दोहाच्छन्दः॥

१३९. प्रथमतृतीयपञ्चमपदेषु नव दश ऊनविंशतिर्मात्राः यस्या द्विचतुर्थे एकादश। अग्रे दोहा यत्र तां मोहिनीं जानीहि। दोहाच्छन्दः॥

१४ प्रथमतृतीयपञ्चमपदेषु मात्राः पञ्चदश। द्वितीयचतुर्थयोरेकादश। सदोहां तां चारुसेनां जानीहि। दोहाच्छन्दः॥

१४१ प्रथमतृतीयपञ्चमपदेषु पञ्चदश। द्वितीयचतुर्थयोर्द्वादश मात्रा दत्वा दोहा भद्रानाम्नी कथय। दोहाच्छन्दः॥

१४२ प्रथमतृतीयपञ्चमपदेषु पञ्चदश मात्राः, द्वितीये द्वादश, चतुर्थे एकादश तस्यान्ते दोहा, तां राजसेनां भण॥

१४३ प्रथमतृतीयपञ्चमपदेषु षोडश मात्राः, द्वितीये द्वादश चतुर्थे एकादश अन्ते दोहा यस्यास्तां तालङ्किनीं भणेति। एतेषामुदाहरणानि सुधीभिः स्वयमूह्यानि। इति रड्डाप्रकरणम्।

१४४ अथ पद्मावती छन्दः—

यस्याः स्थाने स्थाने चतुर्ष्वपि चरणेषु चतुर्मात्रिकाश्चतुष्कला गणा अष्टौ भवन्ति। ता पद्मावतीं भण। के के गणा इत्याह—कर्ण. गुरुद्वयात्मको गणः। करतलः गुर्वन्तश्चतुष्कलः। विप्रः चतुर्लघ्वात्मको गणः। चरणः आदिगुरुर्भगणाख्यः। ध्रुव निश्चितम्। एत एव गणाः पौर्वापर्येण वसुसख्याकाः पादे पादे उत्कृष्टाः कार्याः। अत्र 'ध्रुवधम्मो' इति क्वचित्पाठ.। तत्र धर्मो युधिष्ठिरः, तेन कुन्तिपुत्रत्वाद्गुरुद्वय विवक्षितम्। अत्र यदि पयोधरो जगणः पतति तदा किमिय मनोहरा, (मनोहरा) न भवतीत्यर्थः। अथ च यस्य कवित्व क्रियते तस्य नायकस्य तथा गुण पीडयति, पितर त्रासयति, कवित्वस्य पिता कविरेव विवृणोति—कविमुद्वासयति, तस्मादत्र छन्दसि अय जगणश्चण्डालचरित्रः सर्वथा त्याज्यः। उक्त च भूषणे—'यद्यष्टचतुष्क-लगणनिर्मितपदकरपदकर्णद्विजविहिता, सा पद्मावतिका विबुधसुमहिता जगणविरहिता सुकविहिता। इह दशवसुभुवनैर्भवति विरामः सकलाभिमतफलाय तदा, फणिनायक-पिङ्गलभणितसुमङ्गलरसिकमनःसुविहितमदा॥'

१४५ पद्मावतीमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कवि. काशीश्वरस्य राज्ञो विजयप्रयाणमनुवर्णयति—वगा वङ्गदेशीया भयेन पलायिता.। अथ च कलिगा. कलिंगदेशस्था. तेऽपि भग्नाः। तैलगा अपि रण त्यक्त्वा चलिता.। धृष्टा महाराष्ट्राः। एकत्रीभूय लग्ना. काष्ठाः। लग्नाः दिश इत्यर्थः। सौराष्ट्राः भयेनागत्य पादे पतिता.। अथ च चम्पारण्यदेशीयाना कम्पो जात.। पार्वतीया उत्थी उत्थी उपर्युपरि जीवाना मनुष्याणा हरे गृहे एव झम्पा निलीना.। जीवगृहे गोप्यस्थले झम्पा निलीना इति वा। एतत्प्रतापतपन-भयादुलूका इव स्थिता इत्यर्थं। उट्टवणिका यथा—||ऽ, ||ऽ, ऽऽ, ||ऽ, ऽऽ, ऽऽ, ||ऽ, ||ऽ, ||ऽ, ऽऽ, ऽऽ, ||ऽ, ऽऽ, ऽऽ, ||ऽ, ||ऽ, ऽऽ, ||ऽ, ऽऽ, ||ऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ||ऽ,

१४६. अथ कुण्डलिकाछन्द.—

प्रथम द्विपथालक्षणं पठित्वा काव्येनार्धं निरुक्त्वा कुण्डलिकां जानीत। कीदृशीम्। उल्लालेन सयुक्ताम्। उल्लालनमेव उल्लालः परावर्तन, तेन युक्त-मेव पद पुनः पठेदित्यर्थः। ननु षट्पदवदुल्लालेन छन्दसा युक्तामिति, तस्मात् सिंहावलोकनन्यायेन निकटवर्तिना पदेन शुद्धं यमक श्लाघ्यते। तत्राष्टसु पदेषु कियत्यो मात्रा इत्याकाङ्क्षायामाह—चतुश्चत्वारिंशदधिक शत मात्रा यत्र भवन्ति। सुकविना दृढो बन्ध. कथ्यते। दोहाया अष्टचत्वारिंशत्, काव्यस्य षण्णवतिर्मिलित्वा चतुश्चत्वारिंशदधिकशत कला तनुभूषणशोभा यस्यास्ता कुण्ड-लिका सुग्राहु जानीत। एतेनाष्टपदी कुण्डलिकेति तात्पर्यार्थं। तथा चोक्त भूषणे—

कुण्डलिका सा कथ्यते प्रथमं दोहा यत्र ।
रोलाचरणचतुष्टयं प्रभवति निश्चितं तत्र ॥
प्रभवति निश्चितं तत्र पदं प्रति सुललितयमकम् ।
व्यापदी सा भवति विविधकविकौशलगमकम् ॥
आद्यपदी सा भवति सुकविजनचित्तचमत्कारिका ।
कुण्डलिनायकमपि तथा विबुधजनैः कुण्डलिका ॥'

इदमस्योदाहरणम् ॥

१४७ उदाहरति—(जहा) यथा—

कश्चिद्वन्दी वीरहम्मीरप्रयाणमनुवर्णयति—यस्मिन् दिल्लीमध्ये प्रयाणडिण्डिमः समाहतस्तस्मिन्नेव मूर्च्छितं म्लेच्छशरीरैः । अनन्तरं च पुरस्कृत्य सकलसैन्यं चलितो वीरहम्मीरः । तस्य च हस्तिचरणपातभरेण मेदिनी कम्पते । दिङ्मार्गे नभसि चान्धकारः स्फुरति । धूलिश्च सूर्यरथमाच्छादयति । एवं दिङ्मार्गे नभःपथे चान्धकारो विस्तृतिमानीतः । खुरसानस्य ओल्लो हरतः हेलयन् वं परमर (हे) तेन दमथि (दामयति) विपक्षान् । किमुत संग्रामेण । एवं यस्य वर्तन्ते विधिवशमे दिल्लीमध्ये इति उद्दवणिका यथा—SSS ||S, ||| S|S, ||S |, ||SS, SS, ||| ||S|, -S, | ||S| SS, |S|, ||S, ||S, ||, ||||| SS, |S| S|| ||S, ||, ||||| SS |S|, ||S, ||S, S ||||| ||S, |S| SS, ||S, S ।

१४८. उद्दवणिकामेव स्पष्टीकरोति—

प्रथममेव द्विपथाचतुष्पदं ततश्चतुष्पदं काव्यस्य दत्त । एवं कुण्डलिकायाः पदे पदे यमकं च कुरुत । दोहाक्षर ॥

पञ्चपदिकासु आद्यो दोहा । ततः रोला अर्धद्विपदीकृतदोहा । तदा कम्बमिति कुण्डलिकायामुत्तमाह । तस्मिन्पद्ये एकस्थाने द्विनवतिर्मात्रा भवन्ति ॥

१४९. अथ गगनाङ्गं छन्दः—

मात्राविभूषितमिदं भवतु । कथ्यते इति शेषः । अत्र च मात्राः पदं पदं स्थाप्यन्त । अत्र प्रतिपदं विंशतिः कलाः शराधिकाः पञ्चविंशतिः कलाः करणीयाः । लघुगुरुकाः शोभिताः । सर्वत्र पादान्ते लघुगुरू हारकाविशेषं । अत्रैव गणनियममाह—चतुर्ष्वपि चरणेषु प्रथमं मात्रारचनायाः यस्मिन्नेतादृश षड्मात्रको गणः कार्यः । मध्ये च यथासुखं गणैः प्रचारितमधुनानियममाह—विंशत्यक्षराणि लक्षेषु पादेषु तथा चरणचतुष्टये च गुरुः एवं यस्य तद्गगनाङ्गं छन्द इति । इदमस्योदाहरणम् ॥

१५ उक्तामेवोद्दवणिकां स्पष्टीकरोति—

चतुर्ष्वपि चरणेषु प्रथम चतुष्कलो गण । चरणान्ते हारो गुरुर्देय । अत्र (त्र) चाक्षराणि विंशतिः । भण पट । मात्रा पञ्चविंशतिः । एव गगनागन छन्दो विचारय ॥ दोहा छन्दः ॥ उट्टवणिका यथा—।।।।, ।।ऽ।।ऽ।ऽ।।ऽ।ऽ, ऽ।।।।।, ।।।।।ऽ।ऽ, ।।।।, ऽ।ऽ।।ऽ।।।।।ऽ।ऽ, ऽऽ, ।।।।।।।।।ऽ।ऽ।ऽ । वाणीभूषणे तु मात्रागणनियमोन्यथाक्षरनियमो नास्तीत्युक्तम । यथा—'पट्कलमादौ विरचय शेषे रगणविभूषित, मध्ये नियमविहीनं द्वादशके यतिसंगतम् । फणिपतिपिंगलभणित कविकुलहृदयरञ्जन, पञ्चाधिकविंशतिकल वृत्तमिद गगनागनम् ॥'

१५१. गगनागनमुदाहरति—जहा (यथा)—

भग्नो मलयपतिः । चोलपतिर्निवृत्तः । गञ्जितो गुर्जरपति । मालवराजो मलयगिरौ लीनः । परित्यज्य कुञ्जरान् । खुरासानाधिपती रणमध्ये खुञ्जि विक्षोभ प्राप्य अहितसागरं लंघते स्म । यद्वा अधिक यथा स्यात्तथा । हम्मीरे चलिते सति हाहावो रिपुषु कातरेषु पतित । उट्टवणिका यथा—ऽ।।, ।।।, ऽ।।, ।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ, ऽ।।, ऽ।।, ।।।, ऽ।।, ।।, ।।ऽ, ।।।, ।।।, ।।ऽ, ।।ऽ।, ऽ, ऽऽ, ।।।, ।ऽ।, ।।।, ।।।, ।।।, ऽ।, ऽ ।

१५२. अथ द्विपदीछन्द.—

आदिस्थ इन्दु, पट्कलो गणः प्रथम यत्र भवति । ततो दीयन्ते त्रयो धनुर्धरा श्चतुष्कलगणा यत्र । तथा पदातियुगल परिसंस्थापयन्तु । एव विधितो विचित्र-सुन्दरमितिच्छन्दोविशेषणम् सरस्वत्या सकाशात्प्रसाद गृहीत्वा तथा पृथिव्या कुरुत कवित्व कविजना । मधुरो गुरुस्त चरणान्ते दत्थ । एतादृशं द्विपदीछन्दो जानीत बुधा । अत्रेद लक्षणद्वय [द्विप] दीद्वयेन ज्ञातव्य न तु पदचतुष्टयम् । द्विपदीति न.मविरोधात्तथोदाहरणाच्च । अत्रेन्दुर्यद्यपि लघुद्वयगुरुद्वयात्मक (।।ऽऽ) पट्कलस्तथापि षट्कलमात्रोपलक्षणः लक्ष्ये तथैव दर्शनात् ॥

१५३. उक्तामेवोट्टवणिका दोहाच्छन्दसा स्पष्टीकृत्याह—

षट्कल मुखे स्थापयित्वा ततश्चतुष्कलान्पञ्चगणान्कुरुत । अन्ते च एकहारो गुरुस्त दत्वा द्विपदीछन्द कथयतु । भूषणेऽपि—'आदौ पट्कलसगतमेतत्तदनु पञ्च-चतुष्कलम् । गुर्वन्त द्विपदी भवतीह हि विंशत्यष्टकलदलम् ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१५४ तामुदाहरति—जहा (यथा)—

दानवदेवौ द्वावपि सग्रामार्थमेकदा परस्परं मिलितौ । अत एव गिरिवरस्य सुमेरोः शिखर कम्पितम् । अथ च हयगजपादघातोद्भूतधूलिभिर्गगन च विशेषेण पिहितम् । उट्टवणिका यथा—ऽ।।ऽ, ।ऽ।, ऽऽ, ।।।।, ।।।।, ।ऽ।, (२८) ।।।।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।।।।, ।ऽ।, ऽ (२८) ।

महीचलने शेषचलन हेतु' । कैलासपतने महीचलनमित्युत्तरोत्तर प्रति पूर्वस्य हेतु-त्वमिति • •••अलकारः । उट्टवणिका यथा—IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, SIS (४१) IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, SIS (४१)=(८२) ।

१६५. अथ सिक्खा (शिखा) छन्द'—

हे शशिवदने, हे गजगमने, यत्र पदे पदे द्विजगणषट्कं भवति । तदुपरि पयो-धरेण जगणेन सशिखम् । उपरिस्थितजगणमित्यर्थः । एवविधं प्रथमदलं पठ । पश्चाद्द्वाभ्या द्वाभ्यां लघुभ्यां प्रकटितोऽधिक एको द्विजगणो लभ्यते । तेन द्वितीये दले सप्तविप्रगणानन्तर यत्र जगणो भवति स इति प्रसिद्धः । शेषस्तच्छिखानामकं छन्दो भणति । इदमप्युदाहरणम् ॥

१६१. उक्तलक्षणमेव गाहूछन्दसाह—

यत्राष्टाविंशतिर्मात्रा' प्रथमे दले भवन्ति । द्वितीयदले द्वात्रिंशन्मात्रा' । पदयोरन्ते लघुर्यत्र तच्छुद्ध शिखाछन्दो विजानीत ॥ भूषणेऽपि—'द्विजवरमिह रहि रसगुणितमुपनय तदनु जगणमपि विधेहि । स्वरगणितमिह परदलमधिकुरु फणिनरपति सुभणितरुचिरशिखा हि ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१६२ तानुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितभर्तृका सखीमाह—हे सखि, पुष्पिता मधुका भ्रमरा' । स्थिता. पुष्पेषु इति शेषः । किंच रजनीप्रभोश्चन्द्रस्य किरणा बहवो विशेषतः अत्र इदानीं पुनर्वसन्त इत्यर्थः । परमसतापका इति भावः । अथ च मलयाचल-कटककोटरमभिव्याप्य पवनो वहति । अत एवैतत्सर्वं सोढव्य कथमिति त्वमेव भण । निकटे नास्ति कान्त. । अतो यदुचित भण ॥ उट्टवणिका यथा—IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, ISI, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, IIII, ISI,

१६३ अथ मालाछन्दः—

हे शशिवदने, हे मृगनयने कर्णो गुरुद्वयात्मको गणो भवति । शेष द्वितीय-चरण गाथाया अर्धं यस्मिस्तन्मालाछन्दः पिङ्गलनागो भणति ॥ इदमप्युदाहरणम् ॥

१६४. उक्तलक्षणमेव दोहाच्छन्दसाह—

यत्र प्रथम नव विप्रगणाः ततो जोहल रगणः पुनर्गुरुद्वयम् । एव पञ्च-चत्वारिंशन्मात्राः पश्चाद्गाथायाः अर्धं सप्तविंशतिर्मात्रा उत्तरार्धे यत्र तन्माला-छन्द ॥ तथा चोक्त वाणीभूषणे—'द्विजवरनवगणमतिशयसुरुचिरमिह कुरु तदनु रगणमपि कलय कमलमुखि कर्णवच्छेपे ॥ अपरदल गाथाया मालावृत्त विचित्र तत् ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१६५. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्प्रोषितभर्तृका वर्षासमयमालोक्य सखीमाह—हे सखि, गर्जति जलम्। भ्रमति घनः। शीतलः पवनो मनोहरः। नदति इति शोभा। किं च [क] नकमिव नृत्यति विद्युत्। नीपा [कुसुमिताः] एवंविधेऽपि समये कठोरे प्रस्तर विस्तारहृदयो महापापान्मदयक प्रिय इदानीमपि नायाति। अतः किं विवेकमुप दिशेति भण्यते ॥ उद्दवणिका यथा—IIII IIII IIII, IIII IIII III, III IIII, IIII SIS, SS (४५) SII SII IIS, IIS, SIS, S (१७)।

१६६ अथ चुलिआलाछन्दः—

चुलिआलानामकं छन्दः। यदि दोहाया उपरि पञ्च मात्रा अधिका दीयन्ते। तदेवाह—पदे पदे उपरि शुद्धाः कुसुमगण एको लघुः, ततो गुरुः ततो लघुद्वयम्। एवंरूपं पञ्चकलं स्थापयन्तु। पदे पदे इत्युक्ते दोहापदचतुष्टयेऽपि पञ्चकल दानं' ''आह—सप्तकलो गणोऽन्ते द्विपञ्चाशन्मात्रान्ते चरमान्ते च दीयते। एतेनार्धे अष्टाविंशन्मात्रा भवन्ति। एवं द्वाभ्यामप्यर्धाभ्यां मात्राभ्यां चुलिआलाछन्दो भवति ॥ इदमस्योदाहरणम् ॥

१६७ उक्तलक्षणमेवाह—

दोहार्धलक्षणं संस्थापयन्तु। उपरि पञ्चैव मात्राः। एवमर्धस्योपरि चत्वारिंशन्मात्राः संभूय पञ्चाशन्मात्राभिश्चुलिआला भवत्यपाता ॥ भूषणेऽपि—'दोहादलयोर्यदा पञ्चकलो विमलोहि विराजति। फणिराजनृपति किल तदा चुलिआलामिह नामगुणपति ॥ इदमस्योदाहरणम् ॥

१६८. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

हे मित्र, राजा [सु]न्दरः, समग्रा लक्ष्मी, वधूः मधुरभाषिणी सेवको धूर्तः एवं सति यदि जीवनं सुखरूपं प्रार्थयसे तर्हि गृहं परिहर। निरन्तरं सन्ध्यां कुरु। इति कश्चिद्धार्मिकः प्रति मित्रमाह। उद्दवणिका यथा—SSS IIS, III IIIIS, IIS, I ISII SIIS, IIS, II IIIII IIII, I ISII, इति चुलिआलाछन्दः ॥

१६८. अथ सोरठा छन्दः—

तां सोरठां जानीहि। या विपरीतैव दोहा स्थिता। तत्र च पदे पदे यमकं न्यासयेति। इति नागराजपिङ्गलः कथयति। प्रथमचरणे एकादश द्वितीये त्रयोदश, तृतीये एकादश चतुर्थे त्रयोदशेति। भूषणेऽप्युक्तम्—'तत्सोरठा वृत्तममलमुरगपतिरिति वदति। यदोहाविपरीतमिह जनहृदि सुखमुपनयति ॥ इदम स्योदाहरणम्।

१७ तामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कस्मैचिच्छ्लाघते—स एव मान्यते पुण्यवान् यस्य तनयो भक्तः, अर्थात्पितुः, पण्डितश्च। यस्य च गृहिणी गुणवती स तु पृथिव्यामपि वर्तमानः स्वर्गनिलयोऽमरो भवति। उट्टवणिका यथा—SS।।।।S। (११) S।S।S।।।।(१३) S।।।।।S। (११) S।।।S।।।। (१३)

१७१. हाकलिछन्दः—

यत्र सगणो गुर्वन्तश्चतुष्कल. भगणो गुर्वादिः, द्विजगणश्चतुर्लघ्वात्मकश्च अत एव व्यस्तसमस्ता गणा भवन्ति। अन्ते वक्र गुरुरेक सस्थाप्य मात्राश्चतुर्दश मिलित्वा वर्णाश्चैकादश पदे पदे उत्तरार्धे दश पतन्ति, तदिद हाकलिच्छन्दोरूपं कथितम्। इदमप्युदाहरणम्॥

१७२. उक्तलक्षणमेव साक्षरनियममाह—

यत्र मात्राश्चतुर्दश पदे पतन्ति, एकादशवर्णैश्च पूर्वदल दशाक्षरैरुत्तरदलम् यत्र तद्धाकलिच्छन्दः कथय॥ वाणीभूषणे त्वक्षरनियमो नोक्तः। 'द्विजगणसगण-भगणकलिता, भवति चतुर्दशकलकलिता। अन्ते गुरुमुपधाय सदा, हाकलिरेषा भवति तदा॥' इदमप्युदाहरणम्॥

१७३ तामुदाहरति—जहा (यथा)—

उच्चा छदि. विमल गृह विनयपरा तरुणी चेद्गृहिणी यस्य वित्तैः पूरितं मूलगृह तस्य वर्षासमया सुखकरा भवन्ति। इति दरिद्रवचन वयस्य प्रति। उट्टवणिका यथा—S।।S।।।।।।S, ।।S।।S।।।।S, S।S।।S।'S, ।।SS।।S।।S

१७४ अथ मधुभारच्छन्दः—

यस्य पतति शेषे दलद्वयान्ते पयोधर एक। जगण एक.। पततीत्यर्थः। तत्पश्चाच्चतुर्मात्रिका गणास्त्रयो यत्र तन्मधुभारच्छन्द। वाणीभूषणे तु गणनियमो यद्यपि दर्शितस्तथापि चतुष्कलमात्रे पर्यवसन्नो ज्ञेय.। 'सगण निधाय जगण विधाय। श्रुतिसौख्यधाम मधुभारनाम॥' इदमप्युदाहरणम्॥

१७५ तामुदाहरति—जहा (यथा)—

यस्य चन्द्र. शीर्षे। यस्य परिधान दिश। स शम्भुरेव तुभ्य शुभ ददात्विति। उट्टवणिका [यथा]—।।S, ।S।, S।।, ।S।, SS, ।S।, ।।S, ।S।,

१७६ अथाभीरच्छन्द—

यत्रैकादश मात्रा प्रतिपद क्रियन्ते। यत्र चान्ते जगणो दीयते। एतच्छन्द आभीरनामकमिति जल्पति पिङ्गल। भूषणेऽपि—एकादशकलधारि कविकुल-मानसहारि। इदमाभीरमवेहि जगणमन्तमभिधेहि॥' इदमप्युदाहरणम्॥

१७७. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

उट्टवणिका यथा—SIISIISI SIISIISI, SIISIISI, SIISIISI

१७८. अथ दण्डकला छन्दः—

कुन्तकरः, धनुर्धरः, हयवरः, गजवरः, चतुष्कलान्तराले गणाः त्रयः पदक्रमे गणः त्रयः पदातिद्वयं चतुष्कलगणद्वयम्, अन्ते गुरुरिति द्वात्रिंशन्मात्रा यत्र मनसि जानीत बुधजना इत्यस्ते । समुद्रिकमात्रासंख्यामाह—चत्वारिंशत् भिन्नमात्राकाः संपूर्णं यस्मिन्नप् एं फणिपतिभाषितं भुवने लोके दण्डकलेति निरुक्तं गुरुसंयुक्तमिदं छन्दः पिङ्गलो जल्पति । इदमस्योदाहरणम् ॥

१७६ तामुदाहरति—यथा (यथा)—

कश्चिद्बन्दी काशीश्वरादिवानां पलायनमनुवर्णयति—हे काशीपते, त्वद्भिता राजानो भग्नाः पलायिता अजपन्नि भिक्षु सन्नाः । किं कृत्वा । इत्याकाशस्थलीभिः परित्यज्य । अथ च तासां पुरन्ध्रीणां कोटरे भ्रमति यदोभयाः कान्तारं भ्रताः पूर्णाः । तन्मध्ये पट्टमहिषी काचित् परिश्रमा लुठति, रोदिति, अनुमार्गन्ति, पुनरप्युत्तिष्ठति, संभ्रमित्वा अवधार्य । कथंभूता । करे दत्ताङ्गुलेर्बालस्य तनयस्य करकमले कन्दये कण्ठे यस्याः । स्वकरेण विधूतवसनकरणसैन्यपर्णः । एवं वाधे सति काशीश्वरो राजा स्नेहात् स्नेहयुक्तः कार्यो यस्य । करेण दक्षेन पुनर्भामां दयां स्थापयित्वा धृतवान् यद्दुरस्थभित्सुपरिपाददेवेन दयां पतिता तस्य राज्ञे प्रतिष्ठापयामास । उट्टवणिका यथा—SI SSS III SSS IIIIIIIIIII S, SIIIIIIIIIIIIIII SII SIIIII S IISIISIIIISSIIS IIIIIIII S SSIISSSII SSIISSIISIIS ।

१८० अथ दीपकछन्दः—

यत्रो चतुर्मात्रं मध्ये देहि । तस्यान्ते पञ्च लघु देहि । तदन्तेऽवसानमध्ये मम[illegible] बुध्यस्व । तदुक्त भूपते—'इदमीक्षमुपधाय पुनरेवमवधाय । इद दीपकमध्येदि लघुमन्तममिभेदि ॥ इदमस्योदाहरणम् ।

१८१ यथा (यथा)—

यस्य राज्ञे इस्ते करवालः करा शोभते । शीर्षे । शत्रुकुलकालस्य । यस्य च शिरसि वरमुक्तं छत्रं शोभते संपूर्णशशिवत् ॥ उट्टवणिका यथा—IISIII SISSIIISI IISIIISISSII SI

१८२. अथ सिंहावलोकछन्दः—

भो गुणिगणाः, विप्रलगणाभ्यामेव मतिनदं पादस्य मात्रा पूर्णा भवन्तु सिंहावलोकनं छन्दः । ध्रुवं निश्चितं बुध्यस्व । नागो भणति । अत्र जगणो न भगणो न च कर्णगणो भवति । षोडशमात्राभ्यां विप्रगणेन षोडशकलं सिंहावलोकन छन्दो भवति । एतच्च शब्दसाम्यमात्रेण पदान्तपदसाम्यसम्बन्धेन भवतीति

तियम् । तथा चोक्तं वाणीभूषणेऽपि—'श्रृणु सिंहावलोकितवृत्तवर वरयमकमनोहरचरणधरम् । धरणीपतिमानसमधिकलित किल वेदचतुष्कलगणललितम् ॥' इदमप्युदाहरणम् ।

१८४. उक्तामेवोद्दवणिकां स्पष्टीकरोति—

अत्र छन्दसि विप्रगणसगणावेव द्वौ गणौ पदे पततः । ततोन्ते हार गुरु विरुर्जय । सगणस्यान्ते गुरुत्वात् सगण एव पदान्ते देय इत्यर्थः । छन्दसोऽन्वर्थकतामाह—पदान्ते यदक्षरद्वय तदेवाग्रिमपदादौ देयमित्यर्थः । अत एव सिंहावलोकनमिति ॥

१८८. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कर्णमुपवर्णयति—हतमुज्ज्वलमतिस्फीत गुर्जरराज्यस्य दल सैन्यम् । येन दलेन स्वसेनासमुदायेन दलित चूर्णीकृतम्, अतएव चलित महाराष्ट्राणां बल कटकम् । येन बलेन बलात्कारेण मोटितमुत्खात मालवराजस्य कुलम् । एवंविधः कुलोज्ज्वलः कलचुलिवंशोद्भवः कर्णः फुल्ला स्फुरति । अथवा स्फुटं सत्यम् । कर्ण एव कलावतीर्ण इति भावः ॥ उद्दवणिका यथा—॥ऽ॥ऽ॥ऽ॥ऽ, ॥॥॥॥ऽ॥ऽ, ॥ऽ ॥ऽ ॥ऽ ॥ऽ, ॥ऽ ॥ ॥ ऽ।ऽ.

१८५ अथ प्लवगमच्छन्दः—

एतस्यैव चतुर्थचरणादौ परहा इति बन्दिनः पठन्ति (१)। हे मुग्धे, यत्र प्रथम षण्मात्रो गणः पदे पदे दृश्यते । ततश्च पञ्चमात्रश्चतुर्मात्रो गणो नान्यत्र क्रियते । अथ सस्मृत्यान्ते पदान्ते लघुगुरुश्च एकैकस्य चरणस्यान्ते चाहए अपेक्षते । एवमुक्तलक्षण तत्प्लवगमाख्य छन्दो विचक्षणान्मोहयतीति । भूषणेऽपि—'षट्कलमादिगुरु प्रथम कुरु सतत, पञ्चकल च ततोऽपि चतुष्कलसगतम् । नायकमत्र चतुर्थमितोगुरुमन्तके, एकाधिकविंशतिः प्लवगमवृत्तके ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१८२ उक्तमेव लक्षण विशदी कृत्याह—

...... सकलेषु सम्कारेषु निर्भ्रम. पिङ्गलो भणति । तन्मात्राणामेकविंशत्या दृष्ट प्लवगमाख्य छन्दो भवति । गाथा छन्दः ॥

१८७. तमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितपतिका सखीमाह—हे सखि, नृत्यति चञ्चला विद्युत् । उतान्य त्किंचिदेतदिति जानीहि । अह त्वेवं मन्ये । मन्मथखङ्गकणिका सज्जलधरशाणके इति । अपि च पुष्पिता कदम्बा. । अम्बरडम्बरो मेघाडम्बरो दृश्यते । अतः प्रावृट् प्राप्ता । हे सुमुखि, घनाघनो वर्षुकघनो वर्षतीति वाक्योवाक्यम् ॥ उद्दवणिका यथा—ऽ॥ऽ॥ऽ॥ऽ॥ऽ।ऽ, ऽ॥ऽ॥ऽ॥॥॥ऽ।ऽ, ऽ॥ऽ॥ऽ॥ऽ॥ऽ।ऽ, ऽ॥ऽ॥ऽ॥॥॥ऽ।ऽ,

१८८. अथ लीलावती छन्दः—

यत्र कुत्रापि लघौ गुरौ वा नियमो नास्ति । अक्षरेऽपि न नियमः । अत्र विषमे चरणे जगणः समेऽपि पयोधरो जगणः पतति । अत्र क्वेऽपि नियमो नास्तीत्यर्थ । तरलतुरगो यथा प्रसरति दिक्षु विदिक्षु अगम्ये गम्ये च । स्खलो इति शेषः । तथा सुन्दरी पठितो लीलया समन्तत लेखया इयं लीलावती परिचलति । अतः कर्णो द्विजगणो भगणो जगणा इति चतुर्मात्राः पञ्चापि गणा निरन्तरमनेक-क्रमेण पतन्ति । तथान्ते सुवं निश्चितं स॰ ॰दि भगणो भवति । किं च सा लीलावती द्वात्रिंशत्कलासु विश्रामं करोति । लघुगुरुरूपेणापि गणेऽपि नियमो नास्ति । यथाकथंचिदिह त्रिंशत्कलाः पूरयितव्या । तथा च भूषणे— गुरुलघुवर्णनियम विरहितमिह हि सुकलय चतुष्कलमपगणं, द्वात्रिंशत्कलविरचितविरामविरचितमक्षरप्र-कृतमनुक्तमुदाहरणम् । लीलावतीश्च भवति च करकर्णद्विजगणभगणजगणकलिता फणिनायकपिङ्गलविरचितमद्भुतबहुलगमगलगुरुलघुनलिता ॥ इदमनुदाहरणम् ॥

१८९ तामुदाहरति—यथा (यथा)—

करिचरद्वृन्दी हम्मीरप्रयाणं वर्णयति—यस्मिन्क्षणे वीरो हम्मीरश्चलितस्त-स्मिन्नेव क्षणे शत्रुपरेषु लग्नोऽग्निः पटपटेति कृत्वा ज्वलति । नास्ति पन्था कुत्रापि । दिक्पथोऽन्धतेन भूतः । तस्मिन्नेव च क्षणे सर्वेऽपि प्रसृताः पदातिरञ्चलति । ता पदातिकर्णोपवनीनां शत्रुवधूनां स्तनौ प्रान् कम्पनाति द्विधा करोति । 'थर' इति पुण्यं स्तनो इति धरपरादित्यस्मदीति । यस्य हम्मीरस्य भेरवभेरीशब्दे पतिते सति पलायमानवैरितरुणीगणाः भ्रान्ता उच्चैः भयेन कम्पितशरीराः । रिपुपति-रमा त्रुटति । शिरः पिहर । आक्रन्दीत्यर्थः । मोक्ष्यति । कैदानिति शेषः । अङ्कस्थितिश्च यथा—।।ऽ, ।।ऽ, ।।।।, ।।।। ।।।। ।।।। ।।।। ।।ऽ, (३२) ।।ऽ, ।।।। ऽऽ, ।।।। ।।।।, ।।।। ।।ऽ, ।।ऽ, (३२) ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।।। ।।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ ।।ऽ, (३२) ।।ऽ ।।ऽ, ।।।।, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, (३२) ॥

१६ अथ हरिगीताछन्दः—

मो शिष्याः गणांश्चतुरः पञ्चकलान् स्थापय । द्वितीयस्थाने षट्कलं कुरुत । प्रतिस्थानमन्ते चैकं गुरुं कुरुत । इत्थं वर्णनेन सुन्दरी सर्वे जानीति सारदम् । तत्र चरणेषु मात्रानियममाह—दश, चत्वारि, द्वौ दश पुनर्द्वौ पतत्सर्वं मिलित्वा पादे अष्टाविंशति मात्रा इति जानन्तु । तत्रैतच्छन्दो हरिगीतानामकं प्रसिद्धं पिङ्गलेन प्रकाशितं जानीत ॥ भूषणेऽपि—'इन्द्रासन प्रथमं विरचय तु सखितु पञ्चकलमनु कुरु तन्तु पञ्चकलमयं शिव कुरु विरामे कुण्डलम् । अथ विकामिह विरति च कलाः कलयति सुन्दरं हरिगीतमिति हरिगीतकं धरणिपतिप्रथमन्दिरम् ॥ इदमनुदाहरणम् ॥

१६१. उक्तलक्षणमेवाह—

द्वितीयस्थाने एक षट्कल कथयन्तु। अवशिष्टाश्चत्वारः पञ्चकला गणा देयाः। पिण्डसंख्यामाह—द्वादशोत्तरं शतं मात्राः। पादचतुष्टयेऽपि मानसमेक गुरुमन्ते स्थापयत। तेन प्रतिपदमष्टाविंशतिर्मात्राः॥

१६२ तामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्बन्दी सङ्कुल युद्धमनुवर्णयति—गजा गजैर्युक्ताः, तरणिर्धूलिभरेण निलीनः तुरगास्तुरगैः सह युयुधिरे, रथा रथैर्योजिताः। अत एव धरणी पीडिता। तस्मिन्समये आत्मीयाः परकीयाश्च न ज्ञाता.। अथ बलानि मीलिश्च परस्परमेकीभूतानि। पदातयस्ततो धाविताः, अतएव पत्तिभरेण कम्पितानि च गिरिवरशिखराणि उच्छलति च सागरः। कातर्येण दीना दीर्णा.। कातरा इति वा। वैरमतिदीर्घं वर्धितम्। उट्टवणिका यथा—IIII, SIIII, SIII, IIIII, ISII, S, (२८) IIIII, SIIII, ISII, SIII, IIIS, S, (२८) IIIII, SIIS, ISII, SIII IISI, S, (२८) SIII, SII, ISII, SIS, IISI, S, (२८)॥ यथा वा ग्रन्थान्तरस्थमुदाहरणम्— सखि ग्रम्भ्रमीति मनो भृशं जगदेव शून्यमवेद्यते परिभिद्यते मम हृदयमर्म न शर्म सप्रति वीक्ष्यते। परिहीयते वपुषा भृशं नलिनीव हिमततिसगता रुदती पर वदतीति सा सुदतीरतीशवशं गता॥'

१६३ अथ तिभगी (त्रिभगी) छन्द.—

अत्र प्रथम दशसु मात्रासु रहण विश्रामः, ततोऽष्टसु विरतिः, पुनरपि वसुपु विरति., ततो रसेपु षट्पु विरति, अन्ते पदचतुष्टयस्यान्ते यत्र गुरुः शोभते तच्छन्दस्त्रिभुवन मोहयति। सिद्धोऽपि वरतरुणोऽपि श्लाघते इति तस्य च्छन्दस. प्रशसा। दोषमप्याह—यत्रैतस्मिञ्छन्दसि पयोधरो जगणः पतति तद किमिद मनोहरम्। अपि तु नेत्यर्थं। किंच यस्य कवित्व क्रियते तस्य कलेवरं हरति कोऽपि। तस्मादत्र जगणो न कर्तव्य। एतत्त्रिभगीछद' सुखानन्दजनकं विमलमति. फणीन्द्रो भणति। अत्र चरणे द्वात्रिंशन्मात्रा भवन्ति, अष्टौ चतुष्कला गणा भवन्ति॥ भूषणेऽपि—'प्रथम यदि दशम वदति विराम तदनु निकाम वसुवसुकं, चसुविमलतुरगममतिहृदयगम हृषितभुजगमनृपतिलकम्। त्रिंशद्द्विकलासविहितविलास सततनित्रास हृदयमुद, मदमुदितभुजङ्गीमोहनरङ्गी वदति त्रिभङ्गीवृत्तमद ॥. इदमप्युदाहरणम्॥

१६४ उदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद् भक्त शिव स्तौति—भो लोका, एतादृशं हर नमत। कीदृशम् शीर्षे कृता गगा येन। कृता गौरी अर्धाङ्गे। हतोऽनगो येन। पुरस्य त्रिपुरस्य

तैलङ्गास्तु बहुतरऋणग्रस्ता भग्नाः पलायिनाः। एकश्शाशीश्वरो राजा यस्मिन्क्षणे चलितः, तस्मिन्नेव क्षणे इयमवस्था जातेत्यर्थः ॥ उट्टवणिका यथा—SS, IIS, IIS SS, ISI, ISI, ISI, IIS, (३२) SS, IIS, SS, ISI, SS, SII, SS, IIS, (३२) SS, SS, IIS, SS, IIS, IIS, IIS, IIS, (३२) SS, SS, III', IIS, IIS, SII, IIII, IIS, (३२).

१९८ अथ हीरच्छन्दः—

भो. शिष्य, हीरनामकमिद छन्दो नाग. पिङ्गलः प्रभणति तत्त्व शृणु। तत्र त्रीन् षट्कलगणान् कुरु। तस्यान्ते जोहल रगण कुरु। षट्कले विशेषमाह—हार गुरु पूर्वं स्थापयित्वा। हे सुप्रिय सुतरा प्रिय शिष्य, हारानन्तर विप्रगणैश्चतुष्कलैः सर्वलघुकै शबलमिति च्छन्दोविशेषणम्। पदे कलासख्यामाह—तिण्णीति त्रीन्धारय द्वौ कुरु 'अङ्कस्य वामा गतिः' इति गणिते त्रयोविंशतिः कलाः पादे भवन्तीत्यर्थः। अन्ते रगण लेखय। कश्छन्दस्कार एतच्छन्दो जानाति। अपि तु न कोऽपि। दर्पेण गर्वेण हीरस्तु कविर्भणति अन्य. क' प्रेक्षते। अद्यावधि कस्यापि नयनगोचरो नाभवदिति भावः। अत्र च्छन्दःकविनाम्नोरैक्यमवगन्तव्यम्। इदमप्युदाहरणम्।

१९९. उक्तमेवाह—

हे सुप्रिय शिष्य, पूर्वं हार गुरुं भण। ततो विप्रगणश्चतुर्लघुकः। स च त्रिधा भिन्नशरीरः। एव त्रिवार कर्तव्यः। तदन्ते जोहल रगण स्थापय। एव सति त्रयोविंशतिर्मात्रा हीरच्छन्दसः पदे पतन्ति समुदिता द्विनवतिर्मात्रासख्या ॥ भूषणेऽप्युक्तम् 'वह्निरगणमन्त्यरगणमेकचरणशोभित, पश्य सुदति नागनृपतिरत्र वदति नो हितम्। राममजनकालपठन एव रटनरञ्जन, हीरकमिति नाम भवति काममवति सज्जनम् ॥'

२००. हीरमुदाहरति—जहा (यथा)—

धिक्कदलनेत्यादि घोटकगतिशब्दानुकरणम्। एव रङ्गे युद्धस्थाने रङ्गेण कौतुकेन वा चलन्ति तुरगा धूलिधवलाः। हक्केण वीरकृतशब्दविशेषेणोपलक्षिताः सबला समर्था. पक्षिण इव प्रबला. प्रकृष्टयशा. पदातयोऽपि। चलन्तीति शेषः। एव कर्णे चलति सति कूर्मो ललति स्थानभ्रष्टो भवतीत्यर्थ.। भूमिर्भ्रियते कीर्त्या। अत्र चतुर्ष्वपि चरणेषु 'ए ए' इति ससभ्रमाश्चर्ये ॥ उट्टवणिका यथा—SIIII, SIIII, SIIII, SIS, (२३) SIIII. SIIII, SIIII, SIS, (२३) SIIII, SIIII, SIIII, SIS, (२३) SIIII, SIIII, SIIII, SIS, (२३) ॥ वाणीभूषणेऽपि— 'ध्यानमटत साम पठत नाम रटत केशव, धर्ममयत शर्म भजत कर्मसञ्जतशैशवम्। दारभवनदाररमणसारचयनवासना, तावदयति नावतरित कालनृपतिशासना ॥'

२०१ अथ जनहरणच्छन्दः—

छन्दःशास्त्रागाराद्बहिराकृष्येद छन्दो भण। तत्प्रशंसामाह—यथा परकीयमृणं खलइ सदा स्मृतिपथमुपैति, तथैतदपि॥ उद्दवणिकामाह—द्वौ द्वौ शल्यौ लघु लघु प्रथम वहिल्लिख्य स्थापयित्वा ततस्तुरगहयगजपदातयो नव चतुष्कला जगण-रहिताः प्रसरन्ति। शेषे गुरुः सज्जीकृत्य स्थापित। कीदृशः अस्मिञ्छन्दसि पदान्ते जगि जाग्रत् श्रेष्ठत्वेन सगणत्वेन यदि निरुक्तः तदा चतुष्कलगणदशकेन युक्त-मिति छन्दोविशेषम्॥ चउसघो पदचतुष्टये चत्वारिंशन्मात्राः। समुदितखण्ड चतुष्टयपिण्डकलासख्या षष्ट्युत्तरशतात्मिका भवतीति धरास्थानकानि। एतादृश लक्षणलक्षित दशवसुभुवनाष्टकविरतिक मदनगृह नाम छन्दः। इदमप्युदाहरणम्।

२०५. उक्तलक्षणमेवाह—

द्वे मात्रे शिरसि आदौ स्थापयित्वा अन्ते पदान्ते वलय गुरु स्थापयन्तु। ततो। मात्राद्वयगुर्वोर्मध्ये नव चतुष्कलगणान्धृत्वा मदनगृह नाम छन्दः कुरुत।

२०६ किं च—

पदचतुष्टये चत्वारिंशत्कला। पदचतुष्टयेऽपि दश गणाञ्जानीत। हे सुप्रियाः, पयोधर जगणं वर्जयित्वा मदनगृहमिति छन्दः कुरुत॥ भूषणे त्व [न्य] थोक्तम्—'प्रथम कुरु षट्कलमन्ते कुण्डलमिह मध्ये वसुतुरगधर सतापहर, दश वसुभुवनाष्ट-भिरत्र चरणमपि भवति विरामो यदि ललित कविवलयहितम्। फणिनायकमणित जगणविरहितं चत्वारिंशत्कलकलित भुवने महित, वृत्त रसनिकर तन्मदनहर नर-पतिससदि लब्धपद गुरुशोकनुदम्॥"

२०७. मदनगृहमुदाहरति—नरा (यथा)—

येन कसो विनाशितः, अतएव कीर्तिः प्रकाशिता। येन मुष्टिकारिष्टयोर्विनाशः कृत येन च गोवर्धनो गिरिर्हस्तेन धृत। येन च यमलार्जुनौ भग्नौ। येन च पदभरेण गञ्जित [कालिय] कुलम्। येन च यशसा भुवन भृतम्। येन चाणू-रोऽपि विखण्डितः येन च निजकुल यादववृन्द मण्डितम्। येन च राधामुख [मधु] पान कृत यथा भ्रमरवरेण सरसिजमकरन्द पीयते। स नारायणो विप्रप-रायणो युष्माक चित्तचिन्तित ददातु। कीदृशः। भवभीतिहर.. ससारभयनाशनः॥ उद्दवणिका यथा—।।ऽ।।, ऽ।।, ऽ।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ, (४०) ।, ।।।।, ऽ।।, ।।।।, ऽ।।, ऽऽ, ।।।, ।।।, ऽ।।, ।।।।, (४०) ऽ, ऽ।।, ऽ।।, ।।।।, ऽ।, ऽऽ, ।।।, ।।।, ऽ।।, ।।।।, (४०) ऽ, ऽ।।, ऽ।।, ।।।।, ऽ।।, ऽऽ, ।।।।, ऽ।, ।।।।, ऽ, (४०), ऽ, ऽ।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ, (४०)॥ ग्रन्थान्तरेऽपि—विरहानलतता सीदति सुता रचितनलिनदलतल्पतले रमकतविमले, करकलितकपोल गलितनिचोल नयति सततरुदितेन निशामनिमेष-

द्वितीयः परिच्छेदः

मदजलपरिमलपरिमिलदलिकुलकलकपटकलितकमलवन ।
जय जय निजपदसरसिजनमदभिमतघटनजवन गजवदन ॥
कृत्वा कौतूहलतो मात्रावृत्तस्य पिङ्गले भाष्यम् ।
लक्ष्मीनाथस्तनुते सद्भाष्यं वर्णवृत्तस्य ॥

अथैकाक्षरपादादारभ्यैकैकाक्षरवर्धितैः पादैः षड्विंशत्यक्षरपर्यन्तं वर्णवृत्तान्युच्यन्ते ।

१. इतश्च लक्ष्यलक्षणयोरैक्यमवगन्तव्यम् ॥

सा श्रीः । श्रीनामकं छन्द इत्यर्थः । यत्र गो गुरुर्भवतीत्यर्थः ॥ अत्र सर्वत्र—'गुरुरेको गकारो लघुरेको लकारः' इति संकेतः ॥

भूषणेऽप्युक्तम्—'यद्गः सा श्रीः ॥

२. श्रियमुदाहरति—जहा (यथा)—

गौरी युष्मान्रक्षतु ॥

३ यथा वा—

अत्रैकाक्षरप्रस्तारे द्वौ भेदौ गुरुर्लघुश्च । तत्राद्यो गुरुरुक्तः । द्वितीयः सुधीभिरूह्यः ॥

४ अथ द्व्यक्षरप्रस्तारे कामच्छन्दः—

यत्र द्वौ दीर्घौ तत्कामाख्यं छन्दः रामोऽभिराम इत्यर्थः ॥ अक्षरद्वयात्मकं पदम् ॥ भूषणेऽपि—'यस्मिन्हारौ कामः स स्यात् ॥'

५ काममुदाहरति—जहा (यथा)—

युद्धे संग्रामे तुभ्यं शुभं ददातु शंभुरित्यर्थः ॥ यथा वा (भूषणेऽप्युक्तम्) 'कल्याणं व । शंभुर्देयाद्' । ग्रन्थान्तरे 'गौः स्त्री श्रीः' इति नामान्तरम् ॥ उद्दवणिका यथा—ऽऽ (८)

६. अथ मधुच्छन्दः—

यत्र लघु लघुद्वयं तन्मधुनामकं छन्दो निश्चितम् ॥ भूषणेऽपि—'द्विकलघु मधुरिति' ॥

७. उदाहरति—जहा (तथा)—

हे हर मम पापम् हर । उद्दवणिका यथा—॥, (८).

८. अथ महीछन्दः—यत्र पूर्वं लघुः ततो गुरुः, तन्मही कथिता ॥ मूलग्र-
न्थेऽपि—'लघुर्गुरुर्मही स्मृता' ।

९. तामुदाहरति—यहा (यथा)—
उमा गौरी त्वां रक्षतु कीर्त्या । सती पतिभक्तेश्वर्यैः ॥ उद्दवनिका यथा—
।ऽ, (८)

१० अथ तालछन्दः—
यत्र पूर्वो गुरुः, द्वितीयो रेखा लघुः तत्तालनामकं छन्दः ॥

११ तालमुदाहरति यहा (यथा)—
सर्वं शंभुर्युष्मभ्यं ददातु ॥ उद्दवनिका यथा—ऽ। (८) अथ कमाने
भेदा व्याख्याताः ॥

१२ अथ त्र्यक्षरप्रस्तारे तालीछन्दः—
यत्र पूर्वं गते गुरुः, अनन्तरं कर्णो गुरुद्वयात्मकः । सर्वगुरुः (त्रिवर्णः) सा
तालीनामकछन्दः ॥ मूलग्रन्थेऽपि—'ताली सा निर्दिष्टा । मो यत्र' ॥ ग्रन्थान्तरे
नारीति ॥

१३ तामुदाहरति—यहा (यथा)—
स मस्तकचन्द्रेशः शिवो युष्मानस्मानवतु ॥ उद्दवनिका यथा—ऽऽऽ, १२ ॥

१४ अथ प्रियाछन्दः—
हे प्रिये, यत्र रे रगणे त्रीणि अक्षराणि सा प्रिया कथ्यते ॥ मूलग्रन्थेऽपि—
'बोलहं रगणे । सा प्रिया कथ्यते ॥

१५. तामुदाहरति—यहा (यथा)—
यं दुष्टं कन्दर्पमजैषीत् तथा शंकरः शिवः नः पातु नः पातु ॥ आदरे वीप्सा ॥
उद्दवनिका यथा—ऽ।ऽ १२ ।

१६ अथ शशीछन्दः—
यत्र पदे यो (यगण) आदिलघुर्मध्ये कथितः तच्छशीतिच्छन्दः फणीन्द्रेण
भणितम् ॥ मूलग्रन्थेऽपि—यकारो यदा स्यात् । शशी कथ्यते तत् ॥

१७ तामुदाहरति—यहा (यथा)—
दुरितं हरन्ती हसन्ती भवानी युष्मानव्यादिति शेषः ॥ उद्दवनिका यथा—
।ऽऽ, १२ ॥

१८ अथ रमणछन्दः—
क्रमशः यत्र पदे लघुद्वयं गुर्वन्ते गणः, तद्रमणाख्यं छन्दः कथितम् ॥
मूलग्रन्थेऽपि—'सगणो रमणः । कथितः कथितः ॥'

१९ रमणमुदाहरति—जहा (यथा)—

यथा शशिना रजनी शोभते तथैव पत्या सयुक्ता तरुणी राजते ॥ उट्टवणिका यथा—।।ऽ, १२ ॥

२०. अथ पञ्चालछन्द.—

यत्र तकारस्तगणोऽन्त्यलघुर्दृष्टः स पञ्चाल उत्कृष्ट इति ॥ भूषणे तु—'कर्णेन गन्धेन। पञ्चालमाख्याहि ॥'

२१. तमुदाहरति—जहा (यथा)—

स शिवो दु.खानि संवृत्य सुखानि ददातु ॥ भूषणेऽपि—'शर्माणि सर्वाणि। देयानि शर्वाणि ॥' उट्टवणिका यथा—ऽऽ।, १२ ॥

२२. अथ मृगेन्द्रच्छन्द.—

नरेन्द्र जगण गुरुमध्यम गण स्थापयन्तु मृगेन्द्रनामक छन्दः कुर्वन्तु ॥ भूषणेऽपि—'नरेन्द्रमुदेहि। मृगेन्द्रमवेहि ॥'

२३ तमुदाहरति—

दुरन्तो वसन्त., स कान्तो दिगन्ते ॥ उट्टवणिका यथा—।ऽ।, १२ ॥

२४ अथ मन्दरछन्दः—

हे सखि, भो भगणो गुर्वादिगणो यत्र तन्मन्दरनामकमतिसुन्दरं छन्दः। भूषणेऽपि—'भो यदि वञ्चति। मन्दरमञ्चति' ॥

२५. मन्दरमुदाहरति—जहा (यथा)—

स प्रसिद्धो हरः शिवो युष्माक सकट सहरतु ॥ उट्टवणिका यथा—ऽ।।, १२॥ मन्दरो निवृत्तः ॥

२६. अथ कमलच्छन्दः—

हे सुमुखि, यत्र नगणस्त्रिलघ्वात्मको गण' क्रियते तत्कमलनामक वर्णत्रयात्मकं छन्दः ॥ तथा च वाणीभूषणे 'कमलमयतु। नगणमिह तु ॥'

२७. कमलमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे रमण, कुत्र गमनं क्रियत इति शेष.। उट्टवणिका यथा—।।।, १२। कमल निवृत्तम् ॥ अत्रापि त्र्यक्षरप्रस्तारगत्याष्टौ भेदा भवन्तीति तावन्तोऽप्युदाहृत्य प्रदर्शिता' ॥

२८ अथ चतुरक्षरप्रस्तारे प्रथम तीर्णा छन्द —

भो शिष्य, यत्र चत्वारो हारा गुरवो भवन्ति दृष्टा. (१) कराः। तत्र चरणे गणनियममाह—एकस्मिन्पादे द्वौ कर्णौ गुरुद्वयात्मकगणौ भवतः तत्तीर्णाख्य छन्द'। वर्णचतुष्टयात्मक पदम् ॥

वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'यस्मिन्वृत्ते कर्णः कर्णः। वेदैर्वर्णैः सा स्यात्तीर्णा ॥'

१०. तीर्णामुदाहरति—जहा (यथा)—

। स्मरेषमिव मति वसति—यथा वधूर्भार्या महाबन्धिनोऽस्तर्थः। पुत्रा अपि धूर्ताः। एवं माया किस्तो सुखम् इति ॥ उद्वणिका यथा—SSSS। तीर्णोत्तीर्णा ॥

९ अथ धारीछन्दः—

हे मुग्धे यत्र वर्णाश्चत्वारः पदे भवन्ति सा धारी। तस्याश्चरणे हारो गुरुं दत्त्वा, द्वौ धार्यौ लघुद्वयं च ॥ अयमर्थः चतुर्वर्णात्मकपादे धारीनाम्नि छन्दसि प्रथमं गुरुः, ततो लघुः, अनन्तरं गुरुलघू। इत्युक्तं भवति—रगणः तदनन्तरो लघुः—इति ॥ तदुक्तं वाणीभूषणे—'यत्र पदि दृश्यते लघि। बेद वर्ण धारि धारि' इति ॥

११ धार्युदाहरति—जहा (यथा)—

देवानामपि देवः स शम्भुर्भवान्यै शुभं ददातु। यस्य शीर्षे चन्द्रो दृश्यते। चन्द्रशेखर इत्यर्थः। उद्वणिका यथा—SISI ४×४=१६ ॥ धारी निवृत्ता ॥

१२ अथ नगाणी छन्दः—

यत्र पयोधरे जगणो गुरुमध्यमो गणो गुरुश्चरणे गुर्वन्तो भवतीत्यर्थः। वर्णे चतुष्पादात्मकं पदम्। तन्नगाणी छन्दो भवति। अर्थात्—द्वितीयचतुर्थौ वर्णौ गुरू भवतीति ॥ तदुक्तं वाणीभूषणे द्वितीयके गुरुर्यदा। नगाणिका मनोहरा ॥

१३ नगाण्युदाहरति—जहा (यथा)—

सरस्वती प्रसन्ना। भवतु कवित्वं स्फुरतु ॥ उद्वणिका यथा—ISIS; १६। नगाणी निवृत्ता ॥ अत्रापि चतुरक्षरस्य प्रस्तारगत्या षोडश भेदा भवन्ति। तेषु ग्रन्थविस्तरशङ्कया भयो भेदाः प्रदर्शिताः ॥ अन्यै(न्ये) सुधीभिरूह्य नीयाः इति ॥

१४ अथ पञ्चाक्षरप्रस्तारे सर्वगुरु संमोहाछन्दः—

यत्र वै द्वौ कर्णौ गुरुद्वयात्मकगणौ पूर्वं भवतः। तत्र एको हारो गुरुः। एवमस्मिन्नक्षरे पञ्चापि गुरवो भवन्ति तद् भुवनसारं संमोहानामकं छन्द इत्यर्थः। तथा च वाणीभूषणे 'द्वौ कर्णौ हारः संमोहा सारः। कर्णौ पञ्चैव नागाधीशोक्तम् ॥

१५. संमोहामुदाहरति—जहा (यथा)—

उद्दण्डा मे दैत्यासुरविजयिनोऽजय्य कपर्दी भस्मास्थनी शुचिं ददातु (त्रैलोक्यस्य शुभम्) मे मोदं च ददातु, इति प्रभिद्रमत्ये देवी प्रार्थयते इति ॥ उद्वणिका यथा—SSSSS, १×४=१ ॥ संमोहा निवृत्ता ॥

१६ अथ हारीछन्दः—

आदौ हाराभ्यां गुरुभ्यां तथा चान्ते हाराभ्यां संयुक्तम् तयोर्मध्ये गन्धो लघु-रेको यत्र तत् हारी छन्द । पञ्चाक्षरपदम् । आद्यन्ते कर्णौ मध्येलघुः एव पञ्च-वर्णात्मक पदमित्यर्थः ।। वाणीभूषणेऽपि—'आद्यन्तवर्णाः पञ्चैव वर्णाः । लघ्वेक-धारी वाच्यः स हारी ।।'

३७ हारीमुदाहरति—जहा (यथा)—

या भर्तृभक्ता धर्मैकचित्ता भवति सैव नारी धन्या प्रिया च भर्तुर्भवतीति भावः ।। उट्टवणिका यथा, SSISS, ५×४=२० ।। हारी निवृत्ता ।।

३८. अथ हंसच्छन्दः—

भो. शिष्याः, पिङ्गलेन दृष्ट भगणं दत्वा पूर्वं सुष्टम् पश्चात्कर्णं गुरुद्वयात्मक-गण दत्वा हंसाख्य पञ्चाक्षरपद छन्दो भवतीति ज्ञातव्यम् ।। अत एव वाणीभूषणे—'पिंगलदिष्टो भादिविशिष्ट' । कर्णयुतोऽसौ भामिनि हंसः ।।'

३९. हंसमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितपतिका सखीमाह—हे सखि, स मम कान्तोऽधुना दूरे दिगन्ते वर्तते । इय च प्रावृट् आगता चेतश्चालयति । किमिदानीमाचरणीयमिति शिक्षयेति भावः ।। उट्टवणिका यथा—SIISS, ५×४=२० ।। हंसो निवृत्तः ।।

४० अथ यमकच्छन्द —

हे मुग्धे, यत्र सुप्रियगणो द्विलघुक एव गणो भवति । अथ च शरेणैकेन लघुना सुगुण संयुक्त एतादृश [न] गण सरहश्लाघ्यमेतस्य गणस्य कुर्वित्यर्थः । एतादृश सर्वलघ्वात्मकपञ्चाक्षरप्रस्तारान्त्यभेद पञ्चाक्षरपद यमकाख्यं छन्दो भण पठेत्यर्थः । वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'नगणमनु द्विलघु कुरु । फलितमिति यमकमिति ।।'

४१ यमकमुदाहरति—जहा (यथा)—

पवनो मलयानिलो वहति । कीदृशः । शरीरसहः शरीर साहयत्यसौ सहः । 'षहम् गतौ' इत्यस्य दिवादेस्य (?) रूपम् । यद्वा तादृश पवन शरीर कर्तृ सहते । 'साहयत्याहवक्षोभ सहति द्रविणव्ययम् । अन्याय सहते नासौ सिध्यति क्षितिरक्षणः ।।' इति कविरहस्ये हलायुधवचनप्रामाण्यादिति । अपि च मदनो हन्ति तापयति च मनः । इति प्रोषितपतिकावचन सखी' प्रतीति व्याख्येयमिति । उट्टवणिका यथा—IIIII, ५×४=२० ।। यमक निवृत्तम् । अत्र प्रस्तारगत्या पञ्चाक्षरस्य द्वात्रिंशद्भेदा भवन्ति । तेषु भेदेषु चतुष्टयमुक्तम् । शेषभेदा नोदाहृता ग्रन्थविस्तार-भीत्या, सुधीभिरूह्या इति ।।

४२ अथ षडक्षरप्रस्तारे सर्वगुरुरूपमाद्य भेदः शेषाख्यं छन्दो लक्षयति—

यत्र द्वादशमात्राः । शिष्यबोधनार्थं मात्रासंख्या । गणनियममाह—यत्र च मध्ये वर्णा गुरुद्वयात्मककर्णो यत्र भवति । षडक्षरं पदम् । एतदेव द्रढयति—पद्भिर्देशैर्गुरुभिर्निर्मितो यत्र तच्छीर्षाख्यं छन्दस्तु राजा । भेद इत्यर्थः ॥ वाणीभूषणेऽपि—'एवं कर्णैः पद्भिः प्रोक्ता छन्दोविद्भिः । सर्वे वर्णा यस्यां दीर्घा शीर्षा सा स्यात् ॥

४६ शीर्षामुदाहरति—यथा (यथा)—

उद्दामे संग्रामे [युध्यमाना] तस्मिन्नवलिका हम्मीरे अस्मान् युवति रक्षतु ॥ उद्वणिका यथा—SSSSSS; ६×४=२४, शीर्षा निवृत्ता ॥

४४ अथ तिलकाछन्दः—

हे प्रिये तिलकाख्यं छन्दः । यत्र ध्रुवं निरिक्षितं सगणद्वयसन्तनुद्धतं भवति । षडक्षरात्मकं पदम् । पदे वसौ कला पृथक् बध्येति कला संख्या शिष्यबोधनार्थं पदपूरणार्थं वा । अन्यथाक्षरगणे वर्णसंख्यामात्रा एवाक्षरसत्त्वादिति ॥ वाणी भूषणेऽपि—सखि सहितयं पुरतोऽह यदा । स्वगर्णसगा तिलकेति तदा ॥

४५. तिलकामुदाहरति—यथा (यथा)—

करीरवत्सभिरं प्रत्याह प्रियमतां प्रिया, गुणवान् सुतः, पवनद्युतं अकुलं कन्यभिरपेक्ष्यं यस्य भवति स धन्य इति मातः ॥ उद्वणिका यथा—IIS IS, ६×४=२४ ॥ तिलका निवृत्ता ॥

४६ अथ विज्जोहाछन्दः—

यत्र पादे पादे षडक्षराणि दिष्टानि । यत्र च पञ्चद्विगुणा दश मात्राः । तत्रैव गणनियममाह—विशिन द्वौ जोहागणौ रगणौ यत्र तद् विज्जोहाछन्दः नाम गणयोरैक्यम् ॥ वाणीभूषणे तु 'विमोहा' इति नामान्तरम्—'यत्र पादद्वये दृश्यते रद्वयम् । नागराजोदिता सा विमोहा मता ॥

४७ विज्जोहामुदाहरति—

कंसहारी पवित्रकारी दैत्यनिकरो मे मह्यं निर्भयं ददातु । ममामयत्रो भवविषसर्पः ॥ उद्वणिका यथा—SISSIS; ६×४=२४ विज्जोहा निवृत्ता ॥

४८. अथ चतुरंसाछन्दः—

यत्र द्विजवरचतुर्लघ्वात्मको गणः प्रथमम्, तद् वर्णो द्विगुणोऽन्तः अत एव स्फुटं रसवर्णं षडक्षरं पदं यत्र तां कविपतिभाषितां चतुरंसां स्थापय ॥ वाणी भूषणेऽपि—'द्विजवरकर्णविह रचनं । भवति यदा सा किल चतुरंसा ॥

४९. चतुरंसामुदाहरति—यथा (यथा)—

गोरीकान्तो यदि यदा भक्तिनये संसारगते वर्तमानो यस्य प्रसन्नः, स तदा कालाद्भिन्यो र्थस्य ॥

५० जहा वा (यथा वा)—

भुवनानन्दस्त्रिभुवनकन्दो भ्रमरसवर्णो जयति कृष्णः ॥ उट्टवणिका यथा—
||||SS, ६×४=२४ ॥ चतुरसा निवृत्ता ॥

५१. अथ मन्थाणच्छन्दः—

हे मुग्धे, यत्र कामावतारार्धेन पादेन मात्रा दश शुद्धाः प्रतिपादमत्र भवन्ति । तन्मन्थाननामक छन्द. ॥ अयमर्थः—अग्रे वक्ष्यमाणस्य विंशतिकलात्मनः कामावतारस्य छन्दसोऽर्धेन दशमात्रात्मकेन षडक्षरेण पादेन मन्थाननाम छन्दो भवति। तत्र गणनियम उच्यते 'पूर्वतगणोऽनन्तरमपि स एव' इति ॥ वाणीभूषणे तु—
'कर्णध्वजानन्दमाधाय सानन्द। वर्णे रसैर्वेत्तु मन्थानमेतत्तु ॥'

५२ मन्थानमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे सज्जन, राजा यत्र लुब्धः पण्डितोऽपि मुग्धः। तत्र राजकुले त्व स्वकीर्ति करे रक्ष। स्वविद्याप्रकाश मा कुर्वित्यर्थः। स वादोऽप्युपेक्ष्यताम्। यत्र न ज्ञाता कश्चिदिति भाव.। उट्टवणिका यथा—SSISSI, ६×४=२४ ॥ मंथानं निवृत्तम् ॥

५३. अथ शङ्खनारीछन्दः—

यत्र षड्वर्णा. पदे भवन्ति भुजङ्गप्रयातस्याग्रे वक्ष्यमाणस्य यगणचतुष्टयात्मकस्य च्छन्दसोऽर्धेन यद्द्वयेनैतस्य चरणो भवति पादे पादे यगणद्वय भवति तच्छङ्खनारीछन्दः ॥ वाणीभूषणे तु—'ध्वजानन्दकर्णाः षडेवात्र वर्णा.। बुधानन्दकारी भवेच्छङ्खनारी ॥''

५४. शङ्खनारीमुदाहरति—जहा (यथा)—

यस्य गुणा. शुद्धाः, यस्य वधू रूपेण मुग्धा सुन्दरी, यस्य गृहे वित्त जाग्रदस्ति तस्य मही पृथ्वी स्वर्ग ॥ उट्टवणिका यथा—ISS ISS, ६×४ = २४, शङ्खनारी निवृत्ता ॥

५५. अथ मालतीछन्दः—

हे कान्ते, यत्र प्रथम ध्वजो लघ्वादिस्त्रिकलः तत शरद्वय लघुद्वयम्, ततश्च मणिगुणो हारो गुरुरित्यर्थं। ततोऽन्ते एको लघुर्देय.। सा मालतीनामक छन्दो भवतीति जानीहीति जगणद्वयेन मालती छन्द इति फलितोऽर्थं ॥ तथा च वाणीभूषणेऽपि—'यदा जगणद्वि भवेदमलघु। फणी वितनोति स मालतिकेति ॥'

५६. मालतीमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे सखि बहुगुणवन्तः प्रसादाद्यनेकगुणयुक्ता किरणा प्रसूता प्रफुल्लिताः कुन्दा', उदितश्चन्द्र इति कस्याश्चिन्नायिकायाः सखीं प्रति वच ॥ उट्टवणिका यथा—ISIISI, ६×४=२४, मालती निवृत्ता ॥

जगणो मध्यगुरुश्चे गणस्ता करहञ्चीं जानीत ॥ अतएव वाणीभूषणे—'द्विजगणम-
धेहि जगणमनुदेहि । विविधरससञ्चि भवति करहञ्चि ॥'

६४ करहञ्चीमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचिदनुगमनपरा सुमटी विधातारमाह—हे धातरित्युपरिष्टात् । एह एषाह
त्यजामि गत्वा देहम् । यदि कदाचिदतः परमपि जिवउ जीवामि पुनर्जन्मान्तर
लभेयमि (?) त्यर्थ. । तदा मम निर्गुणः सगुणो वा स एव रमणो भवतु विरहस्तु
कदापि मा भवत्विति प्रार्थये त्वामिति भावः ॥ उट्टवणिका यथा—।।।।।ऽ।,
७ × ४ = २८ ॥ करहञ्ची निवृत्ता ॥

६५. अथ शीर्षरूपक छन्दः—

हे मुग्धे, यत्र चरणस्थाः सप्तापि वर्णा दीर्घा गुरवो भवन्तीत्यर्थः । तत्र
गणनियममाह—कर्णा गुरुद्वयात्मका गणास्त्रयस्तेषामग्र एक ग गुरुमानय । एव
पदे सप्त । मात्रानियममाह—चतुर्दश मात्रा द्विगुणार्थमवगन्तव्या । वर्णवृत्त
वर्णानामेव संख्यानियमादिति । अत एव भूषणे—'उक्ता वर्णाः सप्तास्या सर्वे
दीर्घा. स्युर्यस्याम् । एषा शीर्षा निर्दिष्टा केषा हर्षे नादेष्टा ॥'

६६. शीर्षामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वन्दी कर्णमुपेत्य तत्कीर्तिं वर्णयति—हे राजन्, चन्द्रो धवलकरः, कुन्दो
माध्य पुष्पम्, काशः शरदि जायमान तार्णं कुसुमम् । ए इति भाषया एते । किञ्च
हारो मुक्तैकावली हीर वज्र हंसो मराल एते । अनुक्ताश्च जगति ये ये पारदकैलास-
हरहासशारदनीरदप्रभृतयः श्वेता वर्णितास्तानशेषानेषा युष्मत्कीर्तिर्जितवती ॥ उट्ट-
वणिका यथा—ऽऽऽऽऽऽऽ, ७ × ४ = २८ ॥ यथा वाणीभूषणे—'दृष्टः कृष्णः
कालिन्दीतीरे गोगोपानन्दी । वेणुक्वाणैरुत्काना चेतोहर्ता गोपीनाम् ॥' इति ॥
शीर्षा निवृत्ता ॥ अत्र प्रस्तारगत्या सप्ताक्षरस्याष्टाविंशत्यधिकशत (१२८)
भेदेषुचत्वारो भेदाः प्रदर्शिताः । ग्रन्थविस्तारभीत्या शेषभेदा नोदाहृताः
सुधीभिरूह्यास्त इति ॥

६७ अष्टाक्षरप्रस्तारे सर्वगुर्वात्मकमाद्य विद्युन्मालाछन्दो लक्षयति—

भोः शिष्याः यत्र पादे चरणे लोलाश्चञ्चलाश्चत्वारः कर्णा द्विगुरवो गणा भवन्ति
गुरुद्विगुणा. षोडशमात्राश्च, तद्विद्युन्मालाछन्दो वेदविश्राममेवरूप चतुष्पाद वसु-
गुरुचरण भवतीति खत्री क्षत्रीयजातिनागराजो भत्ती भक्त्या जल्पतीति वित्थ ॥
अत एवोक्त कालिदासेन—'सर्वे वर्णा दीर्घा यस्या विश्रामः स्याद्वेदैर्वेदै· ।
विद्वद्वृन्दैर्वीणावाणि व्याख्याता सा विद्युन्माला ॥' वाणीभूषणेप्युक्तम—'उक्ता ।
यस्यामष्टौ वर्णाः पादे पादे सर्वे दीर्घा. । विश्रामः स्याच्चर्ये तुर्ये विद्युन्माला निर्दिष्टा
सा ॥' इति ॥

५७ अथ दमनकच्छन्दः—

यत्र प्रथमं द्विजवरचतुर्लघुको गणः क्रियते पश्चाल्लघुद्वितयं लघुद्वयात्मको गणो भण्यते । नगणद्वयेन [दमनकं छन्दः] इति कथितोऽथवा तद्दमनकं छन्द इति गुण्ये फणिपतिर्जल्पति ॥ वाणीभूषणे तु—'द्विगुणनगणमिह विरचय । दमनकमिति [भवति] गदति हि ॥'

५८. दमनकमुदाहरति—जहा (यथा)—

कमलनयना अमृतवचना तरुणी गृहिणी यदि पुनर्मिलति तदा तां विहाय न कुत्रापि गमिष्यामीति कस्यचिद्विदेशगतस्य कामिनो मित्रं प्रति वचनम् ॥ अत्र वर्णिका यथा—||||||, ६×४=२४ दमनकं निवृत्तम् ॥ अथ प्रस्तारगत्या षडक्षरस्य चतुःषष्टिर्भेदा भवन्ति । तेष्वाद्यन्तभेदरहिता अन्ये भेदा योज्याः । शेषभेदाः सुधीभिरूहनीयाः । ग्रन्थविस्तारभयान्नात्रोक्ता इति ॥

५९. अथ सप्ताक्षरप्रस्तारे समानिकाछन्दः—

हे प्रिये सा समानिकाच्छन्दः इत्यर्थः । यत्र पदे चत्वारो हाराः गुरवः क्रियन्ते । अन्तरान्तरा च त्रयो गन्धा लघवः क्रियन्ते । एवं सप्ताक्षराणि यस्यां गुरुलघुक्रमेण स्थितानि सा समानिकेत्युच्यते ॥ तथा च वाणीभूषणे—'हारमेकगं यदा रचयुगं यत्र शरदा । सप्तवर्णसंगता सा समानिका मता ॥'

६० समानिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

कुत्र कान्ताकान्तारमपि ताम्यन्ति स्म अत एव पर्वताः पतन्ति । यदा ग्रामान्तरं गच्छन्ति इति योजनीयम् । अस्माद्विस्मितस्यापि पृष्ठं कम्पितं भूत्वा सर स्वस्तिकं समाप्तवत्यः इति कस्यचित्प्रवासिनस्तादृशं कर्म चरति वचनम् ॥ अत्र वर्णिका यथा—SIS ISIS ७×४=२८, समानिका निवृत्ता ॥

६१ अथ सुवासकच्छन्दः—

हे प्रिये, यत्र लघवः सुन्दरं क्रियन्ते । तदेवाह—आदौ चतुर्मात्रिकं विरच्य अन्ते भगणमादिगुरुकगणं दत्त्वा सुवासनामकं छन्दो भवति ॥ तदुक्तं वाणीभूषणे—'चौकलमादह भगणमुदाहर । भवति सुवासकमिति फणिनायक ॥'

६२ सुवासकमुदाहरति—जहा (यथा)—

गुणकनकस्य बहुगुणयुक्तस्य यस्य यश्च पुत्रः स एव पुण्यवान् पुरुषः ॥ अत्र वर्णिका यथा—||||SII ७×४=२८ ॥ यथा च वाणीभूषणे—'गिरिवरनन्दिनि सुवितानिकेतिनि । विहितनतो मयि कुरु करुणामयि ॥' सुवासको निवृत्तः ॥

६३ अथ करहंचीः—

भोः शिष्याः, यत्र चरणे प्रथमं विप्रचतुर्लघुको गणः स्थाप्यते, तदग्रे

जगणो मध्यगुरुको गणस्ता करहचीं जानीत ॥ अतएव वाणीभूषणे—'द्विजगणम-वेहि जगणमनुदेहि । विविधरसरुचि भवति करहचि ॥'

६४ करहश्चीमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचिदनुगमनपरा सुभटी विधातारमाह—हे धातरित्युपरिष्टात् । एह एषाह त्यजामि गत्वा देहम् । यदि कदाचिदतः परमपि जिवउ जीवामि पुनर्जन्मान्तर लभेयमि (?) त्यर्थः । तदा मम निर्गुणः सगुणो वा स एव रमणो भवतु विरहस्तु कदापि मा भवत्विति प्रार्थये त्वामिति भावः ॥ उट्टवणिका यथा—॥॥।ऽ।, ७×४=२८ ॥ करहची निवृत्ता ॥

६५. अथ शीर्षरूपक छन्दः—

हे मुग्धे, यत्र चरणस्थाः सप्तापि वर्णा दीर्घा गुरवो भवन्तीत्यर्थः । तत्र गणनियममाह—कर्णा गुरुद्वयात्मका गणास्त्रयस्तेषामग्र एक ग गुरुमानय । एव पदे सप्त । मात्रानियममाह—चतुर्दश मात्रा द्विगुणार्थमवगन्तव्या । वर्णवृत्त वर्णानामेव सख्यानियमादिति । अत एव भूषणे—'उक्ता वर्णाः सप्तास्या सर्वे दीर्घाः स्युर्यस्याम् । एषा शीर्षा निर्दिष्टा केषा हर्षे नादेष्टा ॥'

६६. शीर्षामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्बन्दी कर्णमुपेत्य तत्कीर्तिं वर्णयति—हे राजन्, चन्द्रो धवलकरः, कुन्दो माघ्य पुष्पम्, काशः शरदि जायमान तार्णं कुसुमम् । ए इति भाषया एते । किञ्च हारो मुक्तैकावली हीर वज्र हसो मराल एते । अनुक्ताश्च जगति ये ये पारदकैलास-दरहासशारदनीरदप्रभृतयः श्वेता वर्णितास्तानशेषानेषा युष्मत्कीर्तिर्जितवती ॥ उट्ट-वणिका यथा—SSSSSSS, ७×४=२८ ॥ यथा वाणीभूषणे—'दृष्टः कृष्णः कालिन्दीतीरे गोगोपानन्दी । वेणुक्वाणैरुत्कानां चेतोहर्ता गोपीनाम् ॥' इति ॥ शीर्षा निवृत्ता ॥ अत्र प्रस्तारगत्या सप्ताक्षरस्याष्टाविंशत्यधिकशत (१२८) भेदेषुचत्वारो भेदाः प्रदर्शिता । ग्रन्थविस्तारभीत्या शेषभेदा नोदाहृताः सुधीभिरूह्यास्त इति ॥

६७. अष्टाक्षरप्रस्तारे सर्वगुर्वात्मकमाद्य विद्युन्मालाछन्दो लक्षयति—

भो॰ शिष्या यत्र पादे चरणे लोलाश्चञ्चलाश्चत्वारः कर्णा द्विगुरवो गणा भवन्ति गुरुद्विगुणा षोडशमात्राश्च, तद्विद्युन्मालाछन्दो वेदविश्राममेवरूप चतुष्पाद वसु-गुरुचरण भवतीति मन्त्री सुग्रीवजातिनागराजो भवी भक्त्या जल्पतीति विदथ ॥ अत एवोक्त कालिदासेन—'सर्वे वर्णा दीर्घा यस्या विश्राम स्याद्वेदैर्वेदैः । विद्वद्वृन्दैर्वीणापाणि व्याख्याता सा विद्युन्माला ॥' वाणीभूषणेप्युक्तम्—'उक्ता । यस्यामष्टौ वर्णा पादे पादे सर्वे दीर्घाः । विश्रामः स्याच्चर्ये तुर्ये विद्युन्माला निर्दिष्टा सा ॥' इति ॥

१८. विद्युन्मालामुदाहरति—जथा (यथा)—

अभिद्रवन्ती संगरं वर्णयति—उन्मत्ता वीररसाविष्टा योधाः युध्यमानाः परस्परं मिलिता इत्यर्थः । कौरवा' । विपक्षाणामहितानां मध्ये हतमन्ता निर्जीव मानाः । एवं निष्क्रम्याः परस्परं व्यापाद्य निर्गता वान्यो निजबलादयतिवर्त्म प्रतीत्यर्थः । भावन्त इत्यक्षरधारीदं वरवर्णमित्यथ । अत एव निरतं प्राप्तां त्रैलोक्यप्रमन्नशीलां कीर्ति प्राप्ताः कीर्तिशेषा जाता इत्यथः ॥ तद्गणिका यथा—SSSSSSSS ८×४=३२ ॥ यथा वाणीभूषणे—आगामिन्यो नो यामिन्यो या या याता मृषे मृषा । सम्रब्द्धायातत्यक्तव्यं मानेनानेन स्वांकि वे ॥ प्र थान्तरे तु—'मो मो गो गो विद्युन्माला' । मगणद्वयं गुरुद्वयं च यस्मिन्स्तादि द्युन्मालाच्छन्द इति गणभेदेन लक्षणमिदिदम् । यथा—'वाखेवस्ती विद्युन्माला वर्हभेणी शाक्रचाप' । यस्मिन्स्त रदागोप्यिनमे गेमध्यस्यः कृष्णाम्भोदः ॥ तद्गणिका यथा—SSS SSS SS ८×४=३२ ॥ विद्युन्माला निवृत्ता ॥

१९. अथ प्रमाणिका छन्दः—

यत्र लघुर्गुरुश्च निरन्तरं भवति सा प्रम णिकाच्छन्द इत्यथ । सा कतिवर्ण स्यपेक्षायामाह—अष्टाक्षरा । अशावक्षरेत्यथा । छेवं प्रमाणिका षेडशगुरु क्रियते । षोडशाक्षरदेवेत्यथः । तदा च नराचो भवत्व इत्युत्तरम षोडशाक्षर परपच्छन्दसो लक्षणमपि लक्षयतेऽनेनेति ॥ वाणीभूषणेऽपि 'प्रसूनकुण्डलाङ्गेरिह वर्णविभ्रमैः । गुरुर्गगाकर्णिता प्रमाणिकेति सा मता ॥

७ प्रमाणिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

निशुम्भशुम्भयोर्दैत्ययोः खण्डिनी खण्डयित्री गिरीशस्य हरस्य गेहे मण्डन संकरोति या सा गेहमण्डिनी मण्डनकारणेत्यर्थः । परविषा प्रचण्डानां दैत्यमदानां मुण्डखण्डिका चण्डिका कल्याणमस्तु का मम ब्रह्मलालु । मन्थान्तरे तु 'नमस्तत्र दिव्यौ' इति नामान्तरम् ॥ अत एव कालिदासमन्थे—'द्विवृपदमपनं गुरु ग्रनेऽर्जितं यदा । तदा निवेदयन्ति तां बुधा नगस्वरूपिणीम् ॥ इत्याह ॥ तद्गण णिका यथा—IS IS IS IS ८×४=३२ ॥ छन्दोमञ्जर्या तु—'प्रमाणिका जगौ लगौ ॥ जगणरगणौ लगौ लघुगुरू च यस्मिन्स्त्प्रमाणिकाछन्द इति गणभेदेन लक्षणमिदिदम् । यथा— पुनातु भक्तिरच्युता सदाच्युताङ्घ्रिपद्मयोः । श्रुतिस्मृति प्रमाणिका भवाम्बुराशितारिका । तद्गणिका यथा— S IS IS IS ८×४= ३२ प्रमाणिका निवृत्ता ॥

७१ अथ मल्लिकाछन्दः—

हारो गुरुः गन्धो लघुः अनुरेण प्रथमं गुरुरनन्तरं लघुरेव क्रमेण हारान् ग्रयति भवति तादृशेन परत्वेन द्वादशमात्रेण मल्लिकाख्यम् छन्दो भणीहि ॥

तदुक्तं वाणीभूषणे—'हारशङ्खकक्रमेणमण्डिताष्टवर्णकेन । वर्णिता कुतूहलेन मल्लिकेति पिंगलेन ॥' इयमेव ग्रन्थान्तरे 'समानिका' इच्युते ॥

७२. मल्लिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

येन भगवता धृतपरशुरामावतारेण क्षत्रियवंशो जित. । अथ च येन कृतकृष्णावतारेण अरिष्टो मुष्टिकः केशीकंसश्च जित इत्यनेनैवान्वयः । येन च बाणासुरस्य सहस्रबाहो. पाणय' कर्तिताश्छिन्नाः ॥ स युष्मभ्य सुख ददातु ॥ उट्टवणिका यथा—ऽ। ऽ। ऽ। ऽ।, ८×४=३२, मल्लिका निवृत्ता ॥

७३ अथ तुगाछन्द.—

हे तरलनयने, यत्र प्रथमगणेन गणः सुरगो भवति । कति गणास्तत्रेत्यपेक्षायामाह—नगणयुगलेन बद्धो गुरुयुगलेन च प्रसिद्धस्तुगाख्य छन्द' । पूर्वं नगणद्वयम, अनन्तर गुरुद्वयमिति फलितोऽर्थः । तदुक्त भूषणे—'द्विगुणनगणकर्णै. सुललितवनुवर्णै. । रसिकविहितरगा प्रभवति किल तुगा ॥'

७४ तुगामुदाहरति—

कमले बद्धाना भ्रमराणा जीवो जीवनदाता बन्धनमोचनादिति भाव' । सकलभुवनदीपस्त्रिभुवनप्रकाशकत्वादिति भावः । दलितस्तिमिरस्य डिम्ब उपप्लवो येन । 'प्रादुर्डिम्ब उपप्लवे' [इति] देशीकोषात् । एतादृशस्तरणिबिम्ब उदेति ॥ उट्टवणिका यथा—।।। ।।। ऽऽ, ८×४=७२ ॥ तुगा निवृत्ता ॥

७५ अथ कमलछन्दः—

हे सखि, यत्र प्रथमो विप्रगणश्चतुर्लघ्वात्मको गण, द्वितीयस्तथा नरेन्द्रो जगण तस्यान्ते गुरु । अनया रीत्या पदेऽष्ट वर्णा भवन्ति तत्कमलनामक छन्दः । उक्त च भूषणे—'द्विजवरगणान्वित जगणगुरुसगतम् । फणिनृपतिजल्पित कमलमिति कलितम् ॥'

७६ कमलमुदाहरति—जहा (यथा)—

असुरकुलमर्दनो गरुडवरवाहनो वजे• सकाशादभुवनापेक्षकः स जनार्दनो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति ॥ उट्टवणिका यथा—।।।।ऽ।ऽ, ८×४=३२, कमल निवृत्तम् ॥

अथ माणवकक्रीडितक छन्दो ग्रन्थान्तरस्थमुच्यते—

भादिगण पर्णधर सान्तमिद वृत्तवरम् ।
पन्नगराजेन कृत माणवकक्रीडितकम् ॥

यत्र प्रथम भगण तत' कर्णं, ततोऽपि सगण तद्वृत्तं माणवकक्रीडितकमिति ॥

यथा—

श्रीकण्ठपूर्णोत्सवकरं पद्मिनीबोधकरम् ।
गाढतमोनाशकरं नौमि विभामुष्णकरम् ॥

उद्दवणिका यथा—ऽ।।ऽऽ।।, ८×४=३२ छन्दोमञ्जर्यां तु—'माणवकं भात्तलगौ ।' भात् भगणात्तलगास्तगणलघुगुरवो यत्र भवन्ति तन्माणवकं छन्द इति गणभेदेनोक्तम् ॥ यथा—चञ्चलचूडं चपलैर्वत्सकुलैः केलिपरम् । ध्याय सखे स्मेरमुखं नन्दसुतं माणवकम् ॥ उद्दवणिका यथा—ऽ।। ऽऽ। ।ऽ, ८×४=३२ ॥ माणवकक्रीडितकं निवृत्तम् ॥

अथानुष्टुप्छन्दः :—

लघु स्यात्पञ्चमं यत्र गुरु षष्ठं च सप्तमम् ।
द्विचतुर्थपादयोर्ह्रस्वमष्टाक्षरमनुष्टुभम् ॥

यत्र छन्दसि पञ्चममक्षरं चरणचतुष्टयेऽपि लघु तथैव षष्ठं गुरु द्वितीयचतुर्थयोः पादयोः सप्तमं ह्रस्वं लघ्विति यावत् । शेषमत्र अनियतं यत्र । एवमष्टाक्षरं वृत्तमनुष्टुभं जानीयादिति शेषः । अन्यत्रापि—'पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः । षष्ठं गुरु विजानीयाच्छेषास्त्वनियता मताः ॥' इति ॥

यथा—

हस्तं मत्करस्यैते मदोन्मत्ताः शिलीमुखाः ।
पिपासवः पुष्पधनुषो मूर्ता इव शिलीमुखाः ॥

अत्र क्रमेण 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरोक्तेरर्थद्वयोऽवगन्तव्य इति । उद्दवणिका यथा—।।ऽ।।ऽऽऽ, ।ऽ।ऽऽऽ।, ॥ इत्यमेव श्लोकादिषु छन्दोग्रन्थेषु नामान्तरभेदेन विषमवृत्तेषु पर्यवसानं लभते । तत्पुराणेषु च तावान्त्ये नाक्षरपादस्यानुष्टुभिति प्रसिद्धिः । विशेषतस्तु विद्युन्मालादीनि वृत्तान्यष्टाक्षरप्रस्तारे वर्णितानि । अत एव छन्दोमञ्जर्यामेकाक्षरादिषड्विंशत्यक्षरपादानां वृत्तानां पृथक्पृथगाचारसंज्ञा बोध्या ।

यथा—

'आरभ्यैकाक्षरपादादेकैकाक्षरवर्धितैः ।
पादैरुक्तादिसंज्ञा स्याच्छन्दः षड्विंशतिं गता ॥
उक्तात्युक्ता तथा मध्या प्रतिष्ठान्या सुप्रतिष्ठा ।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ॥
त्रिष्टुप् च जगती चैव तथातिजगती मता ।
शक्वरी चातिपूर्वा स्यादष्ट्यत्यष्टी ततः स्मृते ॥

धृतिश्चातिधृतिश्चैव कृतिः प्रकृतिराकृतिः ।
विकृतिः सकृतिश्चैव तथाविकृतिरुत्कृतिः ॥
इत्युक्ता छन्दसा सज्ञा.' इति ।

विशेषतस्तु तत्र तत्र प्रस्तारे तत्रैव सज्ञा ज्ञातव्या । इत्यास्तां विस्तरेण ॥
अत्र प्रस्तारगत्याष्टाक्षरस्य षट्पञ्चाशदधिक द्विशत भेदाः । येषु कियन्तो भेदा उदाहृताः शेषभेदा ऊहनीया' सुबुद्धिभिरिति ॥

७७ अथ नवाक्षरप्रस्तारे महालक्ष्मीछन्दः—

हे मुग्धे, यत्र नागराजेन पिङ्गलेन ये वर्णितास्ते त्रयोऽत्र जोहलगणा रगणा. । मध्यलघुका गणा इति यावत् । दृष्टाः । अतो नवाक्षर पदम्, पदे च मासार्ध-सख्याभि' पञ्चदशभिर्मात्राभिः स्थिता महालक्ष्मिका जानीहि । तदुक्त वाणीभूषणे—'दृश्यते पक्षिराजत्रय यत्र वृत्ते मनोहारके । सतत पिङ्गलेनोदिता सा महा-लक्ष्मिका कीर्तिता ॥'

७८ महालक्ष्मीमुदाहरति—जहा (यथा)—

सा सिंहासना सिंहाधिरूढा चण्डिका वः पातु । सा का । यस्या गले मुण्डानां माला कण्ठिका कण्ठभूषेत्यर्थ. । यस्या नागराजो भुजाया सुस्थितः । कथभूता चण्डिका । व्याघ्रकृत्त्या पुण्डरीकचर्मणा कृत वसन वस्त्र यथाभूता व. पात्विति ॥ उट्टवणिका यथा—ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ९×४=३६ ॥ महालक्ष्मी निवृत्ता ॥

७९ अथ सारङ्गिका छन्दः—

हे सखि, यत्र प्रथमं द्विजवरश्चतुर्लघुको गणः, तत कर्णो द्विगुर्वात्मको गणः ततः सगणोऽन्तगुरुर्गणः एवप्रकारेण यत्र पदे पदे मात्रागणन क्रियत इति शेषः । तदेवाह—शराः पञ्च मुनयः सप्त मिलित्वा द्वादश मात्रा. पादे लभ्यन्ते यस्याः सा सारङ्गिका कथ्यते द्विजवरकर्णसगणैर्नवाक्षरपदा सारङ्गिका छन्द इति फलितोऽर्थः ॥ तथा च वाणीभूषणे—'द्विजवरकर्णौ सगण विरचय यस्याश्चरणम् । जगदभि-राम हि तया भवति हि सारङ्गिकया ॥'

८१ सारङ्गिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

हे प्रियसखि, त्वया सा दृष्टा । कीदृशी । हरिणसदृश नयन चञ्चलत्वात्त-दुपमा यस्या सा एणाक्षीत्यर्थः । कमलसदृश विकच सुगन्धि च वदन यस्या. सा पुनर्युवजनाना चित्त हरति तच्छीला इति कस्याश्चित्सख्या. सखीं प्रति वचनम् ॥ उट्टवणिका यथा—॥॥, ऽऽ, ॥ऽ, ९×४=३६ ॥ यथा वाणीभूषणे—'प्रणमत राधारमण नृगनृपत्राधाशमनम् । असुरमदापाहरण यदुकुलचूडाभरणम् ॥' सारङ्गिका निवृत्ता ॥

यथा—

कोकनदपूर्णोदरं पयःपानीयोपकरम् ।
गाढतमोनाशकरं नौमि त्रिपुरान्तकरम् ॥

उद्दवनिका यथा—SIISSIIS ८×४=१२ ग्रन्थान्तरे तु—'माणवकमाणवकम् ।' भात्मगणगास्तगणगलघुगुरवो यत्र भवन्ति तन्माणवकं छन्द इति गणभेदेनोक्तम् ॥ यथा—चञ्चलचूडं चपलैर्वत्सकुलैः केलिपरम् । ध्याय सखे स्मेरमुखं नन्दसुतं माणवकम् ॥ उद्दवनिका यथा—SII SSI IS, ८×४=१२ ॥ माणवकक्रीडितकं निवृत्तम् ॥

अथानुष्टुप्छन्दः :—

लघु स्यात्पञ्चमं यत्र गुरु षष्ठं च सप्तमम् ।
द्विचतुर्थपादयोर्ह्रस्वमष्टाक्षरमनुष्टुभम् ॥

यत्र छन्दसि पञ्चममक्षरं चरणचतुष्टयेऽपि लघु तथैव षष्ठं गुरु द्वितीयचतुर्थयोः पादयोः सप्तमं ह्रस्वं लघ्वित्यर्थः । शेषवर्णा अनियता यत्र । एतमष्टाक्षरं वृत्तमनुष्टुभं जानीयादिति शेषः । अन्यत्रापि—'पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः । षष्ठं गुरु विजानीयाच्छेषास्त्वनियता मताः ॥' इति ॥

यथा—

इदं भरतस्यैते मदोन्मत्ताः शिलीमुखाः ।
पिपासवः पुष्पधनुषो मूर्ता इव शिलीमुखाः ॥

अथ श्लोकेन 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरनिर्देशादर्थोऽवगन्तव्य इति । उद्दवनिका यथा—IISIISSS, ISISISSI ॥ इदमेव वृत्तानुष्टुभास्तिषु च्छन्दोग्रन्थेषु नानागणभेदेन विषमवृत्तेषु चक्रवर्तितां लभते । सकलपुराणेषु च रामायणे महाभारतादिष्वनुष्टुभिति प्रसिद्धिः । विशेषतस्तु विद्युन्मालादीनि वृत्तान्यष्टाक्षर प्रस्तारे दर्शितानि । अत एव च्छन्दोमञ्जर्यामेतदक्षरविषयवृत्तलक्षणानन्तरं वृत्तानां पुनरष्टाक्षरप्रस्तारभवत्वं बोध्यम् ।

यथा—

'अस्मिन्नेवाष्टवर्णपादैरेवाष्टाक्षरवर्जितैः ।
पादैश्चतुर्विंशत्या स्याच्छन्दः परिवर्तते गतम् ॥
उष्णिगनुष्टुभौ तथा गायत्र्या प्रतिष्ठाया सुपूर्विका ।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती पङ्क्तिरेव च ॥
त्रिष्टुप्च जगती चैव तथातिजगती मता ।
शक्वरी चातिपूर्वस्याष्टयत्यष्टी ततः स्मृते ॥

धृतिश्चातिधृतिश्चैव कृतिः प्रकृतिराकृतिः ।
विकृतिः सकृतिश्चैव तथाविकृतिरुत्कृतिः ॥
इत्युक्ता छन्दसां संज्ञा.' इति ।

विशेषतस्तु तत्र तत्र प्रस्तारे तत्रैव संज्ञा ज्ञातव्या । इत्यास्तां विस्तरेण ॥
अत्र प्रस्तारगत्याष्टाक्षरस्य षट्पञ्चाशदधिकं द्विशतं भेदाः । येषु कियन्तो भेदा उदाहृताः शेषभेदा ऊहनीयाः सुबुद्धिभिरिति ॥

७७. अथ नवाक्षरप्रस्तारे महालक्ष्मीछन्दः—

हे मुग्धे, यत्र नागराजेन पिङ्गलेन ये वर्णितास्ते त्रयोऽत्र जोहागणा रगणा. । मध्यलघुका गणा इति यावत् । दृष्टाः । अतो नवाक्षरं पदम्, पदे च मासार्धसंख्याभिः पञ्चदशभिर्मात्राभिः स्थिता महालक्ष्मिका जानीहि । तदुक्तं वाणीभूषणे—'दृश्यते पक्षिराजत्रयं यत्र वृत्ते मनोहारके । संततं पिङ्गलेनोदिता सा महालक्ष्मिका कीर्तिता ॥'

७८ महालक्ष्मीमुदाहरति—जहा (यथा)—

सा सिंहासना सिंहाधिरूढा चण्डिका वः पातु । सा का । यस्या गले मुण्डानां माला कण्ठिका कण्ठभूषेत्यर्थः । यस्या नागराजो भुजायां संस्थितः । कथंभूता चण्डिका । व्याघ्रकृत्त्या पुण्डरीकचर्मणा कृतं वसनं वस्त्रं यथाभूता वः पात्विति ॥ उट्टवणिका यथा—ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ९×४=३६ ॥ महालक्ष्मी निवृत्ता ॥

७९ अथ सारङ्गिका छन्दः—

हे सखि, यत्र प्रथमं द्विजवरश्चतुर्लघुको गणः, ततः कर्णो द्विगुर्वात्मको गणः ततः सगणोऽन्तगुरुर्गण. एवंप्रकारेण यत्र पदे पदे मात्रागणनं क्रियत इति शेषः । तदेवाह—शराः पञ्च मुनय. सप्त मिलित्वा द्वादश मात्राः पादे लभ्यन्ते यस्याः सा सारङ्गिका कथ्यते द्विजवरकर्णसगणैर्नवाक्षरपदा सारङ्गिका छन्द इति फलितोऽर्थः ॥ तथा च वाणीभूषणे—'द्विजवरकर्णौ सगणं विरचय यस्याश्चरणम् । जगदभिरामं हि तया भवति हि सारङ्गिकया ॥'

८१ सारङ्गिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

हे प्रियसखि, त्वया सा दृष्टा । कीदृशी । हरिणसदृशं नयनं चञ्चलत्वात्तदुपमा यस्या. सा एणाक्षीत्यर्थः । कमलसदृशं विकचं सुगन्धि च वदनं यस्याः सा पुनर्युवजनानां चित्तं हरति तच्छीला इति कस्याश्चित्सख्या' सखीं प्रति वचनम् ॥ उट्टवणिका यथा—।।।।, ऽऽ, ।।ऽ, ९×४=३६ ॥ यथा वाणीभूषणे—'प्रणमत राधारमणं नृगनृपशापशमनम् । असुरमदापाहरणं यदुकुलचूडाभरणम् ॥' सारङ्गिका निवृत्ता ॥

८१ अथ पादत्ताछन्दः—

भो शिष्याः यत्र कुन्तीपुत्रः कर्णस्तयोर्युगं तेन गुरुचतुष्टयं पूर्वं यत्र लभ्यते द्वितीय तत्स्तृतीये वा स्थाने भुजं निश्चितं विप्रश्चतुर्लघुको गणः लभ्यते। यत्र चान्ते चरणान्ते हारो गुरुर्दश्यते तदेवत् 'पादत्ता' छन्दसो रूपं फणिना पिङ्गलेन भणितम् ॥ तथा चोक्तं भूषणे—'कारौ कर्णोदयस्थितं कृत्वा विप्रं गुरुचरितम्। तद्वृत्तं पिङ्गलभणितं पादत्तेति भवणरितम् ॥'

८२ पादत्तामुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितपतिका निजसखीमाह—हे प्रियसखि, 'वर्षासमयेऽहमागमिष्यामि' इति प्रतिज्ञाय प्रस्थितो वल्लभः। तदिदानीं नीपाः कदम्बाः पुष्पिताः, भ्रमरा द्विरेफा भ्रमन्ति, मेघा अपि जलभरा नीरभरिता दृढाः विद्युत्सौदामिन्यपि नृत्यति। अतः परमपि कथय कान्तः कदाऽऽगमिष्यतीति। एतादृशोऽपि समये माध्यस्थ्येनिश्चितं स कान्त एव मुखनाद्यकस्मात् न तु वल्लभ इति भावः ॥ उद्दवणिका—SS SS, ||, ||, S, १×४=१६ ॥ पादत्ता निवृत्ता ॥

८३ अथ कमलछन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र सरसौ रमणीयौ द्विजगणौ चतुर्लघुकगणौ पतितौ। पदान्ते च गुरुर्दिश्यते। एवं ८दे नव वर्णा दश कलाश्च प्रतिपदं यत्र पठिताः तत्कमल नामकं छन्द इति ॥ यथा च वाणीभूषणे—द्विजवरकमलयुगं कलय गुरुविरचितम्। भवति फणिपतिरितं कमलपतिरुचिरपदम् ॥

८४ कमलमुदाहरति—जहा (यथा)—

चलति कमलनयना स्खलति स्तनवसनम्, हसति सखिनिकटे, अतः एव भुजं निक्षिप्तमियं मधुरिमा वधूटी भवत्यास्तेव मन्ये इति शेषः ॥ उद्दवणिका यथा—|||| |||| S, १×४=१६, कमलं निवृत्तं।

८५ बिम्बछन्दः—

भा गुणिनः स्वभावादेव गुणस्य मात्र काठिन्यं त्रिविधिरिति भावः। यत्र गुरुयुगलं सर्वतोऽन्ते पादान्ते शिरसि अपरौ द्विजवरचतुर्लघुकौ मध्ये विप्रद्वयोर्मध्ये दास अपरौ गुरुमध्यो गणो यस्मिन्छन्दसि फणिना पिङ्गलेन रचितं बिम्बनामकं छन्द इति ॥ भूषणे तु नामभेदेनोक्तं यथा—'नगणकरगणयुगलं भवति नवकर्णमूर्धम्। फणिवरनमुखर्णं भवति विर बिम्बमलम् ॥'

८६ बिम्बमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे वत्सराज राजन् त्वा पतत्यकर्णं किं चलति। किं च तरुणजन्तरारोहणक्रम मरणति। अतः कारणानुगुणस्य शौर्यैश्वर्यगाम्भीर्यमर्यादामहाविप्रयोजन अहा

द्धा शुद्धा शरच्चन्द्रावदाता स्थिरा कल्पान्तस्थायिनी कीर्तिरवतिष्ठते वित्तयौवना-देकमतिचञ्चलत्वान्नश्वरमित्य [त] कीर्तिमेकामुपार्जयेति राजानं प्रति मित्रं प्रति वा कस्यचिन्निपुणमतेर्वचनमिदम् ॥ उट्टवणिका यथा—IIII, ।ऽ।, ऽऽ, ९×४=३६, बिम्बो निवृत्तः ॥

८७. अथ तोमरच्छन्दः—

हे कान्ते, यस्यादौ हस्त सगण गुर्वन्त गण विश्राण विजानीहि। तथा द्वौ पयोधरौ जगणौ गुरुमध्यमौ गणौ जानीहि। नागनरेन्द्रो दर्वीकराधारः प्रकर्षेण भणतीति तत्प्रामाण्यादेव तोमराख्य छन्दो मानय ॥ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—प्रथम करं विनिधाय जगणद्वय च निधाय। इति तोमर सुखकारि कविराजवक्त्रविहारी ॥'

८८. तोमरमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितपतिका वसन्तसमयेऽपि कान्तमनागत मत्वातिनिर्विण्णमानसा साकूत सखीमाह—हे सखि, कोकिलशावकाः पिकपोतकाश्चूत रसाल प्रति चलिताः। अथ च मधुमासेऽस्मिन्पञ्चम स्वर च गायन्ति। अतः प्राप्ते वसन्ते मनोमध्ये मन्मथस्तपति। यद्वा मम मनो मन्मथस्तापयति। न खलु कान्तो-ऽद्याप्यायातीति ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'सखि मादके मधुमासि व्रज सत्वरं किमिहासि। सह तेन किं विहरामि किमु पावक प्रविशामि ॥' उट्टवणिका यथा—।ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ९×४=३६, तोमर निवृत्तम् ॥

८९. अथ रूपमालीच्छन्दः—

भोः शिष्याः, नागराजः पिंगलः सारमत्युत्कृष्टमिद छन्दो जल्पति। यत्र च चत्वारः कर्णाः द्विगुरवो गणाः अन्ते पदान्ते हारो गुरुः। ए एक इत्यर्थः। एव नवाप्यक्षराणि गुरूणि मात्राश्चाष्टादश द्विगुणाभिप्रायेण गुरूणां यत्र पादे तद् रूपमालीनामकच्छन्द कथ्यते इति ॥ अयं च नवाक्षरप्रस्तारे प्रथमो भेदः। अत एव वाणीभूषणे—'चत्वारोऽस्मिन्कर्णा जायन्ते छन्दस्येक हार कुर्वन्ते। रम्या वर्णाः पादे राजन्ते रूपामालीवृत्त तत्कान्ते ॥'

९० रूपामालीमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितपतिका सखीमाह—यत्रस्माद्विद्युत्तडिन्नृत्यति। मेघान्धकाराश्च हरितो यस्मात्। यतश्च नीपाः कदम्बाः प्रफुल्लिताः। किं च मयूराः कूजन्ति। केकारव कुर्वन्तीत्यर्थः। वान्ति मन्दाः शीता वाताः। कम्पन्ते गात्राणि। अतः प्राप्ता प्रावृट्। कान्तः पर नागत इति ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'हत्वा शत्रु नृत्यन्ती चण्ड सा चण्डी व कल्याण कुर्यात्। देवेन्द्राद्या प्रीत्या सम्प्राप्ताः सदैवन्ते यत्पादाम्भोजम् ॥' उट्टवणिका यथा—ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽ, ९×४=३६ ॥

रूपमाली निवृत्ता ॥ अत्रापि प्रस्तारगत्या नवाक्षरस्य द्वादशाधिकपञ्चशतभेदेषु षट् भेदा वर्णिताः । शेषभेदा ऊहनीयाः सुमतिभिरिति ॥

११ अथ दशाक्षरप्रस्तारे संयुताछन्दः—

हे सुन्दरि यत्रादौ हस्तः सगणो गुर्वन्तो गणो विराजते । तथा च द्वौ पयोधरौ जगणौ मध्यगुरुकगणौ ततो अन्ते पदान्ते गुरुः । हरिराजेन वर्णितं संयुतेति फणिनोक्तम् ॥ तथा च भूषणे—'सगणं पुरः कुरु योमितं जगणद्वयं गुरुसंगतम् । फणिनायकेन निवेदिता भवतीह संयुतका हिता ॥'

१२ संयुतामुदाहरति—यहा (यथा)—

काचित्सखी प्रोषितपतिकां नायिकामभिसारार्थं प्रेरयन्त्याह—हे सुन्दरि त्वं चपलपदमयीं, दुर्जनसापत्नीं कुलीनतासम्पन्नतां परित्यज अन्यथा आत्मनैव याहि । संकेतनिकुञ्जगतमभिसरामिति भावः । अतः—विकसत्केतकीसंपुटे प्रविष्ट् भ्रमरो न लज्जयापगतस्तु कदाक इति ॥ उट्टवणिका यथा—॥ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ, १ ×४=४ , [संयुता निवृत्ता ॥]

१३ अथ चम्पकमालाछन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र प्रथमं हारो गुरुः स्थाप्यते । ततः काहलद्वयम् । लघुद्वयमित्यर्थः । ततः कुन्तीपुत्रः कर्णो द्विगुरुको गणः । कीदृशः कर्णः । गुरुद्वयात्मकगुरुयुक्तः । ततो हस्तः सगणो गुर्वन्तगणः क्रियते । पदान्ते हारो गुरुः स्थाप्यते । एवं दश वर्णाः पादे यत्र क्रियन्ते तच्छन्दश्चम्पकमालेति कथ्यते । वाणीभूषणे प्रकारान्तरेणोक्तम् 'भाद्विरगाचम्पुरपुष्मा कुण्डलगोमागविभूषणा । शब्दवती हार हस्तपूर्णा चम्पकमाला भाति सुवर्णा ॥ कश्चिदियमेव रुक्मवती, कश्चित्त रूपवतीति ॥

१४ चम्पकमालामुदाहरति—यहा (यथा)—

शाल्योदनं गोघृतदुग्धसंयुक्तम्, किंच मोइलिमत्स्य मत्स्यविशेषाः, नालिकाः शाकाः, एतत्सर्वं कान्तया स्वहस्तेन रम्भापत्रे कदलीदले दीयते पुण्यवता भुज्यते इति कस्यचिदाप्तस्य विदूषकस्य वा घोषणार्थं वचनमिति ॥ उट्टवणिका यथा—ऽ।। ऽऽ, ऽ, ।।ऽ, ऽ, १ ×४=४ ॥ चम्पकमाला निवृत्ता ॥

१५ अथ सारवतीछन्दः—

भोः शिष्याः यत्र प्रथमं दीर्घो गुरुः, तदनन्तरं लघुयुग्मं लघुद्वयमित्यर्थः । ततोऽपि दीर्घो गुरुः तदनन्तरमेको लघुः तदनन्तरं दीर्घलघ्वोरन्ते पयोधरो जगणो गुरुमध्यगो गणो यत्र । ततोऽपि कथ्यते सत्यादिपिङ्गलः । एवं दश वर्णाः पादे मात्रास्थानद्वय च यत्र भवन्ति तद्गुणं गिरिवरं सारवतीति सुधाः कथितमिति

गुरुर्लघुद्वय गुरुलघू जगणलघ्वादिस्त्रिकलैः च यत्र तत्सारवतीछन्द इति फलितोऽर्थः ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेण लक्षणमभिहित यथा—'दीर्घलघुद्वयमद्विगुणा हारविराजिचतुश्चरणाः। पिङ्गलनागमते भणिता सारवती कविसार्थहिता ॥'

९६. सारवतीमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिच्छालीनगृहस्थः स्वगार्हस्थ्येन सतुष्टो गर्वायते—भो अनुजीविनो लोका हे मित्रेति वा। यस्य मम पवित्राः शुद्धाः। पितृभक्ता इति यावत्। एवविधाः पुत्राः पुन्नाम्नो नरकात्त्रातारस्तनया. सन्ति। अथ च यस्य ममात्मजाः पवित्राः पवि कुलिशं तस्मादपि त्रायन्ते वज्रादपि रक्षका महावीरपराक्रमाः सन्ति। अथ च यस्य मम बहुल धन धनाधीशप्रतिस्पर्धि। विद्यत इति शेषः। अपि च कुटुम्बिनी वधू' शुद्धमना अकुटिलान्त.करणा सती भक्ता भर्तृजनतत्परा वास्ति। यस्य च मम हुक्केण अमुकेति वाङ्मात्रेण भृत्यगणः सेवकवर्गः त्रस्यति। एवं सकलसुखानुभवे सति को वा बर्बरोऽतिवाचाटः स्वर्गे मनः करोति। महीतल एव स्वर्गसुखादपि बहुलतरशर्मलाभादिति भावः ॥ उट्टवणिका—यथा—ऽ, ॥, ऽ, ।, ।ऽ।, ।ऽ, १०×४=४० ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'माधवमानय मत्सविधं किं सखि चिन्तय मित्रवधम्। यत्र करिष्यसि मत्प्रणय नो मम याति तदासमयम् ॥' एतदनुसारेणोट्टवणिकापि प्रदर्श्यते—ऽ, ॥, ऽ॥, ऽ॥, ऽ, १०×४=४० ॥ सारवती निवृत्ता ॥

९७. अथ सुषमाछन्द.—

हे मुग्धे, यत्र प्रथम. कर्णो द्विगुरुगण. जुमलो द्वितीयो ह्स्तः सगणो गुर्वन्तगणो भवति। ततस्तिअलो तृतीयः कर्ण एव सर्वशेषे ह्स्त. सगण एव प्रकटो यत्र दशाक्षरचरणे षोडश कला भवन्ति अथ छक्का वलयाः षड् गुरवश्चतस्रः शेषाः रेखा चेत्येव षोडश मात्रा यत्र सा सुसमा प्राणसमा। अतिप्रियेत्यर्थः ॥ भूषणे त्वन्यथोक्तम्—'कर्णा द्विलघुः कर्णो भगणः शेषे गुरुणा पूर्णश्चरण। यस्या भवति मुग्धे परमा सैषा सुषमा दीव्यत्सुषमा ॥'

९८ सुषमामुदाहरति—जहा (यथा)—

यस्या भ्रू कपिला, उच्च ललाटम्, यस्याश्च नेत्रयुगल मध्ये पीतम्। बिडालसदृशमित्यर्थं। अथ च रूक्ष वदन दन्ताश्च विरला दृश्यन्ते कथ जीवति यस्य त्वमपीदृशी प्रिया भवसीति परमकुत्सितरूपा कराला प्रति कस्याश्चित्कान्तसकलावयवायाा वचनम् ॥ उट्टवणिका यथा—ऽऽ, ॥ऽ, ऽऽ, ॥ऽ, १०×४=यथा वा [णीभूणे]—'एणीनयने केलीकलहे प्रेयान्वद किं किं नो कुरुते। धन्या रमणी सर्वे सहते दु:ख सुखवत्स्याते मनुते ॥' तदनुसारेणोट्टवणिका यथा—ऽऽ, ॥, ऽऽ, ऽ॥, ऽ, १०×४=४० ॥ सुषमा निवृत्ता ॥

'नगणचिरालयसद्वितयं कविजनभाषितवृत्तचयम् । प्रभवति शेषसहस्रमुखी विनिगदितेह तदा सुमुखी ॥'

१०४ सुमुखीमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिदतिदुराचारिणं मित्रमुपदिशति—एतानि यौवनदेहधनान्यतिचपलानि स्वप्नसहोदराः स्वप्नतुल्या बन्धुजनाः । अथ च अवश्यं कालपुरीगमनम् । अतः कारणाद्धे बर्बर वितथभाषिन्, पापे मनः परिहर ॥ उट्टवणिका यथा—
||||, ऽ, ||, ऽ, ||ऽ, ११×४=४४, सुमुखी निवृत्ता ॥

१०५ अथ दोधकच्छन्दः—

भो. शिष्याः, यत्र प्रथमं चामरं गुरुः, तदनन्तरं काहलयुगं लघुद्वयं स्थाप्यते ततो हारो गुरुः, तदनन्तरं लघुद्वयम्, ततः तत्थ तथा धारणीयम् । हारानन्तरं पुनः स्थापनीयमित्यर्थः । पदान्ते च कर्णगण. कर्तव्य., तद् दोधकमिति छन्दसो नाम कथ्यते । भगणत्रयं गुरुद्वयाभ्यां दोधकमिति फलितोऽर्थ. ॥ अत एव भूषणे—'भत्रितयं यदि कर्णसमेतं पिंगलनागसुभाषितमेतत् । पण्डितमण्डलसद्धृतचित्तं भामिनी भावय दोधकवृत्तम् ॥ 'दोधकमिच्छति भत्रितयाद्गौ' इति छन्दोमञ्जर्यामप्युक्तम् ।

१०६ दोधकमुदाहरति—जहा (यथा)—

स शंकरस्तुभ्यं सुखं ददातु । स कः । पिंगलजटावलीषु स्थापिता गङ्गा येन सः । तथा येनार्धांगेन नारी पार्वती धृता । यस्य शीर्षे [अति] णोक्ला परमरमणीया चन्द्रकला । राजत इति शेषः ॥ उट्टवणिका यथा—ऽ||, ऽ||, ऽ||, ऽऽ, ११×४=४४ ॥ दोधकं निवृत्तम् ॥

१०७. अथ शालिनीछन्द.—

भोः शिष्याः, सर्पराजेन पिंगलेन सा शालिनी आज्ञप्ता । सा का । यत्र कर्णो द्विगुणो भवति प्रथमं द्वौ कर्णौ द्विगुरुकगणौ, तत एको हारो गुरुर्विसृज्यते । ततश्च शल्यो लघु', ततोऽपि कर्णः तदनन्तरं लघु', अनन्तरं कर्ण एव श्रूयते । एवं पदे रुद्रसंख्या वर्णा विंशती रेखाः कलाः पादे पादे यत्र गण्यन्ते । सा शालिनीति ॥ वाणीभूषणेऽपि—'कृत्वा कर्णौ मण्डितौ कुण्डलेन शङ्खं हारं नूपुरं रावयुक्तम् । धृत्वा युग्मं चामरं चाविभाति शालिन्येषा प्रेयसी पिङ्गलस्य ॥' द्वितीयोऽर्थ. स्पष्ट. ॥ छन्दोमञ्जर्यां तु सयतिनियमं गणान्तरेण लक्षणमुक्तं यथा—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकै.' इति ॥

१०८. शालिनीमुदाहरति—

कर्पूरमञ्जरीसाट (सट्ट) कस्थ कापालिकभैरवानन्दस्य वचनं राजानं प्रति—

राजेन पिङ्गलेनजल्पिता सेनिका जानीत इति ॥ 'श्रेण्युदीरिता रजौ रलौ गुरुः' इति छन्दोमञ्जर्यां गणभेदेन नामान्तरमुक्तम् ॥ वाणीभूषणे तु—'हारशङ्खमण्डनेन मण्डिता या पयोधरेण वान्त्य अङ्किता। रूपनूपुरेण चातिदुर्लभा सेनिका भुजङ्गराजवल्लभा ॥' गुरुलघुरूपेणैकादशापि वर्णा यत्र सा सेनिका। सैव च यदा हारशङ्ख-विपरीताभ्यां रूपनूपुराभ्यां क्रमशो मण्डिता सती वसुवर्णानन्तरं च यदि रगण-विपरीतेन पयोधरेण जगणेनाङ्किता भवति तदा सा भुजङ्गराजवल्लभातिदुर्लभा सेनिका च्छन्दोद्वयमुक्तमिति ॥

११२. सेनिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्बन्दी कर्णनरपतिं स्तौति—स कर्णो जयतीति युग्मकेनान्वयः। स कः। झटिति पत्तीनां पतत्पादाघातेन भूमिः कम्पिता। यस्य। तथा यः स्वतुरगाणां रागोत्खातधूलीजालैः सूर्योऽपि समाच्छन्नः। येन च गौडराजं जित्वा तस्य मनोऽहङ्कारो मोटितः। येन कामरूपराजस्य बन्दीकृता वनिता मोचिता ॥ यथा वा वा [णीभूषणे]—'साधुधाष्टबाहुराजिमण्डिता रक्तबीजरक्तपानपण्डिता। चण्ड-मुण्डशुम्भदम्भखण्डिका मङ्गलानि नो ददातु चण्डिका ॥' उट्टवणिका यथा— ऽ।, ऽ।, ऽ।, ऽ। ऽ, ऽ, ११ × ४ = ४४ ॥ हारशङ्खविपरीतरूपनूपुररूपः यथा—'मुदा पदं सदा वहे महेश तवापि काममद्भुत गणेश। करालभालपट्टिका विशाल भजे मदीयहृत्सरोमराल ॥' उट्टवणिका यथा—।ऽ ।ऽ ।ऽ ।ऽ ।ऽ।, ११ × ४ = ४४ ॥ सेनिका निवृत्ता ॥

११३ अथ मालतीछन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र कुन्तीपुत्राः पञ्च कर्णाः शरसंख्यया दत्ता ज्ञायन्ते, अन्ते च कर्णानामवसाने कान्तः सुन्दर एको हारो गुरुर्मान्यते अभ्यर्हितः क्रियते। एवमेका-दशापि वर्णा यत्र गुरवः क्रियन्ते। अत एव पादे पादे गकारद्वैगुण्येन द्वाविंशति-र्मात्रा दृष्टा। तन्मालतीनामकं छन्दो नागेशः शेषः पिङ्गलो जल्पतीति ॥ भूषणे तु—'आदौ चत्वारोऽस्या कर्णा दृश्यन्ते शेषे यस्या रामा हारा जायन्ते। रुद्रैर्वर्णैः पादे पादे सङ्ख्याता मालत्येषा वाणीभूषा विख्याता ॥'

११४ मालतीमुदाहरति—जहा (यथा)—

स्थाने स्थाने हस्तियूथा दृश्यन्ते यथा मेरुशृङ्गे नीला मेघाः प्रेक्ष्यन्ते। अपि च वीराणां हस्ताग्रे खड्गो राजते नीलमेघमध्ये नृत्यन्ती विद्युदिवेति ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'पायान्मायामीनो लीनं कल्पान्ते प्रादिक्षोणीमतुः पाणिक्रोडे यः। व्यातांम्भोधिस्तस्मिन्काले लीलाभिः सम्यक्सर्वौषध्या यत्पृष्ठे तिष्ठन् ॥' उट्टवणिका यथा—ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽ, ११ × ४ = ४४ ॥ मालती निवृत्ता ॥

११९. अथोपजातयः—

इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रे छन्दसी एक कुरु चतुरधिक दश नाम १४ जानीहि। समजातौ समान्येवाक्षराणि देहि पिङ्गलो भणति। एवमुपजाति कुर्विति। पादाकुलक छन्दः॥

१२०. तत्र चतुर्दशोपजातिभेदानयनप्रकारमाह—

चतुरक्षरस्य प्रस्तार कुरु इन्द्रोपेन्द्रवज्रयोः लघुगुरूश्च जानीहि। मध्ये सर्वलघ्वोरन्तराले चतुर्दशोपजातयो भवन्तीति पिंगलो जल्पति किमिति व्याकुलीभवथ शिष्या इति॥ अयमर्थः—चतुरक्षरप्रस्तारस्तावत्षोडशविधः। तत्र गुरुचतुष्टयेनेन्द्रवज्रायाश्चतुष्पादज्ञानम्। चतुर्ष्वपि पादेष्विन्द्रवज्राया आदौ गुरुरिति शेषेन लघुचतुष्टयेनोपेन्द्रवज्रायाश्चतुर्ष्वपि पादेष्वादौ लघुरिति पादचतुष्टयज्ञानं भवति। मध्ये चोपेन्द्रवज्रापादमादिं कृत्वा चतुर्दशोपजातयो भवन्तीति॥ पादाकुलकं छन्दः॥ वाणीभूषणेऽपि—'उपेन्द्रवज्रापदसगतानि यदीन्द्रवज्राचरणानि च स्युः। तदोपजातिः कथिता कवीन्द्रैर्भेदा भवन्तीह चतुर्दशास्या.'॥ इति॥

१२१. उपजातिमुदाहरति जहा (यथा)—

गौरी शिव प्रत्याह—बालः कुमारः स्कन्दः स षण्मुण्डधारी। षण्मुख इत्यर्थः। उपायहीना अर्जनासमर्थाहमेकला नारी। हे भिक्षुक शिव, त्वमहर्निशं विष खाद भक्षय। गतिर्भवित्री किल का। अस्माक षण्मुखधारिणो बालकस्य भोजनमत्यावश्यकमित्येकलाया मम का वा गतिर्भविष्यति तन्न वेद्मि। तव तु भिक्षुकस्य गरलभोजनेनापि क्षुत्प्रतिकारदर्शनादिति भावः। 'बालो' इत्यत्र 'उष्पाअ' इत्यत्र च पादद्वये इन्द्रवज्राया लक्षणम्, पादद्वये चोपेन्द्रवज्राया लक्षणमिति द्वादशी रामाख्येयमुपजातिरिति। अन्याश्चोपजातयः सुबुद्धिभिराकरेषु मत्कृतोदाहरणमञ्जर्यां च द्रष्टव्या इति॥ अत्र च 'बालः कुमारः' इति 'गतिर्भवित्री' इति सविसर्गं केचित्पठन्ति। स च विसर्गो न दोषाय लौकिकभाषाया अनियमात्। सस्कृतमिश्रणाद्वेति सिद्धान्त.॥

१२२ चतुर्दशानामप्युपजातीना नामान्याह—

कीर्तिः १, वाणी २, माला ३, शाला ४, हसी ५, माया ६, जाया ७, बाला ८, आर्द्रा ९, भद्रा १०, प्रेमा ११, रामा १२, ऋद्धि १३, बुद्धि. १४ [इति] तासामाख्याः॥ विद्युन्मालाछन्द॥ एवमुपजातय प्रदर्शितरूपानुसारेणाकरतो मत्कृतोदाहरणमञ्जरीतोऽप्युदाहर्तव्या इत्यलमतिविस्तरेण॥ एते च भेदा रुद्रवर्णप्रस्तारपिण्डसख्यात समधिका इति ध्येयम्॥ उपजातयो निवृत्ताः॥

अथैकादशाक्षरप्रस्तारे एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते। तत्र रथोद्धताछन्दः—

उट्टवणिका यथा—ऽ।।, ऽऽ।, ।।।, ऽऽ, ११×४=४४ ॥ अनुकूला निवृत्ता ॥

अथ भ्रमरविलसितच्छन्दः—'मौ गो नौ गो भ्रमरविलसिता'

मगणगुरुनगणद्वयगुरुभिर्भ्रमरविलासितानामकं छन्दो भवति ॥ यथा—

मुग्धे मानं परिहर न चिरात्तारुण्यं ते सफलयतु हरिः ।
फुल्ला मल्ली भ्रमरविलसिताभावे शोभां कलयति किमु ताम् ॥

उट्टवणिका यथा—ऽऽऽ, ऽ, ।।।, ।।।, ऽ, ११×४=४४ ॥ भ्रमरविलसिता निवृत्ता ॥

अथ मोटनकच्छन्दः—'स्यान्मोटनकं तजजाश्च लगौ'

तगणजगणद्वयलघुगुरुभिर्मोटनकनामाच्छन्दः ॥

यथा—

रङ्गे खलु मल्लकलाकुशलश्चाणूरकभटमोटनकम् ।
यः केलिलवेन चकार समे स्वतांरिपु प्रतिमोटयतु ॥

अत्र तुरीयचरणे पादान्तलघोर्वैकल्पिकं गुरुत्वं ज्ञेयम् ॥ उट्टवणिका यथा—ऽऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।, ऽ, ११×४=४४ ॥ अत्रापि प्रस्तारगत्या रुद्र (११) सङ्ख्याक्षरस्याष्टचत्वारिंशदधिकं सहस्रद्वयं २०४८ भेदा भवन्ति । तत्र कियन्तोऽपि भेदाः प्रोक्ताः, शेषा भेदाः सुधीभिः प्रस्तार्य समूहनीया इति ॥

१२३ अथ द्वादशाक्षर प्रस्तारे प्रस्तारादिभूत विद्याधरनामकं छन्दोऽभिधीयते—

भो. शिष्याः, यत्र सर्वसारभूताश्चत्वारः कर्णा द्विगुरवो गणाः पादे दीयन्ते, पादान्ते कान्ताश्चत्वारो हारा गुरवश्च दीयन्ते । एवं द्वादशापि वर्णाः पादे गुरवः कर्तव्या इत्यर्थः । तत्र पदचतुष्टयेऽपि द्वादशचतुष्केण समुदिता वर्णा अष्टचत्वारिंशत् । तद्द्विगुणाभिप्रायेण मात्राः षण्णवति (९६) गणिता यत्र तच्छन्दःसु सारं श्रेष्ठं विद्याधरनामकं छन्दो भवतीति नागराजः पिङ्गलो जल्पतीति ॥

१२४. विद्याधरमुदाहरति—जहा (यथा)—

स इति प्रसिद्धो दीव्यतीति देवः अप्रतिहतक्रीडः परमशिवोऽनाद्यन्तो नित्यविहरणशीलः । तदुक्तं योगवासिष्ठे ॥ 'न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः आकारादिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कुतः । अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते ॥' इति प्रतिपादितलक्षणः तुम्हा युष्मभ्यं भक्त्या तोषितः सन् सुखं निरतिशयानन्दचिन्मयास्वादलक्षणं ददातु । स कः । यस्य विषं कण्ठे कालकूटपानात् । यस्य वासो दिक् । दिगम्बर इत्यर्थः । यस्य शीर्षे गङ्गा । गङ्गाधर इत्यर्थः । येन

मध्यलघुका गणा यत्रैतद्रूप लक्ष्मीधर इति ज्ञातव्यमिति नागराजः पिङ्गलो भणति ॥ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'द्वादशैर्वर्णकैर्निर्मित सतत तद्धि लक्ष्मीधर वृत्तमाकीर्तितम्। दृश्यते यच्चतुर्भोहलैरङ्कित पन्नगाधीशवाणीविनोदायितम् ॥' चतुर्जोहलैश्चतुर्भी रगणैरित्यर्थः ॥ ग्रन्थान्तरे तु 'स्रग्विणो' इति नामान्तरम् ॥ अत एव छन्दोमञ्जर्याम्—'कीर्तितैषा चतूरेफिका स्रग्विणी' इत्युक्तम् ॥

१२९. लक्ष्मीधरमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वन्दी कर्णं स्तौति— येन कर्णेन मालवा देशविशेषा भञ्जिता आमर्दिताः, कानलाश्च देशविशेषा गञ्जिताः, कुक्कुटा अपि निर्जिताः, गुर्जरा लुण्ठिताः, वङ्गा वङ्गदेशा भग्नाः, उत्कला मोटिताः, म्लेच्छाश्च कर्तिताः लवशः खण्डिताः इत्यर्थः। अतः सर्वत्र कीर्तिः स्थापिता येन स कर्णो जयतीति प्रबन्धस्थेन कर्त्रा सह सम्बध्यते ॥ उट्टवणिका यथा—ऽ, ।, ऽऽ, ।, ऽऽ, ।, ऽऽ, ।, ऽ, १२×४=४८ ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'रासकेलीकलोल्लाससम्भावित गोपसीमन्तिनीवृन्दसंलालितम्। राधया गीतसमुग्धयालिङ्गित नौमि गोपालक देवकीबालकम् ॥' स्रग्विणी निवृत्ता ॥

१३० अथ तोटकच्छन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र ध्रुव निश्चित चत्वारः सगणा गुर्वन्तगणाः पतन्ति गणेषु षोडशमात्रासु विरामः कथितः। तथा पिङ्गलेन भणितमुचित यत्तदिह लोके छान्दसिकैस्तोटकमिति छन्दोवर रचितमिति ॥ भूषणेऽप्युक्तम्—'विनिधेहि चतुःसगण रुचिर रविसङ्ख्यकवर्णकृत सुचिरम्। फणिनायकपिङ्गलसभणित कुरु तोटकवृत्तमिद ललितम् ॥' 'वद तोटकमब्धिसकारयुतम्' इत्यन्यत्रापि ॥

१३१. तोटकमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे गुर्जर गुर्जराधिपते, कुञ्जरान्महीं च त्यक्त्वा चल। अपसरेत्यर्थः। हे बर्बर वृथाप्रलापिन्, तव जीवनमद्य नास्ति। यदि कुप्यति कर्णनरेन्द्रः तदा रणे को हरिः को वा हरः, को वज्रधरः। कुपितस्य तस्य पुरत एते देवा अपि स्थातुमशक्ताः, किमुत त्वम्। अतः सर्वमपि वस्तुजात विसृज्य महीमपि त्यक्त्वा पलायनमेवोचित मिति गुर्जरदेशाधिपतिं प्रत्यमात्यवचनम् ॥ उट्टवणिका यथा—।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, १२×४=४८ ॥ तोटक निवृत्तम् ॥

१३२. अथ सारङ्ग.—

भो. शिष्या, यच्चतुस्तकारस्य तगणचतुष्टयस्य सम्यग्भेदेनोत्कृष्ट सारङ्गरूपक तत्पिङ्गलेनैव दृष्टम्, यच्च पादेषु चरणेषु तृतीये वर्णे विश्रामसंयुक्त न ज्ञायते कान्तिरस्य च्छन्दसोऽन्योन्यमार्गेण प्रस्तारशीत्येत्यर्थः ॥ भूषणे तु—कर्णे ध्वन

मध्यलघुक। गण। यत्रेतद्रूप लक्ष्मीधर इति ज्ञातव्यमिति नागराज पिङ्गलो भणति ॥ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'द्वादशैर्वर्णकैर्निर्मित ध्रतत वद्धि लक्ष्मीधर वृत्तमाकीर्तितम्। दृश्यते यच्चतुर्नोहलैरङ्कित पन्नगाधीशवाणीविनोदायितम् ॥' चतुर्नोहलैश्चतुर्भी रगणैरित्यर्थः ॥ अन्यान्तरे तु 'स्रग्विणी' इति नामान्तरम् ॥ अत एव छन्दोमञ्जर्याम्—'कीर्तितैषा चतूरेफिका स्रग्विणी' इत्युक्तम् ॥

१२६. लक्ष्मीधरमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वन्दी कर्णं स्तौति—येन कर्णेन मालवा देशविशेषा भञ्जिता आमर्दिताः, कानलाश्च देशविशेषा गञ्जिताः, कुक्कुटा अपि निर्जिताः, गुर्जरा लुण्ठिताः, वङ्गा वङ्गदेशा भग्नाः, उत्कला मोटिताः, म्लेच्छाश्च कर्तिताः लवशः खण्डिताः इत्यर्थः। अतः सर्वत्र कीर्तिः स्थापिता येन स कर्णो जयतीति प्रबन्धस्थेन कर्त्रा सह सम्बध्यते ॥ उद्दवणिका यथा—ऽ, ।, ऽऽ, ।, ऽऽ, ।, ऽऽ, ।, ऽ, १२×४=४८ ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'रासरेलीकलोल्लाससम्भावित गोपसीमन्तिनीवृन्दसल्लालितम्। राधया गीतसमुग्धयालिङ्गित नौमि गोपालक देवकीबालकम् ॥' स्रग्विणी निवृत्ता ॥

१३०. अथ तोटकच्छन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र ध्रुव निश्चित चत्वारः सगणा गुर्वन्तगणाः पतन्ति गणेषु षोडशमात्रासु विरामः कथितः। तथा पिङ्गलेन भणितमुचित यच्चदिह लोके छान्दसिकैस्तोटकमिति छन्दोवर रचितमिति ॥ भूषणेऽप्युक्तम्—'विनिधेहि चतुःसगण रुचिर रविसंख्यकवर्णकृत सुचिरम्। फणिनायकपिङ्गलसभणित कुरु तोटकवृत्तमिदं ललितम् ॥' 'वद तोटकमब्धिसकारयुतम्' इत्यन्यत्रापि ॥

१३१. तोटकमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे गुर्जर गुर्जराधिपते, कुञ्जरान्महीं च त्यक्त्वा चल। अपसरेत्यर्थः। हे बर्बर वृथाप्रलापिन्, तव जीवनमद्य नास्ति। यदि कुप्यति कर्णनरेन्द्रः तदा रणे को हरिः को वा हरः, को वज्रधरः। कुपितस्य तस्य पुरत एते देवा अपि स्थातुमशक्ताः, किमुत त्वम्। अतः सर्वमपि वस्तुजात विसृज्य महीमपि त्यक्त्वा पलायनमेवोचितमिति गुर्जरदेशाधिपतिं प्रत्यमात्यवचनम् ॥ उद्दवणिका यथा—।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, १२×४=४८ ॥ तोटक निवृत्तम् ॥

१३२. अथ सारङ्गः—

भोः शिष्याः, यच्चतुस्तकारस्य तगणचतुष्टयस्य सम्यग्भेदेनोत्कृष्ट सारङ्गरूपकं तत्पिङ्गलेनैव दृष्टम्, यच्च पादेषु चरणेषु तृतीये वर्णे विश्रामसंयुक्तं न जाय[ते ए]कान्तिरस्य च्छन्दसोऽन्योन्यमतोन प्रस्तारदीत्येत्यर्थः ॥ भूषणे तु—कर्णे छ

मध्यलघुका गणा यत्रैतद्रूपं लक्ष्मीधर इति ज्ञातव्यमिति नागराजः पिङ्गलो भणति ॥ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'द्वादशैर्वर्णकैर्निर्मितं सतत वद्धि लक्ष्मीधर वृत्तमाकीर्तितम्। दृश्यते यच्चतुर्जोहलैरङ्कित पन्नगाधीशवाणीविनोदायितम् ॥' चतुर्जोहलैश्चतुर्भी रगणैरित्यर्थः ॥ ग्रन्थान्तरे तु 'स्रग्विणी' इति नामान्तरम् ॥ अत एव छन्दोमञ्जर्याम्—'कीर्तितैषा चतूरेफिका स्रग्विणी' इत्युक्तम् ॥

१२६. लक्ष्मीधरमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वन्दी कर्णं स्तौति—येन कर्णेन मालवा देशविशेषा भञ्जिता आमर्दिताः, कानलाश्च देशविशेषा गञ्जिताः, कुक्कुटा अपि निर्जिताः, गुर्जरा लुण्ठिताः, वङ्गा वङ्गदेशा भग्नाः, उत्कला मोटिताः, म्लेच्छाश्च कर्तिताः लवशः खण्डिताः इत्यर्थः। अतः सर्वत्र कीर्तिः स्थापिता येन स कर्णो जयतीति प्रबन्धस्थेन कर्त्रा सह सम्बध्यते ॥ उद्दवणिका यथा—ऽ, ।, ऽऽ, ।, ऽऽ, ।, ऽऽ, ।, ऽ, १२×४=४८ ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'रासकेलीकलोल्लाससंभावित गोपसीमन्तिनीवृन्दसंलालितम्। राधया गीतसंमुग्धयालिङ्गित नौमि गोपालक देवकीबालकम् ॥' स्रग्विणी निवृत्ता ॥

१३० अथ तोटकच्छन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र ध्रुव निश्चित चत्वारः सगणा गुर्वन्तगणाः पतन्ति गणेषु षोडशमात्रासु विरामः कथितः। तथा पिङ्गलेन भणितमुचित यत्तदिह लोके छान्दसिकैस्तोटकमिति छन्दोवर रचितमिति ॥ भूषणेऽप्युक्तम्—'विनिधेहि चतुःसगण रुचिर रविसख्यकवर्णकृत सुचिरम्। फणिनायकपिङ्गलसंभणित कुरु तोटकवृत्तमिद ललितम् ॥' 'वद तोटकमब्धिसकारयुतम्' इत्यन्यत्रापि ॥

१३१. तोटकमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे गुर्जर गुर्जराधिपते, कुञ्जरान्महीं च त्यक्त्वा चल। अपसरेत्यर्थः। हे बर्बर वृथाप्रलापिन्, तव जीवनमद्य नास्ति। यदि कुप्यति कर्णनरेन्द्रः तदा रणे को हरिः को वा हरः, को वज्रधरः। कुपितस्य तस्य पुरत एते देवा अपि स्थातुमशक्ताः, किमुत त्वम्। अतः सर्वमपि वस्तुजात विसृज्य महीमपि त्यक्त्वा पलायनमेवोचित मिति गुर्जरदेशाधिपतिं प्रत्यमात्यवचनम् ॥ उद्दवणिका यथा—।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, १२×४=४८ ॥ तोटक निवृत्तम् ॥

१३२ अथ सारङ्ग—

भो शिष्या, यच्चतुस्तकारस्य तगणचतुष्टयस्य सम्यग्भेदेनोत्कृष्ट सारङ्गरूपक तत्पिङ्गलेनैव दृष्टम्, यच्च पादेषु चरणेषु तृतीये वर्णे विश्रामसयुक्त न ज्ञायते कान्तिरस्य च्छन्दसोऽन्योन्यभागेन प्रस्ताररीत्येत्यर्थः ॥ भूषणे तु—कर्णे ध्वज

कुरु। अयमर्थः—'चतुर्भिः सगणैरन्तगुरुकैर्गणैस्तोटकवृत्तं भवति। विपरीतमादिगुरुकैश्चतुर्भिर्भगणैर्मोदकं कुरु' इति। तदेव स्पष्टीकृत्याह—चत्वारो भगणा आदिगुरुका गणाः सुप्रसिद्धा यत्र तन्मोदकमिति कीर्तिलुब्धः पिङ्गलो जल्पति। भूषणे तु—'पादयुगं कुरु नूपुरसुन्दरमाशु करे कुसुमद्वयमाहर। सुन्दरि सर्वजनैकमनोहरमोदकवृत्तमिदं परिभावय॥'

१३७. मोदकमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितपतिका वर्षासमयेऽपि वल्लभमनागतं मत्वातिखिन्नमानसा प्रियसखीमाह—हे सखि, गर्जतु मेघः, श्यामलोऽम्बरे, नीपः कदम्बोऽपि पुष्पितो भवतु। किंच भ्रमरोऽपि कूजतु। अस्माकं तु पराधीनः परायत्त एक एव जीवः तस्मादेनं किं प्रावृट् गृह्णातु, किं वा मन्मथो गृह्णातु, अथवा—उभयोर्मध्ये कोऽपि कीलठ कीलयतु। जडीकरोत्वित्यर्थः॥ उद्दवणिका यथा—ऽ॥, ऽ॥, ऽ॥, ऽ॥, १२×४=४८॥ मोदकं निवृत्तम्॥

१३८. अथ तरलनयनीछन्दः—

हे कमलमुखि, नगणाः सर्वलघुका गणाः, तांश्चतुर्गणान्कुरु। एवं च द्वादशापि वर्णाल्लघून्कुरु। प्रतिलोमगत्या प्रस्तारस्य यावत्सर्वगुरुर्भवति तावन्निर्वाह्य तरलनयनीनामकमिदं वृत्तम्। ईदृशं सर्वलघ्वात्मकं द्वादशवर्णप्रस्तारान्त्यं भवतीति सुकविः पिङ्गलो भणति॥ वाणीभूषणे तु—'द्विजवरगणयुगमुपनय सकुसुमनगणमिह रचय। सुदति विमलतरफणिपतिनिगदिततरलनयनमिति॥'

१३९. तरलनयनीमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्भक्तः शिवं प्रार्थयते—हे कमलवदन, हे त्रिनयन, हे हर, हे गिरिवरशयन, हे त्रिशूलधर, हे शशधरतिलक, हे चन्द्रशेखर, हे गलगरल, मह्यमभिमतवरं वितर। देहीत्यर्थः॥ उद्दवणिका यथा—।।।, ।।।, ।।।, ।।।, १२×४=४८॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'अपहर पुरहर मम दरमभिनवकलियुगभयहर। हिमगिरिविहितशयनवर सुकृतसुलभशशधर॥' तरलनयनी निवृत्ता॥

१४०. अथ सुन्दरीच्छन्दः—

हे सुमुखि, यत्र पूर्वं नगणस्त्रिलघ्वात्मको गणः, ततश्चामरो गुरुः, तदनन्तरं गन्धयुगं लघुद्वयं स्थाप्यते, ततश्चामरो गुरुः, ततश्च शल्ययुगं लघुद्वयं यदि समवति, ततश्चैको रगणो मध्यलघुको गणः पादान्ते दृश्यते तत्सुन्दरीनामकछन्दः पिङ्गलेन लक्षितमिति॥ भूषणे तु—'कुसुमगन्धरसैरलिभूषिता चरणसंगतनूपुरमण्डिता। फागुनलसद्वलयान्विता स्फुरति कस्य न चेतसि सुन्दरी॥' अथ च—नाट्यी सुन्दरी नायिका कस्य चेतसि न स्फुरतीत्यर्थः॥

यथा वा माघकाव्ये षष्ठसर्गे—

'नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।
मृदुलतान्तलतान्तमशोभयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥'

इति ॥ उद्दवणिका यथा—।।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।ऽ, १२×४=४८ ॥

द्रुतविलम्बित निवृत्तम् ॥

अथ चन्द्रवर्त्मच्छन्दः—'चन्द्रवर्म निगदन्ति रनभसैः'
रगणनगणभगणसगणैश्चन्द्रवर्त्माख्यं वृत्तमाचार्या निगदन्तीति ॥

चन्द्रवर्त्म पिहितं घनतिमिरै राजवर्त्म रहितं जनगमनैः ।
इष्टवर्त्म तदलंकुरु सरसे कुञ्जवर्त्मनि हरिस्तव कुतुकी ॥

उद्दवणिका यथा—ऽ।ऽ, ।।।, ऽ।।, ।।ऽ, १२×४=४८ ॥ चन्द्रवर्त्म निवृत्तम् ॥

अथ वंशस्थविलं छन्दः—'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' ।
यत्र जतौ जगणतगणौ अथ च जरौ जगणरगणौ भवतः, तद्वंशस्थविलं वृत्तमित्याचार्या वदन्ति ॥ यथा—

विलासवंशस्थविलं मुखानिलैः प्रपूर्य यः पञ्चमरागमुद्गिरन् ।
व्रजाङ्गनानामपि गानशालिना जहार मानं स हरिः पुनातु वः ॥

उद्दवणिका यथा—।ऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ, १२×४=४८ ॥ वंशस्थविलं निवृत्तम् ॥

अथेन्द्रवंशाछन्दः—'तच्चेन्द्रवंशा प्रथमाक्षरे गुरौ' ।
तद्वंशस्थविलमेव प्रथमाक्षरे गुरौ सतीन्द्रवंशाख्यं तगणद्वयजगणरगणाभ्यां (णै) वृत्तं भवतीति वेदितव्यम् ॥ अथ चैतयो वंशस्थविलेन्द्रवंशयोरुपजातयश्चतुर्दश भवन्तीति तद्भेदाः सुधीभिः पूर्वप्रदर्शितप्रक्रियया स्तवनीया इत्युपदिश्यते । एते चोपजातिकृतचतुर्दशभेदाः प्रकृतप्रस्तारपिण्डसंख्यातोऽधिका वेदितव्या इति ॥

इन्द्रवंशा यथा—

'दैत्येन्द्रवंशाग्निरुदीर्णदीधितिः पीताम्बरोऽसौ जगतीतमोहरः ।
यस्मिन्नवाञ्चुः शलभा इव स्वयं ते कंसचाणूरमुखा मखद्विषः ॥'

उद्दवणिका यथा—ऽऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ, १२×४=४८ ॥ इन्द्रवंशा निवृत्ता ॥

अथ वैश्वदेवीछन्दः—'बाणाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ' ।
यत्र ममौ मगणद्वयम्, अथ च यौ यगणद्वयम् च, यत्र बाणाः पञ्च अश्वाः सप्त, छिन्ना ज्ञानविश्रामा सा वैश्वदेवी तन्नामकं वृत्तं भवतीति ॥

यथा—

> अर्चामन्येषां त्वं विहायामराणामद्वैते नैकं कृष्णमभ्यर्च्य भक्त्या ।
> तत्रारोग्यमन्वर्चिते भाविनी ते भ्रातः संपन्नाराधना वैश्वदेवी ॥

उद्वणिका यथा—ऽऽऽ, ऽऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, १२×४=४८ ॥ वैश्वदेवी निवृत्ता ॥

अथ मन्दाकिनी छन्दः—'ननररघटिता तु मन्दाकिनी' ।

या नगणद्वयरगणद्वयघटिता सा मन्दाकिनी तन्नामकं वृत्तमित्यर्थः ॥

यथा—

> चलितमनसिजो यमौ रंगता पदकमलरतिर् यस्य मन्दाकिनी ।
> सुरनिरतिवस्त्रिताम्बुसंभ्रमिमा हरतु जगदघं स पीताम्बरः ॥

'ब्रहरनिचितं तपः कामुकम्' इत्यादि भारवौ । 'अतिसुरभिरभाजि पुष्पश्रियां' इति माघे ॥ उद्वणिका यथा—।।।, ।।।, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, १२×४=४८ ॥ मन्दाकिनी निवृत्ता ॥

अथ कुसुमविचित्राछन्दः—'नयसहितौ न्यौ कुसुमविचित्रा'

यत्र नगणयगणसहितौ न्यौ नगणयगणावेव भवतः, तत्कुसुमविचित्रानामकं वृत्तं भवतीति ॥

यथा—

> विपिनविहारे कुसुमविचित्रा कृतरतिगोपी विहितपरिरम्भा ।
> मुररिपुमूर्तिर्मुकुलितनेत्रा चिरमवतादस्मान्करुणेशा ॥

उद्वणिका यथा—।।। ।ऽऽ, ।।। ।ऽऽ, १२×४=४८ ॥ कुसुमविचित्रा निवृत्ता ॥

अथ तामरसछन्दः— इह वद तामरसं नजजा यः ।

हे भामिनि, यत्र नगणजगणजगणाः, अन्ते च यो यगणो यदि भवति, तदा तामरसाख्यं वृत्तं वद ॥

यथा—

> स्फुटसुषमा मकरन्दमनोज्ञं व्रजललनानयनालिनिपीतम् ।
> तव मुखतामरसं मुरशत्रो हृदयतडागविकासि ममास्तु ॥

उद्वणिका यथा—।।।, ।ऽ। ।ऽ।, ।ऽऽ, १२×४=४८ ॥ तामरसं निवृत्तम् ॥

अथ मालतीछन्दः—'भवति नजावथ मालती जरौ' ।

यत्र नजौ नगणजगणौ, अथ च जरौ जगणरगणौ भवतः सा मालतीछन्दो भवतीति ॥

यथा—

इह कलयाच्युत केलिकानने मधुरससौरभसारलोलुपः ।
कुसुमकृतस्मितचारुविभ्रमामलिरपि चुम्बति मालतीं मुहुः ॥

कुत्रचिदियमेव 'यमुना' इति ॥ 'अपि विजहीहि दृढोपगूहनम्' इति भारवौ ॥ उद्दवणिका यथा ।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ, १२×४=४८ ॥ मालती निवृत्ता ॥

अथ मणिमालाछन्दः—'त्यौ त्यौ मणिमाला छिन्ना गुहवक्त्रैः'

यत्र प्रथमं त्यौ तगणयगणौ, अथ च त्यौ तगणयगणावेव भवतः सा गुहवक्त्रैः षडाननाननैश्छिन्ना जातविश्रामा मणिमाला तन्नामकं वृत्तमित्यर्थः ॥

यथा—

प्रह्वामरमौलौ रत्नोपलयुक्ते जातप्रतिबिम्बा शोणा मणिमाला ।
गोविन्दपदाब्जे राजी नखराणामास्ते मम चित्ते ध्वान्तं शमयन्ती ॥

उद्दवणिका यथा—ऽऽ।, ।ऽऽ, ऽऽ।, ।ऽऽ, १२×४=४८ ॥ मणिमाला निवृत्ता ॥

अथ जलधरमालाछन्दः—'म्भौ स्गौ गौचे जलधरमालाब्ध्यङ्गैः'

यत्र प्रथमं म्भौ मगणभगणौ, अथ च स्गौ सगणगुरू भवतः, ततश्च गौ गुरुद्वयं चेद्भवति । किं च—अब्धयश्चत्वारः, अङ्गान्यष्टौ, अष्टाङ्गयोगाभिप्रायेण, तैः कृतविरतिः, तदा जलधरमाला तन्नामकं वृत्तमित्यर्थः ॥

यथा—

या भक्तानां कलिदुरितोत्तप्तानां तापोच्छित्त्यै जलधरमाला नव्या ।
भव्याकारा दिनकरपुत्रीकूले केलीलोला हरितनुरव्यात्सा वः ॥

उद्दवणिका यथा—ऽऽऽ, ऽ।।, ।।ऽ, ऽ, ऽऽ, १२+४=४८ ॥ अत्रापि प्रस्तारगत्या द्वादशाक्षर प्रस्तारस्य षण्णवत्यधिक सहस्रचतुष्टय भेदा भवन्ति तेषु कियन्तः प्रदर्शिताः ।

१४२. अथ त्रयोदशाक्षरप्रस्तारे मायानामकं छन्दो लक्ष्यते—

हे मुग्धे, जं यत्र प्रथमं कण्णा दुण्णा द्वौ वर्णौ गुरुद्वयात्मकौ गणौ भवतः, ततश्चामरो गुरुरेव, तदनन्तरं शल्ययुगं लघुद्वयमित्यर्थः । ततोऽपि वीहा दीहा गुरुद्वयम्, ततोऽपि गन्धयुगं लघुद्वयं प्रकटितम् । अन्ते एतदन्ते चामरो गुरुः, हारोऽपि गुरुरेव भवति । शिष्यबोधनार्थं पदपूरणार्थं वा चरणे मात्रानियममाह—शुभकाया शुद्धशरीरा द्वाविंशतिर्मात्रा गुणयुक्ता यत्र तं तां मायां मायानामकं वृत्तं भण पठेत्यर्थः ॥ वाणीभूषणे तु—'कृत्वा कर्णौ कुण्डलयुक्तौ कुरु रत्नं धृत्वा पाद

समुदितमात्रासख्यामाह—सर्वपादे [न] पादचतुष्टये [न] चतुरधिका अशीतिः कलाः भवन्तीति ॥ भूषणे तु—'ध्वज चामर मण्डित गन्धहारेण मृगेन्द्रद्वय चापि युक्त समुद्रेण । तदा भाविभोगीन्द्रवक्त्राब्जगीतेन जनानन्दकन्देन वृत्तेन कन्देन ॥'

१४७ कन्दमुदाहरति—जहा (यथा)—

रे कस, अह एकः चञ्चलः बाल इति मा जानीहि । अह तु देवकीपुत्रस्तव वशकाल इति बुध्यस्व । जनानन्दकन्देन देवकीनन्देन तथा गृहीत. कंसो यथा हत एव दृष्टो निजनारीवृन्देनेति ॥ उट्टवणिका यथा ।S, S', S, S।, S, S, ।, SS।, १३×४=५२ ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'हृत ते मनो नन्दगोपालबालेन नवीनाम्बुवाहावलीचारुदेहेन । सुधावीचिसंबाधबिम्बाधराग्रेण स्फुरद्दंशोभाल-सत्कान्तिपूरेण ॥' कन्दो निवृत्तः ॥

१४८ अथ पङ्कावलीछन्द.—

हे मुग्धे, यत्र प्रथम चामरो गुरुः, तत' पापगणः पञ्चकलः सर्वलघुको गणः ध्रुव निश्चितम्, ततः शल्यो लघु ततः पश्चाच्चरणगणयुग्म भगणद्वय स्थापय । एव च षोडशकला पदे पदे ज्ञायन्ते यत्र तत् पङ्कावली छन्द इति पिङ्गलः प्रभणति ॥ वाणीभूषणे तु—'पादे कुसुमरसगन्धमत शरगण्डकयुगल-करूपमुपाहर । नागनृपतिवरभाषितमुद्युति वृत्तममलमिह पङ्कावलिरिति ॥

१९४. पङ्कावलिमुदाहरति—जहा (यथा)

स एव जगति जात., स एव गुणवान्, य' करोति परोपकार हसन्ननायासेन । यः पुनः परोपकार विरुध्यते तस्य जननी किमिति वन्ध्यैव न तिष्ठति । यथा वा [णीभूषणे]—'शारदविशदनिशाम'पि निन्दति सप्रति हृदयमिदामनुविन्दति । मन्मथविशिखभयेन निमीलति माधव तव विरहेण विषीदति ॥' उट्टवणिका यथा—S, ।।।।।, ।, S।।, S।।, १३×४=५२ ॥ पङ्कावली निवृत्ता ॥

अथ त्रयोदशाक्षरे प्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते ।

तत्र प्रथम मृगेन्द्रमुख छन्द —'भवति मृगेंद्रमुख नजौ जरौ ग.'

यत्र नजौ नगणजगणौ, अथ च जरौ जगणरगणौ भवत., ततो गो गुरुर्भवति तन्मृगेन्द्रमुख छन्द ॥ यथा—

गुरुभुजवीर्यभर हरिं मदान्धा
युधि समुपेत्य न दानवा जिजीवुः ।
क्षुधितमृगेन्द्रमुख मृगा उपेत्य
क्व नु खलु बिभ्रति जीवनस्य योगम् ॥

यत्र सगणजगणसगणा', अथ च जगौ जगणगुरू भवत', तन्मञ्जुभाषिणीछन्दः इति। इयमेव सुनन्दिनीति शंभौ॥

यथा—

अमृतोर्मिशीतलकरेण लालय-
स्तनुकान्तिचोरित विलोचनो हरेः।
नियत कलानिधिरसीति वल्लवी
मुदमच्युते व्यधित मञ्जुभाषिणी॥

उट्टवणिका यथा—।।ऽ, ।ऽ।, ।।ऽ, ।ऽ।, ऽ, १३×४=५२, मञ्जुभाषिणी निवृत्ता॥

अथ चन्द्रिका छन्दः—'ननततगुरुभिश्चन्द्रिका चतुर्भि'' नगणद्वयतगणयुगलगुरुभिश्चन्द्रिका सतपट् विरचितविरतिर्भवतीति॥

यथा—

शरदमृतरुचश्चन्द्रिकाद्यालिते दिनकरतनयातीरदेशे हरिः।
विहरति रभसाद्वल्लवीभिः सम त्रिदिवयुवतिभिः कोऽपि देवो यथा॥

यथा वा—

'इह दुरधिगमैः किंचिदेवागमै'
सततमसुतर वर्णयन्त्यन्तरम्।
असुमतिविपिन वेद दिग्व्यापिन
पुरुषमिव पर पद्मयोनि. परम्॥'

इति भारवौ॥ क्वचिदियमेव 'उत्पलिनी'। उट्टवणिका यथा—।।।, ।।।, ऽऽ।, ऽऽ।, ऽ, १३×४=५२॥ चन्द्रिका निवृत्ता॥

अथ कलहसछन्दः—'सजसाः सगौ च कथित. कलहसः'
सगणजगणसगणा यत्र सगणगुरू च, स कथितः कलहंसः॥ कुत्रचिदयमेव 'सिंहनादः' इति॥

यथा—

यमुनाविहारकुतुके कलहसो व्रजकामिनीकमलिनीकृतकेलिः।
जनचित्तहारिकलकण्ठनिनाद प्रमद तनोतु तव नन्दतनूजः॥

उट्टवणिका यथा—।।ऽ, ।ऽ।, ।।ऽ, ।।ऽ, ऽ, १३×४=५२॥ कलहंसो निवृत्त.॥

अथ प्रबोधिता छन्दः—'सजसाजगौ च भवति प्रबोधिता'
सगणजगणसगणा, अथ च जगौ जगणगुरू यत्र भवत., तत्प्रबोधिताछन्दः॥

उट्टवणिका यथा—III, ISI III, SIS, S, ११×४=५९ ॥ मुग्धेन मुखं निगदम् ॥

अथ प्रहर्षिणीछन्दः—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ।'

मगणनगणजगणरगणगुरुभिः, त्र्याशाभिः विरतिर्यत्र भवति तत्प्रहर्षिणीछन्द इत्यर्थः ॥

यथा—

गोपीनामधरसुधारसस्य पानै-

रुत्तुङ्गस्तनकलशोपगूहनैश्च ।

आश्चर्यैः मुरलरवैर्भ्रमैर्मुरारेः

संसारे मतिरभवत्प्रहर्षिणीह ॥

उट्टवणिका यथा—SSS, III, ISI, SIS, S, ११×४=५२ ॥ प्रहर्षिणी निवृत्ता ॥

अथ रुचिराछन्दः—'जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः'

यत्र जभौ जगणभगणौ, अथ च सजौ सगणजगणौ भवतः ततो गुरुः चतुर्भिः ग्रहैर्नवभिश्च विश्रामो यत्र तद्रुचिरानामकं छन्द इति ॥

यथा—

पुनातु वो हरिरतिरागविभ्रमी

परिभ्रमन्त्ररुचिरागनान्तरे ।

समीरणेरितविरलालकावलये

यथा मदालसललनासभूरुहः ॥

उट्टवणिका यथा—ISI, SII, IIS, ISI S, १३×४=५२ ॥ रुचिरा निवृत्ता ।

अथ चण्डी—'ननसलघुगणगैरितिचण्डी'

यत्र नगणनगणसगणसगणगुरुभिर्युक्तं भवति तच्चण्डीनामकं वृत्तमिति ॥

यथा—

जयति दितिजरिपुताण्डवलीला—

कुसुमितकरधृतविभमोलो ।

धरणकमलयुगचापलचण्डी

पदमलकविनिमोचनविधिः ॥

उट्टवणिका यथा—III III, IIS, IIS, S, ११×४=५२ ॥ चण्डी निवृत्ता ॥

अथ मञ्जुभाषिणी—'सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी ।

१५३. चक्रपदमुदाहरति—जहा (यथा)—

प्राकृते पूर्वनिपातानियमात्खञ्जनोपमनयनयुगलेन वरात्युत्कृष्टा चारुकनकलता-सुषमाभुजयुगा। अथ वा—भुजयुगे चारुकनकलतायाः सुषमा यस्याः। अथ च—फुल्लकमलमुखी गजवरगमना मत्तगजराजगामिनी रमणी विधिना कस्य सुकृतफल सृष्टा॥ उट्टवणिका यथा—ऽ॥, ॥॥, ॥॥, ॥ऽ, १४×४=५६॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'सुन्दरि नभसि जलदचयरुचिरे देहि नयनयुगमतिघनचिकुरे। मानमिह न कुरु जलधरसमये किं तव भवति हृदयमिदमदये॥' चक्रपदं निवृत्तम्॥

अथ चतुर्दशाक्षरप्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि लिख्यन्ते।

तत्र प्रथमं वासन्ती छन्दः—'मस्तो नो मो गौ यदि गदिता वासन्तीयम्'।

मगणतगणनगणमगणैर्गुरुद्वयेन च वासन्तीछन्दः॥

यथा—

भ्राम्यद्भृङ्गीनिर्भरमधुरालापोद्गीतैः
श्रीखण्डाद्रेरद्भुतपवनैर्मन्दान्दोला।
लीलालोला पल्लवविलसद्धस्तोल्लासैः
कंसारातौ नृत्यति सदृशी वासन्तीयम्॥

उट्टवणिका यथा—ऽऽऽ, ऽऽ।, ।।।, ऽऽऽ, ऽऽ, १४×४=५६॥

अथासम्बाधाछन्दः—'मो गो गो नौ मः शरनवभिरसम्बाधा'।

यत्र पूर्वं मगणस्ततो गुरुद्वयम् ततश्च नौ नगणद्वयम्, अनन्तरं मगणो भवति, शरः पञ्च, तेन पञ्चभिर्नवभिश्च यत्र विरतिर्भवति तदसम्बाधाछन्दः॥

यथा—

'वीर्याग्नौ येन ज्वलति रतिरसाक्षिप्ते
दैत्येन्द्रे जाता धरणिरियमसम्बाधा।
धर्मस्थित्यर्थं प्रकटिततनुरभ्यर्थ्यः
साधूनां बाधां प्रशमयतु स कंसारिः॥'

उट्टवणिका यथा—ऽऽऽ, ऽऽ, ।।।, ।।।, ऽऽऽ, १४×४=५६॥ असम्बाधा निवृत्ता॥

अथापराजिता छन्दः—'ननरसलघुगैः स्वरैरपराजिता'।

नगणद्वयरगणसगणलघुगुरुभिः स्वरैः सप्तभिः कृतविश्रामापराजिता॥

यथा—

'यदनवधिभुजप्रतापकृतास्पदा
यदुनिचयचमूः परैरपराजिता।

१५३. चक्रपदमुदाहरति—जहा (यथा)—

प्राकृते पूर्वनिपातानियमात्खञ्जनोपमनयनयुगलेन जगत्युत्कृष्टा चारुकनकलता-सुषमाभुजयुगा। अथ वा—भुजयुगे चारुकनकलताया सुषमा यस्याः। अथ च—फुल्लकमलमुखी गजवरगमना मत्तगजराजगामिनी रमणी विधिना कस्य सुकृतात्सृष्टा॥ उद्दवणिका यथा—ऽ॥, ॥॥, ॥॥, ॥ऽ, १४×४=५६॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'सुन्दरि नभसि जलदचयरुचिरे देहि नयनयुगमतिघननिकुरे। मानमिह न कुरु जलधरसमये किं तव भवति हृदयमिदमदये॥' चक्रपदं निवृत्तम्॥

अथ चतुर्दशाक्षरप्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि लिख्यन्ते।

तत्र प्रथमं वासन्ती छन्दः—'मत्तो मो मो गौ यदि गदिता वासन्तीयम्'। मगणतगणनगणमगणैर्गुरुद्वयेन च वासन्तीछन्दः॥

यथा—

भ्राम्यद्भृङ्गीनिर्भरमधुरालापोद्गीतैः
श्रीखण्डाद्रेरद्भुतपवनैर्मन्दान्दोला।
लीलालोला पल्लवविलसद्धस्तोल्लासैः
कंसारातौ नृत्यति सदृशी वासन्तीयम्॥

उद्दवणिका यथा—ऽऽऽ, ऽऽ।, ।।।, ऽऽऽ, ऽऽ, १४×४=५६॥

अथासंबाधाछन्दः—'मो तो नौ सो गौ शरनवभिरसंबाधा'।

यत्र पूर्वं मगणस्ततो गुरुद्वयम् ततश्च नौ नगणद्वयम्, अनन्तरं मगणो भवति, शरः पञ्च, तेन पञ्चभिर्नवभिश्च यत्र विरतिर्भवति तदसंबाधाछन्दः॥

यथा—

'वीर्याग्नौ येन ज्वलति रतिरणाक्षिप्ते
दैत्येन्द्रे जाता धरणिरियमसंबाधा।
धर्मस्थित्यर्थं प्रकटिततनुरभ्यर्थ्यः
साधूनां बाधां प्रशमयतु कंसारिः॥'

उद्दवणिका यथा—ऽऽऽ, ऽऽ, ।।।, ।।।, ऽऽऽ, १४×४=५६॥ असंबाधा निवृत्ता॥

अथापराजिता छन्दः—'ननरसलघुगैः स्वरैरपराजिता'। नगणद्वयरगणसगणलघुगुरुभिः स्वरैः सप्तभिः कृतविश्रामापराजिता॥

यथा—

'—दनवधिभुजप्रतापकृतास्पदा
यदुनिचयचमूः परैरपराजिता।

१५३. चक्रपदमुदाहरति—जहा (यथा)—

प्राकृते पूर्वनिपातानियमात्खञ्जनोपमनयनयुगलेन वरात्युत्कृष्टा चारुकनकलता-सुषमाभुजयुगा । अथ वा—भुजयुगे चारुकनकलतायाः सुषमा यस्याः । अथ च—फुल्लकमलमुखी गजवरगमना मत्तगजराजगामिनी रमणी विधिना कस्य सुकृतफल सृष्टा ॥ उट्टवणिका यथा—SII, IIII, IIII, IIS, १४×४=५६ ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'सुन्दरि नभसि जलदचयरुचिरे देहि नयनयुगमतिघनचिकुरे । मानमिह न कुरु जलधरसमये किं तव भवति हृदयमिदमदये ॥' चक्रपदं निवृत्तम् ॥

अथ चतुर्दशाक्षरप्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि लिख्यन्ते ।

तत्र प्रथम वासन्ती छन्दः—'मत्तौ मो मो गौ यदि गदिता वासन्तीयम्' ।

मगणतगणनगणमगणैर्गुरुद्वयेन च वासन्तीछन्दः ॥

यथा—

भ्राम्यद्भृङ्गीनिर्भरमधुरालापोद्गीतै-
श्रीखण्डाद्रेरद्भुतपवनैर्मन्दान्दोला ।
लीलालोला पल्लवविलसद्धस्तोल्लासैः
कंसारातौ नृत्यति सदृशी वासन्तीयम् ॥

उट्टवणिका यथा—SSS, SSI, III, SSS, SS, १४×४=५६ ॥

अथासंबाधाछन्दः—'मो गो गो नौ मः शरनवभिरसंबाधा' ।

यत्र पूर्वं मगणस्ततो गुरुद्वयम् ततश्च नौ नगणद्वयम्, अनन्तरं मगणो भवति, शरः पञ्च, तेन पञ्चभिर्नवभिश्च यत्र विरतिर्भवति तदसंबाधाछन्दः ॥

यथा—

'वीर्याग्नौ येन ज्वलति रतिरणाक्षिप्ते
दैत्येन्द्रे जाता धरणिरियमसंबाधा ।
धर्मस्थित्यर्थे प्रकटिततनुरभ्यर्थ्यः
साधूनां बाधां प्रशमयतु कंसारि ॥'

उट्टवणिका यथा—SSS, SS, III, III, SSS, १४×४=५६ ॥ असंबाधा निवृत्ता ॥

अथापराजिता छन्दः—'ननरसलघुगैः स्वरैरपराजिता' ।

नगणयुगलरगणसगणलघुगुरुभिः स्वरैः सप्तभिः कृतविश्रामापराजिता ॥

यथा—

'यदनवधिभुजप्रतापकृतास्पदा
यदुनिचयचमूः परैरपराजिता ।

उट्टवणिका यथा—।।।, ।।।, ऽऽ।, ऽऽ।, ऽ, ऽ, १४×४=५६ ॥ नान्दी-मुखी निवृत्ता ॥ अत्रापि प्रस्तारगत्या चतुर्दशाक्षरस्य चतुरशीत्यधिकानि त्रिशतानि षोडशसहस्राणि च भेदानाम्। तेषु कियन्तो भेदाः प्रदर्शिताः। शेषभेदाः सुधीभिराकरतः स्वमत्या वा प्रस्तार्य स्वयमूहनीया इति दिक् ॥

१५४. अथ पञ्चदशाक्षरप्रस्तारे भ्रमरावली छन्दो लक्ष्यते—

भोः शिष्याः, यत्र करैः पञ्चभिः सगणैर्गुर्वन्तगणैर्विशेषेण लब्ध वरं रचन यत्र तत् मनोहरं छन्दस्सु [उत्तम] रत्नमाचार्याः प्रभणन्ति। अथ च—यत्र गुरवः पञ्च, लघवो दश, तदेतादृश छन्दो भ्रमरावलीति रचित पिङ्गलेन प्रसिद्धं कृत्वा स्थापितम्। इदानींतनैराचार्यैरिति ॥ वाणीभूषणे तु—'भुजसगतशङ्खयुगा वलया-कलिता करपुष्पसुगन्धवती रसना रुचिरा। कनकद्वयनूपुरचारुतरा जयति भ्रमरा-वलिका भुजगाधिपदुर्ललिता ॥' द्वितीयोऽर्थः स्पष्टः ॥

१५५. भ्रमरावलीमुदाहरति—जहा (यथा)

कश्चिद्भक्तः शिव प्रार्थयते—हे चन्द्रकलाभरण चन्द्रशेखर देव, यदि तव दुरितगणहरणः पापसमूहविनाशकश्चरणः (?) शरण प्राप्नोमि, तदा लोभे मनस्त्यक्त्वा भवन गृह निरन्तरं परिपूजयामि। अतो मह्य तादृशं सुख देहि हे रमण नित्यविहारशील येनाहं त्रिविधशोकविनाशमनाः। स्यामिति शेषः ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'सखि संप्रति क प्रति मौनमिद विहित मदनेन धनुः सशर स्वकरे निहितम्। नतिशालिनि का वनमालिनि मानकथा रतिनायकसायकदुःखमुपैमि वृथा ॥' उट्टवणिका यथा—।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, १५×४=६० ॥ भ्रमरावली निवृत्ता ॥

१५६ अथ सर्वगुरुसारङ्गिकाछन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र कर्णा द्विगुरवो गणाः सप्त दीयन्ते, अन्ते एको हारो गुरुर्मान्यते पूज्यते। अभ्यर्हितः क्रियत इत्यर्थः। एव पदे पञ्चदशापि हारा गुरवो यत्र तत्सारङ्गिकाछन्द इति ज्ञातव्यम् ॥ तत्र शिष्यव्युत्पत्तिसिद्धये पादपूरणार्थं वा मात्रानियममाह—यत्र पदे गुरूणा द्विगुणाभिप्रायेण त्रिंशन्मात्राः प्राप्ताः, तन्नागि राजो जल्पति एव छन्दः क्रियते कीर्तिरपि तेन गृह्यते। किं बहुना—यच्छ्रुत्वा त्वा मस्तकं कम्पते ॥ एतस्या एव ग्रन्थान्तरे लीलाखेल इति नामान्तरम् ॥ तथा च छन्दोमञ्जर्याम्—'एकन्यूनो विद्युन्मालापादो चेल्लीलाखेलः' इति ॥

१५८ सारङ्गिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्बन्दी कस्यचिन्नरपतेः संग्राममुपवर्णयति—यत्र योधा भटा वर्धितकोपाः सन्तोऽत एव वीररसावेशेन मत्ताः, अप्पाअप्पी अहमहमिकया गर्विताः साहकाराः

रि अनया परिपाट्या त्रयो गणा गुर्वादि त्रिकलाः । पञ्चकला इत्यर्थः । अन्ते पञ्च [गण] कलगणत्रयावसाने रगण मध्यलघुक पञ्चकलमेव गण कुरु ॥ तत्राक्षरनियममाह—अत्र छन्दसि पञ्च गुरवः, पञ्चद्विगुणा [दश] लघवः । पदे । पतन्तीति शेषः । मात्रानियममाह—हे चन्द्रमुखि, एत्थ निशिपालनाम्नि वृत्ते विंशतिर्लघुमालाः (कलाः) तदेतन्निशिपालाख्य छन्दः कविषु वरो महाकवीन्द्रसर्पः पिङ्गलो भणतीति ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'तालशर-रज्जुररस्लवरसुन्दर भावयुततालगतमन्त्यकृतचामरम् । शुद्धमतिनागपतिहृदयकृत-सगम वृत्तनिशिपालम सतादि हृदयगमम् ॥'

१६१. निशिपालमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वन्दी समरमुपवर्णयति—युद्धे समरे भटा योधा भूमौ पतन्ति, उत्थाय पुनर्लगन्ति च । अन्यमित्रमिति [शेषः] । ततश्च तादृशमहावीराहवे सकलोऽपि वीरवर्गः स्वर्गमनाः सन्नभिमुख खड्गेनैव धारातीर्थाशया हन्ति । अतश्च न कोऽपि दि पलायित । अथ च वीरैस्तीक्ष्णफला· शरा बाणाः कर्णे गुण कृत्वा कर्णान्ताकृष्ट-शिञ्जिनीक कार्मुक विधायार्पिता· । परेष्वित्यर्थात् । इत्थ बाणपातनेनैव तथा दश योधा दशमग्न्वा·भा· सुभटा पादेन चरणेन सह कम्पिआ कर्तिताः । खण्डशः कृता इत्यर्थ ॥ उद्दवणिका यथा—ऽ।।।, ऽ।।।, ऽ।।।, ऽ।ऽ, १५×४=६० ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'चन्द्रमुखि जीवमुपि वाति मलयानिले याति मम चित्तमिव पानि मदनानले । तापकरकामशरशल्यवरकीलितं मानमिह पश्य नहि कोपमतिशी-लितम् ॥' निशिपालो निवृत्त ॥

या [भीभूषणे]—'नवमम्बुदमम्बुसकुञ्जनूत्थितकोकिले मधुमधपमधुलवचरीकभृङ्गा-कुले । समयेऽतिधीरसमीरकम्पितमानसे किमु यामि मानमनोरथेन विलिख्यते ॥' उद्दवणिका यथा—IIS, ISI, ISI, S, II, S I, S १५×४=६ ॥ मत्तगयन्दो निवृत्तः ॥

१५४ अथ मालिनी छन्दः—

मौः शिष्याः, यत्र प्रथमं परमप्रसिद्धं परमो द्विलघ्वात्मको गणस्तदवं द्विजिः परमैः प्रसिद्धम्, एतदुक्तं गजावादिरवलक्षितं मालिनीति नाम सर्वं सारम्। अत एव पिङ्गलमध्ये निहितं छन्दः फणीन्द्रो भणतीति । थीरचम्। बीज ठामोभिमदं परमत्रिकमनन्तरं यदिह्रस्वीमत्कानं तत्र मोनिषदं मगणेन गुरुत्र यात्मकेन गणेन निबद्धम् । पुनः यारी लघु तथो गुरुयुतं तथोऽपि यन्मो बहु तस्याप्यस्ते कर्णेन द्विगुर्वात्मकेन गणेन निरन्तं सर्वं संयुक्तमित्यर्थः ॥ भूषणे तु—मकारान्तरेण लक्षितम्—'द्विकुसुमयुरसा कर्णतारङ्कयुक्ता कनककलशहारैर्भूषिता पुष्पयुक्ता । सुललितरसनाढ्यो नूपुरभीस्मेता द्रवति रसिकचित्तं मालिनी कामिनीव ॥' कामिनीपक्षेऽर्थः स्पष्टः ॥ नगणद्वयमगणयगणयुगमयुक्तं वसुस्वरकृत-विरामं मालिनी वृत्तमिति फलितोऽर्थः ॥ अत एव छन्दोमञ्जर्याम्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इत्युक्तमिति ॥

१५५. मालिनीमुदाहरति—जहा (यथा)

कस्यिश्चोषितपतिका सखीमाह—हे सखि भीषवति संबोधने । 'हले हञ्जे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इत्यमरनिर्देशात् । मलयमारुतो दक्षिणानिलो वहति । अत एव हन्त इति खेदे । कम्पन्ते गात्राणि । अथ च कोकिलालापबन्धा भवनरम्यं हन्ति पिकसमूहमत्तलापबन्धाः कर्णरन्ध्रं भिन्दन्तीत्यर्थः । किंच दशदिशु भ्रमरसम्भ्रमरमारा भ्रमन्ति । अत एव कलकलबन्धोऽपि प्रेषयतमप्राप्य इव मारो मारणात्मका कामी हन्ति हन्ति मा मिति शेषः । इत्थीति वीप्सया निश्चयस्य मिश्रस्य मरणस्य सूचितमिति भावः ॥ यथा वा [भीभूषणे]—'नवनविगलदस्रु लोचना कुञ्जमाले नवकिसलयकल्पे हन्त सुप्ता मृगाक्षी । प्रबलमदनबाणाघातलोल दीर्घस्विरेखा विरहजनितपारं गन्तुमभ्यस्यतीव ॥' उद्दवणिका यथा—II, II II, SSS, I, SS, I, SS, १५×४=६ ॥ मालिनी निवृत्ता ॥

१५६ अथ शरभच्छन्दः—

भो सुप्रियाः सुप्रियं प्रियाः शिष्याः प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् सुप्रि-यगणानां पतिना (सा) पिङ्गलेन कथितं तच्छरभाख्यं छन्दः । थीरचम् । यत्र सुप्रियगणे लघुद्वयात्मको गणो रगणयुगेन लघुद्वयेन सहिता पूर्वं भवित पठिता,

तथा—विहु द्वौ सुप्रियगणौ रसयुगेनैव सहितौ कार्यौ तत. करतल सगणः पदे पदे प्रतिपद लब्धः । यत्र नैव प्रकारेण पदे पदे चतुश्चतुष्कला गणाः सुतरा हिताः, तादृश वृत्त शरभनामकमिति । भूषणेऽपि—'द्विजवरत्रि (?) तयकलितमिह सगण कलय शरभमतिरतिरतिकरणम् । कविवरसकलहृदयकृतहरण फणिवरनरपति- वदनविहरणम् ॥'

१६७. शरभमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कामुकः कामपि कामिनोमुपवर्णयति—तरलकमलदलसदृशनयना शरत्स- मयशशिसुसदृशवदना मदकलकरिवरसालसगमना इय रमणी येन सुकृतफलेन पुण्यपुञ्जेन सृष्टा किं तत्सुकृतफलमिति न जानीमहे । इति वितर्कालकारः ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'अमलकमलदलरुचिधरनयनो जलनिधिमधिफणिपति- फणशयनः । दनुजविजयसुरपतिनतिमुदितो हरिरपहरतु दुरिततिमुदित' ॥' उद्दवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ऽ, १५×४=६० ॥ इदमेव ग्रन्थान्तरे शशिकलेति नामान्तरेणोक्तम् । शशिकलापि रस ६ नव ९ रचितविर- तिश्चेत्, तदा स्रगिति नामान्तरं लभते । तथा च छन्दोमञ्जर्याम्—'स्रगियमपि च रसनवरचितयति'' इति । यथा—'अपि सहचरि रुचिरतरगुणमयी म्रदिमवसतिर- नपगतपरिमला । स्रगिव निवसति लसदनुपमरसा सुमुखि मुदितदनुजदलनहृदये ॥' उद्दवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ६ ॥, ॥, ॥, ॥, ऽ, ९, १५×४=६० ॥ इय- मेव च यदा वसु ८ मुनि ७ यति. तदा मणिगुणनिकर इति संज्ञान्तर लभते । तदुक्त तत्रैव—'वसु ८ मुनि ७ यतिरिति मणिगुणनिकर. ॥ यथा—'नरकरिपुरवतु निखिलसुरगतिरमितमहिमभरसहजनिवसतिः । अनवधिमणिगुणनिकरपरिचितः सरिदधिपतिरिव धृततनुविभव' ॥' उद्दवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ॥, ८ ॥, ॥, ॥, ॥ ७, १५×४=६० ॥ एतौ च यतिकृतौ शरभभेदौ प्रकृतिप्रस्तारसख्याया- मेवावगन्तव्याविति ॥ शरभो निवृत्त. ॥

अत्रास्मिन्नेव प्रस्तारे कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते । तत्र प्रथम विपिनतिलक छन्द —'विपिनतिलक नसनरेफयुग्मैर्भवेत्' ।

नगणसगणनगणरगणयुगलैर्विपिनतिलक वृत्त भवेदिति ॥

यथा—

'विपिनतिलकं विकसित वसन्तागमे
मधुकृतमदैर्मधुकरै क्वणद्भिर्वृतम् ।
मलयमरुता रचितलास्यमालोक्य-
न्नवयुवतिभिर्निहृगति स मुग्धो हरि ॥''

तथा—विहु द्वौ सुप्रियगणौ रसयुगेनैव सहितौ कार्यौ ततः करतल सगणः पदे पदे प्रतिपद लब्धः। यत्र चैव प्रकारेण पदे पदे चतुश्चतुष्कला गणाः सुतरां हिताः, तादृश वृत्त शरभनामकमिति। भूषणेऽपि—'द्विजवरत्रि (?) तयकलितमिह सगण कलय शरभमतिरतिरतिकरणम्। कविवरसकलहृदयकृतहरण फणिवरनरपति-वदनविहरणम् ॥'

१६७. शरभमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कामुकः कामपि कामिनीमुपवर्णयति—तरलकमलदलसदृशनयना शरत्स-मयशशिसुसदृशवदना मदकलकरिवरसालसगमना इय रमणी येन सुकृतफलेन पुण्यपुञ्जेन सृष्टा किं तत्सुकृतफलमिति न जानीमहे। इति वितर्कालंकारः॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'अमलकमलदलरुचिवरनयनो जलनिधिमधिफणिपति-फणशयनः। दनुजविजयसुरपतिनतिमुदितो हरिरपहरतु दुरिततिमुदित ॥' उद्दवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ऽ, १५×४=६० ॥ इदमेव ग्रन्थान्तरे शशिकलेति नामान्तरेणोक्तम्। शशिकलापि रस ६ नव ९ रचितविर-तिश्चेत्, तदा स्रगिति नामान्तर लभते। तथा च छन्दोमञ्जर्याम्—'स्रगियमपि च रसनवरचितयतिः' इति। यथा—'अपि सहचरि रुचिरतरगुणमयी म्रदिमवसतिर-नपगतपरिमला। स्रगिव निवसति लसदनुपमरसा सुमुखि मुदितदनुजदलनहृदये ॥' उद्दवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ६ ॥, ॥, ॥, ॥, ऽ, ९, १५×४=६० ॥ इय-मेव च यदा वसु ८ मुनि ७ यतिः तदा मणिगुणनिकर इति संज्ञान्तरं लभते। तदुक्तं तत्रैव—'वसु ८ मुनि ७ यतिरिति मणिगुणनिकरः ॥ यथा—'नरकरिपुरवतु निखिलसुरगतिरमितमहिमभरसहजनिवसतिः। अनवधिमणिगुणनिकरपरिचितः सरिदधिपतिरिव धृततनुविभवः ॥' उद्दवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ॥, ८ ॥, ॥, ॥, ॥ ७, १५×४=६० ॥ एतौ च यतिकृतौ शरभभेदौ प्रकृतिप्रस्तारसंख्याया-मेवावगन्तव्याविति ॥ शरभो निवृत्तः ॥

अत्रास्मिन्नेव प्रस्तारे कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते। तत्र प्रथम विपिनतिलक छन्दः—'विपिनतिलक नसनरेफयुग्मैर्भवेत्'।

नगणसगणनगणरगणयुगलैर्विपिनतिलकं वृत्त भवेदिति ॥

यथा—

'विपिनतिलक विकसितं वसन्तागमे
मधुकृतमदैर्मधुकरैः क्वणद्भिर्वृतम्।
मलयमरुता रचितलास्यमालोक्य-
न्व्रजयुवतिभिर्विहरति स्म मुग्धो हरिः ॥'

सविंशतयः पदे यस्य चरणस्थितचतुर्विंशतिकलात्मकमिदं छन्दः फणीन्द्रो जल्पति ॥
तत्र लघुगुरुनियममाह—गन्धवङ्कअट्ठए गन्धवक्रयोर्लघुगुर्वोः क्रमेणाष्टक यत्रेति ।
तथा च—अत्रैवाष्टाक्षरप्रस्तारप्रस्तावेऽभिधीयमाने प्रमाणिकाछन्दोलक्षणे—'लहूगुरू
णिरन्तरा पमाणि अट्ठ अक्खरा । पमाणि दूण किज्जए णराउ सो भणिज्जए ॥'
इत्युक्तम् । तदत्र सिंहावलोकनन्यायेन सचारणीयमिति ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारा-
न्तरेणोक्तम्—'ध्वजेन नायकेन कुण्डलेन यद्विभूषित पयोधरेण वीणया शरेण
पक्षिणाङ्कितम् । नराचवृत्तमत्र षोडशाक्षर समीरित मनीषिमण्डलीहितं फणीन्द्र-
पन्नगोदितम् ॥' इदमेव ग्रन्थान्तरे पञ्चचामरमिति नामान्तरम् । अत एव
छन्दोमञ्जर्याम्—'प्रमाणिकापदद्वय वदन्ति पञ्चचामरम्' इत्युक्तम् ॥

१६९ नराचमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्बन्दी सङ्ग्रामाङ्गणमनुवर्णयति—योधाः सुभटाश्चलन्ति समरभूमावितस्ततः
सचरन्ति । कीदृशाः । शत्रूणामहितानां क्षोभकाः । पुनः रणकर्मप्रसराः, रणक-
र्मण्यधिका वा । ततश्च कृपाणबाणशल्यमल्लचापचक्रमुद्गराश्चायुधविशेषाश्चलन्ती-
त्यनेनैवान्वय. । पुनः कीदृशाः भटाः । पर्वताकारतुरगैर्मारणार्थं योधारः समन्ता-
द्वर्तुलीभूय धावन्त तत्रासनवल्गासु पण्डिता अतिदक्षा. सादिन इत्यर्थः । पुनः
प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् दन्तदष्टप्रकृष्टोष्ठया तथा सेनया ध्वजिन्या मण्डिताः ॥
यथा वा [णीभूषणे]—'निशुम्भशुम्भचण्डमुण्डरक्तबीजघातिनी लुलायरूपदैत्य-
भूतघातपक्षपातिनी । नवीनपीनबद्धनालकालमेघसंनिभा चिर चरीकरोतु नः प्रिय
पिनाकिवल्लभा ॥' उट्टवणिका यथा—।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ १६×४=
६४ ॥ नराचो निवृत्तः ॥

१७० अथ नीलच्छन्दः—

हे रमणि, तन्नीलस्वरूप नीलनामक छन्दो लक्ष (?) जानीहीत्यर्थः (?) ।
यत्र पदे द्वाविंशतिर्मात्रा' पञ्च भगणा गुर्वादिगणाः पदे पतन्ति, एतादृशैरेव
पदैरांश्रितमिति छन्दोविशेषणम् । अन्ते पञ्चभगणान्ते स्थितो हारो गुरुर्यत्र ज्ञायते
तदेतद्द्विपञ्चाशदधिकं कलाशतत्रयात्मक ध्रुव निश्चितमीदृश रूप मुग्धे ज्ञातव्य-
मित्यर्थ. । एतदुक्त भवति—चरणस्थितद्वाविंशतिमात्रात्मकमिद नीलाख्यं वृत्त
चतुश्छन्दोभिप्रायेण षोडशचरणात्मकम् । तत्रैकस्य छन्दसश्चरणो द्वाविंशति-
श्चतुर्गुणितोऽष्टाशीतिकलात्मकः । यथा—२२+२२+२२+२२=८८ ॥ एव-
मष्टाशीतिकलात्मकचरणचतुष्टयेन द्विसमधिकपञ्चाशदुत्तरकलाशतत्रयात्मकमिद
नीलस्वरूप भवतीति यथा—८८+८८+८८+८८=३५२ ॥ वाणीभूषणे तु
प्रकारान्तरेण लक्षणं लक्षितम् 'तालपयोधरनायकतोमररत्नधर पाणियुत च विभावय

सविंशतयः पदे यस्य चरणस्थितचतुर्विंशतिकलात्मकमिदं छन्दः फणीन्द्रो जल्पति ॥ तत्र लघुगुरुनियममाह—गन्धबङ्कअठ्ठए गन्धवक्रयोर्लघुगुर्वोः क्रमेणाष्टक यत्रेति । तथा च—अत्रैवाष्टाक्षरप्रस्तारप्रस्तावेऽभिधीयमाने प्रमाणिकाछन्दोलक्षणे—'लहूगुरू णिरन्तरा पमाणि अठ्ठ अक्खरा। पमाणि दूण किज्जए णराउ सो भणिज्जए ॥' इत्युक्तम् । तदत्र सिंहावलोकनन्यायेन सचारणीयमिति ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'ध्वजेन नायकेन कुण्डलेन षड्विभूषित पयोधरेण वीणया शरेण पक्षिणाङ्कितम्। नराचवृत्तमत्र षोडशाक्षर समीरित मनीषिमण्डलीहितं फणीन्द्रपन्नगोदितम् ॥' इदमेव ग्रन्थान्तरे पञ्चचामरमिति नामान्तरम्। अत एव छन्दोमञ्जर्याम्—'प्रमाणिकापदद्वय वदन्ति पञ्चचामरम्' इत्युक्तम् ॥

१६९ नराचमुदाहरति—जश (यथा)—

कश्चिद्बन्दी सङ्ग्रामाङ्गणमनुवर्णयति—योधाः सुभटाश्चलन्ति समरभूमावितस्ततः सचरन्ति। कीदृशाः। शत्रूणामहिताना क्षोभका। पुनः रणकर्मप्रसरा', रणकर्मण्यधिका वा। ततश्च कृपाणबाणशल्यभल्लचापचक्रमुद्गराश्चायुधविशेषाश्चलन्तीत्यनेनैवान्वय। पुनः कीदृशा। भटाः। पर्वताकारतुरगैर्मारणार्थं योधारः समन्ताद्वर्तुलीभूय धावन तत्रासनवल्गासु पण्डिता अतिदक्षा। सादिन इत्यर्थः। पुनः प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् दन्तदष्टप्रकृष्टोष्ठया तथा सेनया ध्वजिन्या मण्डिताः ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'निशुम्भशुम्भचण्डमुण्डरक्तबीजघातिनी तुलायरूपदैत्यभूतबालपक्षपातिनी। नवीनपीनबद्धबालकालमेघसंनिभा चिर चरीकरोतु नः प्रिय पिनाकिवल्लभा ॥' उट्टवणिका यथा—।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ १६×४ = ६४ ॥ नराचो निवृत्तः ॥

१७०. अथ नीलच्छन्दः—

हे रमणि, तन्नीलस्वरूप नीलनामक छन्दो लक्ष (?) जानीहीत्यर्थः (?)। यत्र पदे द्वाविंशतिर्मात्राः पञ्च भगणा गुर्वादिगणा। पदे पतन्ति, एतादृशैरेव पदैराश्रितमिति छन्दोविशेषणम्। अन्ते पञ्चमगणान्ते स्थितो हारो गुरुर्यत्र जायते तदेतद्द्विपञ्चाशदधिकं कलाशतत्रयात्मक ध्रुव निश्चितमीदृश रूप सुधी ज्ञातव्यमित्यर्थ। एतदुक्त भवति—चरणस्थितद्वाविंशतिमात्रात्मकमिदं नीलाख्यं वृत्त चतुश्छन्दोभिप्रायेण षोडशचरणात्मकम्। तत्रैकस्य छन्दसश्चरणो द्वाविंशति श्चतुर्गुणितोऽष्टाशीतिकलात्मकः। यथा—२२ + २२ + २२ + २२ = ८८ ॥ एवमष्टाशीतिकलात्मकचरणचतुष्टयेन द्विसमधिकपञ्चाशदुत्तरकलाशतत्रयात्मकमिदं नीलस्वरूप भवतीति यथा—८८ + ८८ + ८८ + ८८ = ३५२ ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेण लक्षण लक्षितम् 'तालपयोधरनायकतोमररत्नधरं पाणियुत च विभावय

[णीभूषणे]—'आलि याहि मञ्जुकुञ्जगुञ्जितालिलालितेन भास्करात्मजाविराजिरा-जितीरकाननेन । शोभितस्थलस्थितेन सगता यदूत्तमेन माधवेन भाविनी तडिल्ल-तेव नीरदेन ॥' उद्दवणिका यथा—ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ।ऽ, ।, १६×४= ६४ ॥ चञ्चला निवृत्ता ॥

१७४. अथ सर्वगुर्वात्मक कलासख्यवर्णक प्रस्तारादिभूत ब्रह्मरूपक छन्दः—

भोः शिष्या, जो यद् ब्रह्मरूपकं छन्दः अपर ब्रह्मणो रूपमिव । वर्तते इति शेषः । ब्रह्मच्छन्दसोः साधर्म्यमाह—यच्छन्दः, ब्रह्म वा लोकाना वक्षसि बिम्बोष्ठे विधु-स्थाने दन्तेषु हसस्थाने शिरसि मूर्धाने ब्रह्मरन्ध्रे महापद्मवने वा णाऊ ज्ञातम् । तथा च छन्द इत्युच्चार्यमाणः शब्दस्तत्तत्स्थान गमयतीति सहृदयैकगम्योऽर्थः ॥ अथ च शब्दस्य ब्रह्मरूपत्वात्तत्प्रोक्तस्थाने ज्ञात मननशीलैर्मुनिभिरिति । किंच—कण्ठद्वाणे कण्ठस्थाने वर्णस्थाने च सारस्थाने जिह्वायां मूलाधारे वा छन्दो वृत्तमु द्गायता 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठशिरस्तथा । जिह्वामूल च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥' इति पाणिनिकृतशिक्षोक्तरीत्या कथयता पन्नगपतिना पिङ्गलेन समानितमिद छन्दो ब्रह्मरूपकनामक कर्णैर्गुरुद्वयात्मकगणैर्य-सर्ववृत्तं निष्पन्नशरीर तल्लोकाना व्याख्यातमिति ॥

१७५ ब्रह्मरूपकमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्बन्दी कस्यचिन्नृपतेर्युद्धमुपवर्णयति—उन्मत्ता वीररसाविष्टा उत्थितक्रोधा उपर्युपर्यहमहमिकया युध्यमानाः सन्तो मेनकारम्भादिभिर्नाथत्ररणे सदम्भाभिरप्स-रोभि. अप्पाअप्पी अन्योन्य मयायं वरणीय., त्वया चायमिति बोध्यमानाः शस्त्र-छिन्नकण्ठाः कबन्धा मस्तक पृष्ठमेव शेषो येषामेवविधा अपि वीरा धावन्त इतस्ततः समराजिरे व्रजन्तः समग्रा एकत्रीभूय जायाग्रे मेनकारम्भादीनामग्रे लुब्धास्तद्दर्श नेऽप्सरो विस्मिता ऊर्ध्वमेव पश्यन्तोऽवतस्थिर इति वाक्यशेषः ॥ उद्दवणिका यथा—ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, १६×४=६४ ॥ ब्रह्मरूपक निवृत्तम् ॥

अथ षोडशाक्षर एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते । तत्र प्रथममृषभगजविलसित छन्दः—'भ्रत्रिनगैः स्वराङ्कमृषभगजविलसितम्' ।

भ्रत्रिनगैर्भगणरगणनगणत्रयगुरुभि. सप्तनवविश्राममृषभगजविलसित वृत्तमिति ॥

यथा—

'यो हरिरुच्चखान खरतरनखशिखरै-
दुर्जयदैत्यसिंहसुविकटहृदयतटम् ।
विस्मितहृद चित्रमेतदखिलमपहृतवतः
कसनिदेशहृष्यदृषभगजविलसितम् ॥'

उद्ववणिका यथा—।।।, ।ऽ।, ऽ।।, ।ऽ।, ऽ।ऽ, ऽ, १६×४=६४

। वाणिनी निवृत्ता ॥

अथ प्रवरललित छन्दः—'यमौ नः स्रौ गश्च प्रवरललितं नाम वृत्तम्'

यत्र यमौ यगणमगणौ । अथ च नगणः, ततः स्रौ सगणरगणौ भवतः, ततश्चेद्गुरुर्भवति तदा प्रवरललित नाम वृत्त भवति ॥

यथा—

'भुजोत्क्षेपः शून्ये चलवलयझङ्कारयुक्तो
मुधापादन्यासप्रकटिततुलाकोटिनादः ।
स्मित वक्त्रेऽकस्माद्दृशि पटुकटाक्षोर्मिलीला
हरौ जीयादीदृक्प्रवरललित वल्लवीनाम् ॥'

उद्ववणिका यथा—।ऽऽ, ऽऽऽ, ।।।, ।।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ, १६×४=६४ ॥

प्रवरललित निवृत्तम् ॥

अथ गरुडरुत छन्दः—'गरुडरुत नजौ भजतगा॰ यदा स्युस्तदा'

यदा नजौ नगणजगणौ भवत, ततो भजतगाः भगणजगणतगणगुरवः स्युः, तदा गरुडरुत नाम वृत्त भवतीति ॥

यथा—

'अमरमयूरमानसमुदे पयोदध्वनि-
र्गरुडरुत सुरारिभुजगेन्द्रसंत्रासने ।
धरणिभरावतारविधिडिण्डिमाडम्बरः
स जयति कसरङ्गभुवि सिंहनादो हरे॰ ॥'

उद्ववणिका यथा—।।।, ।ऽ।, ऽ।।, ।ऽ।, ऽऽ।, ऽ, १६×४=६४ ॥

गरुडरुत निवृत्तम् ॥

अथ प्रस्तारान्त्यभेदमचलधृतिवृत्तमभिधीयते—'द्विगुणितवसुलघुभिरचल-धृतिरिति' ।

यत्र द्विगुणिता वसुलघवः षोडशापि वर्णा लघवोऽर्थाद्भवन्ति, तदचलधृति-रिति वृत्त भवतीति लघ्वन्तेन नगणपञ्चकेनेति फलितोऽर्थ॰ ॥

यथा—

'तरणिदुहितृतटरुचिरतरवसति-
रमरमुनिजनसुखविहितधृतिरिह ।
मुररिपुरभिनवजलधररुचितनु—
रचलधृतिरुदयति सुकृतिहृदि खलु ॥'

'गजतुरगविलसितम्' इति यत्संभावितस्यैव नामान्तरमुक्तम् ॥ उद्दवणिका यथा—ऽ।।, ऽ।ऽ ।।ऽ, ।।।, ।।।, ऽ, १६×४=६४ ॥ ऋषभगजविलसितं निवृत्तम् ॥

अथ चकिताछन्दः—'भात्सभतनगैरष्टच्छेदे स्यादिह चकिता'

इह षोडशाक्षरप्रस्तारे भात्सगणात्तभतनगैः भगणसगणमगणतगणनगणगुरुभि अष्टच्छेदेऽष्टमाक्षरयतिविरामे चकिताख्यं छन्दो भवतीति ॥

यथा—

'दुर्धर्षस्तुहिनगिरिसुतानायकचकिता
यस्य भ्रूपरिभवता यस्या तत्क्षणविगमम् ।
दीव्यति त्रिपुरगणा स्वैरं नन्दनविपिने
गच्छतु शरणं कृष्णं तं भीत्या भवरिपुतः ॥'

उद्दवणिका यथा—ऽ।।, ।।ऽ, ऽऽऽ, ऽऽ।, ।।। ऽ, १६×४=६४ ॥ चकिता निवृत्ता ॥

अथ मदनललिताछन्दः—'म्भौ नो म्नौ गो मदनललिता वेदैः षड्भिः'

यत्र म्भौ मगणभगणौ । अथ च नो नगणः ततो म्नौ मगणनगणौ गुरुश्च प्रथमं चतुर्भिः ततः षड्भिः पुनरपि षड्भिरेव विरतिर्यत्र तन्मदनललिता छन्दः ॥

यथा—

'विभ्रद्दसमाश्रितचिकुरा चोलाम्बरपुटा
मालाकल्पाश्रितकुचयुगोत्कम्पोर्मिततरला ।
राधारूपं मदनललिताम्भोजास्यतनुः
कंसारातेः रविरलमहो चक्रेऽपि विषमम् ॥

उद्दवणिका यथा—ऽऽऽ, ऽ।। ।।। ऽऽऽ, ।।ऽ, ऽ, १६×४=६४ ॥ मदनललिता निवृत्ता ॥

अथ वाणिनी छन्दः—'नजभजरैः सदा भवति वाणिनी गयुक्तैः
नगणजगणभगणजगणरगणैः गयुक्तैर्गुरुसहितैः पञ्चभिर्गणैर्वाणिनीछन्दः ॥

यथा—

'स्फुरतु ममाननेऽद्य ननु वाणि नीतिरम्यं
तव चरणप्रसादपरिपाकतः कवित्वम् ।
भवजलराशिपारकरणक्षमं मुकुन्दं
सततमहं स्तवैः स्तवचितैः स्तवानि नित्यम् ॥

प्रकारान्तरेणोक्तम्—'द्विजवरगणान्वितो गजपतिः श्रिततूर्यगान्करतलपरिस्फुरत्कनककङ्कणेनान्वितः । सुरपतिगुरुश्रिया परिगतः समन्तात्सखे जयति भुवि वृत्तभूपतिरय तु मालाधरः ।'

१७९. मालाधरमुदाहरति—जहा (यथा)

काञ्चिद्दूती कान्तानुनयमनुगृह्णती नायिकामाह—मलयानिलो दक्षिणानिलो वहति । कीदृशः । विरहिणा चेत. सतापयति तादृशः स्तापनः । किंच पिकोऽपि पञ्चमं कूजति । प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् । फुल्लकिंशुक वन विकसित नवपलाश वनमपि विकसितम् । तरूणा पल्लवा अपि तरुणा नवीना जाता । माधवी वासन्ती मल्लिका मधुरातिमनोहराभूत् । अतो हे सखि, नेत्र वितर, अस्मिन्प्राणनाथे यतो माधवसमयोऽय प्राप्त इति ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'कञ्चिदपि वयस्यया सह विनोदमातन्वती कतिपयकथारसैर्नयति वासरीया रुजम् । सुभग तव कामिनी समधिगम्य सा यामिनीमनुभवति यामिनीं मदनवेदनामन्तत. ॥' उद्ववणिका यथा—||||, |S|, S||, |S|, SS, |S, १७ × ४ = ६८ ॥ मालाधरो निवृत्त ॥

अथ सप्तदशाक्षरप्रस्तारे एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते । तत्र प्रथम शिखरिणी छन्दः—[वाणीभूषणे]—

'ध्वज. कर्णौ हारौ द्विजवरगणस्थो रसयुत.
समुद्रो रत्नं च प्रभवति यदा सप्तदशभिः ।
भुजगेन्द्रोद्दिष्टा विबुधहृदयाह्लादजननी
रसै रुद्रैर्यस्या विरतिरिह सैषा शिखरिणी ॥'

यगणमगणनगणसगणभगणलघुगुरुभी रसै रुद्रैश्च कृतयतिः शिखरिणीति फलितोऽर्थः ॥ तदुक्त छन्दोमञ्जर्याम्—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति ॥

यथा—

निविष्टायाः कोपात्सदसि पङ्केरुहदृशः
पदोपान्ते छायामुपनयति मूर्ध्नं प्रणयिना ।
तया चक्षुर्लीलाकमलरजसा दूषितमिति
इत मुक्ता मुक्ताफलपरिणता बाष्पकणिका' ॥'

यथा—

'करादस्य भ्रष्टे ननु शिखरिणी दृश्यति शिशो-
र्विलीनाः स्मः सत्य नियतमवधेय तदखिलैः ।

प्रकारान्तरेणोक्तम्—'द्विजवरगणान्वितो गजपति श्रितनूपुरान्करतलपरिस्फुर-स्कनककङ्कणेनान्वितः । सुरपतिगुरुश्रिया परिगतः समन्तात्सरे जयति भुवि वृत्तभूपतिरय तु मालाधरः ।'

१७६. मालाधरमुदाहरति—जहा (यथा)

काचिद्दूती कान्तानुनयमनुगृह्णती नायिकामाह—मलयानिलो दक्षिणानिलो वहति । कीदृशः । विरहिणा चेत. सतापयति तादृशः स्तापनः । किंच पिकोऽपि पञ्चम कूजति । प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् । फुल्लकिंशुक वन विकसित नवपलाशं वनमपि विकसितम् । तरुणा पल्लवा अपि तरुणा नवीना जाता. । माधवी वासन्ती मल्लिका मधुरातिमनोहराभूत् । अतो हे सखि, नेत्र वितर, अस्मिन्प्राणनाथे यतो माधवसमयोऽय प्राप्त इति ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'क्वचिदपि वयस्यया सह विनोदमातन्वती कतिपयकथारसैर्नयति वासरीया रुजम् । सुभग तव कामिनी समधिगम्य सा यामिनीमनुभवति यामिनी मदनवेदनामन्ततः ॥' उट्टवणिका यथा—।।।।, ।ऽ।, ऽ।।, ।ऽ।, ऽऽ, ।ऽ, १७×४=६८ ॥ मालाधरो निवृत्त. ॥

अथ सप्तदशाक्षरप्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते । तत्र प्रथम शिखरिणी छन्दः—[वाणीभूषणे]—

'ध्वजः कर्णो हारौ द्विजवरगणस्थो रसयुत.
समुद्रो रत्नं च प्रभवति यदा सप्तदशभिः ।
भुजगेन्द्रोद्दिष्टा विबुधहृदयाह्लादजननी
रसै रुद्रैर्यस्या विरतिरिह सैषा शिखरिणी ॥'

यगणमगणनगणसगणभगणलघुगुरुभी रसै रुद्रैश्च कृतयतिः शिखरिणीति फलितोऽर्थः ॥ तदुक्त छन्दोमञ्जर्याम्—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति ॥

यथा—

निविष्टाया कोपाद्रुषदसि पङ्केरुहदृशः
पदोपान्ते छायामुपनयति मूर्ध्नं प्रणयिना ।
तया चक्षुर्लीलाकमलरजसा दूषितमिति
द्रुत मुक्ता मुक्ताफलपरिणता वाष्पकणिका. ॥'

यथा—

'करादस्य भ्रष्टे ननु शिखरिणी दृश्यति शिशो-
र्विलीनाः स्मः सत्य नियतमवधेय तदखिलैः ।

उट्टङ्कणिका यथा—||||, |ऽ, ऽ, ऽऽ, ऽ, |ऽ|, |, ऽ||

यथा वा—

'व्यथित स विधिर्नेत्र नीत्वा भुवं हरिणीगणाद्
व्रजमृगदृशा सदोहस्योल्लसन्नयनश्रियम् ।
यदयमनिशं दूर्वाश्यामे मुरारिकलेवरे
व्यकिरदधिकं मद्धाकाङ्क्षो विलोलविलोचनम् ॥'

यथा वा—'अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे' इत्यादि रघौ ॥ हरिणी निवृत्ता ॥

अथ वंशपत्रपतित छन्दः—'दिङ्मुनि वंशपत्रपतित भरनभनलगैः' ।

यत्र दिक्षु दशसु मुनिषु सप्तसु च विश्रामः, तथा भरनभनलगैः भगणरगण-नगणभगणनगणलघुगुरुभिर्वंशपत्रपतिताख्य छन्दो भवति ॥

यथा—

'नूतनवंशपत्रपतित रजनिजललव
पश्य मुकुन्द मौक्तिकमिवोत्तममरकतगम् ।
एष च त चकोरनिकरः प्रपिबति मुदितो
वान्तमवेत्य चन्द्रकिरणैरमृतकणमिव ॥'

'सम्प्रति लब्धजन्मशनकैः कथमपि लघुनि' इति भारवौ ॥ वंशपत्रपतितेति केचित् । वंशवदनमिति शम्भौ नामान्तरमुक्तमिति ॥ उट्टङ्कणिका यथा—ऽ||, ऽ|ऽ, |||, ऽ||, |||, |, ऽ, $१७ \times ४ = ६८$, वंशपत्रपतित निवृत्तम् ॥

अथ नर्दटक छन्द—'यदि भवतो नजौ भजजलागुरु नर्दटकम्'

यदि प्रथम नजौ नगणजगणौ भवतः, ततो भगणजगणजगणलघवः, अथ च गुरुर्भवति यत्र तन्नर्दटक छन्दः ॥

यथा—

'व्रजवनितावसन्तलतिकाविलसन्मधुपं
मधुमथन प्रणमज्जनवाञ्छितकल्पतरुम् ।
विभुमभिनौति कोऽपि सुकृती मुदितेन हृदा
रुचिरपदावलीघटितनर्दटकेन कविः ॥'

[illegible] यथा—|||, |ऽ|, ऽ||, |ऽ|, |ऽ|, |, ऽ, $१७ \times ४ = ६८$ ॥ यथा [illegible]स्कन्धे—'जय जय जह्यजाम [illegible]पगृहीतगुणाम्' इत्यादि ॥

१३१०७२ भेदाः। तेषु कियन्तो भेदा उक्ताः शेषभेदाः सुधीभिः प्रस्तार्याक-रादुदाहर्तव्याः। इत्यलमतिविस्तरेण ॥

१८०. अथाष्टादशाक्षरप्रस्तारे मञ्जीराछन्दः—

भो. शिष्या', यत्र मन्था मस्तके। आदावित्यर्थः। तत्र त्रयः कुन्तीपुत्राः कर्णा गुरुद्वयात्मकागणा दीयन्त इत्यर्थः। ततः पादे एक हार गुरुततो हस्तः सगणः, तदन्ते दुण्णा कङ्कगु द्विगुणः कङ्कणो गुरुद्वयम्, ततो गन्धयुग्म लघुद्वयं संस्थाप्यते, यत्र पादान्ते भव्याकाराश्चत्वारो हारा गुरवः सज्जीकृताः प्राप्ता यत्र, एतन्मञ्जीरानामक छन्दः शुद्धकायः सर्पराजः पिङ्गलो जल्पतीति ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'आदौ कृत्वा कर्णं कुण्डलयुक्त हारयुग दत्त्वाथो कुर्यात्ताटङ्कं पादे कुरु सन्मञ्जीरयुगाभ्यां युक्तम्। कृत्वा तात कुन्तीपुत्रसमेत वै गुरुयुग्म दत्त्वा मञ्जीरा सा नागाधीशनिदिष्टा राजति सैषा वक्त्रे ॥

१८१. मञ्जीरामुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितपतिका सखीमाह—हे सखि, नीलाकारा मेघा गर्जन्ति। उच्चा-रावा मयूरा· शब्द कुर्वन्ति अतिदीर्घां केकामुच्चारयन्तीत्यर्थः। स्थाने स्थाने पिङ्गदेहा विद्युद्राजते। हाराः स्रज· क्रियन्ते। यतः नीपाः कदम्बा· फुल्लाः। भ्रमरा मधुकरास्तेष्वेव गुञ्जन्ति। किं च दक्षो मारुतो वाति। अतो हहे हञ्जे नीचे कथ क्रियते आगता प्रावृट् कान्तो नागत', अतः क्रीड तावत्। मनोभिल-षितालिङ्गननिधुवनादिक यथा भवति तथाभिसारयास्मिन्नवसरे कचन युवानमिति भावः॥ यथा वा [णीभूषणे]—'प्रौढध्वान्ते गर्जद्वारिदधाराधारिणि काले गत्वा त्यक्त्वा प्राणानग्रे कौलसमाचारानपि हित्वा यन्ती। कृत्वा सारङ्गाक्षी साहसमुच्चै· केलिनिकुञ्ज शून्य दृष्ट्वा प्राणत्राण भावि कथं वा नाथ वद प्रेयस्या. ॥' उट्टवणिका यथा—ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽ, ।।ऽ, ऽ, ऽ, ।, ।, ऽ, ऽ, ऽ, ऽ, १८×४ =७२ ॥ मञ्जीरा निवृत्ता ॥

१८२ अथ क्रीडाचन्द्रछन्द —

भो शिष्या, यत्रेन्द्रासनमादिलघु' पञ्चकलो गणोऽर्थान्यगणः स एवैकः पादे पादे भवति षड्भिर्यगणैः पाद इत्यर्थ। पादे चाष्टादश वर्णा· सुखयन्ति। दण्डा-लङ्कार· स्थाने स्थाने भवन्ति। यत्र मात्राश्च दश त्रिगुणितास्त्रिंशत् पदे भवन्ति तन्मात्राभिर्निबद्धं क्रीडाचन्द्र इति छन्द फणीन्द्र· पिङ्गलो भणतीति विन्त ॥ भूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'ध्वजं चामर गन्धकर्णौ रस· कुण्डलं तोमर च तथा तालताटङ्कतूर्याणि शेषे गुरुद्वन्द्वमत्र। तदा क्रीडया चिह्नित चन्द्रमेतद्भुजगा-धिराज मनःश्रेणिविस्मापक सर्वलोकप्रिय स जगाद ॥'

इमा यस, भ्रवण पद्, भागराभ्रकारा, वैरिरिविशुद्धमित्येव कोकिलकमिति वृत्तं भवेदि। अत्र च विश्रामकृतो भेदः, गणस्तु एवेति विवेकः ॥

यथा—

'लसदलकेदलं मधुरमापनमोदकरं
मधुसमयागमे सरसि कोकिलमिस्तलजितम्।
भविलसितचुवि रविप्रुणापनकोकिलकं
ननु कलयामि तं सखि तथा हृदि नमसुवम् ॥'

उद्दवनिका सैव यतिकृत एव भेदः ॥ कोकिलकं निवृत्तम् ॥

अथ हारिणी छन्दः—'वेदर्तुस्वरैर्यमनमसलागश्चेत्तदा हारिणी'

यदि प्रथमं वेदैः, तत ऋतुभिः, तदनन्तरमश्वैर्विरतिः, अत्र च यमनम सला यगणमगणनगणमगणसगणलघुगुरवः, तदनेन्तो गुरुर्भवति, तदा हारिणी छन्दो भवतीति ॥

यथा—

यस्या नित्यं श्रुतिकुवलये नीलालिनी लोचने
रागः स्वीयोऽधरकिसलये लाक्षारसात्याननम्।
गौरी कान्तिः मधुविरचिव रम्भाद्युदयक्षयता
सा कंसारेरसनि न कथं राधा मनोहारिणी ॥

उद्दवनिका यथा—SSS, SII, III ISS, ISS, I, S १७×४=६८ ॥ हारिणी निवृत्ता ॥

अथ भाराक्रान्ता छन्दः—'भाराक्रान्ता मभनरसला गुरुः श्रुतिरसहयैः।

यत्र मगणभगणनगणरगणसगणलघुपकाः अत्र च गुरुर्वेन श्रुतिरसहयैर्विरतिम यत्र तद्भाराक्रान्ताछन्दः ॥

यथा—

'भाराक्रान्ता मम तनुरियं गिरीन्द्रविधारणा
लक्ष्मं धत्ते भ्रमकलनया यथा परिघूर्णति।
इत्थं गोपमयति कलरवनाकुलमस्तकी
तंसस्तेयो यं स्मरविमर्दितं गुरुं पितरो हरिः ॥

उद्दवनिका यथा—SSS, SII, III SIS IIS, I S, १७×४=६८ ॥ भाराक्रान्ता निवृत्ता ॥

अत्रापि प्रस्तारगत्या अष्टादशाक्षरैर्लघुमेवविधानहेतुसम्भवि दिक्मात्रम

अथाष्टादशाक्षरप्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते। तत्र प्रथमं कुसुमितलतावेल्लिताछन्दः—'स्याद्भूतार्त्वश्वैः कुसुमितलतावेल्लिता म्तौ नयौ यौ'।

यत्र भूतैः पञ्चभिः ऋतुभिः षड्भिः, अश्वैः सप्तभिश्च विश्रामो भवति। अथ च म्तौ मगणतगणौ, अथ च नयौ नगणयगणौ, अनन्तरं यौ केवलौ यगणावेव भवतः। षड्भिर्गणैरष्टादश वर्णाः पदे पतन्ति यत्र तत्कुसुमितलतावेल्लितानामकं छन्दो भवति॥

यथा—

क्रीडत्कालिन्दीललितलहरीवाहिभिर्दाक्षिणात्यै-
वातैः खेलद्भिः कुसुमितलता वेल्लिता मन्दमन्दम्।
भृङ्गालीगीतैः किसलयकरोल्लासितैर्लास्यलक्ष्मीं
तन्वाना चेतो रभसतरलं चक्रपाणेश्चकार॥

उद्दवणिका यथा—SSS, SSI, III, ISS, ISS, ISS, १८×४=७२॥
यथा वा—'गौडं पिष्टान्नं दधि सकृशरं निर्मलं मद्यमम्लम्' इत्यादि वाग्भटचिकित्साग्रन्थे॥ कुसुमितलतावेल्लिता निवृत्ता॥

अथ नन्दनछन्दः—'नजभजरैस्तु रेफसहितैः शिवैर्हयैर्नन्दनम्'

यत्र नगणजगणभगणजगणरगणैः रेफेण रगणेन सहितैरेतैः षड्भिर्गणैः अथ च शिवैरेकादशभिः, ततो हयैः सप्तभिः, विश्रामो यत्र तन्नन्दनमिति छन्दो भवतीति॥

यथा—

तरणिसुतातरङ्गपवनैः सलीलमान्दोलित
मधुरिपुपादपङ्कजरजःसुपूतपृथ्वीतलम्।
मुरहरचित्रचेष्टितकलापसंस्मारकं
क्षितितलनन्दनं व्रज सखे सुखाय वृन्दावनम्॥

उद्दवणिका यथा—III, ISI, SII, ISI, SIS, SIS, १८×४=७२॥
यथा वा—'अकृत धनेश्वरस्य युधि यः समेतमायोधनम्' इति भट्टिकाव्ये॥ नन्दनं निवृत्तम्॥

अथ नाराचछन्दः—'इह ननरचतुष्कसृष्टं तु नाराचमाचक्षते'

भोः शिष्याः, इहाष्टादशाक्षरप्रस्तारे नान्तगणद्वयरगणचतुष्टयाभ्यां सृष्टम्, अथ च दिनकररसविश्रामं छान्दसीया नाराचमित्यचक्षते॥ षोडशाक्षरप्रस्तारे नराचः, अत्र तु नाराचः, इत्यनयोर्भेदः॥

१८३ हीरकच्छन्दमुदाहरति—यथा (यथा)

कस्मिन्नपि वीरहम्मीरस्य भीतसमस्तराजन्यसमनुवर्णयति—अत्र समरभूमिमनिभूता पिशाचाः नृत्यन्ति गायन्ति लसन्ति च कबन्धाननपूर्णकोटरान् भक्षयन्ति। अत्र च शिवानां फेरवाः स्फारमतिदीर्घाः फेत्काररवकाः फेत्कारशब्दमपूरयन्ति मधुरन्ति। अत एव कर्परमपि स्फुटन्ति। किंच कामस्तुष्यति, मन्था मनर्क स्फुटति, कबन्धाः शिरोरहिता वीरा नृत्यन्ति हसन्ति च। अत्र तु कबन्धा नृत्यन्तीति बहुवचनमहिम्ना स्कन्धेनातिभीषणं समरप्रकारसंस्थेति भावः। यत्रौ तत्पात्रीति भयानककरालभूमौ वीरहम्मीरः संग्राममध्ये स्थित्वा युद्धं मर्दयति इत्यर्थः॥ उद्वणिका यथा—ISS, ISS, ISS, ISS, ISS, ISS, १८×४=७२॥ हीरा नाम्नो निवृत्तः॥

१८४ अथ चर्चरी छन्दः—

हे सुन्दरि, यत्रादौ रगणो मध्यलघुको गणो भवति ततो हस्तः स्थाप्यः, ततः शरलो लघुः, तदनन्तरं पादिगुरुकभगणो मध्ये स्थाप्यः, तदनन्तरं शब्दो लघुः, ततो हारो गुरुः ततो त्रिण्यपि हारेण गणरात्रो पततः ततो द्वे पि हारेण भासो लघू ततो हारं गुरुं पूरय। तदनन्तरं शब्दो लघुः, तथा सोमनाः कङ्कणे गुरुरेव अत्र तत्पदलोपविभूषा। समस्तकामनातिप्रसिद्धा। मनोमोहिनी श्रुतिसुखनाम्नचर्चरीना सर्व छन्दो नागराजः पिङ्गलो भणतीति विधि॥ भूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'हारपुष्पभुजङ्गकुण्डलपाणिपयभूषितपक्षिता पादनूपुरसंयता सुरगोभरपयभूषिता। शोभिता करपेन पञ्चमरपिङ्गलवर्णिता चर्चरी तदयं वेदति पाठ्यतीति सुसंगता॥' तस्मिन्पदेऽर्थः स्फुटः॥

१८५ चर्चरीमुदाहरति—यथा (यथा)—

कस्मिन्नपि परमरमणीया काचिदपि कामिनीमनुवर्णयति—यस्याः पादे नूपुरं झणझणायते। कीदृशम्। हंसशब्दसुशोभनम्। यस्याश्चैतस्याः स्थूलस्थोरकम्बीर स्तिनमौक्तिको स्तनयोरमे मनोहरं मुक्तादाम लसति। अपि च वामदक्षिणयोः पार्श्वयोरपि इव नाचति तीक्ष्णमधुरकटाक्षो यस्याः सैषार्थनिधि सुन्दरी यत्र सुकृतिनः पुरुषस्य गेहे भवतीति तादृशमि मेघस्य तावदिति तत्पुरुषवर्णनम् वचसं प्रति कस्यचिद्वचनमिति॥ यथा वा [वाणीभूषणे]— 'शोभिता स्तनकूपिते न गमीषि संप्रति सादरं मन्यसे शिशिरपवनहारिसुगात्रं न सुखाकरम्। दूरमुन्मथि भूषणं शिलराति चन्दनमारके यस्य पुष्पकपीन सुन्दरि मन्दिरं न सुखायते॥ उद्वणिका यथा—SIS, IIS, I, SI, I S, I S, II, S, I, S १८×४=७२॥ चर्चरी निवृत्ता॥

उट्टवणिका यथा—SSS, IIS, ISI, IIS, SSI, IIS, १८×४=७२ ॥ शार्दूलललित निवृत्तम् ॥ अत्रापि प्रस्तारगत्याष्टादशाक्षरस्य लक्षद्वय द्विषष्टि-सहस्राणि चतुश्चत्वारिंशदुत्तर च शत २६२१४१ भेदाः । तेषु कियन्तो भेदाः प्रोक्ताः । शेषभेदा विशालबुद्धिभिराकरात्स्वमत्या वा प्रस्तार्य स्वयमूहनीया इत्यल पल्लवेन ॥

१८६. अथैकोनविंशत्यक्षरप्रस्तारे शार्दूलविक्रीडित छन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र प्रथम मो मगणः, ततः सो सगणः, ततो जो जगण, ततः सो सगणः, ततो जो जगणः, ततोऽपि सगण एव, अनन्तर तगणः, ततः तो तगणः, समन्तगुरवो सम्यगन्ते गुरुर्येषामेव षड्गणा यत्र । अत एवैकोन-विंशतिवर्णाश्चतुःपदे षट्सप्ततिः पतन्ति । किं च पद एकादश गुरवः, अष्टौ लघवः, पदचतुष्टये चतुश्चत्वारिंशद्गुरवो द्वात्रिंशल्लघवः, एतस्य छन्दसः पदचतुष्टयस्य मात्रापिण्डसख्या विंशत्युत्तरशतमात्रात्मिका भणिता । एतदुक्त भवति—चतुश्चत्वा-रिंशद्गुरूणा द्विगुणाभिप्रायेणाष्टाशीतिर्मात्राणा यत्र निष्पन्ना द्वात्रिंशच्च लघवो विद्यन्त एव, सभूयैक (व) विंशत्युत्तरशतमात्रात्मकम् अर्क (१२) मुनि (७) विश्राममिद शार्दूलविक्रीडितमिति साटक पिङ्गलकविर्जल्पति तत् मुणो जानीत इत्यर्थः ॥ अथ चैकस्मिश्चरणे एकादशगुरूणा द्विगुणाभिप्रायेण द्वाविंशतिः कला., लघवश्चाष्टौ, इति सभूय त्रिंशत्कलाः, तच्चतुष्केणापि प्रोक्तैव कलापिण्डसख्या भवतीति यथा—३०+३०+३०+३०=१२० ॥ तथा च छन्दोमञ्जर्याम्—'अर्काश्वैर्यदि म· सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इत्युक्तम् ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'कर्णः कुण्डलसगतः करतल चामीकरेणान्वित पादान्तो रवनूपुरेण कलितो हारौ प्रसन्नोज्ज्वलौ । गुर्वानन्दयुतो गुरुर्यति भवेत्तन्नूनविंशाक्षरं नागाधीश्वरपिङ्गलेन भणित शार्दूलविक्रीडितम् ॥'

१८७. शार्दूलसाटकमुदाहरति—जहा (यथा)—

कर्पूरमञ्जरीसाटके देवीनियुक्ता विचक्षणा राजान श्रावयन्ती वसन्तवर्णनानन्तरं दक्षिणानिलमुपवर्णयति—ये दक्षिणानिला· प्रथम लङ्कागिरिमेखलातस्त्रिकूटा-चलकटकात् स्खलिता. तदनन्तर सभोगेन निधुवनेन खिन्नानासुरंगीणा स्फारोत्फुल्ल-फणावलीकवलनेन पानेन दरिद्रत्वं मन्दत्व प्राप्ता·, त एवेदानीं मधुसमये मलया-निला· विरहिणीना नि·श्वासैः सह संपर्किण सन्त शिशुत्वे सति तारुण्यपूर्णा इव झटिति बहला जाता ॥ उट्टवणिका यथा—SSS, IIS, ISI, IIS, SISI, SSI, S, १९×४=७६ ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'सौमित्रे किमु मृग्यते प्रतिलता-कुञ्ज कुरङ्गेक्षणा इत्येवद्विपिने मनागपि न वा नेत्रातिथिर्मैथिली । एणी निश-

यथा—

दिनकरतनयातटीकानने चारुसंचारिणी
पवननिभृतकुञ्जमेयेषणा कृष्ण राधा त्वयि ।
ननु विकिरति नेत्रनाराचमेवाविलम्बेन
यदिह मदनविभ्रमोद्भ्रान्तचित्ता विपक्षस्य हृदम् ॥

उद्दवणिका यथा—III, III, SIS, SIS, SIS, SIS, १८×४=७२ ॥ यथा वा— 'रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियाम्' इत्यादि रघौ ॥ नाराचो निवृत्तः ॥

अथ चित्रलेखाछन्दः—'मन्दाक्रान्ता यदुगलकटरा कीर्तिता चित्रलेखा'

भोः शिष्याः छन्दःशास्त्रप्रस्तारे तम (न) न्यगणमन्दाक्रान्तायामपि यदि यगणयुगले अर्थात् गुरुद्वयस्थाने । (यस्या) एकैकं कटरं यस्याः । तथा च गुरुद्वयस्थानेऽपि लघुद्वयं स्थाप्यम् । तेन यदुगलकटरा मन्दाक्रान्ताप्रस्तारयुक्तत्वात् तदा सैव चित्रलेखा कीर्तिता । एवं च—मगणभगणनगणयगणयगणयगणैः युग (४) स्वर (७) मुनि (७) भिर्विरचितविरतिश्चित्रलेखेति फलितोऽर्थः ॥

यथा—

यद्वेऽमुष्मिञ्जगति मृगदृशां सारभूतं मृगाक्षी
राधाप्येषा मधुपलतिकामा पेशला सा व्यधायि ।
नैतावन्मेतरणमुखविम्बामन्दरेखाम्बुजस्य
प्रीतं तस्य नयनयुगमभूच्चित्रलेखार्बुदानाम् ॥

उद्दवणिका यथा—SSS, SII, III, ISS, ISS, ISS, १८×४=७२ ॥ चित्रलेखा निवृत्ता ॥

अथ शार्दूलललितं छन्दः— 'मः सो जः सततः दिनेशऋतुभिः शार्दूलललितम्'

भोः शिष्याः, यत्र प्रथमं मगणः, ततः सगणः, ततो जगणः, ततः सतसाः सगणतगणसगणाः भवन्ति । दिनेशैः द्वादशभिः ऋतुभिः षड्भिश्च विरतिश्च तच्छार्दूलललितं छन्दो भवतीति ॥

यथा—

कृत्वा कंसमृगे पराक्रमविधिं शार्दूलललितं
यत्नाद्भे पितृमारणारिषु मुरारातिप्रविहरन् ।
संक्षेपं परमं च दैत्यनिवहं भिल्लाकपुरं
श्रेया नः स तनोतु सर्वदिमा श्रयमीप्सितानाः ॥

काचिदतिनिसृष्टार्थां दूती कामपि प्रोषितपतिकामाह—हे सखि, अमृतकरस्य पीयूषभानोः किरणान्धारयति। ओषधीनाथत्वात्तस्य। तादृश फुल्लबहुकुसुम नानाविधसुरभिप्रसून वनमिद जातमित्युद्दीपनम्। किंच कामोऽप्यवसर प्राप्य कुपितो भूत्वा प्राकृते पूर्वनिपातानियमाद्‌वहङ्क (?) भाषाकृतयमकानुरोधाद्वा विन्यासः। वस्तुतस्तु मदनोऽतिरोषणो भूत्वा शरान्सुलमकुसुमत्वात्कौसुमत्वात्कौसुमानेव बाणान्निजे धनुषि स्थापयित्वा धरइ धारयति। अर्थाद्धनुस्तादृशमायोजितकाण्ड-मण्डलीभूतकोदण्ड निजबाहुदण्डेन धृतवानिति भावः। अपि च पिकोऽपि रवइ रौति पञ्चम कूजतीत्यर्थः। अतोऽय समयो णिक परमरमणीय इत्यर्थः। अतश्च हे सखि, तवापि हृदय किं स्थिरम्। अपि तु स्थिरमिति काका। गमितानि दिनानि न पुनर्मिलन्ति। किं च सखि, प्रियो भर्ता निकटे नास्त्यतः परम सुखमिति भावः। अत एवोक्तमभियुक्तेन—'मेघच्छन्ने दिवसे दुःखचारासु नगरवीथीसु। भर्तुर्विदेशगमने परमसुख जघनचपलायाः॥' इति॥ यथा वा [णीभूषणे]—'अनुपहतकुसुमरस तुल्यमिदमधरदलममृतमयवचनमिदमालि विफलयसि चल। यदपि यदुरमणपदमीश मुनिहृदि लुठति तदपि तव रतिवलितमेत्य वनतटमटति॥' उट्टवणिका यथा—॥ ॥, ॥॥, ॥ऽ, ॥॥, ॥॥, १९×४=७६॥ इति चन्द्रमाला निवृत्ता॥

१९२ अथ धवलाच्छन्दः—

हे युवति, विमलमतिर्वासुकिः पिङ्गलो महीतले करोति धवला धवलाख्य वृत्तमिति। तत्त्व शृणु यत्रादौ हे रमणि, स्थापयित्वा सरसगणान् पदे पदे पतितास्ता-नाह—दिअइ [ति] द्विजगणाश्चतुर्लघुकाश्चतुरश्चतुष्पदे (द्या) फणिपतिः सही सत्य भणति पठतीत्यर्थः। द्विजगणचतुष्टयपाठानन्तरं कमलगणो गुर्वन्तः सगणः कर. पाणिः 'कमल हत्थम्' इत्यत्रैवोक्तत्वात्स देय.। हे सरसमानसे सुमुखि, एवमुक्तप्रकारेण गणसनिवेशो यत्र तद्धवलनामक छन्दः कही कथ्यते इत्यर्थः॥ भूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'द्विजवरगणत्रि (?) तयमिह दि नगणयुगलक विमलवलयमपि च कलय सकलजनसुखम्। फणिपतिवरभणितममलधवलमिह हित विमलकविकुलहृदि वलितमिति भुवि वलितम्॥'

१९३ धवलामुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्स्वयदूती पथिकासक्ता तमाह—तरुणस्तरणिः सूर्यं तपति। धरणी प्रचण्ड-मार्तण्डकरप्रकरसपर्कात्क्षितितलमतितप्तमित्यर्थं.। किंच—पवनः खरो वहति। निकटे जल च नास्ति। महामरुस्थल जनजीवनहरमिद विद्यते मारवं वर्त्मेति शेषः। दिशो हरितोऽपि तिग्ममरीचिनिचयसयोगाच्चलन्तीव। अतो हृदयं कम्पते। अहमेकला वधूः, गृहे च प्रियः स्वामी नास्ति। हे पथिक, शृणु तव मनः

यत्र रसैः षड्भिः, ऋतुभिः षड्भिरेव, अश्वैः सप्तभिः कृतविरतिः, अथ च य्मौ यगणमगणौ, अथ च न्सौ नगणसगणौ, रगणद्वयगुरुयुतौ चेद्भवतस्तदा मेघविस्फूर्जिताछन्दः स्यादिति ॥

यथा—

कदम्बा मोदाढ्या विपिनपवनाः केकिनः कान्तकेका
विनिद्राः कन्दल्यो दिशि दिशि मुदा दर्दुरा दृप्तनादाः ।
निशानृत्यद्विद्युत्प्रसरविलसन्मेघविस्फूर्जिताश्चे-
त्प्रियः स्वाधीनोऽसौ दनुजदलनो राज्यमस्मान्न किंचित् ॥'

यथा वा—

'उदञ्चत्कावेरीलहरिषु परिष्वङ्गरङ्गे लुठन्तः
कुहूकण्ठी कण्ठीरवरवलवत्रासितप्रोषितेभाः ।
अमी चैत्रे मैत्रावरुणितरणीकेलिकङ्केल्लिमल्ली-
चलद्वल्लीहल्लीसकसुरभयश्चण्डि चञ्चन्ति वाताः ॥'

इति राजसकविकृत दक्षिणानिलवर्णनम् ॥ उद्दवणिका यथा—ISS, SSS, III, IIS, SIS SIS, S, १९, X४=७६ ॥ मेघविस्फूर्जिता निवृत्ता ॥

अथ छाया छन्दः—'भवेत्सैवच्छाया तयुगलयुता स्याद् द्वादशान्ते यति'

भोः शिष्याः, सैव मेघविस्फूर्जितैव यदि द्वादशान्ते यदि द्वयान्ते सगणान्त इति यावत् । तत्र रेफयुगस्थाने तयुगलयुता तगणद्वयसहिता । आदेशन्यायेनेति भावः । विरतिश्च सैव । शेषं समानम् । यत्र भवेत्तच्छायानामकं छन्दो भवतीति ॥

यथा—

'अभीष्टं क्षुण्णे यो वितरति लसद्दोश्चारुशाखोज्ज्वल-
स्फुरन्नानारत्नः स्तबकिततनुश्चित्रांशुकालम्बितः ।
न यस्याद्भ्रेश्छायामुपगतवता संसारतीव्रातप-
स्तनोति प्रोत्तापं जयति जगतां कंसारिकल्पद्रुमः ॥

उद्दवणिका यथा—ISS, SSS, III, IIS, SSI, SSI, S १९X४=७६ ॥
छाया निवृत्ता ॥

अथ सुरसाछन्दः—'म्रौ म्नौ यो नो गुरुश्चेत् स्वरमुनिकरणैराह सुरसाम्'

भो शिष्याः, यत्र म्रौ मगणरगणौ, अथ च भ्नौ भगणनगणौ भवतः, ततो यो यगणः, ततो नो नगणः, अनन्तर गुरुश्चेत् । अथ च—स्वरैः सप्तभिः, मुनिभिः सप्तभिः, करणैः पञ्चभिः कृतविश्रामां सुरसामाह नागराज इति शेषः ॥

वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'वरपाणिशोभिसुवर्णकङ्कणरत्नरज्जु-विभूषिता सुपयोधरा पदसङ्गिनूपुररूपकुण्डलमण्डिता। फणिराजपिङ्गलवर्णिता कविसार्थमानसहारिका वरकामिनीव मनोमुदे नहि कस्य सा खलु गीतिका॥' कामिनीपक्षेऽर्थः स्पष्टः॥

१९७ गीतिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कामुकः कामिनीगतभावोद्दीपनाय वसन्तमुपवर्णयन्नाह—हे सुन्दरि, यत्र वसन्ते प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् चारुकेतकीचम्पकचूतमञ्जरीवञ्जुलानि पुष्पितानि। किंच—सर्वदिक्षु किंशुककानने फुल्लनवपलाशवने पानेन तत्तन्मकरन्दास्वादनेन व्याकुला भ्रमरा यत्र दृश्यन्ते। अथ च यत्र गन्धबन्धुः सुगन्धप्रायकत्वात्सुरभिसोदरस्तादृशश्चासौ विशिष्टो बन्धः स्कन्धकविन्यासो यस्य। अत एव वन्धुर उच्चनीचो भूत्वा मन्दमन्द समीरणो मलयानिलो वहति। अतश्चैवविध-मदनमहोत्सवसदनरूपे समये तरुणीजनाः प्रियेण सह केलिकौतुक निधुवनकौतुक तस्य यो लासो विलासस्तल्लग्नमनि तत्कान्तौ लग्ना यत्र तादृशोऽय वसन्तसमयः प्रात'। तस्मात्त्वमपि यथा सुख विहरेति॥ यथा वा [णीभूषणे]—'अलमीशपावकपाकशासनवारिजासनसेवया गमित ननुजन्मकारमजापतिरप्यसेव्यत नो मया। करुणापयोनिधिरेक एव सरोजदामविलोचनः स पर करिष्यति दुःखशोषमशेषदुर्गतिमोचनः॥' यथा वा अन्थान्तरस्थमुदाहरणम्—'करतालचञ्चलकङ्कणस्वनमिश्रणेन मनोरमा रमणाय वेणुनिनादलङ्गिमसङ्गमेन सुखावहा। बहलानुराग निवासरासमुद्भवा भवरागिणं विदधौ हरिं खलु बल्लवीजनचारुचामरगीतिका॥' 'अथ सालतालतमालवञ्जुलकोविदारमनोहरा—' इत्यादि शिको (?) काव्ये॥ उट्टवणिका यथा—॥ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ॥, ऽ।ऽ, ॥ऽ।ऽ, २०×४=८०

॥ गीतिका निवृत्ता॥

१९८ अथ गण्डकाच्छन्दः—

हे मुग्धे, यत्रादौ रगणो मध्यलघुर्गणः पतति, पुनर्नरेन्द्रो जगणः कान्तोऽतिसुन्दर', ततः सुष्ठु एवभूतो (तेन) रगणादिजगणान्तेन षट्केन सह हारमेक गुरु देहि। तदनन्तर सुतक्षण स्वशक्त्या निजकवितासामर्थ्येन सुशब्द लघु पादे कुरु। तदेतद्रूकशङ्कश्र खलया गुरुलघुशृङ्खलाबन्धक्रमेण फणीन्द्रः पिङ्गलो गण्डकाभिधानमिति छन्दो गायति (णय) यत्र पादे गुरुदशकद्वैगुण्येन लघुदशकेन त्रिंशन्मात्रा पतिताः। अत्र च हारशब्दाभ्या ए एकः तीव्रमाव त्रिकलभागः आउ आगत इत्यर्थ'। यदि च त्रिकलाना सामस्त्येन संख्या क्रियते तदा दशत्रिकलैरादिगुरुकैरेव गण्डका निष्पाद्यत इति भावः॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्त

यत्र सप्तभिरश्वैः सप्तभिरेव, ततश्च षड्भिर्विरतिः, अथ च मगणरगण-गणनगणयगणा., ततो ग्लौ भगणलघू ततश्चान्ते गुरुर्यत्र सा सुवदना ज्ञेया ॥

यथा—

प्रत्याहृत्येन्द्रियाणि त्वदितरविषयान्नासालननयना
त्वा ध्यायन्ती निकुञ्जे परतरपुरुषं हर्षोत्फुल्लपुलका ।
आनन्दाश्रुप्लुताक्षी वसति सुवदना योगैकरसिका
कामार्तिं त्यक्तुकामा ननु नरकरिपो राधा मम सखी ॥

उट्टवणिका यथा—SSS, SIS, SII, III, ISS, SII, I, S, २०×४ =८० ॥ सुवदना निवृत्ता ॥

अत्रापि प्रस्तारगत्या विंशत्यक्षरस्य दशलक्षमष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि पट्सप्तत्युत्तराणि पञ्च शतानि १०४८५७६ भेदा भवन्ति । तेषु विस्तरभीत्या कियन्तो भेदा भवन्ति । शेषभेदास्तु सुबुद्धिभिराकरात्स्वमत्या वा प्रस्तार्य सूचनीया इति दिक् ॥

२००. अथैकविंशत्यक्षरप्रस्तारे स्रग्धराच्छन्दोऽभिधीयते—

भोः शिष्याः, यत्र प्रथमं द्वौ कर्णौ गुरुद्वयात्मकौ गणौ, ततो गन्धो लघुः, ततो हारो गुरुः, ततो वलयो गुरुः, ततो द्विजगणश्चतुर्लघ्वात्मको गण., ततो हस्तः सगणः, ततो हारो गुरुः पतति, तत एकल एको लघुः, शल्यो लघु, अनन्तरं कर्णः, ततो ध्वज आदिलघुस्त्रिकलसस्त्सहितः, ततः कङ्कणो गुरुरतिकान्तोऽन्ते यस्य एवमेकाधिका विंशतिर्वर्णाः पदे यत्र तत्र विवेक.—लघवो नव, द्वादश दीर्घा गुरवो भवन्ति । एतेन गुरुद्वैगुण्येन चतुर्विंशतिः, अथ च—नव लघव सभूय त्रयस्त्रिंशन्मात्राः पदे तत्पिण्डो द्वात्रिंशदधिकशतमात्रको यत्र (यथा) सा शुद्धा स्रग्धरानामक वृत्त भवतीति फणिपति पिङ्गलो भणतीति ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम् 'कर्णं ताटङ्कयुक्तं वलयमपि सुवर्णं च मञ्जीरयुग्मं पुष्पं गन्धं वहन्ती द्विजगणरुचिरा नूपुरद्वन्द्वयुक्ता । शङ्खं हारं दधाना सुललितरसनारूपवत्कुण्डलाभ्यां मुग्धा केषां न चित्तं तरलयति बलात्स्रग्धरा कामिनीव ॥' कामिनीपक्षेऽर्थः स्पष्टः ॥ छन्दोमञ्जर्यां तु 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इत्युक्तमिति ॥

२०१ स्रग्धरामुदाहरति—जहा (यथा)—

कर्पूरमञ्जरीसाटकस्य नान्दीपाठकस्य वचनम्—ईर्ष्यारोषप्रसादप्रणतिषु स्वर्गङ्गाजलैरामूलं बहुशो मुहुः पूरितया तुहिनकरकलारूप्यशुक्त्या शिरसि निहितं ज्योत्स्नामुक्ताफलयुक्तं द्वाभ्यामग्रहस्ताभ्यां शीघ्रमर्घ्यं ददद्रुद्रः शिवो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यन्वय ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'अन्त्रप्रोतास्थिमालावलयविलसद्वाहु-

दण्ड प्रचण्ड। वेगप्लावोत्सङ्गुद्वर्तितबहिर्विवरस्फारफराटोपकण्ठा । कुर्वन्तो धर्मं सुप्तजगदनवसदर्परप्लावनमुच्चैरतत्त्वैरेषमाद्रेर्विसृपति च शिरः कन्दुकक्रीडितानि ॥' उद्वर्णिका यथा—SS, SS, I, S, S, IIII, IIS, S, I, SS, IS, S २१×४=८४ ॥ यथा वा ग्रन्थान्तरस्थमुदाहरणम्— 'माद्यद्दिग्नागकुम्भ कनक पत्रकदलीस्थितायां सुरागा यैरैरावणस्य भ्रमरीतमितिघिकुरा धारकार्त्तस्वरा । प्रस्फुट धरणस्थानिमुखिलजगद्वस्तसप्तीभिर्लसन्ती मूर्तिगोपरम विष्णोरवतु जगति वः सम्पराहाविधाय ॥' सग्धरा निवृत्ता ॥

१ २ अथ नरेन्द्रच्छन्दः—

मेरः शिष्याः, यथादौ पादगस्थे भगणः प्रकटितो भवति, ततो योदशो रगणः रचनान्ते, ततः भारती लघुः, ततः शब्दो लघुः, ततो गन्धो लघुरेव, एवं मुनिगण चतुर्लघुको गणः, ततः पङ्कजो गुरुरेव क्रियते, ततः शब्दो लघुरेवं यत्र तत्र सत्यम्, ततो नरपतिर्भगणश्चलति, ततः सुमनः शङ्खो लघुः पूर्वगम् ततश्चामर युग्मं गुरुद्वयमन्ते यत्र प्रकटितम् एतन्नरेन्द्राख्यं छन्दः कुरु इत्यर्थः ॥ अथ च— यदा नरपतिश्चलति तदैवस्य भवति । यथा पूर्वं गजाः प्रचरन्ति, ततः पादचारिणो भवति, तदनन्तरं गन्धस्य कर्पूरागुरुसारादेर्दर्शनम्, तदनन्तरं गन्धस्य कर्पूरागुरुसारादेर्दर्शनम्, तदनन्तरं चक्रवारिभूषणं प्रसन्नेन नरेन्द्रेण महावीरेभ्यो दीयते इत्यादि वाद्यध्वनिविशेषकल्पोऽर्थे यथायुक्तं योजनीयं सुमतिभिरित्युपरम्यते ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'चामररञ्जरत्नुखरपरिगतविगलन्मारितरोमाः पार्थिवयुधि- पुष्पयुगविरचितकङ्कणगतमन्त्रः । चारु सुवर्णकुण्डलसुपञ्चलितरोचिरलं कृतकर्णः पिङ्गलपन्नगेश इति निगदति राजति छन्दनरेन्द्रः ॥

१ ३ नरेन्द्रमुदाहरति—यथा (यथा)—

यमितयोषितपतिका निगदतीत्याह—हे सखि, पुष्पितं किंशुकम् । चम्पकमपि तथा प्रकटितं विकसितमित्यर्थः । चूता आम्राश्च मञ्जर्यां वेष्टिता जातमञ्जरीका जाता इत्यर्थः । किञ्च दक्षिणो वायो मन्दमन्दनिलः शीतो मृत्युं प्रभवति । अतः कान्ते विप्रयोगिनीहृदयम् । अथ च कैतकीपुष्पिता सर्वदिक्षु प्रसृता । अतः पीत सर्वेत्ये माधवे इत्यादिसमस्तवार्तो वसन्त आगतः । अतः अतरमास्यति किं करिष्यामि कथं वा नेष्यामि दिवसानेतान् । कान्ता पार्श्वे न तिष्ठति ॥ यथा वा [पीयूष्ये]—'गङ्गाम्बोपानपरमधुकरगीतमनोज्ञतारा पवनमनाहरवाद्यपरस्त- नमनमनलस्मरागा । मलयभवसमपुष्पकुसुमपरसुधीकवानुरक्ता किं करवाणि सखि मम सहचरि वनिनिपिमेति वसन्तः ॥ उद्वर्णिका यथा—SII SI, । । । IIII, S, । ISI I, । SS, २१×४=८४ ॥ नरेन्द्रो निवृत्तः ॥

अथास्मिन्नेव प्रस्तारे ग्रन्थान्तरात्सरसीछन्दो लक्ष्यते—'नजभजजाजरौ यदि तदा गदिता सरसी कवीश्वरैः'।

यत्र नगणजगणभगणजगणजगणा भवन्ति। अथ च जरौ जगणरगणौ भवतो यदि तदा कवीश्वरैः सा सरसी गदिता। तन्नामकं छन्द इत्यर्थः॥

यथा—

चिकुरकलापशैवलकृतप्रमदासु लसद्रसोर्मिषु
स्फुटवदनाम्बुजासु विकसद्भुजवालमृणालवल्लिषु।
कुचयुगचक्रवाकमिथुनानुगतासु कलाकुतूहली
व्यरचयदच्युतो व्रजमृगीनयनासु विभ्रमम्॥

यथा वा—'तुरगशताकुलस्य परितः परमेकतुरगजन्मनः प्रमथितभूभृतः प्रतिपथं मथितस्य भृशं महीभृता। परिचलतो बलानुजबलस्य पुरः सततं धृतश्रियश्चिरगलितधियो जलनिधेश्च तदाभवदन्तरं महत्॥' इति माघे॥ उद्दवणिका यथा—।।।, ।ऽ।, ऽ।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ, २१×४=८४॥ इदमेव ग्रन्थान्तरे 'सिद्धकम्' इति नामान्तरेणोक्तम्॥ सरसी निवृत्ता॥ अत्रापि प्रस्तारगत्यैकविंशत्यक्षरस्य नवलक्षं सप्तनवतिसहस्राणि द्विसमधिकपञ्चाशदुत्तरं च शतं २०९७१५२ भेदा भवन्ति। तेषु भेदत्रयं प्रदर्शितम्। शेषभेदाः सुधीभिः स्वबुद्ध्या प्रस्तार्य सूचनीया इति दिक्॥

२०४ अथ द्वाविंशत्यक्षरप्रस्तारे हंसीछन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र विद्युन्मालाया वसु (८) गुरुचरणायाः पादपाते सति त्रयो द्विजगणाश्चतुर्लघ्वात्मकगणाः, तथा बहुगुणयुक्ताः पतन्तीत्यर्थः। तस्यान्ते वसुगुरुद्विजगणत्रयान्ते कर्णेन द्विगुर्वात्मकेन गणेन शुद्धौ वर्णौ यत्र यत्र च पदे पदे प्रतिपदं गुरुदशकद्वैगुण्येन विंशतिः (२०) द्विजत्रयाणां (१) दिनकर (१२) लघवः संभूय द्वात्रिंशन्मात्राः प्रकटिताः। एवं यत्र गुरूणां लघूनां प्रकटितशोभा (शोभा) स (त) देतद्धंसीनामकं छन्दः सकलबुधजनमनोहरणे मोहा मोहरूपं पण्डितजनमनोविस्मायकमिदं गुणयुक्तं कविवरः फणिपतिर्भणतीति जानीत॥ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'यस्यामष्टौ पूर्वे दीर्घास्तदनु कमलमुखि दिनकरसंख्या ह्रस्वा वर्णाः पीनोत्तुङ्गस्तनभरविनमितसुभगशरीरे। दीर्घौ त्वत्या लीलालोले यतिरिह विरमति कुलगिरिपष्ठैर्द्वाविंशत्या वर्णैः पूर्णा प्रभवति कुसुममृदुलतरहंसी॥' छन्दोमञ्जर्यामपि—'मौ गौ नाश्चत्वारो गो गो भवति वसुभुवनयतिरिह हंसी।' यत्र मौ मगणद्वयम्, अथ च गौ गुरुद्वयम्, तदनन्तरं चत्वारो ना नगणचतुष्टयमित्यर्थः। ततश्च गो गो गुरुद्वयमेव यत्र भवति। यतिस्तु प्रथमं वसुष्वष्टसु ततो भुवनैश्चतुर्दशभिर्भवतीति विश्रामभेदेनोक्तम्॥

गुरुत्रयमित्यर्थः । ततः पहिल्ली प्रथम शल्यमेव लघुमेव स्थापय स च शल्यो लघुः चमरहिहिल्लौ चमरगुरू मिलित्वैतदग्रे गुरुर्भवतीत्यर्थः । ततः सल्लजुअ शल्ययुगं लघुद्वयमित्यर्थः । पुनर्यत्र वङ्क ठिआ वक्रो गुरुः स्थितः । ततः पदे पदे प्रतिपदमन्ते हस्तगणः सगणः प्रमण्यते । एव त्रयोविंशतिर्वर्णाः पादे यत्र प्रमाणीकृताः । तदेतन्मात्राभिर्वर्णैश्च प्राप्त सुन्दरीनामकं छन्दो भणितमशेषैः कविभिः प्रभण्यते. भवत्सु कथ्यते इत्यर्थः ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—'करसङ्गि सुवर्णद्वयवलया-ताटङ्कमनोहरशङ्खधरा कुसुमत्रयराजच्छ्रवणविलोलकुण्डलमण्डितरत्नधरा । भुजसमतकेयूरलघुविलासा पिङ्गलनागसमालपिताकिल सुन्दरिका सा भवति तदा पद्मावतिका कविराजहिता ॥'

२०७. सुन्दरीमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कविर्दशावताररूपेण विष्णु स्तुवन्मङ्गलमभिनन्दति—येन विरचित-मीनशरीरेण प्रलयजलधिमध्यतः पङ्कजनासुराद्वेदाः समुद्धृताः, येन च कृतकूर्मरूपेण पिट्ठिहि पृष्ठेन महीमण्डल भूमण्डल विधृतम् । किंच येन विधृतसूकररूपेण दन्ताभ्या मेदिनीमण्डलमुद्धृतम् । येन च विरचितनरहरिरूपेण रिपोर्हिरण्यकशि-पोर्वक्षो विदारितम् अथच येन कृततनुधारिणा कृतवामनशरीरेण शत्रुर्बलिर्नेद्ध्वा पाताले धृतः । अपिच प्राकृते पूर्वनिपातानियमात्क्षत्रियकुल येन धृतनामदग्न्य विग्रहेण तापि (कम्पि) तम् । येन च विरचितरामावतारेण दश मुखानि दशमु-खस्य कर्तितानि । खण्डितानीत्यर्थः । येन च कृतरामकृष्णावतारेण कंसकेशिनोर्वि-नाशः कृतः । येन च धृतबुद्धशरीरेण करुणा दया प्रकटिता । येन च कृतकल्कि-रूपेण म्लेच्छा विलापिता विलीनाः कृताः । स नारायणो युष्मभ्य वरमभिलषितफल ददात्विति ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'शरदिन्दुसमानं व्यपगतमानं गायति दिक्षु तवैव यश. स्वरसामुनिदेवी विगलितनीवीकामकलाविकला बहुशः । पृथुवेपथुयुक्ता स्नगदविमुक्ता स्वेदकलावलिमुग्धमुखी धरणीरमयेन्दो विकसदमन्दोदारसभासवर्ति-मुखी ॥' उट्टवणिका यथा—॥ऽ, ॥ऽ, ऽ॥, ॥, ऽऽऽ, ।, ।ऽ, ऽ।, ऽ, ॥ऽ, २३×४=९२ ॥ सुन्दरी निवृत्ता ॥

अथास्मिन्नेव प्रस्तारे ग्रन्थान्तरादद्रितनयानामक वृत्तमुच्यते—'नजभजसा जभौ लघुगुरू बुधैस्तु गदितेयमद्रितनया'

यत्र नगणजगणभगणजगणभगणा भवन्ति । अथ च जभौ जगणभगणौ, अथ च लघुगुरू भवत. साद्रितनया निगदिता । तन्नामकं छन्द इत्यर्थः ॥

२०८. यथा—

खरतरशौर्यपावकशिखापतङ्गनिभमग्नदसदनुजो
जलधिसुताविलासवसतिः सता गतिरशेषमान्यमहिमा ।

१३६ ॥ ४२×४=१६८ ॥ मात्राप्रस्तारे एकस्य कथनाद्द्वितीय त्रिभङ्गीवृत्त निवृत्तम् ॥

२१४ अथ शालूरछन्दः—

हे मुग्धे, यत्रैकः कर्णो गुरुद्वयात्मको गणः प्रथम (पतितः) द्विजाश्चतुर्लघुका गणा, सरसपदाः ध्रुव निश्चित पदेषु पतिताः। ततः स्थापयित्वा कर गुर्वन्त सगण हे मनोहरणि हे रजनीप्रभुवदने चन्द्रानने, हे कमलदलनयने, तत् वरमतिसुन्दर शालूरनामक छन्द. सुतरा भणितम्। छान्दसिकैरित्यर्थः। तव पदे मात्रानियममाह—पउ पदे द्वात्रिंशत् (३२) मउ मात्राः हु खलु ठव स्थापय। वर्णाः प्रत्यक्षा एव। प्रकारान्तरेणोद्दवणिकामाह—पअलिअ इति। तह अ तथा च करतल सगण प्रकटित इति प्राकट्यमवसान लक्षयति। तथा च सगणोऽन्ते। तन्मध्ये द्विजगणाश्चतुर्लघुकाः। तान्विशिनष्टि—मात्राभिवर्णैश्च सुतरा ललिता मनोरमाः। चउकल चतुष्कलाः छउ षट् किअ कृताः कविवरेण पिङ्गलेनेति। यत्र च दिणअरसु दिनकरमूः कर्णो द्विगुर्वात्मको गणः अअ आदौ पअ पतितः। एवमुक्त भवति—चतुष्कला' षड्गणा मध्ये, आदौ कर्ण', अन्ते सगणो यत्र तच्छालूरनामक छन्द इति ॥ वाणीभूषणे तु—'कर्णद्विजवरगणतृ (त्रि १) तयनगणमिह रचय ललितमतिकुसुमगण नारीगणकलितकलितशरकुसुमसुवनककुसुमचरकृतरसनम्। नागाधिपतिगदितमिति च परिमुषितसकलकविनृकुलमतिरुचिरं शालूरममलमिह कलय कमलमुखि मुषितविबुधजनहृदयवरम् ॥'

२१५. शालूरमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वसन्तलक्षणेन प्राप्त सुरभिसमयमुपवर्णयति—यत्र फुल्ल कमलवनम्, पवनः समीरणो लघु मन्द वहति, भ्रमरकुल दिक्षु विदिक्षु भ्रमति। किञ्च वने झंकारः पतति। यत' कोकिलगण पिकप्रकरो विरहिगणाना मुखे समुखेऽतिविरम यथा स्यात्तथा रौति। कूजतीत्यर्थः। यत्र च आनन्दिता युवजनाः। उल्लसित रमणान्मनो यस्मिन्नेवविधः। सरसनलिनीदलकृतशयनः कुसुमसमय आगतो वने शिशिरर्तु' फल्लहु प्रत्यावृत्तः। अत एव वसन्तसमयारम्भाद्दिवसा दीर्घा जाता इति ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'गोवर्धनगिरिधरमुपचितदितिसुतपरमहृदयमदशमनकर व्यर्थीकृतजलधरगुरुवरत्र (पं १) णभरगतमयनिजकुलदुरितहरम्। नन्दालयनिवसनकृतवनविलसनविहितविविधरसरभसपर सवीतवसनधरमरुणकरचरणमनुसर सरसिजनयनधरम् ॥' उद्दवणिका यथा—ऽऽ, ।।।।, ।।।।, ।।।।, ।।।।, ।।।।, ।।।।, ।।ऽ, २६×४=११६ ॥ शालूरो निवृत्त. ॥

३६ ॥ ४२×४=१६८ ॥ मात्राप्रस्तारे एकस्य कथनाद्द्वितीय त्रिभङ्गीवृत्तं निवृत्तम् ॥

२१४. अथ शालूरछन्दः—

हे मुग्धे, यत्रैकः कर्णो गुरुद्वयात्मको गणः प्रथम (पतितः) द्विजाश्चतुर्लघुका गणा, सरसपदाः ध्रुव निश्चित पदेषु पतिताः। ततः स्थापयित्वा कर गुर्वन्त सगण हे मनोहरणि हे रजनीप्रभुवदने चन्द्रानने, हे कमलदलनयने, तत् वरमतिसुन्दर शालूरनामकं छन्दः सुतरा भणितम्। छान्दसिकैरित्यर्थः। तव पदे मात्रानियममाह—पउ पदे द्वात्रिंशत् (३२) मउ मात्राः हु खलु ठव स्थापय। वर्णाः प्रत्यक्षा एव। प्रकारान्तरेणोट्टवणिकामाह—पअलिअ इति। तह अ तथा च करतल सगण प्रकटित इति प्राकट्यमवसान लक्षयति। तथा च सगणोऽन्ते। तन्मध्ये द्विजगणाश्चतुर्लघुकाः। तान्विशिनष्टि—मात्राभिर्वर्णैश्च सुतरा ललिता मनोरमा। चउकल चतुष्कला' छउ षट् किअ कृताः कविवरेण पिङ्गलेनेति। यत्र च दिणअरमु दिनकरभूः कर्णो द्विगुर्वात्मको गणः अअ आदौ पत्र पतितः। एवमुक्त भवति—चतुष्कलाः षड्गणा मध्ये, आदौ कर्ण', अन्ते सगणो यत्र तच्छालूरनामक छन्द इति ॥ वाणीभूषणे तु—'कर्णद्विजवरगणतृ (त्रि १) तयनगणमिह रचय ललितमतिकुसुमगण नारीगणकलितकलितशरकुसुमसुवनककुसुमवरकृतरसनम्। नागाधिपतिगदितमिति च परिमुषितसकलकविनृकुलमतिरुचिर शालूरममलमिह कलय कमलमुखि मुषितविबुधजनहृदयवरम् ॥'

२१५. शालूरमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वसन्तलक्षणेन प्राप्त सुरभिसमयमुपवर्णयति—यत्र फुल्ल कमलवनम्, पवनः समीरणो लघु मन्द वहति, भ्रमरकुल दिक्षु विदिक्षु भ्रमति। किंच वने झङ्कार' पतति। यत' कोकिलगण. पिकप्रकरो विरहिगणाना मुखे समुखेऽतिविरस यथा स्यात्तथा रौति। कूजतीत्यर्थ.। यत्र च आनन्दिता युवजनाः। उल्लसित रभसान्मनो यस्मिन्नेवविधः। सरसनलिनीदलकृतशयनः कुसुमसमय आगतो वने शिशिरर्तु' पल्लहु प्रत्यावृत्त'। अत एव वसन्तसमयारम्भाद्दिवसा दीर्घा जाता इति ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'गोवर्धनगिरिधरमुपचितदितिसुतपरमहृदयमदशमनकरं व्यर्थीकृतजलधरगुरुतरर (पं १) णमरगतभयनिजकुलदुरितहरम्। नन्दालयनिरसनकृतननिलसनविहितविविधरसरभसपरं सवीतवसनधरमरुणकरचरणमनुसर सरसिजनयनधरम् ॥' उट्टवणिका यथा—ऽऽ, ।।।।, ।।।।, ।।।।, ।।।।, ।।।।, ।।।।, ।।ऽ, २६×४=११६ ॥ शालूरो निवृत्त ॥

यदि नगणद्वयान्तरमेत्र प्रतिचरण विवृद्धरेफाः क्रमात् समधिकरगणास्तदा अर्ण—अर्णव—व्याल—जीमूत—लीलाकर—उद्दाम—शङ्खादयो दण्डकाः स्युरिति । एतेन नगणयुगलवसुरेफेणार्णः । ततः परे क्रमाद्रगणवृद्ध्या ज्ञेयाः । आदि-शब्दादन्येऽपि रगणवृद्ध्या स्वबुद्ध्या नामसमेता दण्डका विधेया इत्युपदिश्यते ॥

तत्रार्णो यथा—

जय जय जगदीश विष्णो हरे राम दामोदर श्रीनिवासाच्युतानन्त नारायण
त्रिदशगणगुरो मुरारे मुकुन्दासुरारे हृषीकेश पीताम्बर श्रीपते माधव ।
गरुडगमन कृष्ण वैकुण्ठ गोविन्द विश्वंभरोपेन्द्र चक्रायुधाधोक्षज श्रीनिधे
बलिदमन नृसिंह शौरे भवाम्भोधिघोरार्णसि त्व निमज्जन्तमभ्युद्धरोपेत्य माम् ॥

उट्टवणिका यथा, ।।।, ।।।, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ३०×४=१२० ॥ अर्णो निवृत्त. । एवमन्येऽपि क्रमाद्रेफविवृद्धचरणं दण्डकाः समुन्नेया इति ॥

अथ प्रचितको दण्डकः—'प्रचितकसमभिधो धीरधीभि' स्मृतो दण्डको नद्वयादुत्तरैः सप्तभिर्यैः' ।

नगणद्वयादुत्तरैः सप्तभिर्यैर्यगणैर्धीरधीभिः सप्तविंशतिवर्णात्मकचरणः प्रचित-काख्यो दण्डकः स्मृतः ॥

यथा—

मुरहर यदुकुलाम्भोधिचन्द्र प्रभो देवकीगर्भरत्नत्रिलोकैकनाथ
प्रचितकपट सुरारिव्रजोद्दामदन्तावलस्तोमविद्रावणे केसरीन्द्र ।
चरणनखरसुधाशुच्छटोन्मेषनि.शेषितध्यायिचेतोनिविष्टान्धकार
प्रणतजनपरितापोग्रदावानलच्छेदमेघ प्रसीद प्रसीद प्रसीद ॥

उट्टवणिका यथा—।।।, ।।।, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, २७×४=१०८ ॥ प्रचितको निवृत्त. ॥

अथाशोकपुष्पमञ्जरीदण्डकः—'यत्र दृश्यते गुरो परो लघुः क्रमात्स उच्यते बुधैरशोकपुष्पमञ्जरीति' ।

यत्र गुरो. पर. क्रमाल्लघुर्दृश्यते रगणजगणक्रमेण रगणान्त नवगणा लघ्वन्ता वसुलोचनवर्णाश्चरणे दृश्यन्ते यत्रासावशोकपुष्पमञ्जरीति नाम दण्डको बुध-रुच्यते इति ॥

यथा—

मूर्ध्नि चारुचम्पकस्रजासलीलवेष्टन लसल्लवङ्गचारुचन्द्रिका कचेषु
कर्णयोरशोकपुष्पमञ्जरीवतसको गलेऽतिकान्तकेसरोपकॢप्तदाम ।

अथ सवैया छन्दः—

> कुरइ मग्ग पम्मदि विरइ भग पद्मदिस पाए पाम,
> सोलहपञ्चदहाहि बर विरइ अन्तर अन्तर ठाए ठाए।
> जोत्तीसा स मत्त मणिज्जइ पिङ्गल जम्पइ कुम्मु सार
> अन्त अ लहुभ लहुअ दिअणु णाम सवैआ छन्द भग्गार ॥

म्लेः शिष्याः, पञ्चभिरु द्वय पोडश मात्राः प्रथमं विरइ कीजिए। एतेन प्रथमा विरतिः षोडशमात्रासु कर्तव्येत्यर्थः। पादे पादे प्रतिपादमेतेर्नि- रागमात्राः। तेन द्वितीया विरतिः पञ्चदशमात्रासु विधातव्येति ध्येयः। अत एव षोडशपञ्चदशाभ्यां यदि विरतिः क्रियते अन्तरान्तरा स्थानस्थित्या विरतिमिति परिज्ञात्। समुदितमात्राएँस्यामाह—चतुर्तिंशत्सुतरं शतं मात्रा मन्यन्ते मत वरि कुरारेकुरुबम्भु धारं सारभूतमपारं नानाकविसंप्रदायविहितम्, अन्ते च लघुकं लघुकं निक्रमेन दत्वा सवैयानामकं छन्दो भवतीति॥ इदमेवोदाहरणम्। नाना कविमन्दिकृतं वा प्रोक्तमवायं संथाय्यं (?) समुदाहर्तव्यमिति उद्वणिका यथा— SIISIIIIISII १६ + SIISIISSSI १५ = ३१ × ४ = १२४ ॥ सवैआ निवृत्ता॥

अथ प्राकृतसूत्रेण [वर्णवृत्त] प्रोक्तानां वृत्तानां नामान्यनुक्रमति—

एतानि पञ्चाधिकपञ्चदशाणि सर्वाणि स्थानकं कृत्वा व्याख्यातानीति। अन्यान्यपि प्रस्तारगत्या लक्षणरूपा सुधीभिरुक्तानि छन्दांसीत्युपरम्यते॥

अथ अन्यान्यप्रदण्डकलक्षणानि सोदाहरणान्युच्यन्ते—'यदिहनयुगलं ततः सप्तरेफास्तदा चण्डवृष्टिप्रपातो भवेद्दण्डकः'।

यदि नगणयुगलानन्तरं सप्त रेफाः सप्त रगणा यदि भवन्ति। तदा चण्ड वृष्टिप्रपातो नाम दण्डको भवतीति। प्रथमं 'दण्डको नीरा— इति पिङ्गलसूत्रे भट्टहलायुधेनाभ्यधायि (?)।

यथा—

> मलयपवनपथमहारम्भैव्याली चण्डवृष्टिप्रपाताकुलं गोकुलं
> तदिह समवलोक्य सप्तेन हस्तेन गोवर्धनं नाम शैलं दधज्ज्ञिलया।
> कमलनयन रक्ष रक्षेति गर्भावताममुग्धमधौ पाञ्चनाभिर्गिरो
> गतहरिमिनयपरागधाराभिरविक्षरागेणु मुरारीरवेत्सु मनोहारव वा॥

उद्वणिका यथा, III, III, SIS, SIS, SIS, SIS, SIS, SIS, SIS, २७ × ४ = १०८ ॥ चण्डवृष्टिप्रपातो निवृत्तः॥

अथार्णवः—'प्रतिचरणविवृद्धरेफाः स्युरर्णार्णवव्यालजीमूतलीलाकरोद्दामशङ्खादयः।

यथा—

उदेत्यसौ सुधाकरः पुरो विलोकयाद्य राधिके विजृम्भमाणगौरदीधिती
रतिस्वहस्तनिर्मितः कलाकुतूहलेन चारुचम्पकैरनङ्गशेखरः किमु ।
इति प्रमोदकारिणीं प्रियाविनोदलक्षणा गिर समुद्गिरन्मुरारिरद्भुता
प्रदोषकालसङ्गमोल्लसन्मना मनोजकेलिकौतुकी करोतु वः कृतार्थताम् ॥

उद्दवणिका यथा— ।ऽ।, ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽऽ।, ऽ।ऽ, ।ऽ।, ऽ।ऽ, २८×४=११२ ॥ अत्र चरणत्रये पादान्तगुरोर्विकल्पेन लघुत्वं ज्ञेयमित्यनङ्गशेखरो निवृत्तः । इति दण्डकाः ॥

अथार्धसमवृत्तान्युदाह्रियन्ते—तत्र चतुष्पदी पद्यम् । तद्द्विविधम् । वृत्त-जातिभेदेन । तदप्यक्षरसङ्ख्यातं वृत्तम् । मात्रासङ्ख्याता जातिरिति द्विविधम् । तद्वृत्त पुनस्त्रिविधम् । समार्धसमविषमभेदेनेति । तत्र सम समचतुश्चरणम् । अर्धसम च यस्य प्रथम तृतीय च पद समानमथ चतुर्थं द्वितीय च तुल्य भवति । भिन्नचिह्न-चतुश्चरण विषममिति । तदुक्त छन्दोमञ्जर्याम्—

'पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा ।
वृत्तमक्षरसङ्ख्यात जातिर्मात्राकृता भवेत् ॥
सममर्धसम वृत्त विषम चेति तत्त्रिधा ।
सम समचतुष्पाद भवत्यर्धसम पुनः ॥
आदिस्तृतीयवद्यस्य पादस्तुर्यो द्वितीयवत् ।
भिन्नचिह्नचतुष्पाद विषम परिकीर्तितम् ॥'

इति । तत्र मात्रावृत्तक्रमेण सममुक्त्वार्धसममुच्यते । तत्र प्रथम पुष्पिताग्राछन्दः—

द्विजवरकररज्जुकर्णपूर्णौ प्रथमतृतीयपदौ यदा भवेताम् ।
द्विजपदगुरुरज्जुकर्णयुक्तौ यदि चरणावपरौ च पुष्पिताग्रा ॥

इदमप्युदाहरणम् । छन्दोमञ्जर्या तु प्रकारान्तरेण लक्षणमुक्तम् ॥

'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ।

अयुजि विषमे प्रथमे तृतीये चरणे नयुगलरेफतो नगणयुगलरगणत परो यकारो यगणो भवति । युजि समे तु द्वितीये चतुर्थे च चरणे नजौ नगणजगणावथ च जरगाः जगणरगणगुरवश्च यत्र भवन्ति तत्पुष्पितानामक छन्द ॥

यथा—

करकिसलयशोभया विभान्ती कुचफलभारविनम्रदेहयष्टि ।
स्मितरुचिरविलासपुष्पिताग्रा व्रजयुवतिव्रततिर्हरेर्मुदेऽभूत् ॥

यथा—

स्फुटफेनचया हरिणप्लुता बलिमनोज्ञतटा तरणेः सुता ।
कलहंसकुलारवशालिनी विहरतो हरति स्म हरेर्मनः ॥

उट्टवणिका यथा—वि० ।।ऽ, ।।ऽ, ।।ऽ, ।, ऽ, स० ।।।, ऽ।।, ऽ।।, ऽ।ऽ,
हरिणप्लुता निवृत्ता ॥

अथापरवक्त्र छन्दः—'अयुजि ननरला गुरुः समे यदपरवक्त्रमिद ननौ जरौ' ।
अयुजि विषमे प्रथमे तृतीये च चरणे ननरला नगणद्वयरगणलघवः अथ च
गुरुः समे द्वितीये चतुर्थे च चरणे नजौ नगणजगणावथ च जरौ जगणरगणौ यत्र
भवतस्तदिदमपरवक्त्र नाम वृत्तम् ॥

यथा—

स्फुटसुमधुरवेणुगीतिभिस्तमपरवक्त्रमिवैत्य माधवम् ।
मृगयुवतिगणैः सम स्थिता व्रजवनिता धृतचित्तविभ्रमा ॥

उट्टवणिका यथा—वि०, ।।।, ।।।, ऽ।ऽ, ।, ऽ, स० ।।।, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽ।ऽ,
यथा वा हर्षचरिते—

तरलयसि दृशा किमुत्सुकामविरतिवामविलासलालसे ।
अवतर कलहंसि वापिकाः पुनरपि यास्यसि पङ्कजालयम् ।

अपरवक्त्र निवृत्तम् ॥

अथ सुन्दरी छन्दः—'अयुजोर्यदि सौ लगौ पुनः समयोः स्भौ रलगाश्च सुन्दरी' ।
यत्र अयुजोर्विषमयोः प्रथमतृतीययोश्चरणयोर्यदि सौ सगणद्वयमथ च लगौ
लघुगुरू भवतः पुनरपि तावेव, समयोर्द्वितीयचतुर्थयोश्चरणयोः स्भौ सगणभगणावथ
च रलगा रगणलघुगुरवो भवन्ति, तत्सुन्दरीछन्दः ॥ द्विरावृत्त्याश्लोकः पूरणीयः ॥

यथा—

यदवोचदवेक्ष्य सुन्दरी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा ।
अपि कसहरस्य दुर्वच वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥

उट्टवणिका यथा—वि० ।।ऽ, ।।ऽ, ।, ऽ, ।, ऽ, स० ।।ऽ, ऽ।।, ऽ।।, ।, ऽ,
यथा वा—'अथ तस्य विवाहकौतुक ललित बिभ्रत एव पार्थिव' इत्यादि रघुवंशे ।
सुन्दरी निवृत्ता ॥

एवमुक्तपरिपाट्यार्धसमवृत्तान्येकाक्षरादिषड्विंशत्यक्षरपर्यन्तप्रस्तारेषु द्वाभ्या वृत्ताभ्या स्वबुद्ध्या नामानि धृत्वा सुधीभिरूह्यानि । ग्रन्थविस्तरभीत्या प्रसिद्धान्येव कानिचिद्वृत्तान्यत्रोदाहृतानीति शिवम् । इत्यर्धसमवृत्तानि ॥

अथ विषमवृत्तानि—

उद्‌वणिका यथा—वि ||||, ||S, |S|, SS, स ||||, S||, S, |S|, SS

मध्यवि पुरत पयोधमाला सततु मनोन्यमप्रमत्तस्य पथिकस्य ।
तदनु भुवनपावनो मनोभूस्तत्र हरिणाक्षि विलोकनं तु पश्चात् ॥

प्रकारान्तरेणोद्‌वणिका यथा—वि |||, |||, S|S, |SS स० |||, |S|, |S|, |S|, S, इति पुष्पिताग्रा निवृत्ता ॥

अथोपचित्रं छन्दः—'विषमे यदि सौ सलगा दले भौ युजि भाद्गुरुकावुपचित्रम्' ।

यत्र विषमे प्रथमे तृतीये च चरणे एवंविधे दलेऽर्धे यदि सौ सगणद्वयं च सलगाः सगणलघुगुरवो भवन्ति, किं च युजि समे द्वितीये चतुर्थे च चरणे यदि भौ भगणद्वयं च स्यात् भगणात् गुरुकौ भक्तस्तदोपचित्रसमर्धसमं वृत्तमिति । द्विरावृत्त्या श्लोकः पूरयितव्यः ॥

यथा—

मुरवैरिवपुस्तनुतां मुदं हेमनिभांशुकचन्दनलिप्तम् ।
गगनं चपलामिलितं यथा शारदनीरधरैरुपचित्रम् ॥

उद्‌वणिका यथा—वि |S, ||S, ||S, |, S, स S||, S||, S||, S, S उपचित्रं निवृत्तम् ॥

अथ वेगवतीछन्दः—'विषमे प्रथमाक्षरहीनं दोधकवृत्तमेव वेगवती स्यात्' ।

विषमे प्रथमे तृतीये च चरणे प्रथमाक्षरहीनं दोधकवृत्तमेव वेगवती स्यात् । समे तु दोधकमेवेति । अत्र प्रथमे तृतीये सगणत्रयानन्तरं गुरुः, चतुर्थे द्वितीये च भगणत्रयानन्तरं गुरुद्वयमिति ॥

यथा—

स्मरवेगवती व्रजरामा केशववंशरवैरतिमुग्धा ।
रभसान्न गुरुं गणयन्ती केलिनिकुञ्जगृहाय जगाम ॥

उद्‌वणिका यथा—वि ||S ||S ||S, S स S|| S||, S||, S, S, वेगवती निवृत्ता ॥

अथ हरिणप्लुता छन्दः—'अयुजि प्रथमेन विवर्जितो द्रुतविलम्बितको हरिणप्लुता' ।

अयुजि प्रथमे तृतीये च चरणे द्रुतविलम्बितकः प्रथमेन वर्णेन विवर्जितो यदि युजि तु द्रुतविलम्बितकच्छन्दसैव तदा हरिणप्लुता छन्दः । एतदुक्तं भवति—प्रथमे तृतीये च चरणे सगणत्रयानन्तरं लघुः द्वितीये चतुर्थे च चरणे नगणानन्तरं भगणद्वयम् च रगणमिति ॥

अथ सौरभकच्छन्दः—

'त्रयमुद्गता सदृशमेव पदमिह तृतीयमन्यथा।
जायते रनभगैर्ग्रथितं कथयन्ति सौरभकमेतदीदृशम्' ॥

भोः शिष्याः, यत्र त्रय प्रथमद्वितीयचतुर्थमिति पदत्रयमुद्गतासदृशमेव। इह
रभके तृतीयपादमन्यथा। उद्गतापादाद्भिन्नमित्यर्थः। अन्यथात्वमेवाह—जायत
ति। तृतीयपद रनभगैः रगणनगणभगणगुरुभिर्ग्रथित यत्रैतदीदृशं सौरभकनामक
ृत्त भवतीति च्छान्दसीयाः कथयन्तीति ॥

यथा—

परिभूतफुल्लशतपत्रवनविसृतगन्धविभ्रमा।
कस्य छन्न हरतीह हरे पद्मसौरभकला तवाद्भुता ॥

उट्टवणिका यथा—१ ||S, |S|, ||S, |, २ |||, ||S, |S|, S, ४ S|S, |||,
S||, S|, ४ S|S, |||, S|S, |, S, सौरभक निवृत्तम् ॥

अथ ललित छन्दः—

'नयुगं सकारयुगलं च भवति चरणे तृतीयके।
तदुदीरितमुरुमतिभिर्ललित यदि शेषमस्य सकल यथोद्गता'

भोः शिष्याः, यत्र तृतीयके चरणे नयुग नगणद्वय सकारयुगल सगणयुग्म च
भवति तदुरुमतिभिर्ललितमिति नामकमुदीरितमिति। अस्य ललितस्य यदि शेष
सकलं प्रथमद्वितीयतुर्यपद यथोद्गतातुल्यमित्यर्थः ॥

यथा—

व्रजसुन्दरीसमुदयेन कलितमनसा स्म पीयते।
हिमकरगलितमिवामृतक ललितं मुरारिमुखचन्द्रविच्युतम् ॥

उट्टवणिका यथा—१ ||S, |S|, ||S, |, २ |||, ||S, |S|, S, ३ |||, |||,
||S, ||S, ४ ||S, |S|, ||S, |S', S, ललित निवृत्तम् ॥

भवत्यर्धसम वक्त्र विषम च कदाचन।
तयोर्द्वयोरुपान्तेषु छन्दस्तदधुनोच्यते ॥

अथ वक्त्रं छन्दः—'वक्त्र युग्म्या मगौ स्यातामब्धेर्याऽनुष्टुभि ख्यातम्'

भोः शिष्याः, युग्म्या दलाभ्या पदाभ्या मगौ मगणगुरू स्याताम्। अथ च—
अब्धेश्चतुर्थाद् वर्णात् परतो यो यगणोऽनुष्टुम्यष्टाक्षरप्रस्तारे यत्र यत्र 'शेषेष्वनियमो
मत.' इति वचनाच्चाष्टमो गुरुरेव यत्र तद्वक्त्रमिति वृत्त ख्यातमिति ॥

यथा—

वक्त्राम्भोज सदा स्मेर चञ्चुर्नीलोत्पलं फुल्लम्।
वल्लवीनां मुररातेश्चेतोभृङ्ग नहारोच्चै' ॥

ततः—

अकठोराक्षरं स्वल्पसमासं चूर्णकं विदुः ।
तद्धि वैदर्भरीतिस्थं गद्यं हृद्यतरं भवेत् ॥

यथा—

स हि त्रयाणामेव जगतां पतिः परमपुरुषः पुरुषोत्तमो दृप्तदानवभरेण गुरुमगुराङ्गीमवनिमवलोक्य करुणार्द्रहृदयस्तस्या भारमवतारयितुं रामकृष्णस्वरूपेण यदुवंशेऽवततार । यः प्रसङ्गेनापि स्मृतोऽभ्यर्चितो वा गृहीतनामा पुंसः संसारपारमवलोकयति ॥

चूर्णकं निवृत्तम् ॥

अथोत्कलिकाप्रायम्—

उत्कलिकाप्रायं कल्लोलप्रायमुत्प्रभासमानमित्यर्थः ॥

यथा—

प्रणिपातप्रवणप्रधानाशेषसुरासुरवृन्दसौन्दर्यप्रकटकिरीटकोटिनिविष्टस्पष्टमणिमयूखच्छटाच्छुरितचरणनखचक्रविक्रमोद्दामवामपादाङ्गुष्ठनखरशिखरखण्डितब्रह्माण्डविवरनिःसरत्त्वरदमृतकरप्रकरभासुरसुरवाहिनीप्रवाहपवित्रीकृतविष्टपत्रय कैटभारे क्रूरतरसंसारापारसागरनानाप्रकारावर्तविवर्तमानविग्रहं मामनुग्रहाण ॥

यथा वा—

व्यपगतघनपटलममलजलनिधिसदृशमम्बरतलं विलोक्यते । अञ्जनचूर्णपुञ्जश्यामं शार्वरं तमस्त्यायते ॥

उत्कलिकाप्रायं निवृत्तम् ॥

'वृत्तैकदेशसम्बद्धं वृत्तगन्धि पुनः स्मृतम्'

यथा—'पातालतालुतलवासिषु दानवेषु' इत्यादि । 'हर इव जितमन्मथो गुह इवाप्रतिहतशक्तिः' इत्यादि वा ।

यथा वा—

जय जय जय जनार्दन सुकृतिजनमनस्तडागविकस्वरचरणपद्म पद्मनयन पद्मापद्मिनीविनोदराजहंस भास्वरयशःपटलपूरितभवनकुहर कमलासनादिवृन्दारकवन्दनीयपादारविन्दद्वन्द्व निर्मुक्तयोगीन्द्रहृदयमन्दिराविष्कृतनिरञ्जनज्योतिःस्वरूप नीरूप विश्वरूप अनाथनाथ जगन्नाथ मामनवधिभवदुःखव्याकुलं रक्ष रक्ष ॥

वृत्तगन्धि गद्यं निवृत्तम् ॥

इति गद्यानि ॥

इत्यादि गद्यकाव्येषु मया किंचित्प्रदर्शितम् ।
विशेषस्तत्र तत्रापि नोक्तो विस्तरशङ्कया ॥

परिशिष्ट (३)

वंशीधरकृत 'पिङ्गलप्रकाश' टीका

प्रथमः परिच्छेदः

मात्रावृत्तम्

१. ग्रन्थकृद्ग्रन्थारम्भे स्वाभीष्टसिद्धये छन्दःशास्त्रप्रवर्त्तकपिंगलनागानुस्मरण-रूपमंगलमाचरति। जो विविह मत्तेति····· यो विवि·····त्रमात्रापदस्य मात्राप्रस्तारपरत्वाद्विविधमात्राप्रस्तारैरित्यर्थः। विविमलमइहेल—विविमलमतिहेलं, वेः पक्षिणो गरुडस्य विमल······ परमतिः बुद्धिस्तया हेलाऽवधारणा वचना यस्या क्रियाया तद्यथा स्यात् तथा स्वबुद्ध्या गरुडस्य वचना कृत्वेत्यर्थः। साअरपार पत्तो—सागर···तरङो—प्रथमो भाषातरङः प्रथम आद्यः भाषा अवहट्टभाषा यया भाषया अय ग्रन्थो रचितः सा अवहट्टभाषा तस्या इत्यर्थःत प· 'प्प पारं प्राप्नोति तथा पिंगलप्रणीत छन्दःशास्त्र प्राप्यावहट्टभाषारचितैः तद्ग्रन्थपारं प्राप्नोतीति भावः, सो पिंगलो णाओ जअइ—उत्कर्षेण वर्त्तते। अत्रेयमाख्यायिका नुसन्धेया—यथा किल ब्राह्मणवेषधारिणा पिंगल नागोऽयमिति ज्ञात्वा गरुडस्त व्यापादयितु वर्णमात्राप्रस्ताररूपा पूर्वा एका विद्या मया ज्ञायते ता गृह्णात्विति गरुड प्रति उक्त्वा तेन च कथय विद्यामित्युक्तः प्रस्तार भूमौ विरचयन् गरुड वचितवानिति : १ :

२ प्रस्तारस्य गुरुलघुज्ञानाधीनत्वातल्लक्षणमाह, दीहविति। दीहो दीर्घः आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ एते दीर्घाः। संजुत्तपरो—संयुक्तपरः संयुक्त परस्पर-मिलित··· ··बिन्दुजुओ—बिन्दुः अनुस्वारविसर्गौ, ग्र अः इत्येतौ, ताभ्या युतः, यत्तु प्राकृते विसर्गाभावात् अत्र विन्दुपदेन अनुस्वार एवेति तच न हीट प्राकृतमात्रविषय······ पाडिओ च चरणंते—पातितश्च चरणाते, पादान्तस्थितो लघुरपि विवक्षया गुरुर्ज्ञेय इत्यर्थः। अतएवोक्तं पादान्तस्य विकल्पेनेति। एवंभूतो वर्णो गुरुः·· ··ज्ञेय इति शेषः। स च गुरु· वक—वक्र· प्रस्तारादिषु पूर्वप्रश्लिष्टाकारप्रश्लेषवत् अनृजुस्वरूपो लेखनीय इत्यर्थ·। दुमत्तो—द्विमात्रः ·········अण्णो—अन्यः आकारादिसंयुक्तपरानुस्वारविसर्गसहिताक्षरभिन्न इत्यर्थः,

मन्दा कथं द्रक्ष्यसि सत्पदार्थमिथ्याभ्रमध्वान्तमुषा प्रदीपम् ।
छन्दःप्रदीपं करयो विलोक्य छन्दः समस्तं स्वयमेव विद्धि ॥

अब्दे भास्करवाजिपञ्चशरसद्मा (१६५७) मण्डलोत्पाटिते
माघे माघि सिते दले हरिदिने वारे तमिस्रापतेः ।
श्रीमत्पिङ्गलनागनिर्मितवरग्रन्थप्रदीपं मुदे
लोकानां निखिलार्थसाधकमिमं लक्ष्मीपतिर्निर्ममे ॥

विविधश्लोकभरितं छन्दोभपरिमिश्रितम् ।
स्फुरद्वृत्तशतं छन्दःप्रदीपं पश्यत स्फुटम् ॥
छन्दःप्रदीपकः सोऽयमखिलार्थप्रकाशकः ।
लक्ष्मीनाथेन रचितशिष्यज्ञानप्रतारकम् ॥

इत्यालङ्कारिकचक्रचूडामणिश्रीमद्रामभट्टात्मजश्रीलक्ष्मीनाथभट्टविरचिते पिङ्गल-प्रदीपे वर्णवृत्ताख्ये द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ।

परिशिष्ट (३)

वंशीधरकृत 'पिङ्गलप्रकाश' टीका

प्रथमः परिच्छेदः

मात्रावृत्तम्

१. ग्रन्थकृद्ग्रन्थारम्भे स्वामीष्टसिद्धये छन्दःशास्त्रप्रवर्त्तकपिंगलनागानुस्मरण-रूपमंगलमाचरति। जो विविह मत्तेति..... यो विवि.. . ...त्रमात्रापदस्य मात्राप्रस्तारपरत्वाद्विविधमात्राप्रस्तारैरित्यर्थः। विमिमलमइहेल—विविमलमतिहेल, वेः पक्षिणो गरुडस्य विमल .... परमतिः बुद्धिस्तया हेलाऽवधारणा वचना यस्या क्रियाया तद्यथा स्यात् तथा स्वबुद्धया गरुडस्य वचना कृत्वेत्यर्थः। सासरपार पत्तो—सागर...तरङ्गो—प्रथमो भाषातरङ्गः प्रथम आद्यः भाषा अवहट्टभाषा यया भाषया अय ग्रन्थो रचितः सा अवहट्टभाषा तस्या इत्यर्थः त प..प्प पार प्राप्नोति तथा पिंगलप्रणीत छन्दःशास्त्र प्राप्यावहट्टभाषारचितैः तद्ग्रन्थपारं प्राप्नोतीति भावः, सो पिंगलो णाओ जअइ—उत्कर्षेण वर्त्तते। अत्रेयमाख्यायिका नुसन्धेया—यथा किल ब्राह्मणवेषधारिणा पिंगल नागोऽयमिति ज्ञात्वा गरुडस्त व्यापादयितुं वर्णमात्राप्रस्ताररूपा पूर्वा एका विद्या मया ज्ञायते ता गृह्णात्विति गरुड प्रति उक्त्वा तेन च कथय विद्यामित्युक्तः प्रस्तार भूमौ विरचयन् गरुड वचितवानिति ॥ १ ॥

२ प्रस्तारस्य गुरुलघुज्ञानाधीनत्वातल्लक्षणमाह, दीहविति। दीहो दीर्घः आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ एते दीर्घाः। सजुत्तपरो—सयुक्तपरः. सयुक्त परस्पर-मिलित.. बिन्दुजुओ—बिन्दुः अनुस्वारविसर्गौ, अ अः इत्येतौ, ताभ्यां युत., यत्तु प्राकृते विसर्गाभावात् अत्र बिन्दुपदेन अनुस्वार एवेति तच्च न छीद प्राकृतमात्रविषय....... पाडिओ च चरणते—पातितश्च चरणांते, पादान्तस्थितो लघुरपि विवक्षया गुरुर्ज्ञेय इत्यर्थ.। अतएवोक्त पादान्तस्य विकल्पेनेति। एवभूतो वर्णो गुरुः 'ज्ञेय इति शेष.। स च गुरुः वक—वक्र' प्रस्तारादिषु पूर्वप्रश्लिष्टाकारप्रश्लेपवत् अनृजुस्वरूपो लेखनीय इत्यर्थः। दुमत्तो—द्विमात्रः ....'अण्णो—अन्यः आकारादिसयुक्तपरानुस्वारविसर्गसहिताक्षरभिन्न इत्यर्थः,

चालय, कुगति—जलम(ग)ति जलमरणजन्य नरक, ण देहि—मा प्रयच्छ। तइ एहि णइ सतार देइ—त्वमस्या नद्याः पारगमन दत्वा, यद् आलिंगनचुम्बनादि वाञ्छसि तद् गृहाण। अत्र प्रथमचरणे रेरे इत्यक्षरद्वय त्वरापठितम् एक दीर्घं बोध्यम्, अन्यथा दोहाप्रथमचरणे त्रयोदशमात्रोक्त्या द्वितीयरेकारस्य मात्राद्वयाधिक्यात् छन्दोभगापत्तिः एव द्वितीयचरणे डगमेत्यक्षरत्रय एक ह्रस्वरूप, देहीत्यक्षरद्वयमेक दीर्घरूप बोध्यम्, अन्यथा दोहाद्वितीयचरणे एकादशमात्राणामुक्तत्वात् (डग) मेति मात्राद्वयाधिक्यात् देहीत्येकमात्राधिक्याच्च छन्दोभगः स्यात्। तृतीयचरणे च एहीति केवलएकारः, देइ इति दकारयुक्तश्च, द्वावपि जिह्वालघुपठितौ लघू बोध्यौ, अन्यथा दोहातृतीयचरणे त्रयोदशमात्रोक्त्या मात्राद्वयाधिक्यात् छन्दोभगः प्रसज्येत। जिह्वया लघुपठन गुरूपदेशाद्बोध्यमित्यस्मत्तात्चरणोपदेशः सुधीभिर्विभावनीयः।

१० अथ छन्दोग्रन्थस्योपादेयता दर्शयति, जेम णेति। जेम—यथा कणअतुला—कनकस्य तुला परिमाणनिर्णायक यन्त्र काण्टा इति लोके; तुलिअ—तुलित निर्णेयपरिमाण स्वस्मिन्प्रक्षिप्त सुवर्ण तिलस्य अद्ध अद्धेण—अर्द्धार्द्धेन चतुर्थांशेनापीति यावत्, रत्तिकामाषकादिमापकान्न्यूनाधिकमिति शेष, ण सहइ—न सहते न निर्णीतपरिमाण करोति। तेम—तथा सवणतुला—श्रवणरूपा तुलैव तुला—काव्य शुद्धयशुद्धिज्ञापकं यन्त्र, छदभगेण—छन्दसा यथोक्त छन्दः तस्य गुरुलघूना भगेन न्यूनाधिकभावेनेत्यर्थः। अवछद—अपच्छन्दस्क लक्षणहीन काव्य न सहते न प्रमाणयति। अयमर्थ. तुलाया सूत्रबद्ध पात्रद्वय भवति, तत्रैकपात्रे परिमाणसाधन रत्तिकामाषकादिद्रव्य प्रक्षिप्य द्वितीयपात्रे प्रक्षिप्त निर्णेयपरिमाण सुवर्णादिद्रव्य यदि तिलचतुर्थांशेनापि परिमाणसाधनरत्तिकामाषकादिद्रव्यान्न्यूनाधिक भवति तदा तत्र परिमाणशुद्धिर्यथा न भवति, तथा लक्षणोक्तगुरुलघुहीनाधिक काव्य श्रवणविषयीभूत शुद्ध न प्रतिभातीति काव्यशुद्धयशुद्धिज्ञानार्थं छन्दःशास्त्रमुपादेयमिति भाव।

११ अथ छन्दःशास्त्रविदा पुरो लक्षणहीनकाव्यपठन वारयन् पुनरपि छन्दःशास्त्रोपादेयता दर्शयति अबुह इति। अबुधः—काव्यलक्षणानभिज्ञ, बुहाण मज्झे—बुधाना काव्यलक्षणाभिज्ञाना मध्ये, लक्ख (क्ख) णविहूण—लक्षणविहीन, कव्व—काव्य, पढइ—पठति, सः भुअ अग्ग लग्ग खग्गहिँ—भुजाग्रलग्नखड्गेन, खुलिअ—स्खलित, ग्रीवात. पातित, सीस—शीर्ष मस्तक, ण जाणेइ—न जानाति, स स्वहस्तधृतखड्गेन स्वशिरश्छेदक इव विदितचित्त इति लोके व्यवह्रियते। अतोऽधीतच्छन्दःशास्त्रो लक्षणलक्षित काव्य पठन् पण्डिताख्या लभते इति छन्द.शास्त्रोपादेयता दर्शितेति भाव.।

लघुर्देयस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुद्वयोत्तरमेको गुरुः स्थाप्य', पश्चादुर्वरितैकमात्रा लघुरूपा देया, एवं यत्र लघुचतुष्टयानन्तरमेको गुरुः पतति, सोऽस्य पञ्चमभेदः । एवमस्याद्यो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुर्देयः, उपरितनसादृश्याभावात् उर्वरितमात्रापञ्चक द्विगुर्वेकलघुरूपमन्त्यलघोः पूर्वक्रमेण स्थाप्यमेव च यत्र प्रथममेको लघुस्ततो गुरुद्वयोत्तरमेको लघुः पतति सोऽस्य षष्ठो भेदः । एवमस्य द्वितीयो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याद् गुरुलघू स्थाप्यौ पश्चादुर्वरित मात्राद्वयमेकगुरुरूप स्थाप्यम्, एवं यत्र प्रथम गुरुलघू ततोऽपि गुरुलघू एवभूतोऽस्य सप्तमो भेदः । एवमस्याद्यो गुरुः''' 'लघोरग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुगुरुलघवः क्रमेण स्थाप्या', उर्वरिता चैका मात्रा लघुरूपा पश्चात् स्थाप्या, एवं यत्र प्रथम लघुत्रय''''''। ''''' अथ चतुर्थो वर्ण प्रथमगुरुस्तदधो लघु. स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्यादेको लघु.''''''गुरुद्वयरूप पश्चात् स्थाप्यम्, एवं यत्र प्रथम् गुरुद्वय ततो लघुद्वय पतति, एवभूतोऽस्य नवमो भेदः । एवमस्य प्रथमो वर्णः प्रथमगुरु'''' ''(उपरि) तनसादृश्यादेको-गुरुस्ततो लघुद्वय देयम्, उर्वरिता चैका मात्रा चैकलघुरूपा पश्चाद्देया, एवं च यत्र लघुद्वयोत्तरमेको गुरुस्ततो लघुद्वय ।

यस्य गुरोरधः, यथोपरि तथा शेषं भूयः कुर्यादमु विधिम् ॥ तावद्यावद्गुरुनेव यावत्सर्वलघुर्भवेत् । प्रस्तारोऽय समाख्यातः छन्दोविरतिवेदिभिरिति ॥

१५ अथ वक्ष्यमाणमात्राच्छन्दःसु व्यवहारार्थं षट्कलत्रयोदशभेदाना क्रमेण नामान्याह हर इति । हरः शशी सूरः शक्रः शेषः अहिः कमलं ब्रह्म कलिः चन्द्रः ध्रुवः धर्म. शालिचर., छमत्ताणं—षण्मात्रकाणा त्रयोदशभेदानाम् एतानि तेरह णाम—त्रयोदश नामानि यथासख्य बोध्यानीत्यर्थः ॥

१६ अथ पञ्चकलाष्टभेदाना प्रत्येक नामान्याह इदासणेति । इन्द्रासन अह—अपरः सूर चाप हीरश्च शेखरः कुसुम । अहिगण. पदातिगण. पञ्चकलगणे एतानि नामानि क्रमेणेति शेष पिंगलेन कथितानि, पञ्चकलगणस्य ये अष्टौ भेदास्तेषा प्रत्येकमेतान्यष्टौ नामानि पिंगलेन कथितानीत्यर्थः ।

१७ अथ चतुष्कलगणपञ्चभेदनामान्याह गुर्विति । गुरुजुअ—गुरुयुग, गुरो. युग द्वय यस्मिन्नेतादृशो यो भेद स इत्यर्थ, कण्णो—कर्ण चतु कलस्य प्रथमो भेदः कर्णो नामेत्यर्थ । गुर्वत. गुरुरते यस्य तादृशो द्वितीयो भेद पयोधरनामक इत्यर्थः । इमि पादपूरणे । आदिगुरुः आदौ गुरु. यस्य तादृशश्चतुर्थो भेदो वसु चरणः इति तस्य नामद्वय । सर्वै. लघुभि सर्वलघु पञ्चमोभेद विप्र' विप्रनामेत्यर्थः ।

१८. अथ त्रिकलप्रथमभेदस्य लघ्वादेर्नामान्याह धअ इति । ध्वजः चिह्न

द्वयस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुद्वयोत्तरमेको गुरुः स्थाप्य', पश्चादुर्वरितैकमात्रा लघुरूपा देया, एव यत्र लघुचतुष्टयानन्तरमेको गुरु. पतति, सोऽस्य पञ्चमभेदः। एवमस्याद्यो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुर्देयः, उपरितनसादृश्याभावात् उर्वरितमात्रापञ्चक द्विगुर्वेकलघुरूपमंत्यलघोः पूर्वक्रमेण स्थाप्यमेव च यत्र प्रथममेको लघुस्ततो गुरुद्वयोत्तरमेको लघुः पतति सोऽस्य षष्ठो भेद'। एवमस्य द्वितीयो वर्ण. प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याद् गुरुलघू स्थाप्यौ पश्चादुर्वरित मात्राद्वयमेकगुरुरूप स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुलघू ततोऽपि गुरुलघू एवभूतोऽस्य सप्तमो भेदः। एवमस्याद्यो गुरु. 'लघोरग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुगुरुलघव. क्रमेण स्थाप्याः, उर्वरिता चैका मात्रा लघुरूपा पश्चात् स्थाप्या, एव यत्र प्रथम लघुत्रय······। ····· अथ चतुर्थो वर्ण. प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्यादेको लघु. ···"गुरुद्वयरूप पश्चात् स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम् गुरुद्वय ततो लघुद्वय पतति, एवभूतोऽस्य नवमो भेदः। एवमस्य प्रथमो वर्णः प्रथमगुरु ····(उपरि) तनसादृश्यादेको-गुरुस्ततो लघुद्वय देयम्, उर्वरिता चैका मात्रा चैकलघुरूपा पश्चाद्देया, एव च यत्र लघुद्वयोत्तरमेको गुरुस्ततो लघुद्वय।

यस्य गुरोरध., यथोपरि तथा शेष भूयः कुर्यादमुं विधिम्॥ तावद्न्याद्गुरुस्नेत्र यावत्सर्वलघुर्भवेत्। प्रस्तारोऽय समाख्यातः छन्दोविरतिवेदिभिरिति॥

१५ अथ वक्ष्यमाणमात्राच्छन्द.सु व्यवहारार्थं षट्कलत्रयोदशभेदाना क्रमेण नामान्याह हर इति। हरः शशी सूर. शक्रः शेषः अहिः कमल ब्रह्म कलिः चन्द्रः ध्रुवः धर्म. शालिचर., छमत्ताण—षण्मात्रकाणा त्रयोदशभेदानाम् एतानि तेरह णाम—त्रयोदश नामानि यथासख्य बोध्यानीत्यर्थः॥

१६ अथ पचकलाष्टभेदाना प्रत्येक नामान्याह इदासणेति। इन्द्रासन अरु—अपरः सूर' चापः हीरश्च शेखर' कुसुम। अहिगण. पदातिगण. पचकलगणे एतानि नामानि क्रमेणेति शेष पिंगलेन कथितानि, पचकलगणस्य ये अष्टौ भेदास्तेषा प्रत्येकमेतान्यष्टौ नामानि पिंगलेन कथितानीत्यर्थः।

१७ अथ चतुष्कलगणपचभेदनामान्याह गुर्विति। गुरुजुअ—गुरुयुग, गुरो. युग द्वय यस्मिन्नेतादृशो यो भेद. स इत्यर्थं, कण्णो—कर्ण चतु कलस्य प्रथमो भेदः कर्णो नामेत्यर्थं। गुर्वत गुरुरते यस्य तादृशो द्वितीयो भेद पयोधरनामक इत्यर्थः। रम्मि पादपूरणे। आदिगुरुः आदौ गुरुः यस्य तादृशश्चतुर्थो भेदो वसु चरण. इति तस्य नामद्वय। सर्वै. लघुभि. सर्वलघु पचमोभेद विप्र' विप्रनामेत्यर्थः।

१८ अथ त्रिकलप्रथमभेदस्य लघ्वादेर्नामान्याह धय इति। ध्वजः चिह्न

लघुर्देयस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुद्वयोत्तरमेकोगुरुः स्थाप्यः, पश्चादुर्वरितैकमात्रा लघुरूपा देया, एव यत्र लघुचतुष्टयानतरमेको गुरु. पतति, सोऽस्य पचममेदः। एवमस्याद्यो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुर्देयः, उपरितनसादृश्याभावात् उर्वरितमात्रापचक द्विगुर्वेकलघुरूपमंत्यलघोः पूर्वक्रमेण स्थाप्यमेवं च यत्र प्रथममेको लघुस्ततो गुरुद्वयोत्तरमेको लघुः पतति सोऽस्य षष्ठो भेदः। एवमस्य द्वितीयो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याद् गुरुलघू स्थाप्यौ पश्चादुर्वरित मात्राद्वयमेकगुरुरूप स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुलघू ततोऽपि गुरुलघू एवभूतोऽस्य सप्तमो भेदः। एवमस्याद्यो गुरु. ·· लघोरग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुगुरुलघवः क्रमेण स्थाप्या., उर्वरिता चैका मात्रा लघुरूपा पश्चात् स्थाप्या, एव यत्र प्रथम लघुत्रय······। ·····अथ चतुर्थो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्यादेको लघुः ·· ··गुरुद्वयरूप पश्चात् स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम् गुरुद्वय ततो लघुद्वय पतति, एवभूतोऽस्य नवमो भेदः। एवमस्य प्रथमो वर्णः प्रथमगुरु ·· · ··(उपरि) तनसादृश्यादेको-गुरुस्ततो लघुद्वय देयम्, उर्वरिता चैका मात्रा चैकलघुरूपा पश्चाद्देया, एव च यत्र लघुद्वयोत्तरमेको गुरुस्ततो लघुद्वय।

यस्य गुरोरध., यथोपरि तथा शेषं भूयः कुर्यादमु विधिम्॥ तावद्यावद्गुरूनेत्र यावत्सर्वलघुर्भवेत्। प्रस्तारोऽय समाख्यातः छदोविरतिवेदिभिरिति॥

१५ अथ वक्ष्यमाणमात्राच्छदःसु व्यवहारार्थं षट्कलत्रयोदशभेदाना क्रमेण नामान्याह हर इति। हरः शशी शूरः शक्रः शेषः अहिः कमल ब्रह्म कलिः चन्द्रः ध्रुव. धर्म. शालिचरः, छमत्ताण—षण्मात्रकाणा त्रयोदशमेदानाम् एतानि तेरह णाम—त्रयोदश नामानि यथासख्य बोध्यानीत्यर्थः॥

१६ अथ पचकलाष्टभेदाना प्रत्येक नामान्याह इंदासणेति। इन्द्रासन अरु—अपरः सूरः चापः हीरश्च शेखर' कुसुम। अहिगण. पदातिगणः पचकलगणे एतानि नामानि क्रमेणेति शेष पिंगलेन कथितानि, पचकलगणस्य ये अष्टौ भेदास्तेषा प्रत्येकमेतान्यष्टौ नामानि पिगलेन कथितानीत्यर्थ.।

१७ अथ चतुष्कलगणपचभेदनामान्याह गुर्विति। गुरुजुअ—गुरुयुग, गुरोः युग द्वय यस्मिन्नेतादृशो यो भेद स इत्यर्थ, कण्णो—कर्ण. चतु.कलस्य प्रथमो भेदः कर्णो नामेत्यर्थ। गुर्वंत' गुरुरते यस्य तादृशो द्वितीयो भेद पयोधरनामक इत्यर्थः। भिम पादपूरणे। आदिगुरु. आदौ गुरु. यस्य तादृशश्चतुर्थो भेदो वसु' चरण. इति तस्य नामद्वय। सर्वे. लघुभि. सर्वलघु पचमोभेद विप्र विप्रनामेत्यर्थ.।

१८ अथ त्रिकलप्रथमभेदस्य लघ्वादेर्नामान्याह धअ इति। ······

लघुर्देयस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुद्वयोत्तरमेको गुरुः स्थाप्यः, पश्चादुर्वरितैकमात्रा लघुरूपा देया, एवं यत्र लघुचतुष्टयानन्तरमेको गुरुः पतति, सोऽस्य पञ्चमभेदः। एवमस्यान्त्यो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुर्देयः, उपरितनसादृश्याभावात् उर्वरितमात्रापञ्चकं द्विगुर्वेकलघुरूपमन्त्यलघोः पूर्वक्रमेण स्थाप्यमेव च यत्र प्रथममेको लघुस्ततो गुरुद्वयोत्तरमेको लघुः पतति सोऽस्य षष्ठो भेदः। एवमस्य द्वितीयो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याद् गुरुलघू स्थाप्यौ पश्चादुर्वरितं मात्राद्वयमेकगुरुरूपं स्थाप्यम्, एवं यत्र प्रथमं गुरुलघू ततोऽपि गुरुलघू एवंभूतोऽस्य सप्तमो भेदः। एवमस्याद्यो गुरुः ' 'लघोरग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुगुरुलघवः क्रमेण स्थाप्या, उर्वरिता चैका मात्रा लघुरूपा पश्चात् स्थाप्या, एवं यत्र प्रथमं लघुत्रय''''''''। ''''''' अथ चतुर्थो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्यादेको लघुः ' '''गुरुद्वयरूपं पश्चात् स्थाप्यम्, एवं यत्र प्रथमं गुरुद्वयं ततो लघुद्वयं पतति, एवंभूतोऽस्य नवमो भेदः। एवमस्य प्रथमो वर्णः प्रथमगुरु '''' ''(उपरि) तनसादृश्यादेको गुरुस्ततो लघुद्वयं देयम्, उर्वरिता चैका मात्रा चैकलघुरूपा पश्चाद्देया, एवं च यत्र लघुद्वयोत्तरमेको गुरुस्ततो लघुद्वयं।

यस्य गुरोरधः, यथोपरि तथा शेषं भूयः कुर्यादमुं विधिम्॥ तावद्यावद्गुरून्नैव यावत्सर्वलघुर्भवेत्। प्रस्तारोऽयं समाख्यातः छंदोविरतिवेदिभिरिति॥

१५. अथ वक्ष्यमाणमात्राच्छंदःसु व्यवहारार्थं षट्कलत्रयोदशभेदानां क्रमेण नामान्याह हर इति। हरः शशी सूरः शक्रः शेषः अहिः कमलं ब्रह्म कलिः चन्द्रः ध्रुवः धर्मः शालिचरः, छमत्ताण—षण्मात्रकाणां त्रयोदशभेदानाम् एतानि तेरह णाम—त्रयोदश नामानि यथासंख्यं बोध्यानीत्यर्थः॥

१६ अथ पञ्चकलाष्टभेदानां प्रत्येकं नामान्याह इंदासणेति। इन्द्रासनं अरु—अपरः सूरः चापः हीरश्च शेखरः कुसुमं। अहिगणः पदातिगणः पञ्चकलगणे एतानि नामानि क्रमेणेति शेषः पिंगलेन कथितानि, पञ्चकलगणस्य ये अष्टौ भेदास्तेषां प्रत्येकमेतान्यष्टौ नामानि पिंगलेन कथितानीत्यर्थः।

१७ अथ चतुष्कलगणपञ्चभेदनामान्याह गुर्विति। गुरुजुअ—गुरुयुगं, गुरोः युगं द्वयं यस्मिन्नेतादृशो यो भेदः स इत्यर्थः, कण्णो—कर्णः चतुःकलस्य प्रथमो भेदः कर्णो नामेत्यर्थः। गुर्वंतः गुरुरन्ते यस्य तादृशो द्वितीयो भेदः पयोधरनामक इत्यर्थः। म्मि पादपूरणे। आदिगुरुः आदौ गुरुः यस्य तादृशश्चतुर्थो भेदो वसुचरणः इति तस्य नामद्वयं। सर्वैः लघुभिः सर्वलघुः पञ्चमोभेदः विप्रः विप्रनामेत्यर्थः।

१८ अथ त्रिकलप्रथमभेदस्य लघ्वादेर्नामान्याह धअ इति। ध्वजः चिह्न

चिरं चिरालया तोमरं तुंबुरु पत्रं चूतमाला रसः वासः पवनः वलयः एतानि नामानीति शेषः, लघुत्रयं येन एकारेणैकलघुनामान्येव इत्यर्थः, जानीहि—ज्ञातव्यानि।

१९ अथ त्रिकलद्वितीयभेदस्य गुर्वो (र्वन्तो) नामान्याह सुरपइ इति। सुरपति पटहः तालः करतालः नंदः तूर्यं भ—ननु निरुपमेन निर्वाण (ण) समुद्र तूर्यं पद—एतानि नामानि पमाणेन—प्रमाणेन गुर्वादित्रिकलस्य जानीहीति शेषः, इति छंदशास्त्रविदः प्रकथयन्ति।

२ लघ्वादित्रिकलस्य नामान्याह भावेति। भावः रसः ताण्डवं नारी मन भव कुलकामिनी इति नामानि त्रिलघुगणस्य कविवराः पिंगलाः कथयन्ति।

* * * * * *

१० अथ चतुष्कलस्य सामान्यानि नामान्याह गज रहेति। गज रथः तुरग पद (दा) तिः एतैर्नामभिः जानीहि चतुर्मात्रिकान्।

११ अथैकगुरोर्नामान्याह तालंकेति। ताटंक हारः नूपुरं केयूरम् एतानि गुरुभेदाः गुरोर्नामानीति मावत्, होति-भवति। अथैकलघोर्नामान्याह, सरेति। सरः मेरुः दण्डः काहलः, एताइ—एतानि, लहुभेआ—लघुभेदाः लघोर्नामानि, होंति भवंति।

१२ शंखः पुष्पं काहला रसः कनकं लता रूपं नाना कुसुमं पुष्पादीनां नामानि नामानि तानि वर्णानामित्यर्थः। रसाः शंखः शब्दाः एते अशेषाः लघुभेदाः भवंतीत्यनुवर्तो। इति प्रमाणं निश्चयः।

१३ अथ वर्णवृत्तोपयोगिनो मगणादीनष्टौ गणान्नामलक्षणपूर्वकमाह तिगुरु इति। तिगुरु—त्रिगुरुः गुरुत्रयस्वरूपो यो मगणः SSS, तिलहु—त्रिलघुः लघुत्रय स्वरूपः इति यावत् णो—नगणः ।।। आदिगुरुकः मध्ये तेन आदौ यस्य लघुः स यगणः आदौ यस्य गुरुः स भगणः इत्यर्थः। मध्यगुरुः—यस्य मध्ये गुरुः स जगणः। मध्यलघुः—यस्य मध्ये लघुः ऽ।ऽ,स ये-रगणः। अंतगुरुः-यस्य अंते गुरुः स पुनः सो—सगणः। अंतलघुना उपलक्षितः तो—तगणः, यस्यांते लघुः स तगण इत्यर्थः।

१४ मनुष्यप्रकृतित्वे कविनामकयोर्वक्तप्रमिते देवतानां शुभफलत्वात्मकमेव कवित्वस्यादौ दुःफलत्वादौ अनीश्वरत्वमासितत्वाधर्मे शुभगणत्वादौ शुभफलप्रदत्वे च तत्त्(द्) गणदेवता पूज्या इति मगणादिगणानां क्रमेण ता आह, पुहवीति। पुहवी—पृथिवी मगणस्य त्रिगुरोः१, जल—जलं नगणस्य त्रिलघोः १ सिहि—शिखी अग्निः भगणस्यादिगुरोः ३, कालो भगणस्यादिगुरोः ४, पवन

मध्यगुरोर्जगणस्य ५, सूर्यश्च अंत मध्य) लघोः रगणस्य ६, चंद्रमा मध्यलघोः (अंतगुरो) सगणस्य ७, नागो अंतगुरोः (लघोः) तगणस्य ८, एते गणाष्टकेऽष्टदेवाः यथासंख्य पूर्वोद्देश क्रमेण पिंगलेन कथिताः ।

३५. वक्ष्यमाणशुभाशुभफलोपोद्घातेन गणानां परस्परस्य मित्रादिभावं कथयति । भगण-यगणौ द्वौ गणौ, मित्रे मित्रसंज्ञाविति यावत् भवतः, भगण-यगणौ द्वौ गणौ भृत्यौ भृत्यसंज्ञौ भवतः, ज तौ जगण-तगणौ द्वौ उदासीनौ उदासीनसंज्ञौ, अवशिष्टौ रगण-सगणौ अरी शत्रुसंज्ञौ नित्य भवत इति क्रियापद द्विवचनाते सर्वत्र योज्यम् ।

३६. अथ मगणाद्यष्टगणाना काव्यादौ पतने प्रत्येक फलमाह मगणेति । कवित्वस्यादौ यदि मगणः पतति, तदा ऋद्धिः कार्यं स्थिर ददातीत्याकर्ष. । यदि यगण. पतति ' तदा मरण प्रयच्छति । यदि सगणः पतति, तदा सद्वा-सान्निजदेशादुद्वासयति । यदि तगण' पतति, तदा शून्य फल कथयति । यदि जगण. पतति, तदा खरकिरणं सताप विसर्जयति । भगण' अनेकानि मगलानि कथयति । य वत्काव्यगाथादोहास्तत्र प्रथमाक्षरे प्रथमगणो यदि नगणो भवति, तदा तत्र ऋद्धिबुद्धयः सर्वाः स्फुरति रणे राजकुले दुस्तर तरति इति मुणह जानीत इति कविपिंगलो भाषते ।

३७ अत्र मनुष्यकवित्वे तदुक्त फल, पर्वतादिवर्णने कविगत, देवतावर्णने न क्वापि । तदुक्तमभियुक्तै —वर्ण्यते मनुजो यत्र फल तद्गतमादिशेत् । अन्यथा तु कृते काव्ये कर्वेर्दोषावह फल । देवता वर्ण्यते यत्र काव्ये क्वापि कवीश्वरैः । मित्रामित्रविचारो वा न तत्र फलकल्पनेति ।। उपर्युक्तगणगुणानपवदन् द्विगण-विचारमाह, मित्त मित्तेति । मित्रात् मित्र यदि पतति तदेति शेषः सर्वत्र यथा-यथ योजनीयः, ऋद्धिं बुद्धिम् अगर मगल ददाति, मित्राद्भृत्यो यदि पतति तदा युद्धे स्कन्धस्थैर्यं निर्भय जय करोति, मित्रादुदासीनो यदि पतति तदा कार्यबध कार्यप्रतिबध खलु पुनः पुन' करोति, मित्रात् यदि शत्रु' भवति तदा गोत्रबान्धवान् पीडयति, अपरं भृत्यात् मित्रं यदि पतति तदा सर्वाणि कार्याणि भवति, भृत्यात् भृत्यो यदि पतति तदा आयतिरुत्तरकालो वर्द्धते, भृत्यात् उदासीनो यदि पतति तदा धन नश्यति, भृत्यात् वैरी यदि पतति तदा हाक्रदः हाहाकार. पतति ।

३८ उदासीनात् यदि मित्र पतति तदा कार्यं किमपि अनिष्ट दर्शयति, उदासीनात् यदि भृत्य पतति तदा सर्वामायतिं चालयति, उदासीनात् यदि उदासीन पतति तदा अशुभफल किमपि न दृश्यते, उदासीनात् यदि शत्रु पतति तदा गोत्रमपि वैरिकृत ज्ञेयम्, यदि शत्रोर्मित्र भवति तदा शून्य फल भवति किमपि

एकद्वित्रिपञ्चाष्टत्रयोदशेति षडङ्कान् क्रमेण गुरूणामुपर्युपर्यधश्च संस्थाप्य गुरु शिरस्थैकतृतीयोऽष्टमेत्यङ्कत्रयबोधितद्वादशसंख्यायाः शेषाङ्कत्रयोदशबोधितसंख्यामध्य-लोपे उर्वरिता एकत्वसंख्या, एवं च त्रिगुरुः षट्कलस्य प्रथमो भेद इति वाच्यम्। एवं यत्र लघुद्वयोत्तरं गुरुद्वयं पतति एतादृशः षट्कलस्य कतमो भेद इति पृष्टे, पूर्वोक्तरीत्या यथास्थानं षडङ्कान् संस्थाप्य गुरुशिरःस्थतृतीयाष्टमेत्यङ्कद्वयैक्यक्रिया-निःपन्नैकादशाङ्कबोधितसंख्यायास्त्रयोदशसंख्यामध्ये लोपे उर्वरिता द्वित्वसंख्या, तथा चायं द्वितीयो भेद इति वाच्यम्। एवं यत्रादौ लघुगुरू ततोऽपि लघुगुरू एवं-भूतः षट्कलस्य कतमो भेद इति पृष्टे, उक्तरीत्या उक्तस्थानेषु तत् षडङ्कस्थापने गुरुशिरःस्थद्वितीयाष्टमेत्यङ्कद्वयैक्यक्रियानिःपन्नदशाङ्कबोधि[illegible]संख्यायास्त्रयोदशसंख्या-मध्ये लोपे अवशिष्टा त्रित्वसंख्या, तथा चायं तृतीयो भेद इति वाच्यम्। एवमग्रेऽपि गुरुशिरोऽङ्कसंख्यायाः त्रयोदशसंख्यामध्ये लुप्तोर्वरितसंख्या तत्तद्भेदे वाच्या। षड्लघुरूपे गुरुशिरोङ्काऽभावादायुंसमाजसिद्धस्तादृशस्त्रयोदशो भेदो बोध्यः।

एवं पञ्चकलप्रस्तारेऽपि अनिर्द्धारितप्रथमत्वाद्द्वितीयत्वादिधर्मभेदं लिखित्वा तद्वर्णोपरि एकद्वित्रिपञ्चाष्टेत्यङ्कपञ्चकं यथाप्रस्तारसंख्यं यथाक्रममुत्तरोत्तरं स्थाप्यम्। एवं च यत्रादौ लघुस्ततो गुरुद्वयमीदृशः पञ्चकलस्य कतमो भेद इति पृष्टे, एकद्वि-त्रिपञ्चाष्टेत्यङ्कपञ्चके तथोक्तस्थाने यथाक्रममुत्तरोत्तरं संस्थापिते गुरुशिरःस्थद्वितीय-पञ्चमेत्यङ्कद्वयैक्यक्रियानिःपन्नसप्तमाङ्कबोधितसंख्यायाः सर्वोतिमाष्टमाङ्कबोधितसंख्या-मध्यलोपे उर्वरिता एकत्वसंख्या, एवं चायं प्रथमो भेद इति वाच्यम्। एवं यत्र प्रथमं गुरुलघू ततो गुरुरीदृशो भेदः पञ्चकलस्य कतम इति पृष्टे, एकद्वित्रिपञ्चा-ष्टेत्यङ्कपञ्चके यथास्थानं यथाक्रममुत्तरोत्तरं स्थापिते गुरुशिरःस्थैकपञ्चमेत्यङ्कद्वयमेव लब्धं, लब्धषष्ठसंख्याया अष्टमसंख्यामध्यलोपे उर्वरिता द्वित्वसंख्या, तथा चायं द्वितीयो भेद इति वाच्यम्। एवं यत्र लघुत्रयाते गुरुरीदृशो भेदः कतम इति पृष्टे, पूर्वोक्त-ऽङ्कपञ्चके तथैव स्थापिते गुरुशिरःस्थपञ्चमाङ्कबोधितसंख्यायाः सर्वोतिमाष्टमाङ्कबोधि-ताष्टमसंख्यामध्यलोपे उर्वरिता त्रित्वसंख्या, तथा चायं तृतीयो भेद इति वाच्यम्। एवमग्रेऽपि गुरुशिरोऽङ्कसंख्यामष्टमसंख्याया लुप्तोर्वरितसंख्या तत्तद्भेदे वाच्या।

एवं चतुष्कले द्विगुरुः कतमो भेद इति पृष्टे, एकद्वित्रिपञ्चेत्यङ्कचतुष्टये यथोक्तस्थाने यथाक्रममुत्तरोत्तरं स्थापिते गुरुशिरःस्थैकतृतीयेत्यङ्कद्वयबोधितचतुर्थ-संख्यायाः सर्वोतिमपञ्चाङ्कबोधितसंख्यामध्यलोपे उर्वरिता एकत्वसंख्या, तथा चायं प्रथमो भेद इति वाच्यम्। एवं चतुष्कले आदौ लघुद्वयं ततो गुरुशिरःस्थतृतीया-ङ्कबोधितत्रित्वसंख्यायाः सर्वोतिमपञ्चमाङ्कबोधितसंख्यामध्यलोपे उर्वरिता द्वित्वसंख्या, तथा चायं द्वितीयो भेद इति वाच्यम्। एवं त्रिकले एकद्वित्रीति अङ्कत्रयं, द्विकले एकद्वीत्यङ्कद्वयं संस्थाप्य वाच्यम्॥

४१ अथ वर्णवृत्तमेरुं नष्टप्रकारमाह जहेति। जंके सम विसमे मेलय — मभ — भागं अर्धांशमिति यावत् यथाप्रस्तारसंख्यामिति शेषः करिअइ — कुरुष्व कल्पयेति यावत्, तत्र चा सम भाअइ — सम भागः समस्य भागः सतोवे इत्यर्थः, तह — तत्र लहु — लघु मुणिज्जइ — जानीहि क(य)येति यावत्, बिसम — विषमस्यांकस्य एक — एकम् एकसंख्यायोजनं कृत्वेत्यर्थः, देइ — दत्वा संयोज्येति यावत्, बंटन — वंटनं भागमर्धांशमिति यावत्, किज्जइ — कुरुष्व कल्पयेति यावत् बंटनमिति भागस्थाने देशी तत्र गुरु जाणिज्जइ — गुरुं जानीहि कल्पयेति यावत्। एवंप्रकारेण वर्णवृत्तमेरूणामिति शेषः णट्ठ — नष्टं नष्टप्रकारमिति यावत्, पिंगल जंपइ — पिंगलो जल्पति कथयति॥ समांकभागे वृत्ते योऽङ्कः स लघुस्वरूपः विषमांकभागे योऽङ्कः स गुरुस्वरूपः। विषमांकस्य भागस्तु विषमत्वभंगेन एकेन कल्पनीय इति निर्गलितार्थः। अत्र यद्यपि एकांकेन योजितो विषमः समभावं प्राप्नोति तथापि तस्य भागः विषमांकभाग एवेति, ततो लघुकल्पनभ्रान्तिर्न कर्तव्येति ध्येयम्। यथा —

एकाक्षरवृत्तस्य प्रथमो मेरुः कीदृश इति पृष्टे, एकांके विषमे एकांकयोजनेन कृतभागे एको गुरुः कल्प्यः। अनंतरं चाक्षराभावान्न कल्पना। एवं च एकाक्षरवृत्तस्य प्रथमो मेरुः एकगुरुरिति वाच्यम्। एवमेकाक्षरवृत्तस्य द्वितीयो मेरुः कीदृश इति पृष्टे कल्पनीयः, अनंतरं चाक्षराभावान्न कल्पना एकलघुर्द्वितीयो मेरुः इति वाच्यम्।

एवं द्व्यक्षरवृत्तस्य प्रथमो मेरुः कीदृश इति पृष्टे, पूर्वस्य एकांकस्य विषमस्य एकांकयोजनेन भागे एको गुरुः कल्पनीयः पुनरपि भागलब्धस्यैकांकस्य विषमस्य भागे द्वितीयो गुरुः कल्प्यः। अनंतरं चाक्षराभावान्न कल्पना एवं द्विगुरुर्द्व्यक्षरवृत्तस्य प्रथमो मेरुः इति वाच्यः। एवं द्वितीयो मेरुः कीदृश इति पृष्टे पूर्वस्य द्वितीयांकस्य समस्य भागे एको लघुः कल्पनीयस्ततो भागलब्धस्यैकांकस्य विषमस्यैकेन योजितस्य भागे एको गुरुः कल्प्यः अनंतरं चाक्षराभावान्न कल्पना एवं च प्रथममेको लघुस्तत एको गुरुरीदृशो द्वितीयो मेरुः। एवं द्व्यक्षरवृत्तस्य तृतीयो मेरुः कीदृश इति पृष्टे पूर्वांकस्य तृतीयस्य विषमस्यैकांकयोजनेन भागे प्रथममेको गुरुः कल्पनीयस्ततो भागलब्धस्य द्वितीयांकस्य समत्वाद्भागे एको लघुः कल्प्यः, अनंतरं चाक्षराभावान्न कल्पना एवं च अत्र क्रमेण गुरुलघू भवतः ईदृशो द्व्यक्षरवृत्तस्य तृतीयो मेरुः इति वाच्यम्। एवं चतुर्थो मेरुः कीदृश इति पृष्टे, पूर्वांकस्य चतुर्थस्य समत्वाद्भागे प्रथम एको लघुः कल्प्यः ततो भागलब्धस्य द्वितीयांकस्यापि समत्वाद्भागेऽपि पुनरप्येको लघुः कल्प्यः, अनंतरं चाक्षराभावान्न कल्पना एवं च अत्र लघुद्वयं स द्व्यक्षरवृत्तस्य चतुर्थो मेरुः इति वाच्यम्॥

एव त्र्यक्षरस्य प्रथमो भेदः कीदृश इति पृष्टे पृष्टाकस्य एकस्य विषमत्वादेकांकेन योजितस्य भागे एको गुरुः प्रथम. कल्प्य, ततो भागलब्धस्यैकाकस्य विषमत्वादेकाकयोजनाद्वारद्वय भागे गुरुद्वयकल्पनम्, अनतर चाक्षराभावान्न कल्पना, एव च यत्र गुरुत्रयमीदृशस्त्र्यक्षरवृत्तस्य प्रथमो भेद इति वाच्यम्। एव त्र्यक्षरस्य द्वितीयो भेद. कीदृश इति पृष्टे, पृष्टाकस्य द्वितीयस्य समत्वाद्भागे प्रथममेको लघुः कल्प्यस्ततो भागलब्धस्यैकाकस्य विषमत्वादेकाकयोजनाद्वारद्वय भागे गुरुद्वय कल्पनीयमनतर चाक्षराभावान्न कल्पना, एव यत्र प्रथममेको लघुस्ततो गुरुद्वयमीदृशस्त्र्यक्षरस्य द्वितीयो भेद इति वाच्यम्। एव त्र्यक्षरस्य तृतीयो भेद. कीदृश इति (पृष्टे), पृष्टाकस्य तृतीयस्य विषमत्वादेकाकयोगेन भागकल्पने एकगुरु कल्प्यस्ततो भागलब्धस्य द्वितीयाकस्य समत्वात्तद्भागे लघुः कल्प्यस्ततो भागलब्धस्य एकाकस्य विषमत्वादेकाकयोगेन तद्भागे गुरु कल्प्य, अनतर चाक्षराभावान्न कल्पना, एव च यत्र प्रथममेको गुरुस्ततो लघुगुरू ईदृशस्त्र्यक्षरस्य तृतीयो भेद इति वाच्यम्। एव त्र्यक्षरवृत्तस्य चतुर्थो भेद. कीदृश इति पृष्टे, पृष्टस्य चतुर्थाकस्य समत्वात्तद्भागेऽपि लघुः कल्पनीय., ततो भागलब्धस्यैकाकस्यापि समत्वात्तद्भागेपि लघु कल्पनीय., ततो भागलब्धस्यैकाकस्य विषमत्वादेकाकयोगेन तद्भागे गुरु. कल्पनीयस्तश्चाक्षराभावान्न कल्पना, एव च यत्र प्रथम लघुद्वय तत एको गुरुरीदृशस्त्र्यक्षरवृत्तस्य चतुर्थो भेद. इति वाच्यम्। एवमग्रेऽप्यूह्यम्।

एवं चतुरक्षरस्य प्रथमो भेदः कीदृश इति पृष्टे, पृष्टाकस्यैकस्य विषमत्वादेक दत्वा तद्भागे एको गुरुः कल्पनीयः, ततो भागलब्धस्यैकाकस्य वारत्रयमेकाकयोजनेन भागे गुरुत्रय कल्पयित्वा चतुर्गुरुश्चतुरक्षर (स्य) प्रथमो भेद इति वाच्यम्। एव चतुरक्षरस्य द्वितीयो भेद. कीदृश इति पृष्टे, पृष्टस्य द्वितीयाकस्य समत्वात्तद्भागे एको लघुः कल्पनीयस्ततो भागलब्धस्यैकस्य विषमत्वादेकाक दत्वा वारत्रय भागकल्पने गुरुकल्पने गुरुत्रय कल्पनीयम्, एव च यत्रादौ एको लघुस्ततो गुरुत्रयमीदृशश्चतुरक्षरस्य द्वितीयो भेद इति वाच्यम्। एवमग्रेऽप्यूह्यम्॥

४२ अमुकवर्णवृत्तमात्रागणप्रस्तारयोरेतावद्गुरुलघुको भेदः कतिसख्याक इति अनिर्दिष्टक्रमस्थितिनिर्द्धारितसख्याकगुरुलघुयुक्तत्वरूपप्रस्तारे निर्णीतस्वरूपानिर्द्धारितसख्याभेदनिष्ठाया. एको द्वाविंशत्यादिपिंडीभूतैकत्वद्वित्वादिकाया. निखिलवर्णवृत्तमात्रागणभेदनिष्ठायाश्च पिंडीभूतद्विचतुरष्टषोडशेत्यादिकाया सख्यायानिर्द्धारककोष्ठस्थाकसमूहो वा मेरुः। अत्र निखिलभेदनिष्ठपिंडीभूतद्वित्वचतुष्ट्वादिसख्यानिर्द्धारण तत्तन्मेरुपक्तिनिखिलकोष्ठवर्त्यैकयोजननिष्पन्नाकेन बोध्यमिति गुरूपदेशोऽनुसधेय.। पूर्ववद्द्विविधे, तत्र वर्णमेरुप्रकारमाह। अक्खरसखेति। अक्खर सखे—सख्याताक्षराणाम्। अत्राक्षरपदस्य चरणाक्षरपा-

प्रतीयते। ततस्तृतीयकोष्ठस्यैकाङ्केन द्व्यक्षरस्य द्विलघुरेको भेद इति निर्द्धारितद्वित्वसंख्याकलघुयुक्तद्व्यक्षरभेदनिष्ठैकत्वरूपसंख्या प्रतीयते। कोष्ठत्रयस्थसमस्ताङ्कयोजननिःपन्नचतुर्थाङ्केन च चतुष्ट्वरूपा समस्तभेदसंख्या निश्चीयते, सेयं कोष्ठत्रययुक्ता द्व्यक्षरमेरुपङ्क्तिर्द्वितीया॥

एवमेतत्पङ्क्त्यधोरेखा पार्श्वयोर्मनाग्वर्द्धयित्वैकाङ्गुलमात्रमध्यदेशं त्यक्त्वोपरितनरेखासमानाधस्तद्रेखा कार्या, पार्श्वयोश्च ऋजुरेखया मेलनं कार्यमेवमेकं दीर्घं कोष्ठं निर्माय तत्र उपरितनप्रथमकोष्ठाधोरेखामध्यमारभ्याधोरेखापर्यंतमेका ऋजुरेखा देया, एवं कोष्ठचतुष्टयं संपाद्य तत्राद्यंतकोष्ठयोः प्रत्येकमेकैकोऽङ्को देयस्तदंतरालस्य द्वितीयकोष्ठस्य च तच्छिरःस्थैकद्वितीयेत्यङ्कद्वययोजननिःपन्नतृतीयाङ्केन पूरणं कार्यं, तृतीयकोष्ठस्य च तच्छिरःस्थैकद्वितीयैकेत्यङ्कद्वययोजननिःपन्नतृतीयाङ्केन पूरणं कार्यं, तत्र प्रथमकोष्ठस्यैकाङ्केन त्र्यक्षरस्य त्रिगुरुरेको भेद इति निर्द्धारितत्रित्वसंख्याकगुरुयुक्तत्र्यक्षरवृत्तभेदनिष्ठैकत्वरूपसंख्या प्रतीयते। द्वितीयकोष्ठस्थतृतीयाङ्केन च त्र्यक्षरस्य द्विगुर्वेकलघुयुक्तं भेदत्रयमिति निर्द्धारितद्वित्वैकत्वसंख्याकगुरुलघुयुक्तत्र्यक्षरभेदनिष्ठत्रित्वगुरुरूपसंख्या निश्चीयते। एवं तृतीयकोष्ठस्थतृतीयाङ्केन (त्र्य)क्षरस्यैकगुरुद्विलघुयुक्तं भेदत्रयमिति निर्द्धारितैकत्वद्वित्वसंख्याकगुरुलघुयुक्तत्र्यक्षरभेदनिष्ठक(त्रित्व) रूपसंख्या निश्चीयते। एवं चतुर्थकोष्ठस्यैकाङ्केन त्र्यक्षरस्य त्रिलघुयुक्त एको भेद इति निर्द्धारितत्रित्वसंख्याकलघुयुक्तत्र्यक्षरभेदनिष्ठैकत्वरूपसंख्या प्रतीयते। कोष्ठचतुष्टयस्थसर्वाङ्कयोजननिष्पन्नाष्टमाङ्केन च त्र्यक्षरस्याष्टौ भेदा इति समस्ता त्र्यक्षरवृत्तभेदसंख्या निश्चीयते, सेयं तृतीया कोष्ठचतुष्टययुक्ता तृतीयाक्षरमेरुपङ्क्तिः।

एवं पूर्वोक्तरीत्यैकं दीर्घं कोष्ठं निर्माय तत्र कोष्ठपञ्चकं विधाय प्रथमान्त्ययोः कोष्ठयोरेकैको देयः, अंतरालस्थस्य द्वितीयकोष्ठस्य शिरःस्थैकतृतीयेत्यङ्कद्वययोजननिःपन्नचतुर्थाङ्केन पूरणं विधेयं, तृतीये कोष्ठस्य च शिरःस्थतृतीयाङ्कद्वययोज(न)निःपन्नषष्ठाङ्केन पूरणं विधेयं, चतुर्थकोष्ठस्य च शिरःस्थतृतीयैकेत्यङ्कद्वययोजननिःपन्नचतुर्थाङ्केन पूरणं विधेयं, तत्र प्रथमकोष्ठस्यैकाङ्केन चतुरक्ष(र)वृत्तस्य चतुर्गुरुरेको भेद इति निर्द्धारितचतुष्ट्वसंख्याकगुरुयुक्तचतुरक्षरवृत्तभेदनिष्ठैकत्वसंख्या प्रतीयते। द्वितीयकोष्ठस्थचतुर्थाङ्केन च चतुरक्षरस्य त्रिगुर्वेकल(ल)घुयुक्तं भेदचतुष्टयमिति निर्द्धारितत्रित्वैकत्वसंख्याकगुरुलघुयुक्तचतुरक्षरभेदनिष्ठचतुष्ट्वरूपसंख्या प्रतीयते। ततः चतुर्थकोष्ठस्थचतुर्थाङ्केनैकगुरुत्रिलघुयुक्तं चतुरक्षरस्य भेदचतुष्टयमिति निर्द्धारितैकत्वत्रित्वसंख्याकगुरुलघुयुक्तचतुरक्षरभेदनिष्ठचतुष्ट्वरू(रू)पसंख्या निश्चीयते। ततः पञ्चमकोष्ठस्यैकाङ्केन चतुर्लघुयुक्तश्चतुरक्षरस्यैको भेद इति निर्द्धारितचतुष्ट्वसंख्याकलघुयुक्तचतुरक्षरभेदनिष्ठैकत्वरूपसंख्या निश्ची-

नियमात् प्रथमप्राप्तमङ्कमित्यर्थः, परितेज्ञसु—परित्यज । यस्य पूर्वाङ्कस्य यत्पराङ्कयोजने पूर्वप्राप्तोऽङ्को निष्पद्यते तस्य तत्र योजन न कार्यमिति द्वितीयो नियम इत्यर्थः । एव प्रकारेण वर्णानामिति शेष, पताका किज्जसु—पताका कुरु इति योजना ।

अत्र य. पूर्वाङ्क यत्र पराङ्के प्रथम योज्यते तद्योजननिःपन्ना अङ्काः तत्पराङ्कादधोऽधः स्थाप्या इति नियमो गुरूपदेशादवधारणीय. । पूर्वाङ्कस्य सर्वपराङ्कयोजने येऽङ्का निःपद्यते ते. कोष्ठपङ्क्तिर्बोध्या ।

अथैतदनुसारेण चतुर्वर्णपताकालिखनप्रकार उच्यते । चतुर्वर्णपताकायामादौ एक कोष्ठ कर्तव्य, तत ऊर्ध्वाधः कोष्ठचतुष्टय कल्पनीय, तत ऊर्ध्वाधः कोष्ठषट्क, ततः ऊर्ध्वाधः कोष्ठचतुष्टयं, ततएकः कोष्ठ. । एव परस्परसश्लिष्टरेख कोष्ठस्थानपचक विधाय, यत्रोपरितनप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थपचमकोष्ठेषु एकद्विचतुरष्टषोडशेति पचाङ्का यथाक्रम स्थाप्याः, तत्र प्रथमकोष्ठस्थानमेकाङ्कयुक्तमिति सर्वापेक्षया पूर्वं एकोऽङ्कः, स च उत्तरवर्त्तिषु द्वितीयचतुर्थाष्टमाङ्केषु योज्यमानः प्रथम द्वितीयाङ्के योज्यते इति तद्योजननि'पन्ना अङ्का द्वितीयाङ्कादधोऽधः स्थाप्या इति एकाङ्कद्वितीयाङ्कयोजननि पन्नस्तृतीयाङ्को द्वितीयाङ्कादधः स्थाप्य, तत एकाङ्कचतुर्थाङ्कयोजननि पन्नः पचमाङ्कस्तृतीयाङ्कादधः स्थाप्यः, ततः एकाष्टमाङ्कयोजननि'पन्नो नवमोऽङ्कः पचमाङ्कादधः स्थाप्यस्तत एकाङ्कस्य षोडशाङ्कयोजने सप्तदशोऽङ्कः प्रस्तारसख्यातोऽधिकसख्याको निःपद्यते इति तस्य तत्र योजन न कार्यमेवं प्रथमाङ्कस्य द्वितीयचतुर्थाष्टमाङ्केषु योजन कृत्वा निःपन्नद्वितीयतृतीयपचमनवमैश्चतुर्भिरङ्कैर्द्वितीयस्थानकोष्ठपङ्क्तिः कल्पनीया । एतत्कोष्ठपङ्क्तिस्था द्वितीयादयश्चत्वारोऽप्यङ्काश्चतुर्थाष्टमाङ्कपूर्ववर्त्तित इति क्रमेण तयोर्योज्यमानाः प्रथम चतुर्थाङ्के योज्यते तततद्योजननि पन्ना अङ्काश्चतुर्थाङ्कादधोऽधः स्थाप्या इति, द्वितीयचतुर्थाङ्कयोजननि'पन्न सप्तमोऽङ्क. षष्ठाङ्कादधः स्थाप्यः, ततः पचमचतुर्थयोजने नवमाङ्कः प्रथमप्राप्तो नि'पद्यते इति तस्य तत्र योजन न कार्यमिति, पचमाष्टमाङ्कयोजननिःपन्नस्त्रयोदशाङ्कः सप्तमाङ्कादधः स्थाप्यः, एव द्वितीयादिचतुर्णामङ्काना चतुर्थाङ्के योजन कृत्वा द्वितीयाष्टमाङ्कयोजननिःपन्नो दशमाङ्कस्त्रयोदशाङ्कादधः स्थाप्यस्ततः तृतीयाष्टमयोजननि पन्न एकादशाङ्को दशमाङ्कादध. स्थाप्य, तत पचमाष्टमयोजननिःपन्नस्त्रयोदशाङ्क प्रथमप्राप्तो निःपद्यते इति तयोर्योजन न कार्यं, नवमाष्टमयोजननि.पन्न. सप्तदशो नवमषोडशयोजननि पन्नः पचविंशतितमश्चाङ्क प्रस्तारसख्यातोऽधिकसख्याको नि.पद्यते इति तद्योजन न कार्यम् । एव द्वितीयाद्यङ्काना चतुर्थाष्टमाङ्कयोर्योजनं कृत्वा चतुर्थषष्ठसप्तमत्रयोदशदशमैकादशेति षडङ्कैः तृतीयस्थानकोष्ठपङ्क्तिः कल्पनीया, ततश्चतुर्थादयः षडङ्काअष्ट माङ्कपूर्व (व) र्त्तिन इति तेषा तत्र योजने

परस्परससक्तानि कोष्ठकानि उत्तरोत्तर वर्द्धितानि गुरूपदेशात् कल्पनीयानीति निर्गलितार्थः । अत्र कोष्ठसादृश्य समसख्याकत्वमेव । तसु—तेषु कोष्ठेषु, अत—अतिमे कोष्ठे इत्यर्थः, पढम अक—प्रथमोऽकः स्थाप्य इति शेषः, तसु आइहि—तेष्वाद्येषु कोष्ठेषु मध्ये (पुनः) विषमे प्रथमतृतीयपचमसप्तमादिकोष्ठेषु, एक्क—एकः अकः स्थाप्य इत्यनुषगः । क्वचिद्विषमे इत्यस्य स्थाने पढम इति पाठः, तत्र समादित्यध्याहृत्य योज्यम्, एवं च समात्प्रथमे पूर्ववर्तिनि विषम इति, स एवार्थः, यतः समात्पूर्ववर्त्ती विषम एवेति, सउ—समेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिषु कोष्ठेषु, बेवि मिलत—द्वौ मिलितौ पूर्वाकाविति शेषः, स्थापयेत्यनुषगः । आद्या ये विषमाः कोष्ठास्तेष्वेकाको देयः, ये समास्तेषु पूर्ववर्त्यकद्वययोजननिःपन्नोऽको देय इत्यर्थः । ततः उबरल कोढ—उर्वरितानि आन्तरालस्थितानि कोष्ठकानीत्यर्थः । सिर अके तसु सिर पर अके—शिरोका तच्छिरउपर्यकाभ्या, णीसक (के)—निःशकं यथा स्यात् पूरह—पूरय, एव अक सचारिअकान् संचार्य संस्थाप्य, जण दुइ चारि—जना द्विचत्वारः, मत्ता मेरु—मात्रामेरु जाणह—(बुज्झहु) बुध्यध्वम् इति योजना ।

अथैतन्निर्माणप्रकारो लिख्यते । एककलप्रस्ताराभावात् द्विकलमारभ्य मेरुप्रवृत्तिः । एव च प्रथम वामदक्षिणयो रेखागुलमात्रदीर्घं मध्ये रेखाभूतमूर्ध्वमधश्च द्वयगुलमात्रमंतरं विसृज्योर्ध्वाधो रेखात्रय कार्यं, ततस्तत्पार्श्वद्वयमेलनम् ऋजुरेखया कार्यम्, एव दीर्घकोष्ठद्वय विधाय तत्र प्रथमरेखामध्यदेशमारभ्याधस्तनतृतीयरेखामध्यदेशपर्यंतम् एकाम् ऋजुरेखा दत्वा प्रथमस्थाने ऊर्ध्वाधःस्थित्या परस्परससक्तं कोष्ठकचः चतुष्टय कार्यं, तत्रातिमकोष्ठयोः प्रत्येकमको देयः, आद्ये उपरितने प्रथमे च विषमत्वादेको देयः, तदधस्तने च द्वितीयत्वात् समे उपरितनकोष्ठद्वयस्थैकाकद्वयरूपपूर्व्वांकद्वययोजननिःपन्नद्वितीयाकेन पूरण विधेयम् । एव चोपरितनकोष्ठद्वयं द्विकलमेरुपक्तिः, तत्र प्रथमकोष्ठस्थैकाकेन द्विकलस्यैक गुरुरूप एको भेद इति, द्वितीयकोष्ठस्थैकाकेन च द्विलघुरेको भेद इति प्रतीयते । कोष्ठद्वयस्थैकाकद्वययोजननिःपन्न द्वितीयाकेन च द्विकलस्य भेदद्वयमिति द्विकलगणभेदपिंडीभूता समस्ता द्वित्वसख्या प्रतीयते । एवमधस्तनकोष्ठद्वय त्रिमात्रमेरुपक्तिः, तत्र प्रथमकोष्ठस्थद्वितीयांकेन त्रिकलप्रस्तारे एकगुरुयुक्तं भेदद्वय, द्वितीयकोष्ठस्थैकाकेन च त्रिलघुयुक्त एको भेद इति प्रतीयते । कोष्ठद्वयस्थद्वितीयैकेत्यकद्वययोजननिःपन्नतृतीययाकेन च त्रिकलस्य समस्तास्त्रयो भेदा इति पिंडीभूता समस्ता त्रित्वरूपा त्रिकलगणभेदसख्या प्रतीयते । ततोऽधस्तनीं तृतीया रेखामाप्रतपार्श्वयोर्मनाग्वर्द्धयित्वाऽधोध एकैकमगुलमतर विसृज्य तत्परिमाण रेखाद्वय कार्यम्, ऋजुरेखया

दग्रिमतृतीयकोष्ठस्थपञ्चमाङ्केन च तत्र प्रस्तारे एकगुरुयुक्ताः पञ्च भेदा इति प्रतीयते। तदग्रिमचतुर्थकोष्ठस्थैकाङ्केन च षड्लघुयुक्त एको भेद इति प्रतीयते। कोष्ठचतुष्टयस्थाङ्कचतुष्टययोजननिःपन्नत्रयोदशाङ्केन च समस्ता पिंडीभूता षट्कलप्रस्तारे सख्या त्रयोदशरूपा प्रतीयते। तत्र प्रथमकोष्ठे च सर्वापेक्षया षष्ठत्वात्सप्तमे एकतृतीयेतिपूर्वाङ्कद्वययोजननिःपन्नचतुर्थाङ्केन पूरण कार्यम्। तदग्रिमे द्वितीयकोष्ठे शिरोऽङ्कतच्छिरोऽङ्कषष्ठचतुर्थेत्यङ्कद्वययोजननिःपन्नदशमाङ्केन पूरण कार्यम्। तदग्रिमतृतीयकोष्ठे च शिरोऽङ्कतच्छिरोऽङ्कपञ्चमैकेत्यङ्कद्वययोजननिःपन्नषष्ठाङ्केन पूरण कार्यम्। अधस्तन कोष्ठचतुष्टय च सप्तकलचतुर्थाङ्केन सप्तकलप्रस्तारे त्रिगुरुयुक्त भेदचतुष्टयमिति प्रतीयते। तदग्रिमद्वितीयकोष्ठस्थदशमाङ्केन च तत्र प्रस्तारे द्विगुरुयुक्ता दश भेदा इति प्रतीयते। तदग्रिमतृतीयकोष्ठस्थषष्ठाङ्केन च तत्र प्रस्तारे एकगुरुयुक्ताः षड्भेदा इति प्रतीयते। तदग्रिमचतुर्थकोष्ठस्थैकाङ्केन च तत्र प्रस्तारे सप्तलघुयुक्त एको भेद इति प्रतीयते। कोष्ठचतुष्टयस्थाङ्कचतुष्टययोजननिःपन्नैकविंशतितमाङ्केन च समस्ता पिंडीभूता एकविंशतिरूपा सप्तकलमेरुपङ्क्तिः। एवमग्रेऽपि मेरुकल्पना यथेच्छ विधेया। अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तरभयात्प्रयोजनाभावाच्च न लिखिता।

४७ ४८—अथ मात्रापताकानिर्माणप्रकारमाह, उद्दिट्ठा सरि अका इति। उद्दिट्ठा सरि अका—अत्र उद्दिष्टपदस्योद्दिष्टाङ्कपरत्वादुद्दिष्टाङ्कसदृशानङ्कानेकद्वित्रिपञ्चाष्टत्रयोदशादिरूपानित्यर्थः। थप्पहु—क्रमेणोत्तरोत्तर स्थापयत तान् इति शेषः। वामावत्ते—वामावर्तेन प्रतिलोमविधिना सर्वान्तिमाङ्काव्यवहितपूर्वाङ्कमारभ्येति यावत्। लेइ—गृहीत्वा, पर—परस्मिन्, सर्वान्तिमाङ्के, लुप्पह—लोपयत न्यूनता नयत सर्वान्तिमेऽङ्के तदव्यवहितपूर्वाङ्कमारभ्य पूर्वपूर्वाङ्काः क्रमेण लोप्याः, तत्र एक्क लोपे—एकलोपे, अत्र एकपदस्यैकाङ्कपरत्वादेकाङ्कलोपे इत्यर्थः, एक्क गुरु जाणहु—एकगुरु जानीत। दुत्तिणिलोपे—द्वित्राणामङ्काना लोपे, दुत्तिणि—द्वित्रान् गुरून् जाणहु—जानीत। एकैकपूर्वाङ्कलोपे येऽङ्का अवशिष्यन्ते ते एकगुरुयुक्तभेदज्ञापकाः, पूर्वाङ्कद्वयलोपे येऽङ्का अवशिष्यन्ते ते गुरुद्वययुक्तभेदज्ञापकाः, पूर्वाङ्कत्रयलोपे चेवशिष्यन्ते गुरुत्रययुक्तभेदज्ञापका इति निर्गलितार्थ। एव प्रकारेण पिंगल णाग—पिंगलो नाग मत्त पताका—मात्रापताका गावइ—गायति कथयतीत्यर्थः। जो पावइ—य प्राप्नोति गुरूपदेशाज्जानाति, सो परहि बुझावइ—स पर बोधयति इति योजना। अत्र (१) एकत्वसख्याविशिष्टो द्वित्वसख्याविशिष्टो च पूर्वाङ्क प्रथम सर्वान्तिमाङ्के लुप्यते तदव्यवहितपूर्वाङ्कमारभ्यतेऽवशिष्टाङ्काः क्रमेणाधोध स्थाप्या इति, यदङ्कद्वयलोपे अन्योऽवशिष्यते पूर्वप्राप्तो वाऽङ्कः प्राप्यते तदङ्कद्वयलोपो न कार्य इति नियमत्रय गुरूपदेशादध्यवसेयम्।

तदग्रिमतृतीयकोष्ठस्थपचमाकेन च तत्र प्रस्तारे एकगुरुयुक्ताः पच भेदा इति प्रतीयते। तदग्रिमचतुर्थकोष्टस्थैकाकेन च पट्लघुयुक्त एको भेद इति प्रतीयते। कोष्ठचतुष्टयस्थाकचतुष्टययोजननिःपन्नत्रयोदशाकेन च समस्ता पिंडीभूता पट्कलप्रस्तारे सख्या त्रयोदशरूपा प्रतीयते। तत्र प्रथमकोष्ठे च सर्वापेक्षया षष्ठत्वात्समे एकतृतीयेतिपूर्वाकद्वययोजननिःपन्नचतुर्थाकेन पूरण कार्यम्। तदग्रिमे द्वितीयकोष्ठे शिरोऽकतच्छिरोंकपष्ठचतुर्येत्यकद्वययोजननि पन्नदशमाकेन पूरण कार्यम्। तदग्रिमतृतीयकोष्ठे च शिरोऽकतच्छिरोऽकपचमैकेत्यकद्वययोजननि-पन्नपष्ठाकेन पूरण कार्यम्। अधस्तन कोष्ठचतुष्टय च सप्तकलचतुर्थाकेन सप्तकल-प्रस्तारे त्रिगुरुयुक्त भेदचतुष्टयमिति प्रतीयते। तदग्रिमद्वितीयकोष्ठस्थदशमाकेन च तत्र प्रस्तारे द्विगुरुयुक्ता दश भेदा इति प्रतीयते। तदग्रिमतृतीयकोष्ठस्थषष्ठाकेन च तत्र प्रस्तारे एकगुरुयुक्ताः षड्भेदा इति प्रतीयते। तदग्रिमचतुर्थकोष्ठस्थैकाकेन च तत्र प्रस्तारे सप्तलघुयुक्त एको भेद इति प्रतीयते। कोष्ठचतुष्टयस्थाकचतुष्टययो-जननि पन्नैकविंशतितमाकेन च समस्ता पिंडीभूता एकविंशतिरूपा सप्तकलमेरुपक्ति। एवमग्रेऽपि मेरुकल्पना यथेच्छ विधेया। अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तर-भयात्प्रयोजनाभावाच्च न लिखिता।

४७ ४८—अथ मात्रापताकानिर्माणप्रकारमाह, उद्दिट्ठा सरि अका इति। उद्दिट्ठा सरि अका—अत्र उद्दिष्टपदस्योद्दिष्टाकपरत्वादुद्दिष्टाकसदृशानकानेकद्वित्रिपचाष्ट त्रयोदशादिरूपानित्यर्थ. थप्पह—क्रमेणोत्तरोत्तर स्थापयत तान् इति शेष। वामावत्ते—वामावर्तेन प्रतिलोमविधिना सर्वोतिमाकाव्यवहितपूर्वाकमारभ्येति यावत्। लेइ—गृहीत्वा, पर—परस्मिन्, सर्वोतिमाके, लुप्पह—लोपयत न्यूनता नयत सर्वोतिमेऽके तद यवहितपूर्वाकमारभ्य पूर्वपूर्वाका. क्रमेण लोप्याः, तत्र एक लोपे—एकलोपे अत्र एकपदस्यैकाकपरत्वादेकाकलोपे इत्यर्थ, एक्क गुरु जाणहु—एकगुरु जानीत। दुत्तिणिलोपे—द्वित्राणामकाना लोपे, दुत्तिणि—द्वित्रान् गुरून् जाणहु—जानीत। एकैकपूर्वाकलोपे येऽका अवशिष्यते ते एकगुरुयुक्तभेदज्ञापका, पूर्वाकद्वयलोपे येऽका अवशिष्यते ते गुरुत्रययुक्तभेदज्ञापका., पूर्वाकत्रयलोपे येव-शिष्यते गुरुत्रययुक्तभेदज्ञापका इति निर्गलितार्थ.। एव प्रकारेण पिंगल णाग—पिंगलो नाग मत्त पताका—मात्रापताका गावइ—गायति कथयतीत्यर्थ। जो पावइ—य प्राप्नोति गुरूपदेशाज्जानाति, सो परहि बुझावइ—स पर बोधयति इति योजना। अत्र (?) एकत्वसख्याविशिष्टो द्वित्वसख्याविशिष्टो च पूर्वाङ्क प्रथम सर्वातिमाके लुप्यते तदव्यवहितपूर्वाङ्कमारभ्यतेऽवशिष्टाका. क्रमेणाधोध स्थाप्या इति, यदकद्वयलोपे अन्योऽवशिष्यते पूर्वप्राप्तो वाऽक. प्राप्यते तदकद्व-यलोपो न कार्य इति नियमत्रय गुरूपदेशादध्यवसेयम्।

कस्य षट्कलभेदस्य त्रिगुरुयुक्तो भेद प्रथम इति प्रातिस्विकरूपज्ञापकः प्रस्तोष्टे ऽस्त्येनेति सर्वमनवद्यम् ।

४९ अथैतावत्संख्याककलाविशिष्टैतावत्संख्याकाक्षरचरणे वृत्ते कति गुरवः कति लघव इति कौतुकात्केनचित्पृष्टे उत्तरप्रकारमाह, पुच्छलेति । पुच्छल छद कला पृष्टच्छदःकलायाम्, अत्र कलापदस्य कलासंख्यापरत्वात्पृ(ष्ट)च्छन्द.कलासंख्यायामित्यर्थ. । यस्य गुरुलघुजिज्ञासा तत्पृष्ट छदस्तस्य या मात्रासंख्या तन्मध्ये इत्यर्थ । पुच्छल (अक) छद—पृष्ट छद , अत्रापि छद पदस्य छदोऽक्षरसंख्यापरत्वात्पृष्टछदोऽक्षरसंख्यामित्यर्थ. । मेटाव—हीना कुरु । एव करि—(एव) कृत्वा एव कृते सतीत्यर्थ. । अवसिट्ठउ—अवशिष्ट संख्येति शेष', कलासंख्याग योर्वरिता संख्येत्यर्थ., गुरु जाणिअहु—गुरोर्ज्ञातव्या, उताव—उर्वरिता गुरुसंख्यातिरिक्ता वृत्ताक्षरसंख्येति यावत् । लघु जाणिअ—लघोर्ज्ञातव्या । यथा अष्टादश कलाविशिष्टैकादशाक्षरचरणे वृत्ते गुरवो लघवश्चेति पृष्टे, अष्टादशरूपकलासंख्यामध्य एकादशरूपाक्षरसंख्यालोपे उर्वरिता सप्तसंख्या, सा गुरुसंख्या ज्ञेया । एकादशाक्षरमध्ये यदि सप्त गुरवस्तदोर्वरिता चतुष्टयसंख्या, लघोर्ज्ञातव्या, एव चैतादृशचरणे वृत्ते सप्त गुरवश्चत्वारो लघव इत्युत्तर देयमिद च वृत्तमिंद्रवज्राख्यमेवमन्यत्राप्यूह्यम् ।

५० अथैकाक्षरमारभ्य षड्विंशत्यक्षरपर्यंतसमस्तवर्णवृत्तपिंडीभूतसंख्यामाह छव्वीसेति । षड्विंशति. सप्तशतानि तथा सप्तदशसहस्राणि द्विचत्वारिंशल्लक्षाणि त्रयोदशकोट्य., एव समग्राणि एकाक्षरादिषड्विंशत्यक्षरपर्यन्तानीत्यर्थ. वर्णवृत्तानि भवन्तीति शेष. । मात्रावृत्तानामसंख्यातत्वात्तत्संख्या नोक्ता, वर्णवृत्ताना प्रत्येकसंख्या ग्रथविस्तरभयादनतिप्रयोजनत्वाच्चास्माभिरत्र नोक्ता ।

५१ अथ पुरस्ताद्वक्ष्यमाणाना गाहूप्रभृतिसप्तमात्राच्छन्दसा सामान्यतश्चरणचतुष्टयसमुचिता संख्या रड्डावृत्तेनोद्दिशति, होइ गाहू इति । गाहूनामके छदसीत्यर्थः मत्त चौअण—मात्राश्चतु:पचाशत् , होइ—भवति, तह गाहाइ सत्तावणइ—तथा गाथाया सप्तपचाशत् मात्राः भवतीति पूर्वानुषग., तेहि—ता गाथो पल्लट्टि—परावर्त्य, गाथाया. पूर्वार्द्धम् उत्तरार्द्धं कृत्वा उत्तरार्द्धं (च पूर्वार्द्धं) कृत्वेत्यर्थ., विग्गाह—विगाथा, किज्जिअइ—क्रियते । अत्र तेहि इत्येकारो ह्रस्वो बोध्य एओ सुद्धा अ वण्ण मिलिआ वि लहू इत्युक्तत्वात् । उग्गाहउ—उद्गाथा छट्ठिकला षष्टिकला षष्टि. कला मात्रा यस्या सेत्यर्थ , गाहिणिअ—गाहिन्या, बासट्ठि—द्विषष्टिः, मत्तह—मात्रा करु—कुरु, तह वि पलट्टिअ—तद्विपरीताया तस्या गाहिन्या. विपरीतायामित्यर्थ. सिंहिणी—सिंहिन्यां, बे अग्गल—द्व्यधिका, सट्ठि—षष्टिः

मात्रा इत्यनुषंगः, होइ—भवन्ति अत्र हो इत्योकारः पूर्वोक्तदिशा ह्रस्वो बोध्यः। अथ क्वचित् तह गाहाए सत्ता(त्त)वण्णी इति, सह विमाइ पञ्चाइ किज्जइ इति च पाठः, स उद्‌घाटनचणिकस्वरस्तदुपेक्ष्य। तंच—तच्चके, मत्त चो (चउ) सट्ठि—मात्राः चतुःषष्टिर्भवन्तीत्यनुषंगः। एतानि तत्तरूअ—तत्तरूपाणि छन्दांसि अण्णोण्णगुण—अन्योन्यगुणानि, अन्योन्यं गुणाः पदानाम नतमेवमाद्यपादात्गुर्वन्तमे येषां तादृशानीत्यर्थं भवन्तीत्यनुषंगः, इति योजना।

५२ अथ गाहूप्रभृतिकसप्तछन्दस्सु सामान्यतो मात्रा उदीरय विशेषस्थानि विशदयितुं प्रथमं गाहूं लक्षयति पुव्वद्धे इति। यत्र पुव्वद्धे उत्तद्धे पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे पढमतइअ्भे—पादयोमध्ये पूर्वार्द्धे प्रथमद्वितीयपादयोर्मध्ये, उत्तरार्द्धे तृतीयचतुर्थयोः पादयोर्मध्ये इत्यर्थः। सत्तमत्त—सप्ताधिका, मत्त बीसाई—मात्रा विंशतिः, सप्तविंशतिर्मात्रा इत्यर्थः पतंतीति शेषः छट्ठमगण—षष्ठो गण, मेरुम मुणिज्जई—मेरोः मुणित्वं, मेरुवत्गुरुसयुगलामित्यर्थः। पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे च प्रत्येकं गुर्वन्ता सप्तगणाः स्थाप्यास्तत्र षष्ठस्थाने पञ्चो लघ्वारम्भो गणः स्थाप्य, अन्यत्र चतुर्मात्रिक इत्यर्थः, एवं च पञ्चा चतुर्मात्रिकगणानां चतुर्विंशतिर्मात्रा एका च मात्रा षष्ठस्थानस्थलघोर्मात्राद्वयं चान्त्यगुरोरेवमत्र सप्तविंशतिमात्राः पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे च प्रत्येकं पतंति, तद्गाहूनामकं छंद इति निर्गलितार्थः।

५३ गाहूमुदाहरति, चंदा इति। चंद्रः चन्दनं हारो मुक्तादाम एते तावत् रूपं स्वकांति प्रकाशयंति। चंडेश्वरवरकीर्तिः चाव—यावत् अप्पं—आत्मानं स्वं, न (ण) णिद्दंसेइ—न निदर्शयति प्रकटयति।

५४ अथ गाथां लक्षयति पढममिति। यत्र पढमं—प्रथममाद्यचरणे इत्यर्थः बारह मत्ता—द्वादशमात्राः पतंतीति शेषः या च बीए—द्वितीये चरणे इत्यर्थः, अट्ठारहहिं—अष्टादशभिः मात्राभिरिति शेषः संजुत्ता—संयुक्ता। यस्याश्च यह पढमं तह तीअ—यथा प्रथमस्तथा तृतीयः चरण इति शेषः द्वादशमात्रायुक्त इत्यर्थः या च चउत्थे चरणे इति शेषः दहपंचविहूसिआ—पंचदशभिर्मात्राभिरिति शेषः विभूषिता सा गाहा गाथानामकं छंद इत्यर्थः।

५५—गाथामुदाहरति जेणेति। येन (जेण) विणा ण जिविज्जइ—येन विना न जीव्यते स अणुणिज्जइ सो कआवराहोवि—कृतापराधोऽपि, अणुणिज्जइ—अनुनीयते। धनमेवार्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति पत्ते बीति। पत्ते वि—प्राप्तेऽपि नअरडाहे—नगरदाहे, अग्गी—अग्निः कस्स ण वल्लहो—कस्य न वल्लभ इति प्रश्न—वर अपि तु सर्वस्यापि वल्लभ इत्यर्थः। मानवतीं कांचिन्नायिकां प्रति सखी वाक्यमेतत्। अत्र च वक्ष्यमाणभेदेषु पूर्णनामको दशमो भेद इति बोध्यम्।

५६—अथ गाथाया मात्रानियममुक्त्वा गणनियममाह सत्तेति । गाहे—गाथाया, सत्तगणा दीहंता—सप्तगणा. दीर्घान्ता. दीर्घो गुरुस्तदन्ताः भवति । अत्र विशेषपरोऽपि दीर्घशब्द. सामान्यगुरुपरो ज्ञेय., एव च पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे च गुर्वन्ताश्चतुर्मात्रिकाः सप्तगणा' कर्त्तव्या इत्यर्थ., इह इत्यग्रेतनस्यानुकर्षः, इह गाथाया छट्ठ—षष्ठः गणः, जो ण लहु—जो जगण. गुरुमध्यः, नलघु लघुयुक्तो नगणो वा भवति, कर्त्तव्येषु गुर्व्वन्तसप्तगणेषु षष्ठो जगणश्चतुष्कलः (१) नगणो वा देय इत्यर्थ. । एत्थ जो विसमे—इह गाथाया विषमे (प्रथमे) तृतीये पचमे सप्तमे च स्थान इत्यर्थः यो (जो) जगणो गुरुमध्यो न पततीत्यर्थ., तह—तथा, बिअ अद्धे—द्वितीयार्द्धे छट्ठ लहुअ विआणेहु—षष्ठ गण लघुकम् एककलघुरय विजानीत, एव च पूर्वं नलघुजगणयोरन्यतरदान पूर्वार्द्धाभिप्रायेणेति प्रतीयते, तथा च मध्यलघु (गुरु.) गण. लघुसयुक्तो नगणस्त्रिलध्वात्मको वा लगणः पूर्वार्द्धे षष्ठे विधेय., उत्तरार्द्धे च एककलध्वात्मक एव षष्ठोगणो विधेय इति भाव. ।

५७—अथ गाथाया वर्त्तमानषड्विंशतिविधाया समुदितमात्रानियममाह, सव्वाए इति । पुव्वद्धम्मि अ तीसा—पूर्वार्द्धे त्रिंशत् परार्द्धे उत्तरार्द्धे इत्यर्थः सत्ताईसा—सप्तविंशति । एव प्रकारेण सव्वाए गाहाए—सर्वस्या गाथाया सत्तावण्णाइ—सप्तपचाशत् मत्ताई—मात्रा होंति भवतीत्यर्थ. । पूर्वार्द्धे षष्ठे चतुर्मात्रिकस्य जगणस्य लघुयुक्तनगणस्य वा दानात्त्रिंशन्मात्रा. पतति, उत्तरार्द्धे च च षष्ठस्थाने एककलध्वात्मकस्यैव गणस्य दानात्तदपेक्षाया मात्रात्रय न्यून भवतीति सप्तविंशतिमात्रा पततीत्यर्थ' ।

५८—अथानुपदमेव वक्ष्यमाणेषु प्रथम भेद लक्ष्मीनामक लक्षयति सत्ताइसेति । जस्सम्मि—यस्या, सल्ला—श्लाघ्या. सत्ताइसा हारा.—सप्तविंशतिर्दीर्घाः गुरव इत्यर्थ, तिण्णि रेहाई—तिस्रो रेखा लघवश्चेत्यर्थः, पततीति शेषः, सा गाहाण—गाथाना मध्ये, आआ—आद्या प्रथमेति यावत्, तीसक्खरा-त्रिंशदक्षरा, लच्छी—लक्ष्मी, गाहा—गाथा, सा लक्ष्मीनाम्नी गाथेत्यर्थः । अयमर्थः—पूर्व गाथायाः प्रथमचरणे द्वादशमात्रादानमुक्तं, तासां च षड्गुरवो भवति, द्वितीयचरणे अष्टादशमात्रादानमुक्त, तत्र षष्ठस्थानपतितजगणाद्यतस्थलघुद्वयवर्जनात्तासामष्टौ गुरवो भवतीति पूर्वार्द्धे चतुर्दश गुरव', एव तृतीयेऽपि चरणे द्वादशमात्रादानस्योक्तत्वात्तासा षड्गुरव चतुर्थे च पचदशमात्रा दानस्योक्तत्वात्तत्र षष्ठस्थानपतितैकलध्वात्मकगणवर्जनात्तासा सप्त गुरव, इति उत्तरार्द्धे त्रयोदश गुरव, एव पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोस्सकलने सप्तविंशतिर्गुरवः पूर्वार्द्धजगणाद्यतस्थौ द्वौ लघू, उत्तरार्धे च षष्ठस्यैकलघुरेव त्रयो लघवश्चेति त्रिंशदक्षराणि यत्र पतति सा लक्ष्मीनाम्नी गाथेत्यर्थं ।

एक्के जे कुलवती—एकस्मिन् जगणे सति कुलवती होइ—भवति गाथेति शेषः। यथोक्तषष्ठस्थानस्थजगणमात्रेण समीचीना गाथा भवतीति, तदतिरिक्तो जगणः समस्थानेऽपि न कर्तव्य इति भावः। वे णाअक्केण—द्विनायकाभ्या द्वाभ्या जगणाभ्यामिति यावत्, सगहणी—सगृहिणी भवतीति पूर्वेणान्वय., द्वाभ्या नायकाभ्या परस्पर गृहीता कामिनी न सता समता तथेयमपीति, जगणद्वयमत्र न देयमी(मि) ति भावः। णाअकहीना(णा) रंडा—नायकेन जगणेन हीना रहिता, षष्ठे स्थाने नलघुयुक्तेत्यर्थ. रंडेव रंडेत्यर्थः, तथा च यथा नायकेन हीना कामिनी न शोभते तथेयमपीति, वहुधा षष्ठो जगण एव देय इति भाव'। वहुणाअका(का)—वहुनायका बहवो नायका जगणा यस्या. सा तादृशीत्यर्थः, वेश्या होइ—भवति। तथाच यथा वेश्या सतामनादरणीया तथेयं, बहवो जगणा न देया इति भावः।

६४ अथ वर्णभेदेन गाथाया जातिभेदमाह तेरहेति। तेरह लहुआ-त्रयोदशलघुकाक्षराख्या गाथेत्यर्थः सर्वत्र योज्य, विप्पी—विप्रा भवतीति शेष', एआइसेहिं—एकचत्वारिंशद्भिरेकविंशद्भिर्वेत्यर्थः लघुभिरिति शेषः खत्तिणी—क्षत्रिया भणिता। सत्ताईसे—सप्तविंशतिभिर्लघुभिर्वेसी—वैश्या भणितेति पूर्वेणान्वय., सेसा—शेषा, अनुक्तलघुसख्याका सुद्दिणी होइ—शूद्रा भवतीत्यर्थः।

६५ अथ विषमस्थानस्थजगणदोषमाह, जा इति। जा पढम तीअ पचम सत्तम ठाणे—या प्रथमे तृतीये पचमे सप्तमे च स्थाने, ण—ननु निश्चयेनेति यावत्, गुरुमज्झा—गुरुमध्यो जगणस्तद्युक्तेति यावत्, होइ—भवति, सा गाहा—गाथा गुणरहिता, गुव्विणिए—गुर्विणीव दोष प्रकाशयति। तथाच विषमे गाथाया जगणो न देय इति भाव.।

६६ अथ विगाथा लक्षयति विग्गाहेति। विग्गाहा पढम दले—विगाथाप्रथमदले पूर्वार्द्ध इति यावत्, सत्ताईसाई मत्ताई—सप्तविंशतिर्मात्राः भवतीति शेष, पच्छिमदले—पश्चिमदले उत्तरार्द्धे इत्यर्थः, ण—ननु निश्चयेनेत्यर्थ, तीसा—त्रिंशन्मात्रा भवतीति पूर्वेणान्वय, इअ—एव पिंगलेन नागेन जपिअ—जल्पितम्। अय भाव। पूर्व विपरीतगाथा विगाथा भवतीत्युक्ते, तथाच गाथा(या) उत्तरार्द्धम् एव पूर्वार्द्धम् अग्रे देयमित्युक्त भवति, अतएव पूर्वार्द्धे सप्तविंशतिर्मात्रा उत्तरार्द्धे त्रिंशन्मात्रा उक्ता एव चात्रापि पूर्वार्द्धे षष्ठो गण एकलघ्वात्मको देय उत्तरार्द्धे च षष्ठो गणो जगणो नलघ्वात्मको वा देय, विषमे च जगणो न देय एवेति सुधीभिर्ज्ञातव्यम्।

६७—विगाथामुदाहरति परिहरेति। णीवस्य—नीपस्य कदम्बस्य कुसुमानि पेक्खहि—प्रेक्षस्व। कि तावतेत्यत आह तुज्झ कए इति। खरहिअओ—कठिन-

इत्यो निर्दय इति यावत् अम्मो—अमाः पगुरि—पशुरपि गुडिआ गुडिका, यद्वा गुडिआपणुरि इत्येकं पद तस्य वटिकापशुः गुटिकायुक्ता (?) पशुरित्यर्थः। गुलेस इति श्लोके गेण्हइ—गृह्णाति, अतो मानं परित्यज्यताम् ।

६८—उद्गाथां लक्षयति पुब्बद्धे इति । यत्र पु (प) द्धे उत्तद्धे—पूर्वार्द्धे मत्ता तिसत्ति—मात्राः त्रिंशत् संभणिआ—संभणिताः हे सु (सु)मुखि शिष्य। सो—तत् पिंगल भण दिक्ख (?)—पिंगलकथितं दृष्टं, सहि सत्तगो—षष्टिमात्रार्धं षष्टिमात्रात्मकशरीरमित्यर्थः, इमाहो सुयो—गुम्फा (उद्गा) श्रुतम् । गाथा पूर्वार्द्धं लक्षणमेऽपि देयमिति भावः ।

६९—उद्गागाथामुदाहरति सोऊणेति । हे सुमुहि—सुमुखि । जस्स णामं—यस्य नाम सोऊण—श्रुत्वा अंसू—अश्रूणि मुञ्चानि पडमाइ—नयने कम्मंतो रुंधेइ—रुंधति, भवज्जस्स चेइपदणो—चेदिपतेः सुहं—मुखं अपेच्छं—अपेक्ष्य कई—कथं पेक्खामि—पश्यामि इति त्वं मम—कथय ।

७०—अथ गाहिनीं सिंहिनीं लक्षयति पुव्व इति । मुद्धिणि—हे मुग्धे यत्र पुव्वद्धे तीस मत्ता—पूर्वार्द्धे त्रिंशन्मात्रा भवन्तीति शेषः, उत्तद्धे बत्तीसा—उत्तरार्द्धे द्वात्रिंशन्मात्रा भवन्तीति पूर्वेणा(न्व)यः सा गाहिणि—गाहिनी (नी)ति पिंगल पभणेइ—पिंगलः प्रभणति तां मुणेहि—जानीहि मम वाणिमिति शेषः । तथा च सा गाहिनी विवरीअ—पराधर्म विपरीता इत्येवं यावत् सिंहिणी—सिंहिनी कथं निस्सरति भण—कथय ॥ अयं भावः, पूर्व समान्यतो गाहिन्यां द्विपद्विमात्रा सत्यस्तत्र पूर्वार्द्धे त्रिंशच्च उत्तरार्द्धे विकल्प इति शिष्य विशदतायां पूर्वं पूर्वार्द्धे त्रिंशन्मात्रा उत्तरार्द्धे द्वात्रिंशन्मात्रा इत्युक्तमेन च पूर्वार्द्धे गाथायामस्यास्या अपि कर्तव्या उत्तरार्द्धे द्वात्रिंशन्मात्राया उद्धतादन षष्ठं स्थाने कृत्वा चतुर्मात्रिका अष्टौ गणा दलद्वयमात्रासंबन्धकर्तव्या इति गाहिनी लक्षणम् । सिंहिन्यां च षष्ठं स्थाने इत्यादौ चतुर्मात्रिका गणाः पूर्वार्द्धे देया उत्तरार्द्धे च गाथाद्वयमदलपरिधेयमिति विशेष इति सुधीभिर्ध्येयम् ।

७१—अथ गाहिनीमुदाहरति मुञ्चहीति । हे सुंदरि पाअं—पादं मुञ्चहि—मुञ्च हे सुमुखि हसिऊण—हसित्वा मे—मह्यं मम वा खग्गं—खड्गं अप्पहि—अर्पय मेच्छशरीरं—म्लेच्छशरीरं कप्पिअ—कर्तयित्वा हम्मीरो—हम्मीरः तुअ—तव वअणाइं—वदनं पेक्खइ—प्रेक्षते । युद्धार्थं गच्छतस्य हम्मीरस्य गाढा न्या वाघमागतस्य प्रतिवादं कुर्याः । बलाते प्रबोधनम् एवं च म्लेच्छाग्निनिचित मम जयविजयतेर अवलोकनाय नयनयोः स्थानं विधेयम् । मेलकस्ते दर्शनं भजतां मम वा उद्यामे मरणं वा न विधेयमिति भावः ।

७२—अथ सिंहिनीमुदाहरति वरिसईति । णीसक—निश्शंकः जगतो—जाग्रत् महाजागरूक इत्यर्थं, साहसको—साहसाको विक्रमादित्य., कण (अ) इ विट्ठिं—कनकस्य वृष्टिं वरिसइ—वर्षति, अथच दिआणिस—अहोरात्रं, भुवने जगति तप्पइ—तपति, अतः इंद—इन्द्र च सूरविंब—सूर्यविंब च, णिंदइ—निंदति । इंद्रो जल वर्षति महातापसेभ्यः साशंकश्च, सूर्यश्च दिवैव तपत्यजागरुकश्च, अय तु कनक वर्षति निश्शंकश्च, सर्वदा च तपति जागरुकश्चेति तौ निंदतीति भावः ।

७३—अथ स्कधक लक्षयति चौमत्तेति । पुव्वद्धे उत्तद्धे वि—पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धेऽपि, समरुआ—समरूपा सम पष्ठजगण तद्रूप येषा तादृशा इत्यर्थ । यत्तु सम पष्ठजगणनलध्वन्यतरत्कमिति तन्न, अत्र नलघुदानासभवात् । इद चानुपदमेव व्यक्तीभविष्यति । चौमत्ता अट्ठ गणा—चतुर्मात्रिका अष्टौ गणा॰ होंति—भवति, तत् बहुसभेआ—बहुसंभेदक बहवो वक्ष्यमाणा॰ सप्तविंशतिविधभेदा यस्य तत्तादृश खधद्दा (आ)—स्कधक विआणहु—विजानीत इति पिगल पभणेइ—पिंगल प्रभणति, मुद्धि—हे मुग्धे । अत्र उत्तद्ध इति तकारः सयुक्तपरोऽपि लघुर्बोध्य, क्वचिद्धि सजुत्तपरो इत्युक्ते अन्यथात्र पष्ठे पचमात्रापत्या जगणासभवाल्लक्षण न सगच्छते, एतत्तत्व पुनर्भेदप्रकारावसरेऽनुपदमेव विवेचयिष्याम॰ ।

७४—स्कधकमुदाहरति ज जमिति । हणुआ—हनुमान्, रविरहचक्कपरिघसाणसह—रविरथचक्रपरिघर्षणसह ज ज—य य गिरिं पर्वत, आणेइ—आनयति, त त णलो—नल वामकरत्थभिअ—वामकरोत्तभित, लीलाइ—लीलया अनायासेन, समुद्दे—समुद्रे, रएइ—रचयति ॥

७५ अथ पुर सप्तविंशतिभेदानयनप्रकार विवक्षु रङ्खावृत्तेन प्रथम तावन्नामानि सख्या चाह । नद इति । नंद. १—भद्र २—शेष. ३—सग्ग—सारगः ४—शिवः ५—ब्रह्मा ६—वारण ७—वरुण. ८—णीलइ—नील. ९—मणणतलक—मदनताडक १०—शेखर ११—शर १२—गगन १३—शरभः १४—विमति. १५—क्षीर १६—नगर १७—नर १८—स्निग्धः १९—स्नेहल २०—मदकल २१—लोल २२—शुद्धः २३—सरि २४—कुम्भः २५—कलश २६—शशी २७—इति हि शरभशेषशशधराः प्राकृतवयः खधाण—स्कन्धके, सत्ताइस—सप्तविंशति णाम—नामानि, मुणह—जानीत ॥ क्वचित्तु णाम इत्यत्र जाण इति पाठस्तत्र विजेयइत्यर्थस्तदा नामद्वैविध्य परिहार्यम् । अत्र क्वचिदट्ठाइस खधाण इति पाठः, स तु लेखकप्रमादाज्जात, एतदनुरोधेन

सहि—सखि, जहि—यत्र, चउ लहु—चत्वारः लघवः, कत्थवि—कुत्रापि, पसर—प्रसरति सो णदउ जाण—त नट जानीहि, यदि गुरु टुट्टइ गुरुस्त्रुटति ह्रसतीत्यर्थः, बिबि लहु बढइ—द्वौ लघू वृद्धि प्राप्नुत इत्यर्थः, तदा त त णाम बिआण—तत्तत् भद्रादिक नाम जानीहि। अयमर्थः—पूर्वोक्तप्रकारेण दलद्वये षष्ठ जगणमेव दत्वा चतुर्मात्रिका अष्टौ गणाः प्रतिदल विधेया, एव च गाथावदत्रापि प्रथमचरणे द्वादशमात्राः स्थाप्यास्तासा षड्गुरव, द्वितीयचरणे पचचतुर्मात्रिकाणा सत्वात्तेषा विंशतिर्मात्रास्तासा च षष्ठजगणान्तर्गतलघुद्वय विहाय नवगुर्वो भवन्ति, तदेव प्रथमदले पचदशगुरवो द्वौ लघू, एव द्वितीयदलेऽपि, तथाच द्वयोर्दलयोर्मिलित्वा यत्र त्रिंशद्गुरु. षष्ठजग(ण) द्वयातर्गताश्चत्वारो लघव. पतति, स नट प्रथमभेद', यदि च त्रिंशद्गुरुषु एकैकगुरुह्रासेन तत्समानमात्राक लघुद्वय वर्द्धते तदा भद्रादयो भेदा भवन्ति, ते च प्रदर्श्यंते लिखित्वा।

७७ अथ नदाख्य स्कन्धकभेदमुदाहरति चदेति। चदा—चद्र', कुदा—कुन्दः, कासा—कास', हारा—हारो मुक्तादाम, हीरा—हीरक, तिलोअणा—त्रिलोचन कर्पूरगौर इति यावत्, केलासा—कैलास. पर्वत इत्यादीनीति शेष. जेत्ता जेत्ता सेत्ता—यावति (यावति) श्वेतानि, तेत्ता—तावति, हे कासीस—काशीपते दिवोदास, ते तव कित्ती—कीर्त्या जिण्णिआ जिता(ता) नि, एतेभ्योपि त्वदीया कीर्त्तिरतिधवलेति भाव।

७८ अथ द्विपथा लक्षयति तेरहेति। पढमपादे. तेरह मत्ता—त्रयोदश मात्राः, देह—देहि, इट च क्रियापद सर्वत्रान्वेति, पुन' द्वितीयचरणे इत्यर्थ', तेरह—त्रयोदश मात्रा देहीति पूर्वेणान्वय., चतुर्थचरणे इति शेष एआरह—एकादश मात्रा देहीति तेनैवान्वयः, एह—एतद् दोहा लक्खण—द्विपथालक्षणम्॥

७९ द्विपथामुदाहरति सुरअरु इति। सुरतरुः कल्पवृक्ष इत्यर्थः, सुरही—सुरभिकामधेनुरित्यर्थ, परसमणि—स्पर्शमणि, एते इति शेष वीरेस समाण—वीरेशसदृशा नहि। तत्र हेतुमाह ओ वक्कल इति। ओ—सः सुरतरुरित्यर्थ वक्कल ओ कठिणतणु—वल्कल' वल्कलमय इति यावत् अथ च कठिनतनु. ओ पसु—सा सुरभिः पशुः विवेकरहिता। ओ पासाण—स स्पर्शमणि. पाषाण जड इति भाव', वीरेश्वरस्तु मृदुचित्त. विवेकी महाबुद्धिरिति तेभ्यो विलक्षण इति भाव।

८० अथैतद्भेदान् रड्डावृत्तेनाह भमरु इति'—भ्रमर १—भ्रामर' २—शरभ. ३—सरआण—श्येन ४—मण्डूकः ५—मर्कटः ६—करभ ७—नरः ८—मराल ९—मदकल १०—पयोधरः ११—चल. १२—वानर' १३—

८४. अथ द्विपथाया गणविशेषपुरस्कारेण दोषमाह जस्सेति । जस्सा—यस्याः द्विपथायाः, पढमहि—प्रथमे, पाअ—पादे, तथा तीए—तृतीये, पाए—पादे, ण—ननु, निश्चित, जगणा—मध्यगुरुका गणाः दीसति—दृश्यते, सा चडालह घर रहिआ—चण्डालगृहस्थिता, दोहा—द्विपथा दोष पआसेइ—प्रकाशयति ॥ तथा च दोहाप्रथमतृतीयचरणयोर्जगणो न देय इति भाव ।

८५. अथ द्विपथाया उट्टवनिकामाह चक्कलु इति । आदौ छक्कलु—षट्कलः, ततः चक्कलु—चतुष्कल , ततश्च त्रिकलः, एमपरि—अनया परिपाट्या बिसम—विषमे चरणे गण इति शेषः, पलति—पतति, सम पाअहि—समे पादे द्वितीये चतुर्थे चेत्यर्थ. । अन्ते षट्कलचतुष्कलयोरते इत्यर्थः एक्ककलु—एककलः पततीति शेषः, इमभति—एव प्रकारेण, दोहा—दोहा, ठेवि—स्थापय । एक्कवलु अत्र एको ह्रस्वः । अयमर्थः—विषमचरणयोस्त्रयोदशमात्राणा सत्वात्प्रथम षट्कलमाश्रास्तत. चतुष्कलस्ततत्रिकल एव त्रयोदश मात्रा. स्थाप्या , समचरणयोश्च प्रथम षट्कलस्ततश्चतुष्कलस्तत एककल एवमेकादश मात्राः स्थाप्या इति ।

८६ अथ रसिकानामक वृत्त लक्षयति । दिअवरगणेति । हे मिअणअणि—मृगनयने, गअगमणि—गजगमने, दिअवरगण धरि जुअल—द्विजवरगणस्य चतुर्लघुयुक्तगणस्य युगले स्थापय, पुणविअ—पुनरपि च द्विजवरयुगलानतर चेत्यर्थः, तिअलहु पअल—त्रीन् लघून् प्रकटय, इम विहि—एव विधिना छउ पअणि—षट्पदेषु प्रत्येकमिति भाव , एअ(इ)दह कल—एकादश कलाः, विहु—विधेहि विरचयेत्यर्थ , एह(अ) रसिका, जिम—यथा, रअणि—रजन्या, सुससि—पूर्णश्चद्र., तथा सुहइ—शोभते । यत्र एकादशमात्रा एव षट्चरणानि यस्या. सा रसिकेति फलितार्थ. ।

८७—रसिकामुदाहरति विमुहेति । अचलः कश्चिद्राना हअ गअ वल—हयगजवलानि, परिहरिअ—परिहृत्य, रण—रणे विमुखः सन्, चलिअ—चलितः पलायित इत्यर्थः, किंच जस जसु तिहुअण पिअइ—यस्य यश. त्रिभुवन पिवति सोऽपीति शेष , मलअणिवइ—मलयनृपतिः, हलहलिअ—हलहलित , किंच वरणसि णरवइ—वाराणसीनरपतिः दिवोदास इत्यर्थ., लुलिअ—लुलितः पराङ्मुखीभूत इति यावत् । अत तस्य राज्ञ. सकलोपरि यश. स्फुरितम् ॥

८८—अथैतस्या नामान्तरकथनपूर्वक भेदानयनप्रकारमाह आइति । उक्कच्छमह—उक्कच्छामध्ये उक्कच्छापरपर्यायरसिकामध्ये इति यावत्, सारु—सारभूता, लोहगिणि—लोहांगिनी, आइकव्व—आदिकाव्य प्रथमभेद. किउ—कृत । गुरुर्वर्द्धते द्वौ लघू ह्रसत , तदा त त—तत्तद् वक्ष्यमाण नाम विआरु—विचारय ॥

तिर्लघवः, यत्र च चतुर्विशतिर्गुरवः अष्टादश लघवः, एषा चतुर्णां काली सज्ञा ६। यत्र पञ्चविंशतिर्गुरवः षोडश लघवः, यत्र षड्विंशतिर्गुरवः चतुर्दश लघवः, यत्र सप्तविंशतिर्गुरव द्वादश लघव., यत्र षड्विं (अष्टाविं) शतिर्गुरवः दश लघव, एषा चतुर्णां कालरुद्राणी सज्ञा। अत्रैकगुरुवृद्धिमारभ्यागुरुचतुष्टयवृद्धि प्रथमभेदकरणादुत्तरोत्तरभेदानामपि तथैव विधानमुचितमित्यष्टौ भेदा बोध्या। अत्रैकोनत्रिंशद्गुर्वष्टलघुयुक्तः त्रिंशद्गुरुषड्लघुयुक्तश्चैतद्भेदद्वयम् अन्यदपि सम्भवति बाधकाभावात, ग्रन्थकृता तन्नोक्त, वस्तुतस्तु तदपि बोध्यम्। अथवा एतदपि भेदद्वय कालरुद्राणीमध्ये पातनीयम्, एव च कालरुद्राण्या., षड्भेदा बोध्या। अथवा यत्र चत्वारो गुरव अष्टपञ्चाशल्लघव' सा हसी, यत्राष्टौ गुरवः पञ्चाशल्लघव. सा रेखा, यत्र द्वादश गुरवः द्विचत्वारिंशल्लघवः सा ताडङ्किनी, यत्र षोडश गुरवः चतुस्त्रिंशत् लघवः सा कालरुद्राणी, अत्र प्रथम गुरु-चतुष्टयवर्द्धनादुत्तरत्रापि तस्यैव (व)र्द्धनमुचितमिति लोहागिनीसहिता अष्टौ भेदा बोध्या इत्यस्मत्तातचरणोपदिष्ट पथा निर्मत्सरैः सुधीभिर्विभावनीय.॥

९१. अथ रोलावृत्त लक्षयति पढम इति। यत्र पढम—प्रथमे चरणे, इद च द्वितीयादीनामप्युपलक्षक, गुरु अतर जुत्ते—अतरा गुरुयुक्ता मध्ये गुरुमयुक्ता इत्यर्थ चउबीस मत्त—चतुर्विशतिर्मात्राः, होहिं—भवति, सेस नाग—शेषनाग, पिंगलोऽभूत्, तेन्ह रोला उत्ते—तेन रोला उक्ता, एग्गाराहा हारा—एकादश हारा द्विलघुयुक्ता इति शेष', त्रयोदशाक्षरगणम(स्या)ग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, रोला छंदो—रोलाच्छदसि प्रतिचरणमित्यर्थ., जुज्जइ—युक्ता भवतीत्यर्थ, एक्के एक्के—एकैकः गुरुरिति शेषः, टुट्टइ—त्रुटति ह्रसनीत्यर्थ', अण्णो अण्णो—अन्यः अन्य लघु-रित्यर्थ, वड्ढइ—वर्द्धते, तथाचात्र प्रतिचरणमेकादश गुरवो लघुद्वययुक्ताः पतति, तत्र चैकैकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्ध्या द्वादशभेदा भवन्तीत्यर्थ.। एतल्लक्षणनिष्कर्ष.। यथैतस्योदाहरणे सगतिस्तथानुपदमेव विवेचयिष्यामः।

९२. रोलामुदाहरति पअभरेति। यदा गअजूह सजुत्ते—गजयूथसयुक्तः हमीर-वीरः, कोहे चलिअ—क्रोधेन चलित, तदा धरणि—धरणिः, पअभर दरमरि—पादभरेण दलिता वेगवाद्धस्तिहयपत्तिप्रभृतिसेनासमूहचरणघातेन दलितेत्यर्थ', तरणि रह धुल्लिहि झपिअ—तरणिरथ धूलिभि प्रयाणोत्थरेणुभिश्छादित, कमठपिट्ठ टरपरिअ—क(म)ठपृष्ठमधस्तात् गत, मेरु मदर सिर कपिअ—मेरु-मदरशिर कपित, मेच्छहके पुत्ते—म्लेच्छानामपि पुत्रैः, कट्ठ—कष्ट यथा स्यात्तथा, हाकद—हाक्रद', किएउ—कृत मुच्छि—मूर्छित च। अत्र किएउ इत्येकारः एओ सुद्धा वि इत्युक्तत्वाल्लघुर्बोध्य, अन्यथा पचविशतिमात्रापत्ति॥

९२ अथैतद्भेदानयनप्रकार तेषा च नामानि रड्डावृत्तेनाह, कुन्द कर-

अत्र उक्तकुलेऽपि रसिकाया पर्यायः, रसिकायां च सर्वभेदाद्यवृत्ति। तथा च तत्रमीत्य रिवत् लोहंगिनीत्यादि व्याप्तं, रसिकायां गाथात्वमिव व्यापकं बोध्यम्।

८८—अथ नामान्याह लोहंगिनीति। लोहंगि णि—लोहंगिनी, हंसीआ—हंसिका, रेखा ताडङ्किनी, कंपिनी गंभीरा काली, कालरुद्राणी इति उक्तप्रकारा अष्टौ भेदा इत्यर्थः॥

९—अथ प्रस्तारक्रममाह लोहंगिनीति। सव्वलहु—सर्वलघुः सर्वे षट्पञ्चाशत् पदस्थापि वर्णा लघवो यस्यां सा इत्यर्थः, लोहंगिनी नामेति शेषः। क्कम—क्रम, एक्क—एकः गुरु—गुरुः, होइ—भवति सा हंसी। एवं यथा यथा वर्धते हारः गुरुः तथा तथा यत्र यत् नाम, तत्र तत् नाम ज्ञेयमित्यर्थः। अयं भावः—यत्र षट्पञ्चाशल्लघवः सा लोहंगिनी, यत्रैको गुरुश्चतुःपञ्चाशल्लघवः सा हंसी, यत्र द्वौ गुरु द्विपञ्चाशल्लघवः सा रेखा, एवं पूर्वभेदापेक्षया यथा उत्तरे भेदे एकै गुरुर्वर्धते लघुद्वयं च न(श्य)ति तथा भेदा बोध्याः, ते च त्रिंशत्प्रस्तार्येते।

अत्र यद्यपि नवमादयोऽप्यन्ये त्रयोविंशतिर्भेदाः संभवन्ति यावत्त्रयस्त्रिंशद्गुरवः ते प्रचुरतया नोक्ताः, वस्तुतस्तु तेऽपि सुधीभिरूहनीयाः। तत्र च त्रिंशद्गुरवः षट् लघवो यत्र भवति सोऽन्तिमो भेदः प्रतिदल (रस) मेकान्तरमात्राणामुपरुद्धत्वेऽपि प्रथम पदे लघुद्वयं प्रतिचरणमतेऽपेक्षित इति बोध्यम्। अत्र कश्चित् कम गुरु चारि होइ सा हंसीति पाठस्य—यत्र गुरुचतुष्टयं भवति सा हंसी, एकगुरुमारभ्य यावत् गुरुचतुष्टयं वर्धते तावत्पर्यन्तं भेदचतुष्टयं हंसीसंज्ञकमित्यर्थः। अभावमात्रात्। यत्र चरणपदके षट्पञ्चाशल्लघवः पतति सा लोहंगिनी, यत्रैको गुरुश्चतुःपञ्चाशल्लघवः****।

यत्र च पञ्च गुरवश्चतुःपञ्चाशल्लघवः यत्र षड् गुरवः द्विपञ्चाशल्लघवः*** एते चत्वारो भेदा रेखासंज्ञकाः २। यत्र च नव गुरवः अष्टचत्वारिंशल्लघवः, यत्र दश गुरवः षट्चत्वारिंशल्लघवः यत्र चैकादश गुरवः चतुश्चत्वारिंशल्लघवः यत्र च द्वादश गुरवः द्विचत्वारिंशल्लघवः एषां च चतुर्णां ताडङ्किनी संज्ञा ३। यत्र त्रयोदश गुरवः चत्वारिंशल्लघवः यत्र च चतुर्दश गुरवः अष्टात्रिंशल्लघवः यत्र च पञ्चदश गुरवः षट्त्रिंशल्लघवः यत्र च षोडश गुरवः चतुस्त्रिंशल्लघवः, एषां चतुर्णां कंपिनी संज्ञा ४। यत्र सप्तदश गुरवः द्वात्रिंशल्लघवः यत्र चाष्टादशगुरवस्त्रिंशल्लघवः यत्रैकोनविंशतिगुरवः अष्टाविंशतिर्लघवः यत्र विंशतिर्गुरवः षड्विंशतिर्गुरवः (लघवः) एषां चतुर्णां गंभीरा संज्ञा ५। यत्रैकविंशतिर्गुरवः चतुर्विंशतिर्लघवः, यत्र द्वाविंशतिगुरवो लघवश्च यत्र त्रयोविंशतिर्गुरवः विंश

तिर्ल्लघवः, यत्र च चतुर्विंशतिर्गुरवः अष्टादश लघवः, एषा चतुर्णां काली सज्ञा ६। यत्र पञ्चविंशतिर्गुरवः षोडश लघवः, यत्र षड्विंशतिर्गुरवः चतुर्दश लघव', यत्र सप्तविंशतिर्गुरव द्वादश लघवः, यत्र षड्विं (अष्टावि) शतिर्गुरवः दश लघव, एषा चतुर्णां कालरुद्राणी सज्ञा। अत्रैकगुरुवृद्धिमारभ्यागुरुचतुष्टयवृद्धि प्रथमभेदकरणादुत्तरोत्तरभेदानामपि तथैव विधानमुचितमित्यष्टौ भेदा बोध्या.। अत्रैकोनत्रिंशद्गुर्वष्टलघुयुक्त. त्रिंशद्गुरुषड्लघुयुक्तश्चैतद्भेदद्वयम् अन्यदपि सभवति बाधकाभावात, ग्रन्थकृता तन्नोक्त, वस्तुतस्तु तदपि बोध्यम्। अथवा एतदपि भेदद्वय कालरुद्राणीमध्ये पातनीयम्, एव च कालरुद्राण्याः, षड्भेदा बोध्या। अथवा यत्र चत्वारो गुरव. अष्टपञ्चाशल्लघव' सा हंसी, यत्राष्टौ गुरवः पञ्चाशल्लघव. सा रेखा, यत्र द्वादश गुरवः द्विचत्वारिंशल्लघवः सा ताडङ्किनी, यत्र षोडश गुरवः चतुस्त्रिंशत् लघवः सा कालरुद्राणी, अत्र प्रथम गुरुचतुष्टयवर्द्धनादुत्तरत्रापि तस्यैव (व)र्द्धनमुचितमिति लोहाङ्गिनीसहिता अष्टौ भेदा बोध्या इत्यस्मत्तातचरणोपदिष्ट पथा निर्मत्सरैः सुधीभिर्विभावनीय. ॥

९१. अथ रोलावृत्त लक्षयति पढम इति। यत्र पढम—प्रथमे चरणे, इद च द्वितीयादीनामप्युपलक्षक, गुरु अतर जुत्ते—अतरा गुरुयुक्ता मध्ये गुरुसयुक्ता इत्यर्थ चउवीस मत्त—चतुर्विंशतिर्मात्राः, होहिं—भवति, सेस नाग—शेषनाग, पिंगलोऽभूत्, तेन्ह रोला उत्ते—तेन रोला उक्ता, एग्गाराह हारा—एकादश हारा द्विलघुयुक्ता इति शेषः, त्रयोदशाक्षरगणाम(स्या) ग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, रोला छदो-रोलाच्छदसि प्रतिचरणमित्यर्थ, जुज्जइ—युक्ता भवतीत्यर्थ., एक्के एक्के—एकैकः गुरुरिति शेषः, टुट्टइ—त्रुटति ह्रसतीत्यर्थ., अण्णो अण्णो—अन्यः अन्यः लघुरित्यर्थ., वढ्ढइ—वर्द्धते, तथाचात्र प्रतिचरणमेकादश गुरवो लघुद्वययुक्ताः पतति, तत्र चैकैकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्ध्या द्वादशभेदा भवन्तीत्यर्थ.। एतल्लक्षणनिष्कर्ष.। यथैतस्योदाहरणे संगतिस्तथानुपदमेव विवेचयिष्यामः।

९२ रोलामुदाहरति पअभरेति। यदा गअजूह सजुत्ते—गजयूथसयुक्त. हमीरवीर, कोहे चलिअ—क्रोधेन चलित, तदा धरणि—धरणिः, पअभर दरमरि—पादभरेण दलिता वेगधावद्हस्तिहयपत्तिप्रभृतिसेनासमूहचरणघातेन दलितेत्यर्थ, तरणि रह धुल्लिहि झंपिअ—तरणिरथ' धूलिभि प्रयाणोत्थरेणुभिश्छादित, कमठपिट्ठ टरपरिअ—क(म) ठपृष्ठमधस्तात् गत, मेरु मदर सिर कंपिअ—मेरुमंदरशिर कपितं, मेच्छहके पुत्ते—म्लेच्छानामपि पुत्रैः, कट्ठ—कष्ट यथा स्यात्तथा, हाकंद—हाक्रंद', किएउ—कृत मुच्छि—मूर्च्छित च। अत्र किएउ इत्येकार. एओ सुद्धा वि इत्युक्तत्वाल्लघुर्बोध्य, अन्यथा पचविंशतिमात्रापत्ति. ॥

९२ अथैतद्भेदानयनप्रकार तेषा च नामानि रड्डावृत्तेनाह, कुन्द कर-

अष्टत्रिंशल्लघुकपर्यंत चतुर्णां ताण्डकसंज्ञा ४। एवमष्टाविंशतिगुरुचत्वारिंशल्लघु-कमारभ्य पचविंशतिगुरुषट्चत्वारिंशल्लघुपर्यंत चतुर्णां कालरुद्रसंज्ञा ५। एव चतुर्विंशतिगुरुअष्टचत्वारिंशलघुकमारभ्य एकविंशतिगुरुचतुःपचाशल्लघुकपर्यंत चतुर्णां कोकिलसंज्ञा ६। एव विंशतिगुरुषट्पचाशल्लघुकमारभ्य सप्तदशगुरु-द्विषष्टिलघुकपर्यंत चतुर्णां कमलसंज्ञा ७। एव षोडशगुरुचतुःषष्टिलघुकमारभ्य त्रयोदशगुरुसप्ततिलघुकपर्यंत चतुर्णां इंदुसंज्ञा ८। एव द्वादशगुरुद्विसप्ततिल-घुकमारभ्य नवगुरुअष्टसप्ततिलघुकपर्यंत चतुर्णां शम्भुसंज्ञा ६। एवमष्टगुरु-अशीतिलघुकमारभ्य पचगुरुषडशीतिलघुकपर्यंत चतुर्णां चामरसंज्ञा १०। एव चतुर्गुरुअष्टाशीतिलघुकमारभ्य एकगुरुचतुर्णवतिलघुकपर्यंत चतुर्णां गणेश्वरसंज्ञा ११। एव सर्वलघुः सहस्राक्षः १२। इत्थ च भेदानयनप्रकारः।

जेहिं—येषु एग्गारहगुरु—एकादशगुरुक द्वौ लघू, एव—भूतानि ज—यत्र तेरह अक्खर—त्रयोदशाक्षराणि पलइ—पतति, इत्थ यत्र चरणचतुष्टये द्विपचाशदक्षराणि स्थापयित्वेति शेष, अक्षरमक्षर एकैको गुरुः यावद्गुरुचतुष्टय ह्रसति तदा कुदादि तत्तन्नाम कुरु इति व्याख्येयम्। एव द्वा (एक) विंशति-गुरुयुक्त पअमरेत्युदाहरण कोकिलाख्यषष्ठभेदाभिप्रायमिति सर्वं सुस्थमित्यसमत्तात-चरणोपदिष्ट' पथाः सुधीभिर्विभावनीयः।

कश्चित्तु***त्रयोदशगुरु १ ल(१) कालरुद्रः, यत्राष्टौ गुरवोऽशीतिर्लघवः स कोकिल, यत्र सप्त गुरवो द्व्यशीतिर्लघवस्तत्कमल, यत्र षड् गुरवश्चतुरशीतिर्लघवः स इंदु', यत्र पच गुरव षडशीतिर्लघवस्तच्चामरं यत्र त्रयो गुरवो नवतिर्लघवः स गणेश्वर, यत्र गुरुद्वय (द्वि) नवतिर्लघवः स सहस्राक्ष', यत्रैको गुरुश्चतुर्णवति-र्लघवः स शेषनामा त्रयोदशतमो भेदः, इत्थ भेदानयनस्य ग्रन्थादनुपलब्धेः, यतः प्रतिचरण लघुद्वययुक्तैकादशगुरुषु चरणचतुष्टयसमुदितचतुश्चत्वारिंशद्गुरुषु वा एकैकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्धया भेदानयन ग्रन्थस्वारस्येन प्रतिपत्ते., न तु त्रयोदश-गुरुषु स्वेच्छया। इत्थ यथाकथचित् षण्णवतिमात्रामवलम्ब्य भेदकरणे विंशतिर्गुरव' षट्पचाशल्लघवस्तेषु एकैकगुरुह्रासेन विंशतिर्भेदा आयाति। एव त्रिंशद्गुरव (रुपु) षट्त्रिंशद्गुरुषु वा एकैकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्धा भेदानयन ग्रन्थस्वारस्येन प्रतिपत्ते. न तु त्रयोदशगुरुत्रिंशद्भेदा (१) भवति। एव यथाकथचित्तावन्मात्रामात्रपूरकता-वत्तावद्गुरुलघ्वापाठनेन यथारुचि तावत्तावद्भेदापत्तेर्दुर्वारत्वात्, त्वदुक्तरीत्या चतुर्दशतमभेदापत्तिरपि दुर्वारा, तस्मात्रैको गुरुरावश्यको येन गुरुराहित्येन गाथाया मिवात्राप्यनिष्टमापद्येत उदाहरणासगतिश्च स्पष्टैवेति विभावनीय वक्ष्यमाणकाव्यच्छ-न्दसश्चास्याऽयमेव भेद यत्काव्ये लघुद्वय जगणाद्यतर्गत मध्ये पतति, अत्र तु यथेच्छमिति ॥

भवेति। जेहि—येषु, एग्गारह गुरू—एकादश गुरवः एवंभूतानि तेरह अक्खर (र)—त्रयोदशाक्षराणि। जं—यत्र, पलइ—पतंति, त्रयोदशाक्षरमध्ये एकादश चेत् गुरवस्तदोर्वरितमक्षरद्वयं तल्लघुरूपमित्यर्थोऽपि सिद्धं तथाच द्विलघुयुक्ता एकादश गुरवः एवं प्रतिचरणं यत्र त्रयोदशाक्षराणि पतंतीत्यर्थः। तेसु यदि अक्खर अक्खर अक्षरमक्षरमेकैकं गुरुरित्यर्थः, वं चलइ—यत्र चलति ह्रस्वीत्यर्थः, तदा कुरु १—करभं २—मेघ १, ताटंक २, कालरुद्रा, ५ कोकिल ६ कमलं ७, इन्दु ८, शंभु ९, चामर १० गणेश्वरा ११, सहस्राक्षा १२, इति, ते ते—तत्तत् नाम, कुणेहि—कुरु इति नागराजः फणीश्वरो शेषः पिंगलः जंपइ—जल्पति इति मणिभ—मणितं पूर्वाचार्यैरिति शेषः। इत्थमत्र तत्त्वम्—लीलावती चतुर्विंशतिर्मात्राः प्रतिचरणं देया इत्याकरमतं, तत्र प्रकारद्वयेन संभवति लघु द्वययुक्तैकादशगुरुदानेन, यथेच्छं गुरुलघुदानेन वा। एवं च पूर्वं लक्षणद्वयं कृतमिति बोध्यं, तथाहि पञ्चेति पूर्वार्द्धेनैकं, एग्गारहा हारा इत्युत्तरार्द्धेन च द्वितीयं। तत्र यदि यथाकथंचिच्चतुर्विंशतिर्मात्रा अंतरा अंतरा गुरुयुक्ता क्रियंते, तदा लीला वृत्तं भवतीति प्रथमलक्षणार्थः। यदि च लघुद्वययुक्तैकादशगुरुभिश्चतुर्विंशतिर्मात्राः क्रियन्ते तदापि लीलावृत्त, भवतीति द्वितीयलक्षणार्थः। तत्र पञ्चमत्र इत्युदाहरणं प्रथमलक्षणाभिप्रायेण, भेदान्तरप्रकारश्च द्वितीयलक्षणाभिप्रायेण प्रदर्शित मित्यवधेयम्।

एवं च यत्रैकादश गुरवः भवेत् च द्वौ लघू एवं त्रयोदशाक्षराणि चतुर्विंशतिर्मात्राश्च प्रतिचरणं पतंति स कुंदः यत्र दश गुरवः एवं चतुर्दशाक्षराणि चतुर्विंशतिर्मात्राश्च प्रतिचरणं पतंति सः करतलम्, एवं पूर्वभेदापेक्षया एकैक भेदे एकगुरुन्यूनक्रिया लघुद्वयमेकाक्षरं च वर्द्धते तदा ते ते भेदाः भवन्ति, ते लिखित्वा प्रदर्श्यंते।

यद्वा पूर्वोक्तमेकमेव लक्षणं, तत्र च कथमंतरांतरा गुरुयोगः कर्तव्य इत्यपेक्षाया माह एग्गारहा हारेति, तथा च द्विलघुयुक्तैकादशगुरुषु एकैकगुरुह्रासेन लघुद्वय वृद्ध्या अंतरांतरा गुरुयोगश्च कर्तव्य इति भावः। न चैवं कथमुदाहरणसंगति- रिति वाच्यमस्यापरिवर्णोक्ते एविअनामके वृत्ते एवमपि भेदकरणात्।

तथाहि यत्र चरमचतुर्लघ्वर्पितीभूताश्चतुश्चत्वारिंशद्गुरवः अष्टौ लघवः यत्र च त्रयश्चत्वारिंशद्गुरवो (दश लघवः) यत्र च द्विचत्वारिंशद्गुरवो द्वादश लघवः यत्र च एकचत्वारिंशद्गुरवश्चतुर्दश लघवः एषा चतुर्णां कुंदसंज्ञा। एवं चत्वा रिंशद्गुरवो षोडशलघुकमारम्य षट्त्रिंशद्गुरुद्वाविंशतिलघुकपर्यन्तं चतुर्णां करतलसंज्ञा २। एवं पट्त्रिंशद्गुरुचतुर्विंशतिलघुकमारभ्य त्रयस्त्रिंशद्गुरुत्रिंशल्लघुपर्यंतं चतुर्णां मेघसंज्ञा ३। एवं द्वात्रिंशद्गुरुद्वात्रिंशल्लघुकमारभ्य एकोनत्रिंशद्गुरु—

मिअणअणि—हे मृगनयने, एहु भेअ—एत भेद, को जाणइ—कः पिंगलातिरिक्तः जानाति, एअ (ठ)—एतच्छदः (अमिअ)—अमृततुल्यमित्यर्थः, पआसइ—प्रकाशते इति कइ— (कविः) पिंगलो भाषते। अत्र चतुर्मात्रिकसार्द्धसप्तगणात्मकचरण चतुर्गुणीकृ (त्वे)त्यर्थः एकश्चरणो विधेयः, एव चत्वारश्चरणा विधेया इति फलितार्थः ॥

९८ चतुःपादिकामुदाहरति जसु सीसहि इति। जसु सीसहि गगा—यस्य शीर्षे गगा शोभितेति शेषः, यश्च गोरि अधगा—गौर्यर्द्धांगः गौरी अर्द्धांगे यस्य तादृश इत्यर्थः, गिव पहिरिअ फणिहारा—ग्रीवापरिधृतफणिहार. ग्रीवाया परिधृताः फणिहारा येन तादृश इत्यर्थः, कठट्ठिअ वीसा—कठस्थितविष., पिधणदीसा—दिक्पिंधनः दिक् पिंधनमाच्छादन यस्य स इत्यर्थः, सतारिअ ससारा—सतारितः ससारः येन च, किरणावलिकदा—किरणावलिकदः, वदिअ—वदित. चदा—चद्रः माले धृत इत्यर्थः, यस्य च णअणहि—नयने तृतीये नेत्रे अणल फुरता—अनलः स्फुरन्नस्तीति शेष, सो—सः भवाणीकता—भवानीकातः शिव, तुह्म—युष्मभ्य सपअ दिज्जउ—संपद दद्यात्, बहु सुह किज्जउ—बहु सुख कुरुतात्। अत्र एक एव चरण उदाहृत., एतादृशा अन्ये त्रयश्चरणाः सुधीभि. स्वयमुदाहरणीया. ॥

९९ अथ घत्तानामक वृत्त लक्षयति पिंगल कइ इति। वे वि पाअ—द्वयोरपि पादयोः, तिण्णि तिण्णि लहु—त्री(न् त्रीन्) लघून्, अत धरि—अते पदात इति यावत् धरि—धृत्वा, चउमत्त सत्त गण—चतुर्मात्रिकान् सप्त गणान् भण—कथय, एव बासट्ठि मत्त—द्विषष्टिर्मात्राः करि—कृत्वा, छद उकिट्ठउ—छदस्सूत्कृष्टा, पिंगल कइ दिट्ठउ—(पिंगलकवि) दृष्टा, घत्त—घत्ता जानीहीति शेषः। अयमर्थः—घत्ता द्विपदी, तत्र चतुर्मात्रिकसप्तगणानतर लघुत्रय प्रत्येक विधेयमिति।

१०० अथ घत्ताया यतिनियममाह पढममिति। (पढम)—प्रथम, दह वीसामो—दशसु मात्रासु विश्राम., वीए—द्वितीये स्थाने अट्ठाइ मत्ताइ—अष्टसु मात्रासु विश्राम इति पूर्वेणान्वयः, तीए—तृतीये तेरह—त्रयोदशसु मात्रासु, विरई—विरति, एव घत्ता—घत्ताया मत्ताइ वासट्ठि—मात्रा द्विषष्टि भवतीति शेष। यतिकथ(न) क्रमेणैकत्रिंशन्मात्रा लभ्यते, ताश्च द्वयोर्दलयोः प्रत्येक देया इति सभूय द्विषष्टिमात्रिका घत्ता भवतीति भाव ॥

१०१ अथ घत्तामुदाहरति रणदक्खेति। येन रणदक्ख—रणदक्षः सग्रामकुशल इति यावत्, दक्ख—दक्ष, हनु (णु) —हत, येन च कुसुमधणु—

चउक्कल—चतुष्कलु.कलाश्चतस्रः चतस्रः कला मात्रा येषु तादृशाश्चतुर्मात्रिका इति यावत् गण—गणाः किज्जइ—क्रियते, त पुणु—ततः पुनः देह—अवस्तात्पादाते इति यावत्, बिण्णवि लहु—लघुद्वय दिज्जइ—दीयते, ततः पादचतुष्टयानतरम्, उल्लाल—उल्लालः वक्ष्यमाणलक्षण उल्लालनामक वृत्त दीयते इति पूर्वेणान्वय । तत्र च उल्लाल मे विरइ—द्वे विरती यतिस्थानद्वयमित्यर्थः, प्रथम पण****लघुद्वय स्थाप्यमेवमेवैकचरणे चतुर्विंशतिर्मात्रा विधाय चरणचतुष्टय विधेयमनतर च उल्लालपादद्वय देयमिति षट्पद छदो भवतीति । अतो लघुद्वयमेव देयमिति न नियमः काव्यपादेषु तथाऽदर्शनादिति बोध्यम् ।

१०६ अथ षट्पदमुदाहरति पिंधिअ दिढ सण्णाह—दृढसनाहं पिंधिअ—पिधाय, बाह उप्पर—वाहोपरि पक्खर देइ—बाणवारण दत्वा, बधु समदि—बन्धून्सभाव्य, साहि हम्मीर वअण लेइ शाहहमी (र) वचन गृहीत्वा, रण धसिअ—रणे प्रविश्य, पक्ख (र) पक्खर—बाणवारणेन बाणवारण, लाकवचेन प्रतिपन्नाणा कवचमित्यर्थ, टेल्लि—त्रोटयित्वा, पेल्लि—नोदयित्वा, उड्डउ—उड्डीयमान सन्, णहपह—नभ पथे भमउ—भ्रमामि, अरि सीसहि—अरि शिरसि, खग्ग—खड्ग डारउ—पातयामि, पव्वह अप्फालउ—पर्वतानह स्फालयामि (क्रोधानलमध्ये जलउ—ज्वलामि, हम्मीरकज्ज यामि (?) उल्लघयामीति यावत् । किं च सुरताणसीस करवाल देइ—खड्गेन तस्य शिरश्छित्वेति यावत्, मह—अह, कोहाणल मह—क्रोधानलमध्ये जलउ—ज्वलामि, हम्मीरकज्ज—(ह)मीरका(र्या)र्थाय, कलेवर तेज्जि—कलेवर शरीर त्यक्त्वा, दिअ चलउ—दिव गच्छामि इति जज्जलः । ***हमीर***

१०७ अथ षट्पदमेव प्रकारातरेण लक्षयति । पअ पअ तलह इति । यत्र आइहि छक्कलु होइ—आदौ षट्कलो भवति, तत. चारि चउकल(उ)—चत्वारश्चतुःकला णिवुत्तउ—निरुक्ताः, अत—पादाते, दुक्कलु—द्विकलः निबद्धः, एव यत्र पअ पअ तलह णिबद्ध—पदपदतले प्रतिचरणतलमित्यर्थः निबद्धाः मत्त चउवीसहि—मात्राश्चतुर्विंशतिः किज्जइ—क्रियते, तत उल्लालहि सहिअ—उल्लालेन सहितम् अते उल्लालपादद्वययुक्तमित्यर्थ., सेस कइ वत्थु णिरुत्तउ—शेषकविना वस्तु निरुक्तम् । एतदेव वस्तु इति नामातरेणोक्तमित्यर्थः । इति गुणहु—गुणयत जानीतेत्यर्थ । इअ छद—इद छदः, अक्खर डबर—सरिस—अक्षराडबरसदृशं सुश्राव्यवर्णसमुल्लसितगौडीरीतिमदित्यर्थः, चेद्भवतीति शेष, तदा छ (सु) द्ध भणिज्जइ—शुद्ध भण्यते । अत्र च बावण सउ त्रि मत्तह—द्विपचाशत्शतमपि मात्राः काव्यपादचतुष्टयस्य षण्णवतिरुल्लालपादद्वयस्य च षट्पचाशदेवमुभयोर्मिलित्वा द्विपचाशदधिक शत मात्रा इत्यर्थः, मुणहु—जानीत,

चउकल—चतुश्चतुःकलाश्चतस्रः चतस्रः कला मात्रा येषु तादृशाश्चतुर्मात्रिका इति यावत् गण—गणा. किज्जइ—क्रियते, त पुणु—ततः पुन. हेट्ठ—अधस्तात्पादाते इति यावत्, बिएणवि लहु—लघुद्वय दिज्जइ—दीयते, ततः पादचतुष्टयानतरम्, उल्लाल—उल्लालः वक्ष्यमाणलक्षण उल्लालनामक वृत्त दीयते इति पूर्वेणान्वय'। तत्र च उल्लाल बे बिरइ—द्वे विरती यतिस्थानद्वयमित्यर्थ', प्रथम पण****लघुद्वय स्थाप्यमेवमेकैकचरणे चतुर्विंशतिर्मात्रा विधाय चरणचतुष्टय विधेयमनतर च उल्लालपादद्वय देयमिति षट्पद छदो भवतीति। अतो लघुद्वयमेव देयमिति न नियमः काव्यपादेषु तथाऽदर्शनादिति बोध्यम्।

१०६ अथ षट्पदमुदाहरति पिंधिअ दिढ सएणाह—दृढसनाह पिंधिअ—पिधाय, बाह उप्पर—बाहोपरि पक्खर देइ—बाणवारण दत्वा, बधु समदि—बन्धूनसभाव्य, साहि हम्मीर बअण लेइ शाहहमी (र) वचन गृहीत्वा, रण धसिअ—रणे प्रविश्य, पक्ख (र) पक्खर—बाणवारणेन बाणवारण, स्वकवचेन प्रतिपक्षाणा कवचमित्यर्थ, ठेल्लि—त्रोटयित्वा, पेल्लि—नोदयित्वा, उड्डुउ—उड्डीयमान सन्, णहपह—नभ पथे भमउ—भ्रमामि, अरि सीसहि—अरिशिरसि, खग्ग—खड्ग डारउ—पातयामि, पव्वह अप्फालउ—पवतानह स्फालयामि (क्रोधानलमध्ये जलउ—ज्वलामि, हम्मीरकज्ज यामि (!) उल्लघयामीति यावत्। किं च सुरताणसीस करवाल देइ—खड्गेन तस्य शिरश्छित्वेति यावत्, मह—अह, कोहाणल मह—क्रोधानलमध्ये जलउ—ज्वलामि, हम्मीरकज्ज—(ह)मीरका(र्या)र्थाय, कलेवर तेज्जि—कलेवर शरीर त्यक्त्वा, दिअ चलउ—दिव गच्छामि इति जज्जलः। ***हमीर***

१०७ अथ षट्पदमेव प्रकारातरेण लक्षयति। पअ पअ तलह इति। यत्र आइहि छक्कलु होइ—आदौ षट्कलो भवति, तत. चारि चउकल(उ)—चत्वारश्चतुःकला णिवुत्तउ—निरुक्ता, अत—पादाते, दुक्कलु—द्विकलः निबद्ध, एव यत्र पअ पअ तलह णिबद्ध—पदपदतले प्रतिचरणतलमित्यर्थः निबद्धा' मत्त चउबीसहि—मात्राश्चतुर्विंशतिः किज्जइ—क्रियते, तत उल्लालहि सहिअ—उल्लालेन सहितम् अते उल्लालपादद्वययुक्तमित्यर्थ, सेस कइ वत्थु णिरुत्तउ—शेषकविना वस्तु निरुक्तम्। एतदेव वस्तु इति नामातरेणोक्तमित्यर्थः। इति गुणहु—गुणयत जानीतेत्यर्थ। इअ छद—इद छद', अक्खर डबर—सरिस—अक्षराडम्बरसदृशं सुश्राव्यवर्णसमुल्लासिनगौडीरीतिमदित्यर्थः, चेद्भवतीति शेष, तदा छ(सु)द्ध भणिज्जइ—शुद्ध भण्यते। यत्र च बावण सउ वि मत्तह—द्विपचाशत्शतमपि मात्राः काव्यपादचतुष्टयस्य पणणवतिरुल्लालपादद्वयस्य च षट्पचाशदेवमुभयोर्मिलित्वा द्विपचाशदधिकं शत मात्रा इत्यर्थ', मुणहु—जानीत,

छप्पअ हुं—षट्पदच्छंदः परिसि वि होइ—एतादृशमपि भवति, भाइ गंध गंधि—किमर्थं प्रबन्धं विमरइ—विमृशत । इदं च पूर्वोक्तलक्षणेनैव गतार्थत्वात् क्षेपकमित्याभातीति बोध्यम् ॥

१ ८. अथोल्लालमुदाहरति जहा सरअ ससि बिंबेति । यथा सरअ—शशिबिंबं, यथा हरहारहंसस्थिति, हरः—कर्पूरगौरः, हारो—मौक्तिकदाम, हंसः—पक्षिविशेषस्तेषां स्थि(ति) स्थितयः जहा फुल्ल विअ कमल—यथा फुल्लितं कमलं पुण्डरीकमिति यावत्, जहा सेस फिअ—शेषोरगः, सिरि खंड—श्रीखंडमर्दनमित्यर्थः, जहा गंग कल्लोल—यथा गंगाकल्लोला महोर्मय इत्यर्थः, जहा रोसाणिअ रुप्पइ—यथोज्ज्वलितं रूप्यं, जहा दुद्ध मह मुद्ध फेण फंफाइ तलप्पइ—यथा दुग्धसाम्यं क्षीरैः कथितप्रकाशविकटं धवलत्वेनैव कीर्तिवर्णनस्योचितत्वात् तथापि रश्मिमात्रे तात्पर्यं न तद्योऽपीति भावः, तत्रीभूय मोहामुद्गता, दुग्धफेन आविर्भूतो भवतीति तथोक्तिः । पुनः (न) यथा पिअ पाअ पसाए विहि—प्रियप्रसादप्रसादादपि प्रियस्य भाषा मधुरतीव्रेन स तादृश इत्यर्थः, तरुणिअण—तरुणिजनः मिहुण हसइ—निरतं हसति तस्य—तथा तव किति—कीर्तिं देख्खि—प्रेक्ष्य, बरमति—बरमते पंडेस्वर महाराज, हरिबंभ भणति । अत्रापि बंदिमामुण्णाम व्यक्तिविशेषो वा तथा च प्रत्यक्षातीवस्तुपनामको वा हरिनामा भवतीत्यर्थः ।

१ ८क अथ पूर्वोक्तमेव दोहावृत्तेनोपसंहरति चारि पाअ इति । चारि पाअ—चत्वारः पादाः, कव्वके भण—काव्यस्य भण बेवि पाअ उल्लाल—द्वावपि पादा उल्लालस्य भवेति पूर्वेणान्वयः इम—एवं बिहु लक्खण—हे लघवो एकक कर—एकं कृत्वा पद, एउ छप्पअ पत्थर—षट्पदप्रस्तारः ॥

१ ९. अथ षट्पदोपयोगिकाव्यलक्षणमाह आइ अंत इति । पअ आई अंते, गुरु जुअलउ—द्वौ षट्कलौ भवतः इति शेष एक आदौ एकः अंते इत्यर्थः, मज्झ—मध्ये आद्यंतयोः षट्कलयोरंतराले इत्यर्थः तिण्णि तुरंगम—त्रयस्तुरंगमाः (च) चतुष्कलाः भवंतीति शेषः तह तीए—तृतीये स्थाने द्वितीये—चतुष्कला इत्यथ जगणो भवत्युत्तरत्र किंवा विप्रगणश्चतुर्थगुरुश्चगणः कर्तव्यः, तत् कव्वह लक्खण—काव्यस्य लक्षणं बुज्झह—बुध्यतां ॥ अयमर्थः प्रथमं षट्कलस्तत्तस्मश्चतुष्कलास्ततश्च षट्कलः एवं प्रतिपादं पंच गणाः कर्तव्यास्तत्रापि च प्रथमषट्कला··· अथे तृतीयो गणो जगणो विप्रो वा विधेयः, एवं च तृतीये विप्रभेदीकृते तदा सर्वलघ्वात्मकोऽपि काव्यभेदो भवति यदि च जगणो दीयते तदा तु न तृतीयस्यगणस्य एकैकगुरोः प्रतिचरणमात्रत्रयपरस्य सर्वगुर्वात्मकत्व न

भवति च, जगणपक्षे तृतीयस्य गणाद्यतस्थस्य लघुद्वयस्य प्रतिचरणमावश्यकत्वादिति, विप्रपक्षे च चतुर्लघूना प्रतिचरणमावश्यकत्वादिति सुधीभिर्विभावनीयम् ।

११०. अथ वक्ष्यमाणेषु काव्यभेदेषु शक्रनामक भेद लक्षयन् भेदान(यन)-प्रकारमाह चउ अग्गलेति । चउ अग्गल चालीस गुरु—चतुरधिकचत्वारिंशद्गुरु काव्यपादचतुष्टय चतुश्चत्वारिंशद्गुरु इति यावत्, एक्कक्के गुरु लेइ—एकैक गुरुं गृहाण न्यून कुरु, एव कृते च जो गुरुहीणउ—यो गुरुहीनः एकैकगुरुह्रासेन द्विलघुवृद्ध्या क्रियमाणेषु भेदेषु यः सर्वलघुरित्यर्थः भवतीति शेष., सो स (क्क—स) शक्र' । तत्र च एकैकगुरुवृद्ध्या लघुद्वयह्रासेनेति शेष., णाम गगहण कुणेहु—नामग्रहण श क्राद्भिमृगातमिति भाव' कुरुष्व । अयं भावः —तृतीये जगणदानपक्षे प्रथमपट्कलस्य गुरुत्रयं द्वितीयचतुष्कलस्य गुरुद्वय, तृतीयचतुष्कलस्य जगणस्वरूपत्वात्तस्यैको गुरु, चतुर्थचतुष्कलस्य गुरुद्वय पचमस्य पट्कलस्य गुरुत्रयमेकादश गुरव, जगणान्त:स्थलघुद्वयं च प्रतिचरण काव्ये आवश्यक, चरणचतुष्टये च मिलित्वा चतुश्चत्वारिंशद्गुरवोऽष्टौ लघव आवश्यका., अतएव काव्ये सर्व्वेऽपि चरणा गुरुरूपा एवेति न सभवति जगणपक्षे अष्टलघूना विप्रपक्षे षोडशलघूनामावश्यकत्वात्, तेषु च (चतु)चत्वारिंशद्गुरुषु क्रमेण एकैकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्ध्या भेदेषु क्रियमाणेषु य' सर्वलघुर्भवति स' शक्र., षण्णवतिलघ्वात्मके शक्रे च क्रमेण एकैकगुरुवृद्ध्या लघुद्वयह्रासेन यावच्चतुश्चत्वारिंशद्गुरवोऽष्टौ च लघवो भवति, तावति नामानि भवति । तांश्च भेदाननुपदमेव विवेचयिष्याम । अत्र च प्रथम गुरूनादायैकगुरुह्रासलघुद्वयवृद्धिक्रमेण शक्रनिरुक्तिस्ततश्च लघूनादाय लघुद्वयह्रासैकगुरुवर्द्धनक्रमेणान्येषा निरुक्तिरुभयथापि भेदानयन सभवतीति प्रदर्शनायेति ध्येयम् ॥

१११ अथ शक्रमुदाहरति जसु करेति । जसु कर—यस्य करे, फणिवइ वलअ—फणिपतिवलय, तरुणिवर—तनुमध्ये तरुणिवर—तरुणिवरा युवतीश्रेष्ठा पार्वती विलसइ—विलसति, यस्य णअण—नयने भालस्थतृतीयनेत्रे अणल—अनलः, गल गरल—गले कठे गरल विष, विमल ससि जसु सिर— विमल. एककलात्मकतया कलकशून्यः शशी (यस्य शिरसि) णिवसइ—निवसति । इद च क्रियापद नयने—इत्यादिप्रत्येकान्वयि । यस्य सिरमहशिरोमध्ये, सुरसरि (सुरसरित्) रहइ—तिष्ठति, यश्च सअल जण दुरित दमण कर—सकलजनदुरितदमनकर', सो—स., ससहर—शशिधरो महादेव, हसि—हसित्वा, तुअ दुरिअ—तव दुरित हरउ—हरतु, वितरउ अभअवर—वितरतु अभयवरम् ॥ अत्र चरणस्था चतुर्विंशतिरपि मात्रा लघुरूपा' स्पष्टा । अत्र सो इत्योकारो लघुर्बोध्य. ।

११२. अथ स्पष्टतया सख्यानियतकाव्यभेदानयनप्रकारमाह जहेति । यथा यथा

परिधर्म. १३, मराल: १४, मृगेन्द्र' १५, दण्ड: १६, मर्कट: १७, काल: १८, महाराष्ट्र' १६, वसत. २०, कट २१, मयूर २२, बन्ध , २३, भ्रमरः २४, भिन्नमहाराष्ट्र. २५, बलभद्रः २६, राजा २७, बलित. २८, मोह्न: २६, मथान: ३०, वलि ३१, मेघ. ३२, सहस्राक्षः ३३, बाल: ३३, दरिद्रः ३५, सरभ: ३६, दम' ३७, उद्दंभः ३८, अङ्कः ३६, वलिताक' ४०, तुरग: ४१, हरिणः ४२, अध ४३, तह—तथा, भृंग. ४४ । हे मुद्धि—मुग्धे, ता एतानि चतुश्चत्वारिंशदिति शेषः, वत्थुआ णाम—वस्तुकनामान्येतानि वास्तु—ता समो सूरो गडो रघो विजओ दप्पो तालाको समरो सीहो सेसो उत्तेखो पडिव' ' 'वोकापरनामकाव्यच्छदस' नामानीति यावत्, छंदपबघो—छदःप्रबन्ध. छन्दसा प्रकृष्टो बंधो यस्मात् स तादृश इत्यर्थः पिंगलणाओ—पिंगलनाग जपइ—जल्पति ॥

११५ अथ शकमादाय सख्यान्तर दोहावृत्तेनाह पचतालीसह इति । वत्थुआ छदे—वास्तुकच्छदसि वास्तुकापरनाम्नि काव्यच्छदसीति यावत्, पचतालीसह—पचचत्वारिंशत् छद—छदासि भेदा इति यावत्, विअभ—विजृभते इति अद्धाकइ—साक्षात्कृत्य, पिंगल कहइ—पिंगल कथयति, अत्र हरिहरब्रह्मणोऽपि न चलति, तेऽप्येनमन्यथा न कुर्वतीति भाव' ॥

११६ अथ काव्ये वर्जनीयदोषानाह पअह इति । पअह असुद्धउ—पादैः अशुद्ध न्यून इत्यर्थ. पगु' इत्युच्यते, पादचतुष्टयमध्ये एकेनापि चरणेन हीनश्चेत्तदा पगुरित्यर्थः । यत्तु पदे अशुद्ध. प्राकृतव्याकरणदुष्ट इत्यर्थं इति तन्न, तथा सति सस्कृतरचितकाव्यस्य दुष्टत्वात् । हीनः पूर्वोक्तेन केनापि गणेन हीनश्चेदित्यर्थः तदा स खोडउ—खज' पमणिज्जइ प्रभण्यते । यत्तु मात्रया हीनइत्यर्थ इति तन्न, शून्यकलेत्यनेन पौनरुक्त्यापते' । मत्तगल—मात्रयाधिक' लक्षणोक्तमात्रापेक्षया एकया एकयापि मात्रया अधिक इत्यर्थ', बाउल—व्याकुल' । सुण्णकल—शून्यकल एकयापि मात्रया न्यून इत्यर्थः कण्ण सुणिज्जइ—काण' श्रूयते । तथा भलवज्जिअ—झकारलकाराभ्या वर्जित इत्यर्थः बहिर—बधिर । अलकारैः रहितः अव । छदउट्टवण विणु—छदस यत् उट्टवनिका ता विनेत्यर्थं, उट्टवनिकाया क्रियमाणाया यदि आद्यतषट्कलस्थाने सप्तकलः पचकलो वा पतति, एव मध्यस्थचतुष्कलेषु यदि कश्चित्पचकलस्त्रिकलो वा भवति, तृतीये च जगणविप्राभ्यामन्य एव गण' पततीत्यर्थः बूलउ—मूक कथित । अत्थ विणु—अर्थेन विना, दुब्बल कहिअउ—दुर्बलः कथित. । ढक्कक्खरहि—ढठाक्षरैर्हठाकृष्टैरक्षरैः परस्परमैत्रीरहितैरित्यर्थ. (ढेरउ)—ढेर' केकर. होइ—भवति । गुण सब्बहि—सर्व्वगुणै प्रसादप्रभृतिभि रहितः काणा—काणः भवति । एते कब्बह दोस—काव्यस्य दोषाः, सव्वगसुद्ध समरूअगुण—सर्वांगशुद्धसमरूपगुणाः

परिधर्म. १३, सगलः १४, मृगेन्द्रः १५, दण्डः १६, मर्कटः १७, कालः १८, महाराष्ट्रः १९, वसतः २०, कट २१, मयूरः २२, बन्धः, २३, भ्रमरः २४, भिन्नमहाराष्ट्रः २५, बलभद्रः २६, राजा २७, वलितः २८, मोहः २९, मथानः ३०, वलि. ३१, मघः ३२, सहस्राक्षः ३३, बालः ३३, दरिद्रः ३५, सरभः ३६, दभः ३७, उद्दंभः ३८, अद्दः ३९, वलिताकः ४०, तुरगः ४१, हरिणः ४२, अन्ध ४३, तह—तथा, भृंगः ४४। हे मुद्धि—मुग्धे, ता एतानि चतुश्चत्वारिंशदिति शेषः, वत्थुआ णाम—वस्तुकनामान्येतानि वास्तु—ता सभो सूरो गडो खधो विजओ दप्पो तालाको समरो सीहो सेसो उत्तेसो पडिव......चोकापरनामकाव्यच्छन्दसः नामानीति यावत्, छंदपबन्धो—छंदःप्रबन्ध. छन्दसा प्रकृष्टो बंधो यस्मात् स तादृश इत्यर्थ., पिंगलणाओ—पिंगलनागः जपइ—जल्पति ॥

११५. अथ शङ्कामादाय सख्यान्तर दोहावृत्तेनाह पचतालीसह इति। वत्थुआ छन्दे—वास्तुकच्छन्दसि वास्तुकापरनाम्नि काव्यच्छन्दसीति यावत्, पचतालीसह—पञ्चचत्वारिंशत् छन्द—छन्दांसि भेदा इति यावत्, विअंभ—विजृभते इति अव्वाकइ—साक्षात्कृत्य, पिंगल कहइ—पिंगलः कथयति, अत्र हरिहरब्रह्मणोऽपि न चलंति, तेऽप्येनमन्यथा न कुर्वंतीति भावः ॥

११६. अथ काव्ये वर्जनीयदोषानाह पअइ इति। पअह असुद्धउ—पादैः अशुद्धः न्यून इत्यर्थ. पगुः इत्युच्यते, पादचतुष्टयमध्ये एकेनापि चरणेन हीनश्चे त्तदा पगुरित्यर्थः। यत्तु पदे अशुद्धः प्राकृतव्याकरणदुष्ट इत्यर्थं इति तन्न, तथा सति संस्कृतरचितकाव्यस्य दुष्टत्वात्। हीनः पूर्वोक्तेन केनापि गणेन हीनश्चेदित्यर्थः तदा स खोडउ—खज पभणिज्जइ प्रभण्यते। यत्तु मात्रया हीनइत्यर्थ इति तन्न, शल्यकलेत्यनेन पौनरुक्त्यापतेः। मत्तग्गल—मात्रयाधिकः लक्षणोक्तमात्रापेक्षया एकया एकयापि मात्रया अधिक इत्यर्थं, बाउल—व्याकुलः। सुणकल—शल्यकल एकयापि मात्रया न्यून इत्यर्थ. कण्ण सुणिज्जइ—काणः श्रूयते। तथा भलवज्जिअ—भकारलकाराभ्या वर्जित इत्यर्थः वहिर—बधिरः। अलकारैः रहित अधं। छंदउट्टवण विणु—छन्दस यत् उट्टवनिका ता विनेत्यर्थः, उट्टवनिकायां क्रियमाणायां यदि आद्यषट्कलस्थाने सप्तकलः पञ्चकलो वा पतति, एव मध्यस्थचतुष्कलेषु यदि कश्चित्पचकलस्त्रिकलो वा भवति, तृतीये च जगणविप्राभ्यामन्य एव गण पततीत्यर्थं लूलउ—मूक. कथित। अत्थ विणु—अर्थेन विना, दुब्बल कहिअउ—दुर्बलः कथित.। ढट्ठक्खरहि—ढटाक्षरैर्हठाकृष्टैरक्षरै परस्परमैत्रीरहितैरित्यर्थ. (टेरउ)—टेर केकरः होइ—भवति। गुण सव्वहि—सर्व्वगुणै प्रसादप्रभृतिभि रहित काणा—काणः भवति। एते कव्वइ दोस—काव्यस्य दोषाः, सव्वगसुद्ध समरूअगुण—सर्वांगशुद्धसमरूपगुणः

षट्पञ्चाशन्मात्राकमुल्लाल त्रिहु दल—द्वयोर्दलयोरुट्टवयत, एम—(ए) वं दलद्वयेऽपि गणान् विभजत । इदमत्रावधेयम् । त्रिचतुष्कलाना षट् गुरवस्तदनतरपतितस्य त्रिकलस्य च एको गुरुस्तदनतरपतितस्य षट्कलस्य च त्रयोगुरवस्तदनतरपतितस्य चतुष्कलस्य च गुरुद्वय तदनतरपतितस्य त्रिकलस्य चैषो गुरुरेवं प्रतिचरणं त्रयोदशगुरवो लघुद्वय चेवमष्टाविंशतिर्मात्रा· एके दले पतति, दलद्वये च मिलित्वा षट्विंशतिर्मात्रा एके दले पतति, दलद्वये च मिलित्वा षड्विंशतिर्गुरवश्चत्वारश्च लघव· एवं षट्पञ्चाशन्मात्राः पतति । एव च काव्यवदुल्लालेऽपि सर्वे वर्णा गुरुरूपा न सभवति । तथा हि यदि त्रिकलो गुर्वादिस्तटतो वा दीयते, तदा एकैकपादे त्रिकलद्वयातर्गत लघुद्वयमावश्यक, द्वयोर्दलयोश्च लघुचतुष्टय, यदि च त्रिकलस्य मात्रात्रयमपि लघुरूपमेव क्रियते, तदा तु त्रिकलद्वयस्य षट् लघ(व) एकैकचरणे, द्वयोर्दलयोश्च द्वादश लघव· आवश्यका इति कथमपि उल्लाले सर्वे वर्णा गुरुरूपा न संभवत्येव, त्रिकलानामपि सर्वलघुरूपाणा सभवादत एव क्वचित्सर्वगुर्वात्मकवर्णसमय (?) मुदाहरणमपि दृश्यते तल्लेखकप्रमादात्पतितमिति बोध्यम् । अत्राप्येकैकगुरुह्रासेन क्रमेण लघुद्वयवृद्ध्या सर्वलघ्वन्ताः सप्तविंशतिर्भेदा सभवति, ते च ग्रथकृता न प्रदर्शिताः, अप्रदर्शिता अपि स्वयमूहनीया·, मया तु ग्रथविस्तरभयान्न प्रदर्शिता इति सुधीभिर्विभावनीयम् ॥

११९. अथ काव्योल्लालयोः सर्वगुर्वात्मककाव्यभेदमुदाहरति जाआ जा अद्धंगेति । जा अद्धग—यदर्द्धंगे जाआ—जाया पार्वतीति यावत् शोभते इति शेषः अग्रेऽपि योजनीय·, सीस—शीर्षे सव्वासा पूरति—सर्वाशाः पूरयती सव्वदुक्खा तोलंती—सर्वदुःखानि त्रोटयती एतादृशी गगा लोलता—लोलायमाना । अत्र गगाविशेषणद्वय पार्वत्या अपि योजनीयम् । यश्च णाआ राआ हार—नागराजहार· नागराजस्य वासुकेर्हारो यस्य तादृश इत्यर्थः यश्च दीसवासा वासता—दिग्वासो वसान । जा सग—यत्सगे णट्टा णासता—नष्टदुष्टान् नाशयत , अत्र नष्टशब्दो धूर्तवाची, तथाच धूर्ता ये दुष्टा वैरिणस्तान् नाशयत इत्यर्थ·, उच्छन्ने—उत्सवे काता—यथा स्यात्तथा णाचता—नृत्यत·, ताले भूमी कंपले—तालकंपितभूमय , अथवा येषा तालेन भूमि कपिता, तादृशा वेआला—वेतालास्तिष्ठतीति शेष । जा दिट्ठे—यस्मिन्दृष्टे मोक्खा पाविज्जे—मोक्ष प्राप्यते, सो तुम्हाण—स युष्मभ्य सुक्ख दो—सुख ददातु । अत्र जाआ जा अद्धंगेत्यारभ्य णट्ट उट्टा णासता एतावत्पर्यंत पादचतुष्टय काव्यस्योदाहरणमेतदग्रे च चरणद्वयमुल्लास्येति बोध्यम् ॥

१२०. अथ पद् (पद) भेदानयनप्रकारमाह चउआलिसेति । चउआलिस

सव्वंगि गुरुअ, समो रूपगुणो यस्य सः समरूपगुणः, सर्वाङ्गगुरुत्वात्स समरूप-गुणश्च तादृशेन पिंगलेन कथितः । अत्र ‘हिम इत्यक्षरद्वयमेव बोध्यं ‘बम्हो वि तुरिअपढिमो’ इत्युक्तेः अन्यथा मात्राधिक्यापत्तिः ॥

११७. अथ वर्णलघुभेदेन काव्यस्य जातिभेदैकचरणस्थां चरणचतुष्टयसमुदितां च मात्रां कथयन् भूयोऽपि भेदसंख्यामनुवदन् सकलाक्षरगुरुसंख्यामुपदिशन् काव्योल्ला-लाभ्यां षट्पदं वृत्तं भवति तस्य चैकसप्ततिर्भेदा भवन्तीति षट्पदेनैवाह सिप्पेति । सिप्प—विप्रे विप्रजातीये काव्ये बत्तीस—द्वात्रिंशत् लहु—लघवः होइ—भवन्ति, खत्ति—क्षत्रिये क्षत्रियजातीये काव्ये पेआल—द्विचत्वारिंशत् लघवः करिज्जसु—क्रियन्तां, वेस—वैश्ये अडआलिस—अष्टचत्वारिंशत् लघवः क्रियन्तामिति पूर्वेणान्वयः, सेस—शेषा उवरिआ इति यावत् लघवः सुद्दहि (ठ)—शूद्रजातीये काव्ये ठविज्जसु—स्थाप्यन्तां पअ—पाद एकैकचरण इत्यर्थः काव्यस्येति भावः चउअग्गल—चतुरधिकाः बीस—विंशतिः चरणचतुष्टये च इति शेषः, छाणव-ण्णवति मत्त—मात्राः ठविज्जसु—स्थाप्यन्तां, उल्लालस्सहि (ह)—उल्लालपद्ये पंचआलिस णाम—पंचचत्वारिंशन्नामानि पूर्वोक्तानि शक्रादीनि भंगधानीति मात्रा करिज्जसु—क्रियन्तां उल्लालहि—उल्लाले छव्वीस—षड्विंशति गुरून् जानीहीति शेषः तिण्णि पाअ—त्रयोः पादान् काव्योल्लालयोश्चरणान् एक्कह—एकीकृत्य समअक्खर—समा वर्णाः काव्योल्लालसमानाः यत्र गुरुलघुरूपा यस्मिन्न तादृशमित्यर्थः सरिसअमत्तोअगुण—उल्लालवर्जितोऽपगुणः अक्षराः काव्यसमानाः सर्वे दोषा गुणाश्च यस्य तथाभूतमित्यर्थः छप्पअ—षट्पदं वृत्तं मुणहु—जानीत तस्य चेति शेषः एहत्तरि णाम—एकसप्ततिनामानि परिमुणहु—परिजानीतेति योजना । एकसप्ततिभेदाश्च लघुक्रमेण । अयमर्थः—काव्यचरणचतुष्टयमध्यस्थचतुश्चत्वारिंशत् गुरवस्तु चतुर्विंशतिवर्णानपदे चत्वारो लघवः उल्लालचरणद्वयस्य च षड्विंशतिगुरवः, पादद्वयस्थितचतुःपञ्चाशद्वर्णास्तस्य चत्वारो लघ(व) एवं मिलित्वा सप्ति-गुरवो द्वादश लघवश्च षट्पदे पतन्ति तत्र चैकैकगुरुह्रासेन क्रमेण कृतमात्र संख्याकगुरुद्वयवृद्ध्या एकसप्ततिभेदा भवन्ति । तांश्च भेदाननुपदमेव वर्णयिष्याम इति सुधीभिर्ध्येयम् ॥

११८. अथ षट्पददोषेष्वादौ तोल्लालं लक्षयति तिण्णि तुरंगमेति । प्रथमं तिण्णि (—त्रय) तुरंगमाश्चतुष्कला गणाः, तह—तथा, तिअल—त्रिकलः गणः, दोण्णि पत—तत्र त्रिकलस्तिष्ठति छद चउ ठिअराइ चतसः ठिअ मात्रा इति शेषः प्रत्येकं ज्ञातव्याः एम—एवं विहु दल छप्पअ मच—द्विदलषट्पदमात्राधार्थं दलयोर्द्वयोर्मिलित्वा षट्पञ्चाशन्मात्रा यस्य तथाभूतमित्यर्थः—उल्लाल—उल्लाल उल्लालनामकं वृत्तं, ठवहु—स्थापयत ठवनिकरूपित्वं वृत्तवेति भावः । अथवा

१२४ अथैतेषां प्रकारांतरेण सख्यामाह जत्ते इति। यावत. सर्वे लघवो भवति अर्द्धं विसृज्यता तन्मध्ये। तत्रापि विसृज एकं शर पचक, शर इति पञ्च सज्ञा, एतत्प्रमाणेन नामानि विद्धीति शेषः। अयमर्थः, द्विपचाशदुत्तर शत लघवः अतिमभेदे ये, तन्मध्ये अर्द्धत्यागे पट्सततिरवशिष्यते, तत्र पचत्यागे एकसततिरवशिष्यते, तत्प्रमाणेन एकसप्ततिप्रमाणानि नामानि भवतीत्यर्थः॥

अथैते भेदाः स्वरूपतो लिखित्वा प्रदर्श्यंते। गुरु ७०, लघु १२ अजयः, गुरु ६९ लघु १४ विजय', गु ६८ ल १६ वलि, गु ६७ ल १८ कर्णः, गु ६६ ल २० वीरः, गु ६५ ल २२ वेताल., गु ६४ ल २४ वृहन्नटः, गु ६३ ल २६ मर्कटः, गु ६२ ल २८ हरि', गु ६१ ल ३० हरः, गु ६० ल ३२ ब्रह्मा, गु ५९ ल ३४ इंदु, गु ५८ ल ४२ सिंह', गु ५४ ल ४४ शार्दूलः, गु ५३ ल ४६ कूर्म', गु ५२ ल ४८ कोकिलः, गु ५१ ल ५० खर', गु ५० ल ५२ कुजरः, गु ४९ ल ५४ मदन, गु ४८ ल ५६ मत्स्यः, गु ४७ ल ५८ ताडकः, गु ४६ ल ६० शेष', गु ४५ ल ६२ सारंग., गु ४४ ल ६४ पयोधर' गु ४३ ल ६६ कुद', गु ४२ ल ६८ कमल, गु ४१ ल ७० वारण', गु ४० ल ७२ शरभः, गु ३९ ल ७४ भसलः, गु ३८ ल ७६ जागलः, गु ३७ ल ७८ शर, गु ३६ ल ८० सुसर', गु ३५ ल ८२ समर, गु ३४ ल ८४ सारसः, गु ३३ ल ८६ सरसः, गु ३२ ल ८८ मेरुः, गु ३१ ल ९० मकरः, गु ३० ल ९२ मदः, गु २९ ल ९४ सिद्धिः, गु २८ ल ९६ बुद्धि., गु २७ ल ९८ करतल, गु २६ ल १०० कमलाकरः, गु (२५ ल) १०२ धवलः, गु २४ ल १०४ मदनः, गु २३ ल १०६ ध्रुवः, गु २२ ल १०८ कव (न) क, गु २१ ल ११० कृष्ण, गु २० ल ११२ रजनः, गु १९ ल ११४ मेधाकर., गु १८ ११६ ग्रीष्मः, गु १७ ल ११८ गरुड़ः, गु १६ ल १२० शशी, गु १५ ल १२२ शूरः, गु १४ ल १२४ शल्य, गु १३ ल १२६ नवरग. (गु १२ ल) १२८ मनोहरः, गु ११ ल १३० गगन, गु १० ल १३२ रत्न, गु ९ ल १३४ नरः, गु ८ ल १३६ हीरः, गु ७ ल १३८ भ्रमरः, गु ६ ल १४० शेखरः, गु ५ ल १४२ कुसुमाकरः, गु ४ ल १४४ द्विप, गु ३ ल १४५ शख, गु २ ल १४८ वसुः, गु १ ल १५० शब्द, ल १५२ मुनि.॥

१२५ अथ पज्झटिकावृत्त लक्षयति चउमत्तेति। अत—अते, पओहर—पयोधर मध्यगुरु जगणमिति यावत् ठइ—स्थापयित्वा, अतस्थ चतुर्मात्रिक जगणस्वरुपमेव विधायेत्यर्थ., पाइ पाइ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् चारि ठाइ—चतुःसख्यान् चउमत्त—चतुर्मात्रिकान् गणान् करहि—कुरुष्व। एम—एव, चारि पाअ—चतु.पादे चउसट्ठि मत्त—चतुःषष्टिमात्राक पज्झटिअ,

१२४ अथैतेषां प्रकारांतरेण सख्यामाह जचे इति। यावत' सत्व लघवो भवति अर्द्ध चिरछज्यता तन्मध्ये। तत्रापि विसृज एक शर पचक, शर इति पञ्च सज्ञा, एतत्प्रमाणेन नामानि विद्धीति शेष.। अयमर्थः, द्विपञ्चाशदुत्तर शत लघवः अतिमभेदे ये, तन्मध्ये अर्द्धत्यागे षट्सततिरवशिष्यते, तत्र पचत्यागे एकसततिरवशिष्यते, तत्प्रमाणेन एकसततिप्रमाणानि नामानि भवतीत्यर्थः ॥

अथैते भेदाः स्वरूपतो लिखित्वा प्रदर्श्यते। गुरु ७०, लघु १२ अजनः, गुरु ६९ लघु १४ विजय', गु ६८ ल १६ वलिः, गु ६७ ल १८ कर्ण', गु ६६ ल २० वीरः, गु ६५ ल २२ वेतालः, गु ६४ ल २४ बृहन्नटः, गु ६३ ल २६ मर्कटः, गु ६२ ल २८ हरिः, गु ६१ ल ३० हर', गु ६० ल ३२ ब्रह्मा, गु ५९ ल ३४ इदु', गु ५८ ल ४२ सिंहः, गु ५४ ल ४४ शार्दूल', गु ५३ ल ४६ कूर्म, गु ५२ ल ४८ कोकिलः, गु ५१ ल ५० खरः, गु ५० ल ५२ कुजर., गु ४९ ल ५४ मदन., गु ४८ ल ५६ मत्स्यः, गु ४७ ल ५८ ताडक, गु ४६ ल ६० शेषः, गु ४५ ल ६२ सारग, गु ४४ ल ६४ पयोधरः गु ४३ ल ६६ कुद, गु ४२ ल ६८ कमल, गु ४१ ल ७० वारणः, गु ४० ल ७२ शरभ., गु ३९ ल ७४ मसलः, गु ३८ ल ७६ जागलः, गु ३७ ल ७८ शग., गु ३६ ल ८० सुमर, गु ३५ ल ८२ समर, गु ३४ ल ८४ सारसः, गु ३३ ल ८६ सरस, गु ३२ ल ८८ मेरुः, गु ३१ ल ९० मकरः, गु ३० ल ९२ मदः, गु २९ ल ९४ सिद्धिः, गु २८ ल ९६ बुद्धि., गु २७ ल ९८ करतल, गु २६ ल १०० कक्लाकर', गु (२५ ल) १०२ धवल., गु २४ ल १०४ मदनः, गु २३ ल १०६ ध्रुवः, गु २२ ल १०८ कव (न) क, गु २१ ल ११० कृष्णः, गु २० ल ११२ रजनः, गु १९ ल ११४ मेधाकरः, गु १८ ११६ ग्रीष्मः, गु १७ ल ११८ गरुडः, गु १६ ल १२० शशी, गु १५ ल १२२ शूरः, गु १४ ख १२४ शल्य, गु १३ ल १२६ नवरग. (गु १२ ल) १२८ मनोहरः, गु ११ ल १३० गगन, गु १० ल १३२ रत्न, गु ९ ल १३४ नर', गु ८ ल १३६ हीरः, गु ७ ल १३८ भ्रमर', गु ६ ल १४० शेखर., गु ५ ल १४२ कुसुमाकरः, गु ४ ल १४४ द्विप', गु ३ ल १४५ शख, गु २ ल १४८ वसु', गु १ ल १५० शब्द, ल १५२ मुनिः ॥

१२५ अथ पज्झटिकावृत्त लक्षयति चउमत्तेति। अत—अते, पओहर—पयोधरं मध्यगुरु जगणमिति यावत् ठइ—स्थापयित्वा, अतस्थ चतुर्मात्रिक जगणस्वरुपमेव विधायेत्यर्थ., पाइ पाइ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् चारि ठाइ—चतु,सख्यान् चउमत्त—चतुर्मात्रिकान् गणान् करहि—कुरुष्व। एम—एव, चारि पाअ—चतुःपादे चउसठ्ठि मत्त—चतुःषष्टिमात्राक पज्झटिका,

छंद— पज्झटिकाच्छंद' भवति, एतत् भणेति शेषः इंदुः पज्झटइ—प्रसरति। प्रथमं यमकमुल्कासादनंतरमेकोवाम एवं षोडश मात्राः प्रतिचरणं यत्र पतंति, तत्पज्झटिकावृत्तमिति फलितार्थः ।

१२६ अथ (प)ज्झटिकामुदाहरति जे इति। येन पराक्रमेण गोडाधिप गौडाधिपतिः राउ—राजा गंजिअ—गंजितः, हत इति यावत्, जसु भअ—यस्य पराक्रमस्य भयेन उड्डि—समरदुर्धर्षो ओड—उत्कलदेशाधिपतिः पलाअ— पलायितः। येन च जुज्झ—युद्धे इद सर्वत्र चेति, गुर्व बक्कम—गुरुविक्रमा गुरुपरमैरनतिक्रमणीय' विक्रमः पराक्रमो यस्य स तादृशः इत्यर्थः, विक्कम— विक्रमः विक्रमनामा कश्चित् प्रसिद्धः राजा जिणिअ—जितः ताक्खा परक्कम— तत्सम्परपराक्रमं कोऽपि बुज्झ—जानाति, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ॥

१२७ अथ अडिल्लावृत्तं लक्षयति सोलह मत्तेति। जहा सोलह मत्ता— षोडशमात्रिका' षोडश मात्रा यस्यां सा तादृशीत्यर्थः पाउभणि—पदावली, लइ—लभ्यते बेवि—द्वयोरिति शेषः, जमकक्का—ज(म)कौ मेउ—मता इति, अडिल्लह कथयत्यर्थः। किंपि कुत्रापि चरणे इत्यर्थः, अडील्लह (१) अममेवक—इत्यथः। अर्थं च देशीशब्दः। पओहर—पयोधरा मध्यगुरुर्लयम इति यावत् ण हो—न भवति अत्र क्वापि न देय इति भावः, अंते पाअहि सुपिअ—सुप्रिया द्विलघुर्गणः इत्यर्थः पततीति शेषः। क्रियमाणासु षोडशमात्रासु प्रतिम (मा) त्रादर्श यत्र लघुद्वयमेव पतति, न तु षोडशमात्रातिरिक्ता सुप्रियो देय इति भावः, तत् अडिल्लह छंदु—अडिल्लानामकं छंदः भण— कथय इत्यथः ॥

१२८ अथ अडिल्लामुदाहरति जिहि इति। जिहि—येन आसावरिनामको देशः विहड—दत्तः सुत्थिर—सुस्थिरं, वैरिकृतसंकटनोमावादमाकुलमनमिति भावः, डाहर रज्जा—डाहरराज्यं डहारा पर्वतविनिपतितस्य राज्यमित्यर्थः लिहउ— गृहीतं। कालिंजरे येन कीर्ति स्थापिता धणु अप्पजिम—धनम् आवर्ज्य दशदिग्भ्यः एकीकृतमेत्यर्थः धम्मके—धर्माय अप्पिअ—अर्पितम्। अत्र दिहउ लिहउ, अप्पिअ अप्पिअ इति दलद्वये यमकत्वं स्फुटमेव। अत्र लिहीति संयुक्तपरो.ये अकारः लघुर्बोध्यः 'कत्थवि संजुत्तपरो वण्णो लहु होइ' इति पूर्वमुक्तत्वात्। धम्मके इति एकारोऽपि लघुर्बोध्यः एऐओ सु (सु) द्धाअ वण मिलिआ वेति पूर्वमुक्तत्वात्। अन्यथा तत्र चरणे मात्राधिक्यं स्यादिति बोध्यम् ॥

१२९ अथ पादाकुलकं वृत्तं लक्षयति लहु गुरु एक्क णि (म)—मेति। येदायत्र लहु गुरु एक्क णि (मे) म—लघु गुरुमैकनियमः णहि—नास्ति अत्र

षोडशापि मात्रा अष्टगुरुरूपेणैव पतति, अथवा षोडशलघुरूपेणैव पततीति नियमो नास्तीत्यर्थः, किंतु पअ पअ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् उत्तम रेहा—उत्तमा रेखा मात्रा लघुगुर्वंतरिता इति भावः लेक्खिए—लिख्यते स्थाप्यते इत्यर्थः। सुकविफणींद्रकंठवलय(मि)ति पिंगलकंठाभरणतुल्यमित्यर्थः, कंठाभरणं यथा सस्नेहं कंठे स्थाप्यते, तथैदमपि सस्नेहं पिंगलेन कंठे धृतमित्यर्थः, सोलहमत्त—षोडशमात्राकं, प्रतिचरणं षोडश मात्रा यस्मिंस्तत्तादृशमित्यर्थः, पादाकुलकनामकं वृत्तं भवतीति शेषः। पादे मात्राः लिख्यते इत्युक्तं, तत्र कियत्यो मात्रा इत्यपेक्षायां षोडशमात्राकमिति हेतुगर्भं विशेषणम् ॥

१३०. अथ पादाकुलमुदाहरति सेर एक्केति। सेर एक्क जौ (जइ) पावउ घित्ता—सेरकैकं यदि प्राप्नुया (द्) घृतं, मंडा वीस पकावउ णित्ता—तदा विंशतिं मंडकान् पचामि नित्यं। तत्र च जइ—यदि टंकु एक्क सेंधउ पाआ—टंकं एकं सैंधवं प्राप्तः, तदा जो हउ रंक सोइ हउ राआ—योऽहं रंकः स एव अहं राजा ॥

१३१ चौ(चउ)बोला लक्षयति सोलह मत्तेति। सोलह मत्तह—षोडशमात्राभिः वेवि—द्वावपि द्वितीयचतुर्थयोरग्रे उपादानात्प्रथमतृतीयावित्यर्थः चरणाविति शेषः (पमाणह) प्रमाणयत, बीअ चउत्थह—द्वितीयचतुर्थयोश्चरणयोः चारिदहा—चतुर्दश मात्रा इति शेषः प्रमाणयतेति पूर्वेणान्वयः, मत्तह सट्ठि—षष्टिर्मात्राः समग्गल जाणह—समग्रा जानीत, चारि पआ—चतुष्पादं चौ(चउ)बोल कहा—चौबोल कथय ॥ तत्र प्रथमचरणे षोडश, द्वितीये चतुर्दश, तृतीयेऽपि षोडश, चतुर्थे च चतुर्दश मात्राः पतति, ततः चौबोलानामकं वृत्तमिति फलितार्थः ॥

१३२. अथ चौबोलामुदाहरति रे धणीति। रे धणि—धन्ये, मत्त मअगज गामिणि—मत्तमतंगजगमने खंजनलोचने चंद्रमुखि चंचल गच्छद्यौवनं ण जाणहि—न जा(ना)सि, अतः तत् छइल्लम्यः विदग्धेभ्यः काइ णही—कुतो न समप्पहि—समर्पयसि। अथवा यतः चंचलं अतएव गच्छद्यौवनं छइल्लेभ्योन समर्पयसि, अतः त्वं काइ णही—किमपि न जानासि, यदि तु समर्पयसि तदा अभिज्ञा भवसीति भावः ॥

१३३ अथ रड्डा लक्षयति पढमेति। भो शिष्या पढम—प्रथमचरणं इत्यर्थः दहपंच मत्त—पंचदशसु मात्रासु विरमइ—विरमति विरामं समाप्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः, प्रथमचरणे पंचदश मात्राः कर्तव्या इति भावः। बीअ-द्वितीये पअ—पदे बारह—द्वादश मात्रा इति शेषः, सर्वत्र यथा यथा योजनीयः, ठवहु—स्थापयत। तीअ ठाइ—तृतीये स्थाने तृतीयचरणे इत्यर्थः दहपंच मात्राः

चतुणाम—वस्तुनामक वृत्त वहेइ—कथयति, एतदेव राअसेण रड्डउ—राजसेनरड्डा एतस्यैव राजसेना रडेति च नामांतर भणइ—भणति ॥

१३५. रड्डामुदाहरति भमईति। महुअर—मधुकराः भमइ—भ्रमति, फुल्लु अरविंद—पुष्पितान्यरविंदानि, काणण—काननानि (णवकेसु—) नवकिंशुकैः जुलिअ—ज्वलितानीव भाती (ति) शेषः सव्वदेस—सर्वदेश पिकराव चुल्लिअ—पिकरावैश्चुलुकित. निपीत इति यावत्, कोकिलालापानाकर्ण्य सजात-कदर्पबाधया सर्वोऽपि देश (शो) निःपीत इव भातीति भावः, मलअ कुहर णव वल्लि पेल्लिअ—मलयकुहरनववल्लीः प्रेरयित्वा ताः कंपयित्वेत्यर्थः, सिअल पवण—शीतल. पवन. लहु—लघु मद यथा स्यात्तथा वहइ—वहति। चित्त मणोभव सर हणइ—चित्त मनोभव. शरैर्हंति, कत—कात दूरे दिगन्तरे एव, दुरतः दुष्टः अतो यस्य (स) तादृश. समय इति शेषः परिपलिअ—परिपतित., अप्पउ—आत्मान किम परि—कया परिपाट्या वारिहउ—रक्षिष्यामि ॥

१३६ अथैतस्यैव भेदाना ससंख्य नामान्याह करहीति। अपि—हे प्रिये करभी नदा मोहिनी चारुसेना तथा भद्रः राजसेनः तालंकिनी इति सत्त—सप्त वत्थु णिप्फट—वस्तुनिःपदाः—वस्तुनामकस्य पूर्वोक्तवृत्तस्य निस्पदा भेदा इत्यर्थः ॥ रड्डाया एव वस्तु राजसेन इति च नामांतरम् ॥

१३७ तेषु प्रथम करभीं लक्षयति। पढमेति। जासु—यस्याः प्रथमतृतीय-पचमपादेषु तेरह मत्ता—त्रयोदश मात्राः। बीअ चउत्थ—द्वितीयचतुर्थयोश्चरणयो-रिति शेष, एआरहहि—एकादशैव मात्रा भवतीत्यर्थः, तासु—तस्याः करहि—करभीति नामेति शेषः भणिज्जइ—भण्यते ॥ अयमभिप्राय, पूर्ववस्तुच्छंदसि प्रथमे चरणे पचदशमात्राः द्वितीये द्वादश तृतीये पचदश चतुर्थे एकादश पचमे पचदश देया इति फलित, तत्रैव प्रथमतृतीयपंचमचरणेषु प्रथमोपात्तत्रिकल मात्राद्वयं दूरीकृत्य द्वितीयचरणे चातोपात्तसर्वलघुचतुर्मात्रिके एका मात्रा दूरीकृत्य चतुर्थं च पूर्व(व)देव सस्थाप्याग्रे दोहा दत्वा करभी वाच्या, न तु (?) विषमपादेषु प्रथमोपात्तत्रिकले मात्राद्वय न्यून कर्तव्यम्। अतोपात्तजगणभगणेषु चेत्यत्र किं विनिगमकमिति चेत्, सत्य, सामान्यानालि(गि)तविशेषाभावात् पूर्वोक्तरड्डानियमानामुत्तरत्राप्यावश्यकतया करभ्यामपि प्रथमचरणाते जगणविप्र न्य-तरस्य, तृतीयपचमयोश्च भगणस्यावश्य स्थापनीयत्वात्प्रथमपरित्यागे मानाभावश्च प्रथमोपात्तत्रिकलमध्यत एव मात्राद्वय न्यून विधेय, द्वितीये च समचरणे अते सर्वलघुर्देय इति नियमस्य पूर्वमुक्तत्वात् अते सर्वलघुस्थापनमावश्यकमिति चतुर्थचरणसाम्यतया द्वितीयचरणस्थापने बाधकाभावादंतिमसर्वलघ्वात्मकगणमध्यत एव इ(ए)का मात्रा न्यूना विधेयेति न कश्चिद्दोष इत्यस्सचातचरणोपदिष्ट.

वत्थुणाम—वस्तुनामक वृत्त वहेइ—कथयति, एतदेव राअसेण रड्डउ—राजसेनरड्डा एतस्यैव राजसेना रडेति च नामातर भणइ—भणति ॥

१३५. रड्डामुदाहरति भमईति। महुअर—मधुकराः भमइ—भ्रमति, फुल्लु अरबिंद—पुष्पितान्यरविंदानि, काणण—काननानि (णवकेसु—) नवकिंशुकैः जुलिअ—ज्वलितानीव भाती (ति) शेष. सव्वदेस—सर्वदेश पिकराव चुल्लिअ—पिकरावैश्चुलुवितः निपीत इति यावत्, कोकिलालापानाकर्ण्य सजात-कदर्पबाधया सर्वोऽपि देशि (शो) नि.पीत इव भातीति भावः, मलअ कुहर णव वल्लि पेल्लिअ—मलयकुहरनववल्ली. प्रेषयित्वा ताः कपयित्वेत्यर्थ., सिअल पवण—शीतल. पवन. लहु—लघु मद यथा स्यात्तथा वहइ—वहति। चित्त मणोभव सर हणइ—चित्त मनोभव. शरैर्हति, कत—कात. दूरे दिगन्तरे एव, दुरत. दुष्ट. अतो यस्य (स) तादृशः समय इति शेषः परिपलिअ—परिपतित, अप्पउ—आत्मान किम परि—कया परिपाट्या वारिहउ—रक्षिष्यामि ॥

१३६ अथैतस्यैव भेदाना सख्य नामान्याह करहीति। अपि—हे प्रिये करभी नदा मोहिनी चारुसेना तथा भद्रः राजसेनः तालकिनी इति सत्त—सप्त वत्थु णिप्फद—वस्तुनिस्पदाः—वस्तुनामकस्य पूर्वोक्तवृत्तस्य निस्पदा भेदा इत्यर्थ. ॥ रड्डाया एव वस्तु राजसेन इति च नामातरम् ॥

१३७ तेषु प्रथम करभीं लक्षयति। पढमेति। जासु—यस्याः प्रथमतृतीय-पचमपादेषु तेरह मत्ता—त्रयोदश मात्रा.। बीअ चउत्थ—द्वितीयचतुर्थयोश्चरणयो-रिति शेष, एआरहहि—एकादशैव मात्रा भवतीत्यर्थ., तासु—तस्या. करहि—करभीति नामेति शेषः भणिज्जइ—भण्यते ॥ अयमभिप्राय', पूर्ववस्तुच्छदसि प्रथमे चरणे पचदशमात्राः द्वितीये द्वादश तृतीये पचदश चतुर्थे एकादश पंचमे पचदश देया इति फलित, तत्रैव प्रथमतृतीयपंचमचरणेषु प्रथमोपात्तत्रिकल मात्राद्वय दूरीकृत्य द्वितीयचरणे चातोपात्तसर्वलघुचतुर्मात्रिके एका मात्रा दूरीकृत्य चतुर्थ च पूर्व(व)देव सस्थाप्याग्रे दोहा दत्वा करभी वाच्या, न तु (?) विषमपादेषु प्रथमोपात्तत्रिकले मात्राद्वय न्यून कर्तव्यम्। अतोपात्तजगणभगणेषु चेत्यत्र किं विनिगमकमिति चेत्, सत्य, सामान्यानालि(गि)तविशेषाभावात् पूर्वोक्तरड्डानियमानामुत्तरत्राप्यावश्यकतया करभ्यामपि प्रथमचरणाते जगणविप्र न्य-तरस्य, तृतीयपचमयोश्च भगणस्यावश्य स्थापनीयत्वात्प्रथमपरित्यागे मानाभावश्च प्रथमोपात्तत्रिकलमध्यत एव मात्राद्वय न्यून विधेय, द्वितीये च समचरणे अते सर्वलघुर्देय इति नियमस्य पूर्वमुक्तत्वात् अते सर्वलघुस्थापनमावश्यकमिति चतुर्थचरणसाम्यतया द्वितीयचरणस्थापने बाधकाभावादतिमसर्वलघ्वात्मकगणमध्यत एव ह(ए)का मात्रा न्यूना विधेयेति न कश्चिद्दोष इत्यसचातचरणोपदिष्ट.

पंचाः गुर्वीमिर्विभाव्नीयाः । यत्तु विषम स्थानपातत्रिकलमध्ये मात्राद्वयं न स्थाप्यमेककस्य स्यामाकारिति तत्र आर्यायामुत्तरार्द्धे पदस्यैकस्यापि प्रथमस्यैककलस्य स्थापने बाधकाभावात् ॥

११८. अथ नंदां लक्षयति पञ्मेति । यत्र प्रथमतृतीयपंचमपादेषु दहचारि—चतुर्दश मत्त होइ—मात्रा भवंति । बीअ चउत्थ एग्गारहहि—द्वितीयचतुर्थयोरेकादशैव मात्रा भवंतीति पूर्वत्रानुषंगः तं पिंगलि—पिंगलः णंदा भणेअ—नंदां भण । अत्रापि पूर्वोक्तरीत्या विषमपादेषु प्रथमोपात्तत्रिकलमध्य एव एकां मात्रां वृद्धीकृत्य द्वितीयपादे चाविकलचतुष्कलस्थानपातमध्य एकां मात्रां स्फुटा चतुर्थे पूर्ववदेव स्थापयित्वाग्रे दोहा दत्वा नंदा वाच्या इति निष्कर्षः ॥

११९ अथ मोहिनी लक्षयति पञ्मेति । यस्यां प्रथमतृतीयपंचमपादेषु भाइह मत्ता—एकोनविंशतिर्मात्राः । बीअ चउत्थ एग्गारहहि—द्वितीयचतुर्थयोरेकादशैव मात्रा भवंति, त—तां भणु—एनां मोहिणी—मोहिनीं मुणि—जानीहि ॥ अत्र विषमेषु त्रिकलानंतरं चत्वारश्चतुर्मात्रिका विधेयास्तेष्वेव प्रथमपादगते जगणो विप्रो वा विधेयस्तृतीयपंचमयोस्तु ति(म)गणा एव विधेयो द्वितीये चाविकलमध्य एव एकां मात्रां निष्कास्य चतुर्थे च पूर्ववदेव संस्थाप्याग्रे दोहां दत्वा मोहिनी वाच्येति व्यवस्था ॥

१४० अथ चारुसेनां लक्षयति । जासु—यस्याः प्रथमतृतीयपंचमपादेषु पण्णरह—पंचदश मत्त—मात्राः । बीअ चउत्थ—द्वितीयचतुर्थयोः पादयोः एकादशैव मात्रा भवंतीति शेषः जासु—एनां चारुसेना भण—कथय ॥ अत्र विषम चरणान् वस्तुन इव संस्थाप्य द्वितीयचतुर्थौ चरणौ करम्या इव विधायाग्रे दोहा दत्वा चारुसेना वाच्येति निष्कर्षः ।

१४१ अथ भद्रां लक्षयति पढमेति । प्रथमतृतीयपंचमपादेषु मात्राः पंचदश द्वितीयचतुर्थयोर्द्वादश मात्राः भवंति भद्द—एतस्य भद्रेति नाम कथितम् । अत्र चतुर्थे चतुश्चतुर्मात्रिकमध्ये वस्तुन इवेति निष्कर्षः ॥

१४२ अथ पूर्व विषम ठिकलोल्लनेन लक्षितमपि राजसेनापरनामकं वस्तु पूर्वं करही नंदेत्यत्र तस्य एव राजसेना कथित इति भ्रमनिरासार्थं पुनस्तमेव लक्षयति पढमे त । प्रथमतृतीयपंचमपादेषु मात्राः पंचदश मत्त । समे चरणे द्वादश भइ—अथवा एककरइ—एकादश राजसेनं भणइ च ॥ एतन्निष्कर्षोऽपि पूर्ववत् कृतः ॥

१४३ अथ ताडं(लं)किनीं लक्षयति पढमेति । यस्याः प्रथमतृतीयपंचम पादेषु सोलह—षोडश मात्रा भवंतीति शेषः, समे द्वितीये चतुर्थे च द्वादश भणत—

एक्करदह—एकादश मात्रा भवतीति शेषः, यथायथ योजनीयः। द्वितीये द्वादश मात्रा भवतीत्यर्थ.। तासु ताड(ल)किनी भण ॥ अत्र विषमपादेषु (ज)गणाता विप्राता वा चत्वारश्चतुष्कला. कार्य्याः, समौ च पूर्ववत्, अग्रे दोहा दत्वा ताड(ल)किनि(नी) वाच्येति निष्कर्षः। इति श्रीपिंगलप्रकाशे रड्डाप्रकरणम् ॥

१४४. अथ पद्मावती लक्षयति भणु पोमावत्तीति। यत्र कर्णः गुरुद्वयात्मको गण इत्यर्थः, करअल—करतल गुर्वंतः सगण इत्यर्थः, विप्पो—विप्रश्चतुर्लघुको गण इत्यर्थः, चरणः गुर्वादिर्भगण एत एवेति शेष चउमत्ता—चतुर्मात्रिकाः अठ्ठाआ—अष्टौ गणाः पाए पाअ—(पादे पादे) देया प्रतिचरणमित्यर्थः ठाण ठाणं—स्थले स्थले, उक्किट्ठाआ—उत्कृष्टाः अधिका बहुश इति यावत् पतनि। यत्र प्रतिचरण स्थापनीया अष्टौ गणा' कर्णसगणविप्रभगणस्वरूपा एत्र पतति नान्या अत एव पौर्वापर्येण पुन पुन'वाराष्टक पततीति यावदित्यर्थ., ता पोमावत्ती—पद्मावतीं भण पद्मावतीनामक तद्वृत कथयेत्यर्थ.। अत्र जइ यदि पओहर—पयोधर' मध्यगुरुर्जगण इत्यर्थ' पलइ—पतति, तइ—तदा किमपि मनोहर सम्यक् न भवतीति शेष, किंतु चडालचरित्रः इग्र—अत्र जगणाख्यो गण' णाअक्क गुणो—नायकगुण पीडयति, पिअ गहि—पितर सत्रासयति, अतएव कइ उव्वासइ—कविमुद्वासयति ॥ अत्र जगणे पतिते यस्य कवित्वमेतच्छंदसा भवेत्स राजा नश्येत्, नष्टे च तस्मिन्नेतादृशकवित्वनिर्माणकर्त्ता कविनापि वधनताडनादिव्यथा प्राप्तव्येति, अत्र जगण. सर्वथा न देय इति भावः ॥

१४५. अथ पद्मावतीमुदाहरति भअ भज्जिअ इति। यदा कासीसर राणा—काशीश्वरेण दिवोदासेन राजा, पआणा—प्रयाण किएउ—कृत, तदा वगा—वगदेशीया राजान. भअ भज्जिअ—भयेन भग्ना' कृता., भग्ग कलिगा—पलायिता कलिगा, तेलगा रण मुक्कि चले—तैलगा. रण मुक्त्वा चलिताः, रिट्ठा—धृष्टा रणनिर्भीका इत्यर्थ मरहट्ठ—महाराष्ट्रा. कट्ठा—काष्ठासु दिक्षु लगिअ—लग्ना' पलाय्य दिगंत गता इत्यर्थ, सोरट्ठा भयेन पादपतिताः, पव्वअ झपा—पर्वतझपा' कपा—कपा कपनशीला इत्यर्थ' चपारणा ओत्था ओत्थी उत्थानोत्थानेत्यर्थ जीव हरे—जीव स्वप्राणान् हरति त्यजति इति, विद्याधर. मत्रिश्रेष्ठो भणति ॥ अत्र प्रथमचरणे तृतीय पचम षष्ठो गणः कर्णरूप, प्रथमो द्वितीयश्चतुर्थ' सप्तमोऽष्टमश्च सगणस्वरूप', द्वितीयचरणे च द्वितीयतृतीयपचमषष्ठसप्तमगणा कर्णस्वरूपा अन्ये च सगणरूपा., चतुर्थे च प्रथमपचमौ गणौ कर्णरूपौ षष्ठतृतीयौ भगणरूपौ अन्ये च सगणरूपाः,

पटहस्ताडितः तदा तच्छ्रुत्वा हमीरागमनत्रस्ता म्लेच्छा मूर्च्छिता इति भावः ॥
चलिअ वीर हमीर पाअभर—***पादभरेण मेदिनी पृथ्वी कम्पइ—कम्पते, धूलि—
धूलिभि सैन्यपादाघातोत्थरजोभिरित्यर्थ. सूरज—सूर्यस्य (रह—) रथः झंपइ—
आच्छाद्यते, ततश्च दिग मग णह—दिङ्नभोमार्गे अंधार—अंधकार. जात
इति शेष. । दिग मग णह—दिङ्नभो मार्गे अंधार—अंधकारे सति खुरसाणक—
खुरासानस्य देशस्य ओल्ला—दृढप्रतिनिधिभूता. पुरुषा आणु—आनीता इति
यद्यपि, तथापि हे वीर सुरत्राणेति सम्बोधनमध्याहर्त्तव्य, त्व दरमरि—चरणतलैर्विमर्द्य
विपक्ख—विपक्षान् (दमसि—) दमयसि, अतः ढिल्ली महं—दिल्या मध्ये
ढोल्ला—पटह मारु—ताडय । यद्यपि हमीरश्चलित इति श्रुत्वा अन्ये म्लेच्छा
मूर्च्छिताः खुरासानदेशीयैश्च दृढप्रतिनिधिभूता मनुष्याः समर्पिता', तथापि त्वया
न भेतव्य किन्तु योद्धृणा रणसज्जीभावाय पुनर्द्वितीयो डिंडीरवः त्वया कारणीय
इति किंचिदायस्तधैर्यं सुरत्राण प्रति कस्यचिन्मन्त्रिण उक्ति ॥

१४८ अथ दोहावृत्तेन पुनः स्पष्टीकृत्य कुडलिकालक्षणमाह पढमहि इति ।
पढमहि—प्रथमे अर्द्धे इति भाव. दोहा चारि पअ—दोहायाश्चत्वारि पदानि
ततो द्वितीयार्द्ध कव्वह—काव्यस्य चउपअ—चत्वारि पदानि देहि, एव
कुडलिका अट्ठपदी, तत्र पादे पादे यमकानि क्रियन्ता ॥ यमकानिति उल्लालाना-
मप्युपलक्षकम् । इद चोदाहरणानतर लक्षणकथनमनौचित्यमावहतीति क्षेपकमिवा-
भाति इति बोध्यम् ॥

१४९ अथ गगनागनामकवृत्त लक्षयति पअ पअ इति । हे पिअ—प्रियाः
शिष्या यत्र पढमहि—प्रथमपादादाविति यावत् चारि मत्त गण—चतुर्मात्राकः
गण किज्जइ—क्रियते, ततो यथेच्छ चतुष्कलैर्वेत्यध्याहारः, गणह—गणै., यत्
पआसिओ—प्रकाशित, यत्र च गुरु अंत पआसिओ—अंतप्रकाशितगुरूणि
अंते समान्तो प्रकाशितो गुरुर्येषु तादृशानित्यर्थ., तथाच कर्त्तव्येषु विंशतितममक्षरं
गुरुरूपमेव कार्यमिति भाव., वीसक्खर—विंशत्यक्षराणि, सम पअह—सर्वेषु
पादेषु प्रत्येक पतन्तीति शेष', तत् पअ पअ—पादे पादे प्रतिचरणमित्यर्थं',
मत्त विहूसिणा—मात्राविभूषित गअणगउ—गगनाग गगनागनामक वृत्त जाणि—
ज्ञात्वा ठवहु—स्थापयत । कियतीभिर्मात्राभिर्विभूषितमित्यपेक्षा (या)माह भावउ
इति । अथ लहु गुरु सेसिगा—लघुगुरुशेषिता लघुगुरुभ्या समाप्ति नीतो इत्यर्थ,
सर अग्ग—शराधिका शरा. पच तथाच पचाधिका इत्यर्थः, वीसइ कल—
विंशतिरेव कला भावउ—भावयत, तथाच पचविंशतिर्मात्रा अत्र प्रतिचरण
पतति, तास्वेव चातिम मात्रात्रय लघुगुरुरूप कार्यमित्यर्थ. । अत्र च चतुर्ष्वपि
च तेषु पादादौ चतुष्कल एव गण कार्य, अनतर च चतुष्कलैः पचकलैर्वा,

इत्थं गणाः पतिताः, विप्रस्तु न क्वचिदपि पतितस्तथापि सोऽपि यदि पतति तदापि पापकं नास्तीति ॥

१४६ अथ कुंडलिकां लक्षयति दोहा लक्खयेति । पुरमन—पुरमनाः यस्याः पढम—प्रथमम् अद्द—अर्धं, तथा च पूर्वार्धमित्यर्थः दोहा लक्खन-द्विपदिकालक्षणं पढि—पठित्वा, णिरुत्त—निरुक्तं, द्विपदिकास्वरूपमेव यस्याः पूर्वार्धमित्यर्थः द्वितीयं चेति शेषः अद्धमिति पूर्वेणान्वयः, तथाच द्वितीयम् अर्धम् उत्तरार्धमित्यर्थः कव्वह—काव्येन निरुत्त—काव्यस्वरूपं यस्या उत्तरार्धमित्यर्थः उल्लाले संजुत्त—उल्लालेन संयुक्तम् । उल्लालनम् उल्लालः कविसम्प्रदायानां पदावृत्त्य पठनमित्यर्थः कव्व—(काव्येन) तेन सहितामित्यर्थः, तां कुंडलिआ—कुण्डलिका मुणहु—जानीत एवं च उल्लालेन संयुक्तानि यमकानि सोहारयपदस्वरूपाणि यस्यां तादृशीमित्यर्थः, सुद्धउ—शुद्धा सलाहिज्जइ—श्लाघ्यते, तथा च न केवलमुल्लालसंयुक्तमेव विधेया किंतु यमकान्यपि देयानीति भावः । चौ(च उ)आलस सउ मत्त सुकइ दिढ बंधु—चतुश्चत्वारिंशदधिकशतमात्राभिः उत्कटशोभा चतुश्चत्वारिंशदधिकशतमात्राभिः सुकवीनां कृत्वा दृढः बंधो योजनं यस्यां सा तादृशीत्यर्थः कहिज्जइ—कथ्यते । क्वचित्तु सुकइ दिट बंधु इति पाठस्तत्र सुकविदृष्टबंधु नाम—कविपरमभिमतेन पिंगलेनेति यावत् । चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं मात्राः अत्र कथ्यते इति भिन्नं भिन्नमेव योजनीयं, चउआलस सउ मत्त—चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं मात्राः जसु—यस्यां, तसु भूसण सोहा—तनुभूषणानां शोभा इत्यर्थः भवतीति शेषः । एवं कुंडलिअउ मुणहु—एवं कुण्डलिकां जानीत पढम पढि जउ दोहा—प्रथमं पठ्यते यत्र दोहा इति योजना ॥

भावार्थस्तु—पूर्वोक्त पूर्वोक्तदोहाप्रकारेण विधेयमुत्तरार्धं च पूर्वोक्तकाव्यप्रकारेण विधेय-मित्युक्तं । तत्र यद्यपि दोहायां काव्ये च उल्लालयमकयोर्नियमो नोक्तस्तथापि उल्लालो यमकं चेति द्वयमत्रावश्यं विधेयमिति विशेषः । एवं च दोहाचरणचतुष्टयस्य अष्टचत्वारिंशन्मात्राः काव्यचरणचतुष्टयस्य च षण्णवतिमात्राः एवमित्थम् चतुश्चत्वारिंशदधिकशतं मात्राश्चरणाष्टकस्य द्रष्टव्या इति विभावनीयम् ॥

१४७ अथ कुंडलिकामुदाहरति ढोल्लेति । पुर ऊक्कला मंतिवर—पुरोऽस्य उत्कलमंत्रिवरः पुरोऽग्रे उत्कलनामा मंत्रिवरो यस्य स तादृश इत्यर्थः वीरहंमीर चलित इति यदा दिल्ली मह— दिल्लीमध्ये ढोल्ला—ढक्का डिंडीरवार्थमिति भावः मारिअ—मारिताश्चालिता इत्यर्थः तदा मेच्छ सरीर—म्लेच्छशरीराण्यपि मुच्छिअ—मूर्छितानि । म्लेच्छानामुत्कलमंत्रिवरो हंमीरनामा स्वनगराच्चलित इति ज्ञात्वा तत्कालं हमारानागतंपादनाय दिल्लीमध्ये यदा डिंडीरवार्थं

पटहस्ताडित. तदा तच्छ्रुत्वा हमीरागमनत्रस्ता म्लेच्छा मूर्च्छिता इति भावः ॥
चलिअ वीर हमीर पाअभर—***पादभरेण मेदिनी पृथ्वी कम्पइ—कम्पते, धूलि—
धूलिभि सैन्यपादाघातोत्थरजोभिरित्यर्थः सूरज—सूर्यस्य (रह—) रथः झंपइ—
आच्छाद्यते, ततश्च दिग मग णह—दिङ्नभोमार्गे अधार—अन्धकार. जात
इति शेष. । दिग मग णह—दिङ्नभो मार्गे अधार—अधकारे इति खुरसाणक—
खुरसानस्य देशस्य ओल्ला—दडप्रतिनिधिभूता' पुरुषा आण—आनीता इति
यद्यपि, तथापि हे वीर सुरत्राणेति सबोधनमध्याहर्तव्य, त्व दरमरि—चरणतलै विमर्द्य
विपक्ख—विपक्षान् (दमसि—) दमयसि, अतः ढिल्ली मह—दिल्या मध्ये
ढोल्ला—पटह मारु—ताडय । यद्यपि हमीरश्चलित इति श्रुत्वा अन्ये म्लेच्छा
मूर्च्छिता. खुरासानदेशीयैश्च दडप्रतिनिधिभूता मनुष्या. समर्पिता', तथापि त्वया
न भेतव्य किन्तु योद्धृणा रणसज्जीभावाय पुनर्द्वितीयो डिंडीरव. त्वया कारणीय
इति किंचिदायस्तधैर्य सुरत्राण प्रति कस्यचिन्मत्रिण उक्ति ॥

१४८. अथ दोहावृत्तेन पुन. स्पष्टीकृत्य कुडलिकालक्षणमाह पढमहि इति ।
पढमहि—प्रथमे अर्द्धे इति भाव' दोहा चारि पअ—दोहायाश्चत्वारि पदानि
ततो द्वितीयार्द्ध कव्वह—काव्यस्य चउपअ—चत्वारि पदानि देहि, एव
कुडलिका अट्ठपदी, तत्र पादे पादे यमकानि क्रियन्ता ॥ यमकानिति उल्लालाना-
मप्युपलक्षकम् । इद चोदाहरणानतर लक्षणकथनमनौचित्यमावहतीति क्षेपकमिवा-
भाति इति बोध्यम् ॥

१४९ अथ गगनागनामकवृत्त लक्षयति पअ पअ इति । हे पिअ—प्रियाः
शिष्या यत्र पढमहि—प्रथमपाददाविति यावत् चारि मत्त गण—चतुर्मात्राकः
गण किज्जइ—क्रियते, ततो यथेच्छ चतुष्कलैर्वेत्यध्याहारः, गणह—गणै., यत्
पआसिओ—प्रकाशित, यत्र च गुरु अत पआसिओ—अतप्रकाशितगुरूणि
अते समाप्तौ प्रकाशितो गुरुर्येषु तादृशानित्यर्थ, तथाच कर्त्तव्येषु विंशतितममक्षर
गुरुरूपमेव कार्यमिति भाव, वीसक्खर—विंशत्यक्षराणि, सम पअह—सर्वेषु
पादेषु प्रत्येक पतन्तीति शेष, तत् पअ पअ—पादे पादे प्रतिचरणमित्यर्थ',
मत्त विहूसिणा—मात्राविभूषित गअणगउ—गगनाग गगनागनामक वृत्त जाणि—
ज्ञात्वा ठवहु—स्थापयत । कियतीभिर्मात्राभिर्विभूषितमित्यपेक्षा (या)माह भावउ
इति । अत लहु गुरु सेसिणा—लघुगुरुशेषिता लघुगुरुभ्या समाप्ति नीतो इत्यर्थ,
सर अग—शराधिका शरा पच तथाच पचाधिका इत्यर्थ, वीसइ कल—
विंशतिरेव कला भावउ—भावयत, तथाच पचविंशतिर्मात्रा अत्र प्रतिचरण
पतति, तास्वेव चातिम मात्रात्रय लघुगुरुरूप कार्यमित्यर्थ. । अत्र च चतुर्ष्वपि
चरणेषु पाददौ चतुष्कल एव गण. कार्य, अनतर च चतुष्कलैः पचकलैर्वा,

सः प्रामादिकः, एव सति पादाते पट्कलगणालाभेन महुअर चरण अत लेइ दिज्जसु इत्यग्रेतनेन विरोधात्। एतत्पाठानुसारेणैव कैश्चिदग्रे महुर चरणेति पाठ प्रकल्प्य तस्य च मुग्धशब्दस्य गुरुनामसूपात्तत्वात्तत्पर्यायत्वान्मधुरो गुरुस्तथाच मधुरो गुरुः अत—चरणाते दीयतामित्यर्थः कृतस्तदपि भ्रमविलसित, लक्षणस्यापि लक्ष्यतया महुर चरणेति पाठे कल्प्यमाने एकमात्रान्यूनतया लक्षणासगतेः।

१५४ अथ उट्टवनिकातर मनसि विधाय दोहावृत्तेन पुनर्द्विपदीं लक्षयति छक्कलु इति। छक्कलु—षट्कल मुह सठाविकइ—मुखे आदौ सस्थाप्य, पच चक्कलु—चतुष्कलान् करेहु—कुरुत, अतहि—पादाते एक्कहि—एकमेव हार गुरु देह—दत्वा, दोवइ छद कहेहु—द्विपदीच्छद कथयत। पूर्वं पट्कलानतर चत्वारश्चतुष्कलास्तदनतर च पुनः पट्कल इत्युक्तम्, इदानीं तु पादातस्थपट्कलातर्गत चतुष्कल चित्ते कृत्वा पट्कलानतर पच चतुष्कला उक्तास्तदनतर च पट्कलातर्गतस्य मात्रायुगस्योर्वरित्वात्तस्यैवेको गुरुर्देय इत्युक्तमित्युट्टवनिकाकृत एव पूर्वापरयोर्भेदः। इद च वृत्त द्विपादमेव, न (च)तुष्पाद, उदाहरणानुरोधादिति केचित्। अन्ये तु यदीद द्विपादमेव, तर्हि लक्षण पादचतुष्टयेन कथ कृतमिति इद चतुष्पादमेव, न चोदाहरणविरोधस्तस्य चरणद्वयेनापि सभवात्, न चैतादृशमन्यत्र न दृष्टमिति वाच्य, षोडशचरणायाश्चतुष्पादिकाया एकस्यैव चरणस्योदाहृतत्वादित्याहुः। परे तु लक्षण वृत्तद्वयेन कृतमितीदमुदाहरणानुरोधाद्विपादमित्याहुः॥

१५५ अथ द्विपदीमुदाहरति दा******।

१५६ अथ झुल्लणानामक वृत्त लक्षयति पढम दहेति। जह—यत्र, विरइ-विरति पढम—प्रथमम् आदौ दह—दशसु मात्रास्विति शेषोऽत्रापि योजनीयः, दिज्जिआ—दत्वा पुणवि—पुनरपि तह—तथा तेनैव प्रकारेण दशस्वेव मात्रास्वित्यर्थ किज्जिआ—कृता, पुणवि—पुनरपि दहमत्त—सप्तदशसु मात्रासु जाआ—जाता, एम परि—एव परिपाट्या विविह दल—द्वयोर्दलयो प्रत्येकमिति शेष, सततीस—सप्तत्रिंशत् मत्त—मात्राः पल—पतति, एह—एना (णाअराआ—नागराजः झुल्लणा कह—कथयति।

१५७ अथ झुल्लणामुदाहरति सहसेति। सहस मअमत्त गअ—सहस्र मदोन्मत्तगजान्, लक्ख लक्ख—लक्ष लक्षम् अश्वाश्चेति शेष पक्खरिअ—पाखरणेनावगुठ्य साजि—सज्जीभूय साहि दुइ—सार्वभौमद्वय गिढू—कटक खेल्लत—क्रीडत, हे प्रिय, तहि—तत्र कोप्पि—प्रकुप्य जाहि—गच्छ, विमल जसु—यश महि—मनो (धा) थप्पु—स्थापय। तुअ—त्वा कोइ—कोपि तुलुक—तुरुष्क हिंदू—(हिन्दु) को वा णहि जिणइ—नहि जेष्यति॥

पठ द्वयोरपि दलयो. षड्द्विजगणानतर जगण स्थापयेत्यर्थः । परन्तु बुअह दल—द्वितीयदल पढम—प्रथमम् आदौ वि वि लहु—द्वौ द्विलघू द्वौ द्विलघ्वात्मक-गणावित्यर्थ. पअलि—प्रकटीकृत्य अपरमेक द्विजगण प्रकटीकृत्येत्यर्थ', दिअगण सहिअ—जगणसहित द्विजगणैः पूर्वोक्तप्रकारेणअस्थितजगणै' पड्भिर्युक्तमिति भाव, पठ इत्यनुषग. । प्रथम लघुद्वयात्मकगणद्वय सस्थाप्य अनतरमतस्थितजगणैः षड्द्विजगणै' सहित द्वितीय पठेत्यर्थ., तथा च प्रथमदले अन्त्यजगणाः पडेव द्विजगणा. पतति, द्वितीयदले तु अत्यजगणाः सप्त द्विजगणाः पततीति भाव., सिक्ख—शिखा विद्धि इति शेष', इति स प्रसिद्ध' पिंगल. भणइ—भणति ॥

१६२ अथ गाहूच्छन्दसा प्रकटीकृत्य पुनः शिखा लक्षयति मत्त अठाइसेति । यत्र पढम (हि)—प्रथमे पअ—पदे मत्त अठाइस—मात्रा अष्टाविंशति' पततीति शेष', बीए—द्वितीये पअ—पदे बत्तीस—द्वात्रिंशत् मत्ताइ—मात्राः पतति, अते—पादाते लहुआ—लघु जगणस्येति भाव' नियमेन पतति, ता शुद्धा शिखा विजानीत । अत्र अते लहुआ इति दलद्वयेऽप्यते जगणोऽवश्य देय इति सूचनीय, षड्द्विजगणाना चतुर्विंशतिर्मात्रा अत्यजगणस्य च मात्राचतुष्ट-यमेवमष्टाविंशतिर्मात्रा' प्रथमचरणे, सप्तद्विजगणानामष्टाविंशतिर्मात्रा अत्यजगणस्य च मात्रा चतुष्टमेव द्वात्रिंशन्मात्रा द्वितीयचरणे पतति यत्र, तत् शिखानामक वृत्तमिति फलितार्थः ।

१६३ अथ शिखामुदाहरति फुलिअ इति । ममरु बहु—बहुभ्रमराः महु-मधूका मधूकवृन्दा फुलिअ—पुष्पिताः, रअणिपहु—रजनीप्रभुश्चद्रः किरण लहु—लघुकिरण', वसत. अवअरु—अवतीर्ण । मलयगिरिगह्वर धृत्वा स्पृष्ट्वेति यावत् पवण वह—(पवन') वहति, सहव कह—सहिष्ये कथ शृणु सखि निकटे नास्ति कात ॥

१६४ अथ मालावृत्त लक्षयति पढमेति । हे शशिवदने मृगनयने यत्र पढम चरणप्रथमचरणे णव दिअगण—नवद्विजगणाः नव चतुर्लघ्वा(ध्वा)त्मका गणा पअल—पतति, पुणवि—पुनरपि नवद्विजगणानतरमित्यर्थ. तह तथा रअण ठव—रगण मध्यलघुगण स्थापय, अतए—अते रगणाते पादाते वा कण्णो—कर्णो गुरुद्वयात्मको गण पतति इति शेष., तत गाहस्स—गाथाया' सेसम्मि—शेषः उत्तरार्द्धमिति यावत् पततीत्यनुषग', सा माला हि—तन्मालानामक वृत्तमिति पिंगल णाअ—पिंगलनाग भणता भणति ॥

१६५ अथ दोहावृत्तेन स्पष्टीकृत्य पुनर्माला लक्षयति पढमेति । पढम—प्रथमे चरणे णव विप्पगण—नव विप्रगणाश्चतुर्लघ्वात्मकगणाः होइ—भवति, ततश्च

१७०. अथ सौराष्ट्रनामकं वृत्त लक्षयति सो सोरट्ठउ इति। ज—यत् दोहा विवरीअ ठिअ—दोहाविपरीतस्थितिः दोहातो विपरीता स्थितिश्चरणाना स्थापन यस्य तादृशमित्यर्थः, सो—तत् सोरट्ठउ—सौराष्ट्र सौराष्ट्रनामक वृत्त जाणु—जानीहि, तत्र च पअ पअ—पादे पादे प्रतिचरणमित्यर्थः जमक वखाण—यमकं श्लाघय इति णाअराअ पिंगल—नागराजपिंगलः भणइ—भणति। अय भावः—दोहायाः प्रथमतृतीयचरणयोस्त्रयोदशमात्राः द्वितीयचतुर्थ-चरणयोस्त्रयोदशमात्रा' प्रथमतृतीययोश्चैकादशमात्रा देया इति।

१७१. अथ सौराष्ट्रमुदाहरति सो माणिअ इति। स मान्यः पुण्यः गुण-वत—गुणवान् यस्य भक्तः पण्डित(स्त)नयः, यस्य गृहिणी गुणवती, से वि—अस्यापि पुहवि—पृथ्वी सग्गह णिलअ—स्वर्गनिलयः स्वर्गवास इत्यर्थ' ॥

१७२ अथ हाकलीनामक वृत्त लक्षयति सगणेति। जहा—यत्र सगणा—सगणो गुर्वंतश्चतुष्कल इत्यर्थ., भगणा—भगणो गुर्वादिश्चतुष्कल इत्यर्थ, दिअगण—द्विजगणश्चतुर्लघ्वात्मको गण इत्यर्थ, ई—एते गणा इत्यर्थ', अथ च मत्त चउद्दह—मात्राश्चतुर्दश पअ पलई—पादे पतति पादाते चेति शेष, वको—वक्रमेक गुरु सठइ—सस्थाप्य, विरइ—विरतिर्भवति, अतिमगुरो. प्रागेव विरतिरित्यर्थ। एहु—एतत् हाकलिरूअह—हाकलीरूप हाकलिनामकवृत्तस्य स्वरूपमित्यर्थ कहा—कथितम्। अत्र सगण—भगण—द्विजगणातिरिक्तो गणो (न) भवतीति, एते एव च स(म)स्ता व्यस्ता वा पततीति नियमस्त-थाच यदि सगणत्रयानतर भगणत्रयानतर द्विजगणत्रयानतर वा एको गुरुः स्थाप्यते प्रतिचरण, तथापि हाक्लीवृत्त भवति। अथ एकस्मिश्चरणे सगणत्रया-नतरमेक गुरु (स)स्थाप्य तदितरचरणेषु भगणत्रयानतरं द्विजगणत्रयानतर परस्परससृष्टैतद्द्वयानतर द्विजगणत्रयानतर वा एक गुरु सस्थाप्य तदितरेषु परस्पर-ससृष्टैतत्त्रयानतर गुरु. स्थाप्यते तत्राप्येतद्वृत्त भवतीति न विभावनीयम् ॥

१७३ अथ नियमातरमगीकृत्य पुनर्हाकलीवृत्त लक्षयति, मत्त चउद्दहेति। पढम दल—प्रथमदले पूर्वार्द्धे इति यावत् प्रतिचरणमिति शेष, क्वचित् पअह पअ इति पाठस्तत्र पादे पादे अर्थात्पूर्वार्द्धस्य, उत्तरदले इत्यग्रे उक्तत्वादिति बोध्यम, एग्गारह वण्णेहि—एकादशवर्णं कृत्वा मत्त चउद्दह—मात्राश्चतुर्दश उत्तर दलहि—उत्तरदले उत्तरार्द्धे इत्यर्थ. प्रतिचरणम् इत्यनुपगः, दह अक्खर—दशाक्षरैश्चतुर्दशमात्रा. इत्यनुपग यत्र पततीति शेष., तत् हाकलि छद कहेहि—हाकलीनामक छद' कथय ॥ अत्र च प्रथमद्वितीयचरणयोर्द्विज गणोदेय एव, अन्यथा एकादशाक्षरोक्त्यसभवापत्ति। तृतीयचतुर्थयोश्च द्विजगणो नैव देय' अन्यथा दशाक्षरोक्त्यसभवापत्ति., इति नियमे तात्पर्यमुन्नीयते। तथा

१७० अथ सौराष्ट्रनामकं वृत्त लक्षयति सो सोरट्ठउ इति। ज—यत् दोहा विवरीअ ठिअ—दोहाविपरीतस्थितिः दोहातो विपरीता स्थितिश्चरणाना स्थापन यस्य तादृशमित्यर्थः, सो—तत् सोरट्ठउ—सौराष्ट्र सौराष्ट्रनामक वृत्त जाणु—जानीहि, तत्र च पअ पअ—पादे पादे प्रतिचरणमित्यर्थः जमक वक्खाण—यमक श्लाघय इति णाअराअ पिंगल—नागराजपिंगलः भणइ—भणति। अथ भावः—दोहायाः प्रथमतृतीयचरणयोस्त्रयोदशमात्राः द्वितीयचतुर्थ-चरणयोस्त्रयोदशमात्रा' प्रथमतृतीययोश्चैकादशमात्रा देया इति।

१७१ अथ सौराष्ट्रमुदाहरति सो माणिअ इति। स मान्यः पुण्यः गुण-वत—गुणवान् यस्य भक्तः पडित(स्त)नयः, यस्य गृहिणी गुणवती, से वि—अस्यापि पुहवि—पृथ्वी सग्गह णिलअ—स्वर्गनिलयः स्वर्गवास इत्यर्थ ॥

१७२ अथ हाकलीनामक वृत्त लक्षयति सगणेति। जहा—यत्र सगणा—सगणो गुर्वतश्चतुष्कल इत्यर्थ, भगणा—भगणो गुर्वादिश्चतुष्कल इत्यर्थ, दिअगण—द्विजगणश्चतुर्लघ्वात्मको गण इत्यर्थ, ई—एते गणा इत्यर्थ', अथ च मत्त चउद्दह—मात्राश्चतुर्दश पअ पलइ—पादे पतति पात्यते चेति शेष, वंको—वक्रमेक गुरु सठइ—सस्थाप्य, विरइ—विरतिर्भवति, अतिमगुरोः प्रागेव विरतिरित्यर्थ'। एहु—एतत् हाकलिरूअह—हाकलीरूप हाकलिनामकवृत्तस्य स्वरूपमित्यर्थः कहा—कथितम्। अत्र सगण—भगण—द्विजगणातिरिक्तो गणो (न) भवतीति, एते एव च स(म)स्ता व्यस्ता वा पततीति नियमस्त-थाच यदि सगणत्रयानतर भगणत्रयानतर द्विजगणत्रयानतर वा एको गुरुः स्थाप्यते प्रतिचरण, तथापि हाकलीवृत्त भवति। अथ एकस्मिश्चरणे सगणत्रया-नतरमेक गुरु (स)स्थाप्य तदितरचरणेषु भगणत्रयानतर द्विजगणत्रयानतर परस्परससृष्टैतद्द्वयानतर द्विजगणत्रयानतर वा एक गुरु सस्थाप्य तदितरेषु परस्पर ससृष्टैतत्त्रयानतर गुरु' स्थाप्यते तत्राप्येतद्वृत भवतीति न विभावनीयम्॥

१७३ अथ नियमातरमगीकृत्य पुनर्हाकलीवृत्त लक्षयति, मत्त चउद्दहेति। पढम दल—प्रथमदले पूर्वार्द्धे इति यावत् प्रतिचरणमिति शेष, क्वचित्तु पअह पअ इति पाठस्तत्र पादे पादे अर्थात्पूर्वार्द्धस्य, उत्तरदले इत्यग्रे उक्तत्वादिति बोध्यम, एग्गारह वण्णेहि—एकादशवर्णं कृत्वा मत्त चउद्दह—मात्राश्चतुर्दश, उत्तर दलहि—उत्तरदले उत्तरार्द्धे इत्यर्थ प्रतिचरणम् इत्यनुषगः, दह अक्खर—दशाक्षरैश्चतुर्दशमात्रा इत्यनुषग यत्र पतनीति शेष, तत् हाकलि छद कहेहि—हाकलीनामक छद' कथय॥ अत्र च प्रथमद्वितीयचरणयोर्द्विज-गणैर्देय एव, अन्यथा एकादशाक्षरोक्त्यसभवापत्ति। तृतीयचतुर्थयोश्च द्विजगणे-नैव देय अन्यथा दशाक्षरोक्त्यसभवापत्ति, इति नियमे तात्पर्यमुन्नीयते। तथाहि

म्येन विपर्ययेण वा सगणभगणौ अथवा सगणद्वयमेव भगणद्वयमेव वा (दे) स्थाप्य यदि द्विजगणो दीयते ध्रुवे च गुरुर्दीयते तच्चाक्षरपदं सगणभगण योरक्षरचतुष्टयं च द्विज(ग)स्य एकमक्षरं च गुरोरेवमेकादशाक्षराणि पूर्वार्धे प्रतिचरणं पतन्ति उत्तरार्धेऽपि यद्येवं द्विजगण स्थाप्यते तथाप्येकादशाक्षराणि स्युः, तस्मादुत्तरार्धे सगणभगणयोरनन्तरं भगणद्वयानन्तरं वा परस्परसंमुख्येकत्वयानन्तरं वा गुरुः प्रतिचरणं स्थाप्यते तच्चोत्तरार्धे दशाक्षराणि पतन्ति एवं च प्रथम द्वितीयचरणयोर्द्विगणदानमंगीकृत्यपूर्वं लक्षणकृता,**** तदनंगीकारेण चैव स्लक्षणीमलक्षणमत्रचरणयोरादिष्टं पथाः सुधीभिर्विभाव्या ॥

१७४ अथोक्तलक्षणाभिप्रायेण दक्षनीमुदाहरति उव्येति । यस्य उत्तमाथ्यां र्ति विमलं यदं तस्यो भिनत्तरा धरिती कांता चित्रूर्णे मुद्रापदं कै(णो) रामांऽर्मित्यर्थः, तस्य कर्षसमता मुलकरः ॥

१७५. अथ मधुमारनामकं वृत्तं लक्षयति मधु पतईति । मधु—यस्य चरणे इति शेष चउमत वेवि—चतुर्मात्रिकौ द्वौ भवतः, वेल—शेषे पादे इत्यर्थः एकक—एकः चतुर्मात्रिक इत्यर्थः (गण)इ—पतति कर्णस्याद्वैधोचतुर्मात्रिकयो मादिमचतुर्मात्रिको जगणस्वरूप एव पततीत्यर्थः, पवि—एतत्, मधुमारनामक मेतद्वृत्तमित्यर्थः ॥

१७६ मधुमारमुदाहरति । बलि ति । यस्य शीर्षे चंद्रः पिंधनं विष्। स देवः शम्भुः मह्यं सुखं ददातु ॥

१७७ अथाभीरनामकं वृत्तं लक्षयति गारहेति । यत्र गारह मत—एकादश मात्राः क्रियंते, पयोधरः दीयते कर्णस्यात्रैकादशमात्रासु आदिममात्राष्टकम कान स्वरूपमेव स्थाप्यते इत्यर्थः (यह)—एतत् आभीर सुछंद—आभीरः सुच्छंदः इति पिंगलजीरः जल्पति ॥

१७८. आभीरमुदाहरति । यस्याः पीनपयोधरभारे मौक्तिकः हारः लोटइ— लुठति दीर्घविलासलोचना सा सुन्दरी गुर्वि(वी) नारी ॥

१७९ अथ दंडकलं लक्षयति कुंतयर इति । कुंतधरः धनुर्धरः हयवर गजवरः एतच्चतुष्कगणचतुष्टयं, तत वसुलहु—वट्लघवः, ततश्च गुरुलहुयुत—गुरु संयुक्तम् अवशिष्टैकगुरुकमित्यथा विधि पाइक—पदातियं चतुष्कद्वयमित्यर्थः, एवं दले—पूर्वार्धे उत्तरार्धे चेत्यर्थः, बत्तीस मत्तइ—द्वात्रिंशन्मात्राः पअ—पादे पतति प्रत्येकमिति शेषः संयुत(त) चरणचतुष्टयस्य इत्यर्थः अंतगठगणद्व(न)— मात्राविंशत्याधिकाः ल इ अस—यतं कला भवति तत् तुम कलह—कुरुत फणि भासिअ रूअइ—फणिभाषितरूपं भुअणे—भुवने दंडकल विचक्खण—दंडकल

निरुक्तः इति पैंगलिका मनसि जल्पति हे बुधजनाः यूय हिअअतले—हृदयतले जाणहु—जानीत । यत्र प्रथमं चतुष्कलचतुष्टय तत एकः षट्कलः ततश्च पुनश्चतुष्कलद्वय तत एको गुरुः प्रतिचरण पतति, तद्दंडकलनामक वृत्तमिति फलितार्थः ॥

१८० दडकलमुदाहरति राअह इति । हअ गअ घर घरिणी—हयगज(गृह) गृहिणीः परिहरि—परित्यज्य भग्गता—पलायमानाः केचन राअह—राजानः दिअ लग्गता—दिक्षु लग्नाः दिगन्त गता इत्यर्थः, तेषा चेति शेषः लोरहि—अश्रुभिः भरु सरवरु—भृताः सरोवराः, कश्चिच्च पअ परु परिकरु—पादपतितनिगडः धरणी—धरण्या लोट्टइ—विचेष्टते, तनु शरीर च पिट्टइ—ताडयति, कर दतगुलि—कृतदतागुलिः सन् पुण उट्ठइ सभलि—पुनरुत्तिष्ठते सावधानीभूय, बाल तणअ कर कमलकरे—बालतनयकरेण नमस्कार कारयति । इद च जातिवर्णन । तथावस्थ च दृष्ट्वा त णेहलु काआ—स्नेहकायः कासीसर राआ—काशीश्वरराजः माआ—माया दया करि—कृत्वा पुनः थप्पि धरे—संस्थाप्य धृतवान् स्वराज्ये रक्षितवानित्यर्थः ॥

१८१ अथ दीपकनामकं वृत्त लक्षयति सिर देहेति । सिर—शिरसि आदा-वित्यर्थः चउ मत्त—चतुर्मात्रिक गण देह—स्थापय, अत—अत पादाते लहु एक्क—लघुमेक करु—कुरु, तसु—तयोः चतुर्मात्रिकैकलघुकगणयोरित्यर्थः मज्झ—मध्ये कुतेक्क—कुतमेक पचकलमेकमित्यर्थः कुरु इति पश्चात्तेनान्वयः, दीपक्क सोउ बुज्झ—दीपकनामक (तत्) वृत्त जानीहीत्यर्थः । यत्र प्रथम चतुष्कलस्ततः पचकलस्तत एको लघुः प्रतिचरण पतति, तद्दीपकनामक वृत्तमिति फलितार्थः । क्वचित् कु तचि तसु मज्झेति पाठस्तत्र अते दलाते एकं लघु कुरु, कु ंतति—कुतत्रयं तसु—तयोश्चतुर्मात्रिकैकलघुकगणयोः मज्झ—मध्ये कुरु इत्यर्थः । इद च एकैकदलाभिप्रायेण, अन्यथैकैकपादे चतुष्कलत्रयस्याभावादसमत्रापत्तिरिति द्रष्टव्य । प्रथम यत्र चतुर्मात्रिकस्ततः पचकलत्रय ततो लघुः प्रतिदल पतति, तदा (दी)पकं वाच्छ इति द्वितीयपाठे निर्गलितार्थः ॥

१८२. अथ दीपकमुदाहरति जसु हत्थ इति । विपक्ख कुलकाल—विपक्ष-कुलकाल करवाल खड्गः जसु हत्थ—यस्य हस्ते, सोहइ—शोभते, यस्य सिर—(शिर) सि वर छत्त—वरच्छत्र, सपूर्णशशिवत्, अथवा संपूर्णशशिमात्रं पौर्णिमचद्रमडलप्रमाणमित्यर्थः शोभते इति पूर्वेणैवान्वयः ॥

१८३ अथ सिंहावलोकनामक वृत्त लक्षयति गण विप्पेति । पअइ पअ—पादे पादे गण विप्प सगण—विप्रगणसगणौ धरि—धृत्वा, छदवर—छदः श्रेष्ठ

षट्कलस्ततश्चतुष्कलत्रय ततो लघ्वादिस्त्रिकलः यत्र प्रतिचरण पतति, तत् प्लवग (म) नामक वृत्तमिति फलितार्थ. ॥

१८७ * * * * * * *

१८८. अथ प्लवंगममुदाहरति, हे सहि—सखि, यत् चचल विज्जुलिआ—चंचला विद्युत् णच्चइ—नृत्यति, एत (अतो) मम्मह—मन्मथः जलहर साणए—जलधरशाणके मेघस्वरूपशस्त्रोल्लेखने यन्त्रे इत्यर्थः खग्ग किणीसइ—प(ख) ड्ग तीक्ष्णयति इति जाणए—ज्ञायते । फुल्ल कदम्बअ—पुष्पिताः कदम्बकाः, अम्बराडम्बर. दृश्यते, घनाघन. वरीसए—वर्षति, अतः हे सुमुखि पाउस पाउ—प्रावृट् प्राप्ता न तु कात इति भाव' ॥

१८९. अथ लीलावतीनामक वृत्त लक्षयति गुरु लहु इति । जहि—यत्र गुरु लहु णहि णिम्म—गुरोर्लघोर्नास्ति नियम एतावतो गुरव एतावतो लघवश्च यत्र पततीति नियमो नास्तीत्यर्थ., अक्खर—अक्षरेऽपि णिम्म णहि—नियमो नास्ति, एतावत्यक्षराणि पततीत्यपि यत्र न नियम इत्यर्थ., विसम सम—विषमे (समे) पयोधरः जगण. पलइ—पतति इत्यपि कहु णहि णिम्म—कुत्रापि चरणे नास्ति नियम., किन्तु गण पच्च चउक्कल—गणाः पच चतुष्कलाः चतुष्कलभेदात्मकाः पचगणा इत्यर्थ, प्रस्तारक्रियया चतु'कलस्य पच भेदा' ये भवती ते सर्वेऽपि व्यस्ता समस्ता विपर्यस्ता इति हृदय । ते कियतः पतति इत्यत्र हेतुः कल बत्तीसेति, तथा च द्वात्रिंशन्मात्राः पूरका अष्टौ चतुष्कलभेदा इति भाव, निरतरमितरगणातराव्यवहितमित्यर्थः पलइ पतति, अत—अंते पादाते इत्यर्थ., कत गण कातगण सगण इत्यर्थ, ध्रुव निश्चित पत(ती)ति पूर्वेणान्वय., यच्च छदः जेम यथा तरल तुरअ—तरलतुरगः, तथा विदिशि दिशि अगम गम—अगम्ये गम्ये पसरइ—प्रसरति सुपरि—पादे (?) परिलील—परित. लीलया, परिचलइ—परिचलति, सा लीलावती तत् लीलावतीनामक वृत्त, कल बत्तीस—कलासु द्वात्रिंशत्सु विसाम करे—विश्राम करोति इति योजना ॥ यत्र सप्तचतुष्कलानतर सगणः प्रतिचरण पतति, सा लीलावतीति फलितार्थ. ॥

१९० अथ लीलावतीमुदाहरति, सव अरि घरेति । जखण वीर हमीर चले—यस्मिन् क्षणे वीरहम्मीरश्चलित, तस्मिन् क्षणे इति शेष. सव(व) अरि घर—सर्वारिगृहेषु अग्गि—अग्निः धह धहेत्यन(नु)करण (कइ—) कृत्वा जलइ—ज्वलति, दिग मग णह पह—दिङ्मार्गे नभःपथ अणलभरे—अनलभृतः अग्निना परिपूर्ण इत्यर्थ जात इति शेप, घण थण हर जघण देआव करे—घनिस्तनभरजघनदत्तकर वनिनीनाम् अरिवनिताना स्तनभरे जघने च दत्त करो येन स तादृश इत्यर्थ. पाइक्क—पदातिः सव दीस पसरि—सर्वदिक्षु प्रसृत्य

षट्कलस्ततश्चतुष्कलत्रय ततो लघ्वादिस्त्रिकलः यत्र प्रतिचरण पतति, तत् प्लवग (म)नामक वृत्तमिति फलितार्थः ॥

१८७ * * * * * * * *

१८८. अथ प्लवगममुदाहरति, हे सहि—सखि, यत् चचल विज्जुलिआ—चचला विद्युत् णच्चइ—नृत्यति, एत (अतो) मम्मह—मन्मथः जलहर साणए—जलधरशाणके मेघस्वरूपशस्त्रोल्लेखने यत्रे इत्यर्थः खग्ग किणीसइ—प (ख) ड्ग तीक्ष्णयति इति जाणए—ज्ञायते । फुल्ल कदम्बअ—पुष्पिताः कदम्बकाः, अंबराडम्बरः दृश्यते, घनाघनः वरीसए—वर्षति, अतः हे सुमुखि पाउस पाउ—प्रावृट् प्राप्ता न तु कात इति भावः ॥

१८९. अथ लीलावतीनामक वृत्त लक्षयति गुरु लहु इति । जहि—यत्र गुरु लहु णहि णिम्म—गुरोर्लघोर्नास्ति नियम. एतावतो गुरव एतावतो लघवश्च यत्र पततीति नियमो नास्तीत्यर्थ, अक्खर—अक्षरेऽपि णिम्म णहि—नियमो नास्ति, एतावत्यक्षराणि पततीत्यपि यत्र न नियम इत्यर्थ., विसम सम—विषमे (समे) पयोधरः जगण पलइ—पतति इत्यपि कहु णहि णिम्म—कुत्रापि चरणे नास्ति नियम', किन्तु गण पच चउक्कल—गणाः पच चतुष्कला' चतुष्कलभेदात्मकाः पचगणा इत्यर्थ, प्रस्तारक्रियया चतुष्कलस्य पच भेदाः ये भवती ते सर्वेऽपि व्यस्ता. समस्ता विपर्यस्ता इति हृदय । ते कियतः पतति इत्यत्र हेतुः कल बत्तीसेति, तथा च द्वात्रिंशन्मात्राः पूरका अष्टौ चतुष्कलभेदा इति भाव', निरतरमितरगणातराव्यवहितमित्यर्थः पलइ पतति, अत—अंते पादाते इत्यर्थ., कत गण कातगण सगण इत्यर्थः, ध्रुव निश्चित पत(ती)ति पूर्वेणान्वय', यच्च छदः जेम यथा तरल तुरअ—तरलतुरगः, तथा विदिशि दिशि अगम गम—अगम्ये गम्ये पसरइ—प्रसरति सुपरि—पादे (?) परिलील—परित लीलया, परिचलइ—परिचलति, सा लीलावती तत् लीलावतीनामक वृत्त, कल बत्तीस—कलासु द्वात्रिंशत्सु विसाम करे—विश्राम करोति इति योजना ॥ यत्र सतचतुष्कलानतर सगणः प्रतिचरणं पतति, सा लीलावतीति फलितार्थ ॥

१९० अथ लीलावतीमुदाहरति, सब अरि घरेति । जखण वीर हमीर चले—यस्मिन् क्षणे वीरहम्मीरश्चलित., तस्मिन् क्षणे इति शेप सर्व(व) अरि घर—सर्वारिगृहेषु अग्गि—अग्निः घह घहेत्यनु(नु)करण (कइ—) कृत्वा जलइ—ज्वलति, दिग मग णह पह—दिङ्मार्गं. नमःपथ अणलभरे—अनलभृतः अग्निना परिपूर्ण इत्यर्थ. जात इति शेप, घण थण हर जघण देआव करे—घनिस्तनभरजघनदत्तकर. घनिनीनाम् अरिवनिताना स्तनभरे जघणे च दत्त· करो येन स तादृश इत्यर्थ पाइक्क—पदातिः सब दीस पसरि—सर्वदिक्षु प्रसृत्य

पट्कलस्ततश्चतुष्कलत्रय ततो लघ्वादिस्त्रिकलः यत्र प्रतिचरण पतति, तत् प्लवग (म)नामक वृत्तमिति फलितार्थ. ॥

१८७ * * * * * * * *

१८८ अथ प्लवंगममुदाहरति, हे सहि—सखि, यत् चचल विज्जुलिआ—चचला विद्युत् णच्चइ—नृत्यति, एत (अतो) मम्मह—मन्मथः जलहर साणए—जलधरशाणके मेघस्वरूपशस्त्रोल्लेखने यन्त्रे इत्यर्थः खग्ग किणीसइ—प (ख) ड्ग तीक्ष्णयति इति जाणए—ज्ञायते । फुल्ल कदंबअ—पुष्पिता. कदम्बका, अंबराडबरः दृश्यते, घनाघन. बरीसए—वर्षति, अतः हे सुमुखि पाउस पाउ—प्रावृट् प्राप्ता न तु कात इति भावः ॥

१८९ अथ लीलावतीनामक वृत्त लक्षयति गुरु लहु इति । जहि—यत्र गुरु लहु णहि णिम्म—गुरोर्लघोर्नास्ति नियम एतावतो गुरव एतावतो लघवश्च यत्र पततीति नियमो नास्तीत्यर्थ., अक्खर—अक्षरेऽपि णिम्म णहि—नियमो नास्ति, एतावत्यक्षराणि पततीत्यपि यत्र न नियम इत्यर्थ., विसम सम—विषमे (समे) पयोधरः जगण पलइ—पतति इत्यपि कहु णहि णिम्म—कुत्रापि चरणे नास्ति नियमः, किन्तु गण पच चउक्कल—गणाः पच चतुष्कला चतुष्कलभेदात्मकाः पचगणा इत्यर्थ., प्रस्तारक्रियया चतुष्कलस्य पच भेदा ये भवती ते सर्वेऽपि व्यस्ता. समस्ता विपर्यस्ता इति हृदय । ते कियतः पतति इत्यत्र हेतु. कल बत्तीसेति,तथा च द्वात्रिंशन्मात्रा. पूरका अष्टौ चतुष्कलभेदा इति भाव, निरतरमितरगणातराव्यवहितमित्यर्थः पलइ पतति, अत—अंते पादाते इत्यर्थ., कत गण कातगण सगण इत्यर्थः, ध्रुव निश्चित पत(ती)ति पूर्वेणान्वय., यच्च छदः जेम यथा तरल तुरअ—तरलतुरगः, तथा विदिशि दिशि अगम गम—अगम्ये गम्ये पसरइ—प्रसरति सुपरि—पादे (?) परिलोल—परित. लीलया, परिचलइ—परिचलति, सा लीलावती तत् लीलावतीनामक वृत्त, कल बत्तीस—कलासु द्वात्रिंशत्सु विसाम करे—विश्राम करोति इति योजना ॥ यत्र सतचतुष्कलानतर सगणः प्रतिचरण पतति, सा लीलावतीति फलितार्थ ॥

१९० अथ लीलावतीमुदाहरति, सव अरि घरेति । जखण वीर हमीर चले—यस्मिन् क्षणे वीरहम्मीरश्चलित, तस्मिन् क्षणे इति शेष सर्व(व) अरि घर—सर्वारिगृहेषु अग्गि—अग्नि. घइ घहेत्यन(नु)करण (कइ—) कृत्वा जलइ—ज्वलति, दिग मग णह पह—दिङ्मार्गं. नभ:पथ अणलभरे—अनलभृतः अग्निना परिपूर्ण इत्यर्थ जात इति शेष, घण थण हर जघग देआव करे—घनिस्तनभरजघनदत्तकर घनिनीनाम् अरिवियक्षाना स्तनभरे जघने च दत्त कर येन स तादृश इत्यर्थ पाइक्क—पदातिः सव दीस पसरि—सर्वदिक्षु प्रसृत

षट्कलस्ततश्चतुष्कलत्रय ततो लघ्वादिस्त्रिकलः यत्र प्रतिचरण पतति, तत् प्लवग (म)नामक वृत्तमिति फलितार्थः ॥

१८७ * * * * * * *

१८८, अथ प्लवगममुदाहरति, हे सहि—सखि, यत् चचल विज्जुलिआ—चंचला विद्युत् णचइ—नृत्यति, एत (अतो) मम्मह—मन्मथः जलहर साणए—जलधरशाणके मेघस्वरूपशस्त्रोल्लेखने यंत्रे इत्यर्थः खग्ग किणीसइ—प (ख) ङ्ग तीक्ष्णयति इति जाणए—ज्ञायते । फुल्ल कदंबअ—पुष्पिताः कदम्बकाः, अंबराडंबरः दृश्यते, घनाघन. वरीसए—वर्षति, अत. हे सुमुखि पाउस पाउ—प्रावृट् प्राप्ता न तु कात इति भावः ॥

१८९. अथ लीलावतीनामक वृत्त लक्षयति गुरु लहु इति । जहि—यत्र गुरु लहु णहि णिम्म—गुरोर्लघोर्नास्ति नियम एतावतो गुरव एतावतो लघवश्च यत्र पततीति नियमो नास्तीत्यर्थ, अक्खर—अक्षरेऽपि णिम्म णहि—नियमो नास्ति, एतावत्यक्षराणि पततीत्यपि यत्र न नियम इत्यर्थः, विसम सम—विषमे (समे) पयोधरः जगण पलइ—पतति इत्यपि कहु णहि णिम्म—कुत्रापि चरणे नास्ति नियम., किन्तु गण पच चउक्कल—गणा. पच चतुष्कला चतुष्कलभेदात्मकाः पंचगणा इत्यर्थ, प्रस्तारक्रियया चतुष्कलस्य पच भेदाः ये भवती ते सर्वेऽपि व्यस्ता. समस्ता विपर्यस्ता इति हृदय । ते कियतः पतति इत्यत्र हेतु. कल बत्तीसेति,तथा च द्वात्रिंशन्मात्रा पूरका अष्टौ चतुष्कलभेदा इति भाव', निरतरमितरगणातराव्यवहितमित्यर्थः पलइ पतति, अत—अंते पादाते इत्यर्थ, कत गण कातगण सगण इत्यर्थ, ध्रुव निश्चित पत(ती)ति पूर्वेणान्वय., यच्च छदः जेम यथा तरल तुरअ—तरलतुरगः, तथा विदिशि दिशि अगम गम—अगम्ये गम्ये पसरइ—प्रसरति सुपरि—पादे (?) परिलील—परित. लीलया, परिचलइ—परिचलति, सा लीलावती तत् लीलावतीनामक वृत्त, कल बत्तीस—कलासु द्वात्रिंशत्सु विसाम करे—विश्राम करोति इति योजना ॥ यत्र सतचतुष्कलानतर सगणः प्रतिचरण पतति, सा लीलावतीति फलितार्थ ॥

१९०. अथ लीलावतीमुदाहरति, सव्व अरि घरेति । जखण वीर हमीर चले—यस्मिन क्षणे वीरहम्मीरश्चलित, तस्मिन् क्षणे इति शेष सर्व(व) अरि घर—सर्वारिगृहेषु अग्गि—अग्नि. धह धहेलव(नु)करण (कइ—) कृत्वा जलइ—ज्वलति, दिग मग णह पह—दिङ्मार्गं नभ'पथ अणलभरे—अनलभृतः अग्निना परिपूर्ण इत्यर्थ जात इति शेष, घण थण हर जघण देआव करे—घनिम्नभरजघनदत्तकरा घनिनीनान् अरिविनिताना स्तनभरे जघने च दत्त करो येन स तादृश इत्यर्थ. पाइक्क—पदातिः सव दीस पसरि—सर्वदिक्षु प्रसृत

हुरइ—पतति, भेरव भेरिअ सद्द पले—भैरवभेरीशब्दः पतति, भअ लुक्किअ-मर्मनिलीनस्थगितः वेरि तरुणि अग—वैरितरुणीजनः महि लुट्टइ—मह्यां विचेष्टते, पिट्टइ—ताडयति रोदयतीति भाव', रिउ सिर टुट्टिअ—रिपुशिरांसि त्रुट्यति ॥

१६१ अथ हरिगीतनामकं वृत्तं लक्षयति, गण चारि (ठी) ति। पअ पअहि (इ)—पादे पादे प्रतिचरणमित्यर्थः प्रथमं गण चारि—गणचतुष्टयं पंचकलान् ठविज्जसु—स्थापयत, बीअ ठामहि—द्वितीये स्थाने प्रथमपंचकलगणानंतरमिति यावत् छक्कलो—षट्कलान् स्थापयतेति पूर्वेणान्वयः, तथाच कर्तव्येषु चतुर्पंचकलेषु प्रथमपंचकलानंतरमेकं षट्कलं दत्वान्यं भनंतरमुवैरितश्च पंचकला गणाः कार्या इति पर्यवसितोऽर्थः। अंतहि अन्ते पदति इत्थं गुरु करिज्जसु-गुरुमेकं कुरुत, दह चारि दुइ दह दुइ—दश चत्वारि द्वे दश द्वे एवं मत्त अ (ट्ठा)रहओ—मात्रा अष्टाविंशतिः पमाणह—प्रमाणयत पिंगलेन पअसिअओ—पिंगलेन प्रकाशितं, बण्णेण सुसव्वलो—वर्णेनेन सुशबलं सुतरां सबलं समीचीन मित्यर्थः पठिद—प्रथितं हरिगीअ छंद—हरिगीतं छंदः जाणहु—जानीत। प्रथममेकः पंचकलस्तत एकः षट्कलस्ततश्च पंचकलास्तत एकः गुरुः अत पतति सदाष्टाविंशतिमात्राकचरणं हरिगीतनामकं वृत्तमिति फलितार्थः।

१६२ अथैनमैवार्थं दोहाछंदेनाह, धीए छक्कलु इति। अत्र हरिगीतच्छंदसीत्यध्याहरणीयं, चारि पंचकल—चतुरः पंचकलान् देहु—दत्त। बीए—द्वितीये स्थाने प्रथमपंचकलानंतरमित्यर्थः छक्कलु एकक अक्खु—षट्कलमेकं कथयत अंते—पादांते मारस—मानसमकं गुरुमित्यर्थः ठवेहु—स्थापयत, आरह उत्तर—अष्टोत्तरा मत्त सउ—मात्रा शतं चतुरश्चरणमुदिता जानीतेति शेषः॥

१६३ अथ हरिगीतमुदाहरति गअ गअहीति। गआ गऔः सह घुम्मिअ—दोलिता युद्धार्थं मिलिता इत्यर्थः, तुरअ तुरअहि—तुरगास्तुरगैः सह झुक्किअ—घटुपुष्प्न(स्त), रह रहहि—रथा रथैः सह मीलिअ—संयुक्ता युद्धाय मिलिता इत्यर्थः धरणि पीडिअ—धरणिः पीडिता, तरणि—तरणिः सूर्यः झुक्किअ—आच्छन्ना इत्यन्यपादोत्तरपूर्तिमिरिति भावः, अतएव अप्प पर—आत्मीयाः परकीया इति न बि(वे)अ आधीविरत्यर्थः, बल—बलानि सैन्यानि मिलिअ—एकीभूय आइउ—आगतानि पत्ति—पत्तय(य) चाइउ—चालिताः, गिरिवर सीहरो गिरिवरशिखराणि कंप—कंपितानि, साअर—सागराः उच्छलिअ—उच्छलिताः, अम्बर—अम्बरा रुणमीरवो वा इत्यर्थः दीन—दीना जाता इति शेषः, दैन्यमाश्रिता इत्यर्थः, दीहरा—दीर्घं वैर बड्ढिअ—वैरं वर्धितं, कर्म दुष्यमाने कर्त्त(र्ति) शेषः॥

१९४ अथ त्रिभगीनामक वृत्त लक्षयति पढममिति । पढम—प्रथममादौ दह—दशसु मात्रास्विति शेषः, अग्रेऽपि यथायोग्य योजनीय, रहण—विश्राम', ततः अट्ठह—अष्टसु मात्रास्वित्यर्थः विश्रामः, ततः रसरहण—रसेषु षट्सु तथाच रससख्योपलक्षितासु षट्सु मात्रासु इत्यर्थः रहण—विश्रामः, एव द्वात्रिंशन्मात्राः प्रतिचरण पतती(ति) शेष', अते—पदाते गुरु. सोहइ—शोभते, कर्त्तव्यासु द्वात्रिंशन्मात्रासु अतिममात्राद्वयमेकगुरुस्वरूप कार्यमित्यर्थः, तत् तिम्भगीछद—त्रिभगीच्छदः तिहुवण मोहइ—त्रिभुवन मोहयति, महिअल इति पाठे महीतलमित्यर्थः, असैं सिद्ध. वरतरुण—तरुणवरः लोकश्चेत्यर्थः सराहइ—श्लाघते। अत्र यदि पओहरु—पयोधरः मध्यगुरुर्जगणइत्यर्थः पलइ—पतति, तदा किमइ मणोहरु—किमपि मनोहर न भवतीति शेष', किंतु येन तच्छदसा कवित्व क्रियते तासु कई—तस्य कवेः कलेवरं शरीरं हणइ—हंति, इति विमलमई—विमलमति , जणिआणद—जनितानंद., क्वचित्सुक्खाणद इति पाठः सुखी आनदीत्यर्थ., फणिंदो—फणींद्रः पिंगलः भणइ—भणति। अत्र चतुर्मात्रका अष्टौ गणाः प्रतिचरण देयाः, तेष्वेवातिमो गणो गुर्वंत' कर्त्तव्य , पूर्वोक्तमात्रासु विश्राम कर्त्तव्य इति फलितार्थः ।

१९५ अथ त्रिभगीमुदाहरति सिर किज्जिअ इति। शिरःकृतगग गौर्यर्द्धांग हतानग त्रि(?)पुर) द)हन कृतफणिपतिहारं त्रिभुवनसार वदितभस्मान रिपुप्र(?)मथन। सुरसेवितचरण मुनिगणशरण भवभयहर त्रिभु(शू)लधर, सानदितवदन सुदरनयन गिरिवरशयन नमत हरम् ॥

१९६. अथ दुर्मिला लक्षयति, तीस दुइ मत्त इति। हे नराः एतत् तीस दुइ मत्ते—द्वात्रिंशन्मात्राभिः परिसजुत्ते—परिसयुक्ते यत्र च एरिस भाअहि—एतादृशभागैः एतादृशैः अनुपदमे(व) वक्ष्यमाणै. भागै. कलाशैरित्यर्थ , तिअ ठामहि—त्रिषु स्थानेषु विसमं—विश्रामः दीसइ—दृश्यते, यत्र च पअ पअ—पादे पादे कण्ण धरा—कर्णगृह कर्णो द्विगुरुको गणस्तस्य गृह स्थापन मित्यर्थः, दृश्यते इति पूर्वेणान्वयः। कुत्र स्थानत्रये विश्रामो दृश्यते इत्यत आह पढममिति। यत्र च पढम—प्रथम दह—दशसु मात्रास्वित्यर्थः णिलओ—निलय विश्राम इति यावत् किअ—कुरुत इद चाग्रेऽपि योज्य, बे—द्वितीय. अह ट्ठाअ—अष्टमस्थाने अष्टसु मात्रास्वित्यर्थ· निलय. कृत इति पूर्वानुषग , तीअ—तृतीयः चउदह—चतुर्दशसु मात्रास्वित्यर्थः निलयः कृत , जो एरिस छदे—यत् एतादृश छदस्त्रिभुवनवद्य तत् न जना. जा(नी)त दुर्मिलकम् इति बुधजनरान. पिंगलः भणति—भणति ॥

रिंगओ—खुरलीं कुर्वेत', तुरगाः। धूलि धवलाः सबलशब्दाः प्रचलाः पत्तयः प्रेत्त्यंते, यदा कर्णश्चलित तदा कूर्मः लल(य)ति भूमिर्भरति कीर्त्या ॥

२०२. अथ जलहरणनामक वृत्त लक्षयति किअ पढमे ति। जहि—यत्र सव पअ—सर्वपादेषु पढम—प्रथमादौ किअ—कृताः मुणि दिअगण—मुनिद्वि-जगणाः मुनयः सप्त तत्संख्याताः चतुर्लघुकगणा इत्यर्थः पलइ—पतति, परहि—अनतर सप्तद्विजगणोत्तरमिति यावत् दिअ सगण—देहि सगण, एव दह वसु पुणु रस—दशसु मात्रासु वसुषु अष्टसु मात्रासु पुन. रसेषु षट्सु मात्रासु इत्यर्थः पुनर्वसुषु इति शेषः, अन्यथा द्वात्रिंशन्मात्रानुपलब्धिः, विरइ करे—विरतिं कुरु। दह तिगुण—दश त्रिगुणिताः त्रिंशदित्यर्थ. कल—कला' करहि—कुरुष्व, पुणवि—पुनरपि ठव जुअल—स्थापय युगल कलाया इति शेष. तथाच द्वात्रिंशन्मात्राः स्थापयेत्यर्थः। एम परि—एव परि एव परिपाटया ठवहु चउ चरणा—स्थापय चतुश्चरणान्, अत्र च जइ—यदि, पलइ कबहु गुरु—पतति कदापि गुरुः यदि सगणातर्गतगुर्वतिरिक्तोऽपि गुरुः पतति, सगणाति(रि)क्तोऽपि गुर्वादिर्म यगुरुर्वा गण. पततीति यावत्, त (दा) कबहु ण परिहरु—कदाचिदपि मा परिहर, तदा तमपि दत्वा द्वात्रिंशन्मात्रा प्रतिचरण देयाइत्यर्थ.। एव च द्विजगण-षट्का(ट्कस्या)दौ मध्ये अते वा गुर्वादि मध्यगुरु वा एक गण दत्वा अते च सगण दत्वा द्वात्रिंशन्मात्राः प्रतिचरणं देया इत्यर्थः। इतीदानीमुक्त भवति पूर्वे च सप्तद्विजगणानतर सगणमिति लक्षणद्वय बोध्य। हे कमलमुखि (वि)बुधजन-मनोहरण मुणहि—जानीहि इति श्रीफणिपतिः सुकविवरः भणति इति योजना। सप्तद्विजगणानतर सगण' यत्र प्रतिचरणं पतति, अथवा षट् द्विजगणाः एकः कश्चित् मध्यगुरुर्गुर्वादिर्वा गणः पतति अते च सगण एव यत्र पतति (त) त् मनो (जल) हरणमिति फलितार्थः ॥

२०३ अथैनमेवार्थं गाहूच्छदसा स्पष्टयति बत्तीसेति। मनो(जल)हरणच्छं-दसात्यध्याहारः। बत्तीस होइ मत्ता—द्वात्रिंशद्भवति मात्रा., अते सगणाइ ठावेइ (हि)—अते सगण स्थापय, कर्त्तव्यासु द्वात्रिंशन्मात्रासु अतिम मात्राचतुष्टयं सगणस्वरूप कार्यमित्यर्थः, पाएहि—पादेषु आदौ सव्व लहु—सर्वे लघवो भवति यदि चेदेकः गुरु वेवि—द्वौ वा गुरू भवतस्तदा न दोष इत्यर्थ', तथाच सप्त-द्विजगणानतरं यगणः कार्य., अथवा षट् द्विजगणा', तेषामादौ अते मध्ये वा एकः गुर्वादिर्मध्यगुरुर्वा गणः कार्य', सर्वेषामते च सगणो देय इति फलितार्थः! अतएव उदाहरणे चतुर्थचरणे खओरेति षष्ठो जगणो दत्त इति द्रष्टव्यम्।

२०४. अथ मनो (जल)हरणमुदाहरति खुर इति। खुर—खुरैः महि—महीं खुदि—क्षोभयित्वा, खुलुकि ण ण ण ग्गदि इत्यनुकृत्य, घघरु रव कलहि—

२०६ अथैनमेवार्थं नि.कृष्य दोहावृत्तेनाह वेवि मत्तेति। द्वे अपि मात्रे शिरसि आदौ ठावि कइ—स्थापयित्वा, अंते वलआ—वलय गुरु कुरुत। मभ्भ—मध्ये द्विमात्रागुर्वोरंतराले इत्यर्थः नव चतुष्कलगणान् धरि स्थापयित्वा मदनगृह कथयत ॥

२०७. अथ मदनगृहमुदाहरति, जिणीत। येन कंसो विनाशितः कीर्त्तिः प्रकाशिता रिष्टकमुष्टिकयो. दैत्ययोः विनाशः कृत गिरिर्गोवर्द्धनो हस्ते धृतः यमलार्जुनो वृत्तौ(त्तौ) भग्नौ पादभरगजितकालियकुलस्य सहारः कृतः, यस्य यशसा भुवन भृत। चाणूरो नाम दैत्य. विपादितः, निजकुल मडित, राधामुख-मधुपानं कृतं यथा भ्रमरवर। भ्रमरो यथा कमलमकरदपान करोतीत्यर्थ. ॥ स नारायण. विप्रपरायणः भवभीतिहरः चित्तचिंतित वर ददातु ॥

२०८ अथ महाराष्ट्रनामक वृत्त लक्षयति, एहु छदेति। यत्र आदौ दह अक्खरदशाक्षरेषु, अत्राक्षरशब्देन मात्रा उच्यते, तथाच दशासु मात्रास्वित्यर्थः विसमइ—विश्राम्यति यतिं प्राप्नोतीत्यर्थं, पुणु अट्ठक्खर—पुन. अष्टाक्षरेषु अष्टसु मात्रास्वित्यर्थं, पुणुवि एआरह ठाउ—पुनरपि एकादशस्थाने एकादशसु मात्रास्वित्यर्थं. विश्राम्यतीति पूर्वेणान्वय.। यत्र च सोलह अग्गल—षोडशाधिकाः सउ—शत मत्त—मात्रा, समात्रा. (?) समग्गल—स(म)ग्राश्चरणचतुष्टयस्या इत्यर्थ., यत्र च आइहि—आदौ छक्कलु—षट्कल गण, ततः पच चतुष्कलान्, अंते—पादाते गुरुलहु—गुरुलघुक्रमेणेत्यर्थः देहु—ददत एहु छद—एतत् छद. सुलक्खण—सुलक्षण सर्वेषु वृत्तेषु समीचीनमित्यर्थः मरहट्ठा—महाराष्ट्र भणहि—कथय, एहु—एतत् विचक्षण. पिंगलनाग. जल्पति ॥

२०६ अथ महाराष्ट्रमुदाहरति जईति। यद्यपि मित्र धनेश्वर. श्वशुरो गिरीश., तथापि यस्य खलु पिधन दिश, यद्यपि अमृतकद. निकटे चद्र', तथापि यस्य भाजन विष। यद्यपि कनकसुरगा गौरी अर्द्धांगे, तथापि यस्य डाकिन्य. सगे, यः यशः दापयति यश्च देवस्वभावस्तस्य भगः कदापि न भवति ॥

इति लि(ली)लावति(ती) प्रकरणम् ॥

अस्ति श्रीखेखसीति त्रिभुवनवलयख्यातनाम्नी पुरी या
तस्याश्चद्राकराख्य समभवदधिप. क्षोणिदेवाग्रगण्यः।
तद्वशे कृष्णदेवः समजनि तनयस्तस्य वशीधराख्यो
जातस्तन्निर्मितेय जगति सुविमला टिप्पनी पिंगलस्य ॥

इति श्रीपिंगलप्रकाशे मात्रावृत्तप्रकरणम् ॥

सई—सती पतिव्रतेति यावत् उमा पार्वती । तुमा—त्वा रक्खो—रक्षतु ॥ मही निवृत्ता ॥

९–१० द्व्यक्षरपादवृत्तस्य तृतीय भेद सारुनामकं वृत्त लक्षयति, सारिति । यत्र द्व्यक्षरचरणे वृत्ते पूर्वं गो—गुरुस्तदनन्तरं रेह—रेखा लघुरित्यर्थः पतति, एह—एतत्सारु सारुनामक वृत्तमित्यर्थः ॥ विशब्दोऽप्यर्थकोऽत्र पादपूरणार्थमेव । अथवा गो—गुरु' रेह—रेखा एव 'प्रकारेण यत्र वि—अक्षरद्वयात्मक पद भवति इह—एतत्सारुनामकं वृत्तमिति व्याख्येयम् । सारूदाहरति, सम्भिति । एउ—देवः सभु—शभुः शिवः । सुम्भ—शुभं देउ—ददातु इति शेष' ॥ सारु निवृत्तम् । द्व्यक्षरवृत्त गतम् ॥

११–१२. अथ त्र्यक्षरचरणस्य वृत्तस्य प्रस्तारक्रियया अष्टौ भेदा भवति, तत्राद्य भेद तालीनामकं वृत्त लक्षयति, तालीति । यत्र त्र्यक्षरपादे वृत्ते पूर्वं गो—गुरुस्तदनन्तर कण्णो—कर्णः गुरुद्वयात्मको गणो भवति, सा ए—इयं ताली जाणीए—ज्ञायते, तत्तालीनामक वृत्तमित्यर्थः । कीदृशो ती वण्णो—त्रिवर्णे त्यर्थ' । यद्वा गो—गुरु॰ कण्णो—गुरुद्वयात्मको गण एव प्रकारेण यत्र प्रतिचरण ती वण्णो—त्रयो वर्णा भवन्ति, ए—इय ताली जाणीए—ज्ञायते ॥ अथवा ती वण्णो—त्रिवर्णैः गो कण्णो—गुरुकर्णरूपैः तालीए—तालीय जाणीए—ज्ञायत इति व्याख्येयम् । तालीमुदाहरति, त्विति । सो—सः चंडेसो—चडीश' तुम्हाण—युस्मान् अम्हाण—अस्मान् रक्खे—रक्षत्वित्यर्थः ॥ ताली निवृत्ता ॥

१३–१४ अथ त्र्यक्षरपादस्य वृत्तस्य तृतीय भेद प्रियानामक वृत्त लक्षयति, हे पिए इति । तिण्णि—त्रीणि रे—राणि मध्यलघुरगणात्मकानि अक्खरे—अक्षराणि यत्र त्र्यक्षरचरणे वृत्ते लेक्खिए—लिख्यंते, हे—इय पिए—प्रिया प्रियानामैतद्वृत्तमित्यर्थ ॥ केचित्तु हे पिए इति प्रियासम्बोधनपरतया व्याकुर्वते । प्रियामुदाहरति, सकरविति । पाउणो—पावन' सकरो—शिवकर. संकरो—महादेवः णो—नः अस्मानिति यावत् पाउ—पातु रक्षत्वित्यर्थः ॥ प्रिया निवृत्ता ॥

१५–१६ अथ त्र्यक्षरचरणवृत्तस्य द्वितीय भेद शशिनामक वृत्त लक्षयति, ससीति । यत्र त्र्यक्षरपादे वृत्ते च य—आदिलघुर्यगणः जणीओ—जनित. कृत इति यावत् सः फणिंदे—फणीन्द्रेण शेषेण—शशी भ(णी)ओ—भणितस्तत् शशिनामक वृत्तमित्यर्थं ॥ अथवा भवतीत्यध्याहृत्य शशी जणीओ—ज्ञातःयमि(इ)त्यर्थं इति योजनीयं । शशिनमुदाहरति, भवाणीति । दुरित—दुरित हरन्ती हसती—हसमाना (?) भवानी मा पात्विति शेष. ॥ शशी निवृत्त' ॥

१७–१८ अथ त्र्यक्षरप्रस्तारस्य चतुर्थभेद रमणनामक वृत्त लक्षयति सगणेति । सगण. गुर्वंतगणो यत्र त्र्यक्षरचरणे वृत्ते सहिओ—साधितः निर्दिष्ट

इति यावत्, स रमण कहिज्जै—कथितस्तन्नामकं वृत्तं कथितमित्यर्थः। केचित् सगणं हस्तमन्तरं सप्तलीलमध्याहृत्य कहिज्जै इदं तन्नीलवोधनस्वरा व्याकुर्वते। परे तु सगणेन कहिज्जै—कहिता रमणा कथित इत्याहुः। रमण सु हरदि, सेति। शशिना चन्द्रेण रअणी—रजनी। पत्ता—पत्ता मनु भूतेनेति यावत् तस्यी शोभामुखेत्यर्थः॥ केचित्तु शोभेत्त इत्यध्याहृत्य शशिना यथा तस्यीति पृथग्व्याकुर्वते। र(म)णो निवृत्तः॥

११–२ अथ त्र्यक्षरचरणस्य वृत्तस्य पंचमं भेदं पंचालनामकं वृत्तं लक्ष (य)ति तक्कोति। तं—अत्र त्र्यक्षरचरणे वृत्ते प्रतिचरणं तकारो तगणस्तस्मात् इत्यपा। पिङ्—हरा स सन्निकिट्ठ—अकृष्णा पंचाला कवि(त) इति शेषः॥ तत् पंचालनामकं वृत्तमित्यर्थः। अत्र उत्कृष्ट इति विशेषणं छंदपूरणार्थमेव। पंचालमुदाहरति सविति। से—सा श्रीरामचन्द्र इति शेषः सुक्खाइ—सुखानि दंसारि—दत्त्वा, सुखानि देउ—ददातु॥ पंचालो निवृत्तः॥

११–२२ अथ त्र्यक्षरचरणस्य वृत्तस्य षष्ठं भेदं मृगेन्द्रनामकं वृत्तं लक्षयति, नरेंदेति। भो सुधा त्र्यक्षरचरणे वृत्ते प्रतिचरणमिति शेषः नरेन्द्रं गुरुमध्यं जगणं ठवेहु—स्थापय। मइंद—मृगेन्द्रं कहेहु—कथय॥ मृगेन्द्रमुदाहरति, पुरवेति। पुरवो कथंगा। दिगन्तरे कोरा॥ अतो हे सखि कथितुवानमप्रानयेति गूढाभि प्रायाया मोषितभर्तृ कायाः इदं वचनम्। मृगेन्द्रो निवृत्तः॥

११–२४ अथ त्र्यक्षरचरणस्य वृत्तस्य सप्तमं भेदं मंदरनामकं वृत्तं लक्षयति, भाविति। हे सहि—सखि (व)रि—वरा त्र्यक्षरचरणे वृत्ते भौ—भादिगुरु भगणो भवति, सो—स सुन्दरः मंदरः तन्मंदरनामकं वृत्तमित्यर्थः॥ अत्र सुन्दरेति पादपूरणार्थमेव। मंदरमुदाहरति सविति। सो—सा हरः शिवः शंकर—शुभानां संकटं दु सं संहर नाशय। मन्दरो निवृत्तः॥

११–२६ अथ त्र्यक्षरवृत्तस्यान्तिमभूतमष्टमं भेदं कमलनामकं वृत्तं लक्षयति, कमलेति हे सुमुखि णगण—पत्र त्र्यक्षरचरणे वृत्ते नगणः सर्वलघुः पतति, तत्कमलं कमलनामकं वृत्तं पमण—प्रभणेत्यर्थः॥ कमलमुदाहरति रमणेति। रमण गमण—रमणस्य गमनं रमणगमनं तस्मिन्। कमण—कृत्वा गमण—गमनं क्रियते इति शेषः इत्यादि कमलं निवृत्तम्॥

२७–२८ अथ चतुरक्षरस्य प्रस्तारक्रियया षोडश भेदा भवति तेषु प्रथमं भेदं तीर्णनामकं वृत्तं लक्षयति, चारीति। यत्र चतुरक्षरचरणे वृत्ते किज्जे—ही कण्णा—कर्णौ गुरुद्वयात्मको गणाविति यावत्, एवं प्रकारेण चारी हारा—चत्वारो हारा गुरवः पतन्ति तां किज्ज—तीर्णा चारी—नामोदि तीर्णनामकं वृत्तं

चिह्नीत्यर्थ. कीदृशा. हारा. अट्ठा काला—अष्टौ कला येषा ते अष्टकला इत्यर्थः। अत्र चारी हारा अट्ठा कालेति वृत्तपूरणार्थमेव । यत्र प्रतिचरण कर्णौ गुरुद्वयात्मकौ गणौ भवतः सा तीर्णेति निष्कर्षः । क्वचित्तु इट्ठाआरा इति पाठस्तत्र इष्टः पादपूरणार्थमपेक्षित इति यावत् आकार स्थापन येषा ते तादृशा इत्यर्थः। तीर्णामुदाहरति, जाआ इति। जाया वधू । (माआ)—माया मायावतीत्यर्थः, पुत्तो धुत्तो—पुत्रो धूर्त.। इरो—एतत् जाणी—ज्ञात्वा जुत्तो—युक्त किज्जे—क्रियताम् ॥ कस्यचिदुपदेष्टु ससाराऽसक्तं प्रतिवचनमिदम् ॥

२९–३०. अथ चतुरक्षरचरणवृत्तस्यैकादश भेद धारीनामक वृत्त लक्षयति, वण्ण चारीति । अवहट्ठभा(पा)या पूर्वनिपातानियमादन्यथानुपपत्त्या स-शब्दस्य हार—शब्दस्य च पूर्वनि(पा)त विधाय योजनीय, तथाच यत्र चतुर-क्षरचरणे वृत्ते स दो सारि—सद्विस (श)र हारि तिण्णि—हारद्वयम्। हारो गुरु तद्द्वयमित्यर्थ.। एव प्रकारेण वण्ण चारि—वर्णचतुष्टय भवति, हे मुद्धि—हे मुग्धे सा धारि—तद्धारीनामकं वृत्तमित्यर्थः। अयमर्थ. शरशब्दो लघुवाची हारशब्दश्च गुरुवाची, तथा च शरद्वयसहित हारद्वय यत्र भवत्येतस्याय भावः—प्रथम गुरुस्तदनतर लघु. पुन. गुरुः पुनस्तदनंतरं लघु. कर्त्तव्य एवप्रकारेण चत्वार्यक्षराणि धारीच्छन्दसि प्रतिचरण कर्त्तव्यानि, रगणान्तर लघुः कर्त्तव्य इति तु परमार्थ इत्यसत्तातचरणोपदिष्ट. पन्था । धारीमुदाहरति, देवेति । जासु—यस्य सीस—शीर्षे चद—चद्रः दीस—दृश्यते देउ (देउ)—देवदेवः शम्भुरिति शेषः सुम्भ—शुभ देउ—ददातु मह्यमिति शेषः। धारी निवृत्ता ॥

३१–३२ अथ चतुरक्षरप्रस्ता(र)स्य षष्ठभेद नगाणिकानामक वृत्त लक्षयति, पओहरेति । गुरुत्तरो—गुरूत्तर. गुरुः उत्तर अग्रे स्थितो यस्यैतादृशः पयोधरो मध्यगुरुर्जगण' यत्र चतुरक्षरचरणे वृत्ते पतति। स—सा णगा-णिआ—नगाणिका जाणिआ—ज्ञातव्या ॥ तत् नगाणिकानामक वृत्त ज्ञातव्य-मित्यर्थः। नगाणिकामुदाहरति, सरस्सईति । सरस्सई—स(र)स्वती पसण्ण होई—प्रसन्ना यदि भवति। कइत्तआ—कवित्वानि फुर—स्फुरति तआ—तदा ॥ नगाणिका निवृत्ता ॥

३३–३४ अथ पचाक्षरस्य प्रस्तारक्रियया द्वात्रिंशद्भेदा भवति, तत्राद्य भेद समोहानामकं वृत्त लक्षयति, समोहेति। वे कण्ण हारा—द्विकर्णहारौ यत्र पंचा-क्षरचरणे वृत्ते पतत', कर्णौ गुरुद्वयात्मको गण , हारो गुरुस्तथा पचगुरवो यत्र भवतीति भाव', भूअंता सारा—भुवनसार, तो—तत् भूअ—भूमौ समो(हा)—रुअ—सम्मोहास्वरूप दिट्ठो—दृष्ट ॥ तत्समोहानामकं वृत्तमित्यर्थ. ॥ सम्मोहामुदा-

इत्यपि सद्देति। चूरिया लंगी—चुरितलंगिनी शदंडा—सद्‌गय मदिरामुपादिवसेनेति मावः चंदी—चन्द्रिका। वेवो(च्चे) का होल—वैलोक्यसुखं मोक्ष—मोदं वैलोक्यसुखरूपमोदमित्यर्थः मे—मह्यं देऊ ददातु॥ केचित्तु वैलोक्येति पदपर्थं पदं कृत्वा वैलोक्यस्य सुखं च पुनः मे मह्यं ददातीति व्याकुर्वते। संमोहा निवृत्ता॥

१५-१६ अथ पंचाक्षरस्य पंचमं मेदं हारीतनामकं वृत्तं लक्षयति, भाईति। भाईहि—आदौ अंते—चरणसमाप्तौ च कण्णं लघुले—कर्णयुक्ते गुरुद्वयमुक्तमित्यर्थः। मज्झमेक्क गंधो—मध्यैकाधं मध्ये कर्णद्वयमध्ये एकः गन्धो लघुर्येन स्थाप्यमित्यर्थः, तत् हारीअ छंदो—हारीतच्छन्दः पिंगलेन कथितमिति शेषः। यत्र प्रतिचरणं मध्यस्थो गुरुद्वयं तत्र एको लघुस्ततश्च गुरुद्वयं भवति तत् हारी(त) नामकं वृत्तमिति निष्कर्षार्थः। कुत्रचित् हारे लघुर्वे इति पाठस्तत्र हारस्यां संयुक्तमिति व्याख्येयम्। हारीतमुदाहरति, जा मत्तीति। जा यदि मत्ता मर्ं मत्ता चम्मेक्क पिच्चा—चम्मेकप्रिया—सा नारी स्त्री चम्म पिआरी—धन्यप्रिया धन्यपुरुषस्य प्रिया वल्लीत्यर्थः होइ भवति॥ केचित्तु धम्मति मिनं पदं कृत्वा सा नारी धन्या प्रिया च भर्तुरिति शेषः भवतीति योजयंति। हारंतं निवृत्तम्।

१७-१८ अथ पंचाक्षरस्य प्रस्तारस्य सप्तमं मेदं हंसनामकं वृत्तं लक्षयति पिंगलेति। भ—भादिगुरुर्भगण इति यावत् अन्य वि—अन्योऽपि गुरुद्वयात्मको गणो ऽपि यत्र पञ्चाक्षरचरणे वृत्ते दिस्से—दीसते पिंगल दिट्ठो—पिंगलदृष्टः सिद्धो—सुज्ञा पिंगलेनेति भावः, तं हंस—हंसा भुणिज्जे—ज्ञायते॥ यत्रीयचरणे भगणो यत्र गुरुद्वयं भवति तत् हंसनामकं वृत्तमिति निष्कर्षार्थः। अत्र इह इति हेकारस्य ऐ ओ ग्लुरा च चन्न भिन्निजा चि ब्बु पूर्णाचरत्वात् इस्वत्वम्, पिंगल दिट्ठो सिद्धा इति स्वच्छमं पादपूरणार्थमिति ग्रहणम्॥ हंसमुदाहरति, सो मोहेति। सो—सः मह—मम कंवा—कांता च इत्यर्थः दूर (दिसंता) दूरे (दिगन्ते) गतोऽस्ति इति शेषः। अथ पाउस—प्रावृट् आवे—आयाति, चेउ—चेता चलावे—चालयति व्याकुलमतीत्यर्थः॥ अतः किमाचरणीयं त्वं मे दिवसेरति गूढमिमामाह प्रोषित भर्तृकाया प्रियवल्लरी प्रति वाक्यमिदम्। हंसो निवृत्तः॥

१९-४ अथ पंचाक्षरप्रस्तारस्याष्टमं मेदं यमकनामकं वृत्तं लक्षयति सुनीति। हे सुमुख शोभनगुणविशिष्ट शिष्य यत्र पंचाक्षरचरणे वृत्ते शरद गण—स्वाप्यलघुरूप्यतोमः स्वाप्यमित्यर्थः सुपिय गण—सुप्रियनाम्ने द्विलघुको गणमित्यर्थः तदनु शर—शराः सप्तमगणो गणः पतति, तत् यमकं यत्र

पठेत्यर्थः ॥ पञ्च लघवो यत्र प्रतिचरणं भवति तत् यमकमिति पिंडार्थः, सरह गणेति तु पद पद्यपूरणार्थमेव । यमकमुदाहरति, पवणेति । पवण—पवनः वह—वाति, अत इति शेषः सरिर—शरीर डह—दह्यते । मअण—मदनः हण—हति, अत इति शेषः मण—मनः तवइ—तपति । सर्वे भेदा वक्तुमशक्या अतः कियतो भेदा. प्रदर्शिताः शेषभेदास्तु सुधीतिः(भिः) एवमूहनीया. ॥

४१–४२. अथ षडक्षरचरणस्य पद्यस्य प्रस्तारक्रियया चतु.षष्टि भेदा भवति, तत्राद्य भेद शेषराजनामक वृत्त लक्षयति, वाराहेति । वाराहामत्ता—द्वादशमात्रकाः द्वादश मात्रा येषामेतादृशा इत्यर्थः, तिण्ण—त्रयः कण्णा—कर्णा गुरुद्वयात्मकागणा. जं—यत्र षडक्ष(र)चरणे वृत्ते होत्त—भवति । हारा छक्का बंधो—हारषट्कबद्ध गुरुषट्कयुक्तमित्यर्थः, तत् सेसा राआ छंदो—शेषराजच्छन्दः ॥ तत् शेषराजनामक वृत्तमित्यर्थः । अन्ये तु द्वादश मात्राः त्रयः कर्णा यत्र भवतीति पृथगेव पद, हारा छक्का बंधो इति च पद, पद्यपूरणार्थमेव । यत्र कर्णत्रयं प्रतिचरण पतति तत् शेषराजनामकं वृत्तमिति त्वलम् । शेषराजमुदाहरति, जुम्भ्भ्झतीति । उद्दामे—उद्भटे सग्गामे—सङ्ग्रामे, जुम्भ्झती—युद्ध कुर्वती णच्चंती—नृत्यन्ती कालिक्का—कालिका हम्मारो—अस्माक दूरित्ता—दुरितानि सहारो—संहरतु ॥ शेषराजो निवृत्तः ॥

४३–४४ अथ षडक्षरचरणस्य वृत्तस्याष्टाविंशतितम भेद तिल्लनामकं वृत्त लक्षयति, पिअ इति । यस्य पओ—पदे छअ वण्ण—षड्वर्णाः कल अट—कलाः अष्टौ धओ—धृता, सगणेण—गुर्वन्तगणेन जुअ—युत, तत् हे प्रिय ध्रुवं विनिश्चित तिल्ल—तिल्लं तिल्लनामक वृत्तमित्तर्थं. ॥ छअ वण्णेत्यनेन सगणद्वय युक्त भवतीत्युक्तं भवति, मात्राकथनं तु पादपूरणार्थमेव । तिल्लमुदाहरति, पिअ इति । पिअ भत्ति—प्रियभक्ता पतिव्रतेति यावत् पिआ—प्रिया गृहिणीत्यर्थः गुणवत—गुणवान् सुआ—सुतः । धणमत—धनवत् घरा—गृहम् एतत्सर्वमिति शेष बहुसुक्खकरा—बहुसुखकरम् ॥ तिल्लच्छन्दो निवृत्तम् ॥

४५–४६ अथ षडक्षरचरणवृत्तस्यैकोनविंशति(त)म भेद विज्जोहानामकं वृत्त लक्षयति, अक्खरेति । ज यत्र पाअ पाअ—पादे पादे छआ—षट् अक्खरा-अक्खरा—अक्षराणि ठिआ स्थितानि । पचा दुण्ण—पञ्च द्विगुणिता दशेत्यर्थः मत्तमात्रा यत्र पादे पादे स्थिता इति पूर्वेणान्वय, अवहट्टभाषाया लिंगादिव्यत्यासे दोषाभावात् । अथ गणनियममाह, विणीति । विण्णि द्वौ जोहा गणा—योद्धृगणौ मध्यलघुरगणावित्यर्थः। पादे पादे स्थिताविति पूर्वेणान्वयः, तत् विज्जोहाख्य वृत्तमि-(ति) गणनाम्नैव छन्दोनामकथन बोध्यमिति सम्प्रदाय. । विज्जोहामुदाहरति,

आदि लघुयगणद्वयचरणा शङ्खनारीति तु समुदायार्थः। शङ्खनारीमुदाहरति, गुणेति। जस्य—यस्य गुणाः (शुद्धाः) दोषाशवलिताः वहू—वधूः रुअमुद्धा—रूपमुग्धा अतिसुदरीति यावत्। घरे—गृहे वित्त—वित्त धनमिति यावत् जग्गा—जाग्रत् सदा परिपूर्णमिति यावत्, तासु—तस्य मही पृथ्वी सग्गा—स्वर्गः॥ यस्यैतत्सर्वं स भूमावपि स्वर्गसुखमनुभवतीत्यर्थः। धरा वित्त जग्गेति क्वचित्पाठः, तत्र गृहा जाग्रद्वित्ता इति प्राकृते पूर्वानिपातानियमाद्व्याख्येयम्। शङ्खनारी निवृत्ता।

५४–५५ अथ षडक्षरचरणवृत्तस्य षट्चत्वारिंशत्तम भेद मालतीनामकं वृत्त लक्षयति, धअमिति। यत्र षडक्षरचरणे वृत्ते प्रथम धअ—ध्वज' लघ्वादि-त्रिकलो गण इत्यर्थः द्वितीयस्थाने च सर बीअ—शरद्वय लघुद्वयमित्यर्थः तीअ—तृतीये स्थाने इति शेषः लहु अत—लघ्वतः लघुरते यस्य तादृश इत्यर्थः मणीगुण—मणीगुणः हारो गुरुरित्यर्थः, दई—दीयते, इद च यथायथ योजनीय, सा कत—काता सुदरीति यावत् मालइ—मालती॥ तन्मालतीनामक वृत्तमित्यर्थः। कैश्चित्तु कत इति कातासबोधनपरतया व्याख्यायते। मालतीमुदाहरति, करेति। सहि—हे सखि बहु गुणवंत—प्रासादाह्लादकत्वाग्रनेकगुणयुक्ता इत्यर्थः करा—किरणाः पसरत—प्रसरति, कुंद—कुदाः पफुल्लिअ—प्रफुल्लिताः यतः, अतः चद्र—चन्द्र. उगो—उदित इति शायतइति शेषः॥ मालती निवृत्ता।

५६–५७ अथ षडक्षरचरणवृत्तस्य चतुःषष्टितममतिम भेद दमनकनामक वृत्त लक्षयति। दिअवर—द्विजवर चतुर्लघ्वात्मकं गणमिति यावत् किअ—कृत्वा, सु(सु)पिअ—सुप्रिय लघुद्वयात्मक गणमिति यावत् भणहि—कथय। दमणअ गुणि—दमनक गुणय जानीहीति यावत् इति फणिवइ—फणिपतिः भणि—भणति॥ न(गण)द्वययुक्त दमनकनामक वृत्तमिति फलितार्थं। दमनकमुदाहरति, कमलेति। कमल णअणि—कमलनयना अमिअ वअणि—अमृतवचना। तरुणि—तरुणी घरणि—गृहिणी भार्येति यावत् सु(सु) पुणि—सुपुण्येन मिलइ—मिलति॥ मिलइ न पुणीति क्वचित्पाठस्तत्र मिलति यदि पुनरित्यनतर तदा ता विहाय कुत्रापि न गमिष्यामीत्यध्याहृत्य व्याख्येयम्। दमनको निवृत्तः। इति षडक्षरं वृत्तम्॥

५८–५९ अथ सप्ताक्षरचरणवृत्तस्याष्टाविंशत्यधिकशत' भेदाः भवति, तत्र त्रिचत्वारिंशत्तम भेद समानिकानामकं वृत्त लक्षयति, चारीति। यत्र सप्ताक्षरवृत्ते हार चारि—हारचतुष्टय गुरुचतुष्टयमति यावत् किज्जि(ह्)—क्रियते तिण्णि—त्रय. गध—गध लघव इति यावत् दिज्जिहि(ह्)—दीयते। अतरा अन्तरे सेति

शेषः। एवं विधिना सम अक्खरा—समाक्षराणि ठिआ—स्थितानि, सा समा णिआ—समानिका पिअ—मिया पिंगलस्येति शेषः ॥ प्रथमं गुरुस्ततो लघुः नपुर्गुरु पुनर्लघुरेव क्रमेण यत्र प्रतिचरणं समाक्षराणि स्थाप्यन्ते सा समानिकेति समुदायार्थः। केचित् पिआ इति पदं प्रियार्थबोधनपरतया व्याहुः समानिकागुदाहरति, कुञ्जरा इति। चलंत—पर्यन्ताः पअंदन—प्रेरयन्तः कुञ्जरा—हस्ति(नो) चलंतआ—चलंति। कुम्म पिट्टि—कूर्मपृष्ठं कंपए—कम्पते धूलि—धूल्या सूर—सूर्यः झंपए—आच्छाद्यते ॥ श्रीरामचन्द्रे प्रचलति सतीति शेषः। समानिका निवृत्ता।

६०–६१ अथ समाक्षरचरणवृत्तस्यैकादशीसुप्तरं (एकल द्वादशोत्तर) शततमं (११२) भेदं सुवासकनामकं वृत्तं लक्षयति, मणेति। यत्र चउ मत्त—चतस्रः मात्राः चतुर्थे लघून् इत्यर्थः। अत्र मात्राशब्दो लघुपरः। ठइ—एव पिआ अंतह—अन्ते चतुर्लघ्वन्ते इत्यर्थः, म—मगणः आदिगुरुर्गण इति यावत् सहइ—शोभते, लहइ(सु) विसेसउ—लघुविशिष्टं तं सुवासउलु—(सु)वासकं मणउ—भणत ॥ सु(सु)वासकनामकं तद्वृत्तमित्यर्थः। अत्र लहइ(सु) विसेसउ इदं विशेषणं प्रथमस्थापितचतुर्मात्राणां लघुपरत्वज्ञापनायेति बोध्यम्। किंच भगणनगणघटितचरणं सुवासकमिति फलितार्थः। सु(सु)वासकमुदाहरति गुर्विति। गुरुजण भत्तउ—गुरुजनभक्तः पुण्णक—पुण्यवान् वसु—यस्य बहु—बहुः मार्गेति यावत् किअ पुत्तउ—कीर्तिपुत्रः वह—स एव पुण्यवं(त)—पुण्यवान् ॥ इति शेषः। सुवासकं निवृत्तम्।

६२–६३ अथ समाक्षरचरणवृत्तस्य चत्वारिंशं भेदं करहंचनामकं वृत्तं लक्षयति चरणेति। पढम—प्रथमे चरणे विप्प—विप्रं चतुर्लघ्वात्मकमिति यावत् गण—गणं लइ—गृहीत्वा थप्प—स्थापयत। लहु—लघुं विप्रगणस्येति यावत् अंत—अन्ते थगण—मध्यगुरुं जगण इति पूर्वोक्तमिदं करहंच कर (इत्थम्) एवं मुणह—जानीत ॥ करहंचनामकमेतद्वृत्तमित्यर्थः। अत्र प्रथमे इति द्वितीयस्याप्युपलक्षणम्। करहंचमुदाहरति, सिवेति। पइ—पदौ हेउ—हेतुं गइ—गत्वा जइ—यदि तजउ—त्यजामि सिअउ—सीतामि तवेति शेषः, जइ—यदि रमण—मतो स एव होइ भवति विरइ—वियोगः बहु—मा भवत्विति शेषः। विरहानलदग्धशरीरागम एव मम आह इति गूढाभिप्रायाया कस्याश्चिन्मृतभर्तृ कस्याः सहगमनं कर्तुमुद्यताया श्रीरघुनाथं प्रति प्रार्थनावाचनमिदम्, स चोत्तरार्धेन प्रकटिता। करहंचो निवृत्तः।

६४–६५ अथ समाक्षरचरणवृत्तस्य षष्ठिमं (षष्ठं) भेदं शीर्षरूपकनामकं वृत्तं लक्षयति, पचेति। आदौ मला सौ—कर्णौ, गुरुद्वयात्मकान् गणान् पञ्च

तरं गो—गुरु माणेही—मानय, एवप्रकारेण चाउद्दाहा मत्ताणा—चतुर्दश
त्राः सत्त दीहा—सप्त दीर्घान् सीसारुआ छंदाणा—शीर्षरूपकच्छन्दसि जाणेही
-जानीहि ॥ दीर्घसप्तकरचितचरणं शीर्षरूपकमिति फलितार्थः शीर्षरूप-
मुदाहरति, चदेति। चद्रः कु दः काशाः ए—एते हारः मौक्तिकदाम इति
वत् हारा—हीरक मणिभेदः हसा—हसः ए—एते। जे जे सेत्ता
ण्णआ—ये ये श्वेता वर्णिताः ते ते इति शेष. तुम्ह कित्ती जिणीआ—युष्मत्की-
र्या जिताः ॥ कश्चिद्राजान प्रति कस्यचित्कवेरियमुक्तिः। शीर्षरूपक
निवृत्तम्।

६६–६७. अथाष्टाक्षरचरणवृत्तस्य प्रस्तारक्रियया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वय
भेदा भवन्ति, तत्राद्य भेद विद्युन्मालानामक वृत्त लक्षयति, विज्जूति। यत्र
प(ख)त्ती—क्षत्रिये प्रस्तारे इत्यर्थः, पूर्वाचार्याणा क्षत्रिय इति प्रस्तारसज्ञा,
सोला मत्ता—षोडशमात्राकाः चारो—चत्वारः कर्णाः गुरुद्वयात्मका गणाः पाए—
पादे लोला—लुठति, एअ रुअ—एवरूपेण चारी पाआ—चतुःपादिका विज्जू-
माला—णाआराआ—नागराजेनेत्यर्थं भत्ती—भण्यते ॥ पत्ती—क्षत्रिया जातिरिति
कश्चित्। अत्र मात्राकथनमनतिप्रयोजक पादपूरणार्थमेवेति बोध्यम्। विद्युन्माला-
मुदाहरति, उन्मत्तेति। उन्मत्ता—उन्मताः ढुक्कता—ढौकमानाः परस्पर मिलता
इति यावत् विप्पक्खा मज्झे लुक्कता—विपक्षमध्ये लीनाः, णिक्कता—निष्क्राता
विपक्षान् हत्वेत्यर्थः, य(ज)ता—यात. प्रतिपक्षसैन्य प्रतीति भावः धावता इत-
स्ततो धावन कुर्वत' जोहा—योद्धारः णिब्भती—निर्भ्रान्ता नितरां त्रैलोक्यभ्रमण-
शीलामिति यावत् किती—कीर्ति पावंता—प्राप्नुवन्ति ॥ केनचिद्वन्दिना श्रीराम-
चन्द्रसग्रामवर्णनपरतयेद कृतम्।

६८–६६. अथाष्टाक्षरचरणवृत्तस्य पञ्चाशीतितम भेद प्रमाणिकानामक वृत्त
लक्षयति, लहु इति। लहु गुरु णिरतरा—लघुगुरूनिरतराणि अट्ठक्खरा—
अष्टाक्षराणि यत्र प्रतिचरणं पततीति शेषः सा पमाणिआ—प्रमाणिका तत्प्रमा-
णिकानामक वृत्तमित्यर्थः। लहू गुरू णिरतरेत्यनेन प्रथममेको लघुस्तदनन्तर गुरुः
पुनर्लघु पुनर्गुरुरेवप्रकारेणाष्टावक्षराणि कर्तव्यानीति सूच्यते। प्रसगान्नाराचनामक
षोडशाक्षरचरण वृत्त लक्षयति, पमाणीति। पमाणि—प्रमाणी प्रमाणिकेत्यर्थं.
नामैकदेशादपि सत्येत्यादौ नामप्रतीतेः, दूण—द्विगुणा लघुगुरूनिरतरषोडशा-
क्षरेति यावत् किज्जिए—क्रियते यदेति शेषः, सो—स. णराउ—नाराचः
भणिज्जए—भण्यते प्रमाणिकामुदाहरति, णिसुभेति। णि(नि)शुभ
शुभखडिनी गिरीस(श)गेहमडिनी महादेवगृह भूषयित्रीत्यर्थ। पअड मुड

तदनन्तरं गो—गुरु मारोही—मानय, एवप्रकारेण चाउद्दाहा मत्ताणा—चतुर्दश मात्राः सत्त दीहा—सप्त दीर्घान् सीसारुआ छदाणा—शीर्षरूपकच्छन्दसि जाणेही—जानीहि ॥ दीर्घसप्तकरचितचरण शीर्षरूपकमिति फलितार्थः शीर्षरूपकमुदाहरति, चदेति। चद्रः कुदः काशाः ए—एते हारः मौक्तिकदाम इति यावत् हारा—हीरक मणिभेद. हसा—हसः ए—एते। जे जे सेत्ता वण्णआ—ये ये श्वेता वर्णिताः ते ते इति शेषः तुम्ह कित्ती जिणीआ—युष्मत्कीर्त्या जिताः ॥ कश्चिद्राजान प्रति कस्यचित्कवेरियमुक्तिः। शीर्षरूपक निवृत्तम्।

६६–६७. अथाष्टाक्षरचरणवृत्तस्य प्रस्तारक्रियया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वय भेदा भवन्ति, तत्राद्य भेद विद्युन्मालानामक वृत्त लक्षयति, विज्जुति। यत्र प(ख)त्ती—क्षत्रिये प्रस्तारे इत्यर्थः, पूर्वाचार्याणा क्षत्रिय इति प्रस्तारसज्ञा, सोला मत्ता—षोडशमात्राका' चारी—चत्वारः कर्णाः गुरुद्वयात्मका गणाः पाए—पादे लोला—लुठति, एअ रुअ—एवरूपेण चारी पाआ—चतुःपादिका विज्जूमाला—णाआराआ—नागराजेनेत्यर्थ भत्ती—भण्यते ॥ पत्ती—क्षत्रिया जातिरिति कश्चित्। अत्र मात्राकथनमनतिप्रयोजक पादपूरणार्थमेवेति बोध्यम्। विद्युन्मालामुदाहरति, उन्मत्तेति। उन्मत्त—उन्मत्ताः ढुक्कता—ढौकमानाः परस्पर मिलता इति यावत् विप्पक्खा मज्झे लुक्कता—विपक्षमध्ये लीनाः, णिक्कता—निष्क्राता विपक्षान् हत्वेत्यर्थ, य(ज)ता—याताः प्रतिपक्षसैन्य प्रतीति भावः धावता इतस्ततो धावन कुर्वत जोहा—योद्धारः णिब्भती—निर्भ्रान्ता नितरा त्रैलोक्यभ्रमणशीलामिति यावत् किती—कीर्ति पावता—प्राप्नुवन्ति ॥ केनचिद्बन्दिना श्रीरामचन्द्रसंग्रामवर्णनपरतयेद कृतम्।

६८–६९ अथाष्टाक्षरचरणवृत्तस्य षडशीतितम भेद प्रमाणिकानामक वृत्त लक्षयति, लहु इति। लहु गुरु णिरतरा—लघुगुरुनिरतराणि अठक्खरा—अष्टावक्षराणि यत्र प्रतिचरणं पतंतीति शेषः सा पमाणिआ—प्रमाणिका तत्प्रमाणिकानामक वृत्तमित्यर्थः। लहू गुरू णिरतरेत्यनेन प्रथममेको लघुस्तदनन्तरं गुरुः पुनर्लघु पुनर्गुरुरेवप्रकारेणाष्टावक्षराणि कर्त्तव्यानीति सूच्यते। प्रसगान्नाराचनामक षोडशाक्षरचरण वृत्त लक्षयति, पमाणीति। पमाणि—प्रमाणी प्रमाणिकेत्यर्थः नामैकदेशादपि सत्येत्यादौ नामप्रतीतेः, दूण—द्विगुणा लघुगुरुनिरतरषोडशाक्षरेति यावत् किज्जिए—क्रियते यदेति शेष, सो—सः णराठ—नाराच भणिज्जए—भण्यते प्रमाणिकामुदाहरति, णिसुभेति। णि(नि)शुभ शुभखडिनी गिरीस (श) गेहमडिनी महादेवगृह भूषयित्रीत्यर्थ। पअड मुड

लिंगविभक्तिवचनव्यत्यासे दोषाभावात् । गुरु सहिअ अंतिणा—गुरुसहितान्तम् इति वृत्तविशेषणं वाच्यम् । कमलमुदाहरति, सेति । (असु)रकुल मद्दणा—दैत्यवंशमर्दनः गरुड वर वाहणा—गरुडः वरः श्रेष्ठ वाहनं यस्य तादृश इत्यर्थः बलि भुवण चाहणा—बलिभुवनं बलिराज्यं जिघृक्षुरित्यर्थः सः जणद्दणा—जनार्दनः जअइ जयति ॥ कमलं निवृत्तम् ॥

७६ अथ प्रस्तारक्रियया नवाक्षरस्य द्वादशाधिकं पंचशतं भेदा भवन्ति, तत्राष्ट (सप्त) चत्वारिंशाधिकशततमं भेदं महालक्ष्मीनामकं वृत्तं लक्षयति, दिट्ठेति । जा—ये रगणा णाअराएण—नागराजेन पिंगलेनेति यावत् विण्णिआ—विज्ञाता वर्णिता वा, मास अद्धेण—मासार्द्धेन मासार्द्धपरिमिताभिः पंचदशभिर्मात्राभिरित्यर्थः दिट्ठ—दृष्टा उपलक्षिता इति यावत् ते एतादृशाः तिण्णिआ—त्रयः जोहा गणा—योद्धृगणा मध्यलघुरगणा इति यावत् यत्र पाअ—पादे ठिअ—स्थिताः । ता महालच्छिअ—महालक्ष्मीं जाण—जानीहीति । अत्र मात्राकथनं श्लोकपूरणार्थमेव । रगणत्रयरचितचरणा महालक्ष्मीरिति तु निष्कृष्टार्थः ।

७७ महालक्ष्मीमुदाहरति, मुडेति । मुडमाला गला कंठिआ—मुडमालैव गलकंठिका कंठभूषेति यावत् यस्यास्तादृशीत्यर्थः सठिआ णाअराआ भु(आ)—सुस्थितनागराजभुजा । प्राकृते पूर्वनिपातानियमादग्रे वर्त्तमानस्यापि सठिआ-शब्दस्य पूर्वनिपातः । वग्घछाला किआ वासणा—व्याघ्रचर्मकृतवसना सिंहासणा—सिंहारूढा चंडिआ—चंडिका पाउ—पातु ॥ महालक्ष्मीर्निवृत्ता ॥

७८ अथ नवाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतुश्चत्वारिंशा (अष्टा)धिकद्विशततम (२०८) भेदं सारंगिकानामकं वृत्तं लक्षयति, दिअवरेति । सहि—हे सखि पअ पअ—पदे पदे दिअवर कण्णो सअण—द्विजवरकर्णसगणैः, द्विजवरश्चतुर्लघ्वात्मको गणः, कर्णो गुरुद्वयात्मको गणः, सगणोऽन्तगुरुगणस्तैरित्यर्थः मत्ता गणण—मात्राग(ण)नं यत्र क्रियत इति शेष, सर मुणि मत्ता लहिअ—शरमुनिमात्राश्लाघिता, शराः पंच, मुनयः सप्त, तथा च प्रतिचरणं द्वादशमात्रायुक्तेत्यर्थः, सा सारंगिका—सारंगिका कहिअ—कथिता ॥ वचनलिंगव्यत्यासस्तु प्राकृते न दोषायेति पूर्वमेवोक्तम् । कियतीनां मात्राणां गणनं विधेयमित्यत्र हेतुगर्भं श(स)र मुणीति वृत्तविशेषणम् । केचित्तु दिअवर कण्णो—द्विजवरकर्णौ सअण—सगणः एवं प्रकारेण यत्रेति शेषः मत्ता गणण—मात्रागणनं क्रियत इति शेष, कियत्यो मात्रा गणनीया इत्यपेक्षायामाह, सरेति, सर मुणि मत्ता—शरमुनिमात्रा, शराः पंच मुनयः सप्त मिलित्वा द्वादशेत्यर्थः लहिअ—लभ्यन्ते यत्र, सा सहि—हे सखि सारंगिका कहिअ—कथ्यतामिति योजनिकामाहुः । अत्र वर्णवृत्ते मात्राकथनं पादपूरणार्थमेव । द्विजवरकर्णसगणरचितचरणा सारंगिकेति निष्कृष्टार्थः ॥

गुणिए—गुणिन गुणवतः पुरुषस्य सहाओ—सहायः गुणोपदेष्टृत्वाद्गुण चत्पुरुषस्य सहायभूत इति यावत् फणि—फणि पिंगल. रअइ—रचयति, गुणइ—गुणयत हे बुधजना इति शेष. ॥ द्वौ गुरू यत्र प्रतिचरण क्रमेण पततस्तद्विंबनामक वृत्तमिति फलितार्थं । अथवा सर्वशेषे पादान्ते गुरुयुगल सि (श')रसि द्विज., विप्रगुरुद्वयमध्ये राजा जगण इत्यर्थ. यत्र भवतीति शेषः, फणि रइअ—फणिरचितम् एसो—एतत् विंब हे गुणि—हे गुणिनः शिष्या. सहाओ—स्वभावादेव गुणइ—गुणयत इति भिन्न भिन्न योजनीय । परे तु गुणिए सहाओ—हे गुणिनः सखाय इत्यर्थं कृत्वा सखिसबोधनपरमेतत्पदमिति वदति ।

८५. विंबमुदाहरति, चलइति । एतत् चल—चलमाशुगत्वरमिति यावत् वित्त—वित्त चलइ—चलति नश्यतीत्यर्थ', तरुणत्तवेसो—तरुणत्ववेषस्तारुण्यावस्थेति यावत् णस(इ)—नश्यति । सुपुरिस गुणेण बद्धा—सुपुरुषगुणेन बद्धा शुद्धा स्वच्छा कित्ति—कीर्ति. थिर—स्थिरा रहइ—तिष्ठति ॥ तस्मात्सर्वमनित्य मत्वा गुणाना लवे पुरुषैरासमुद्रातव्यापिनी कीर्तिर्भवति इति कस्य(चित्) परमात्तस्य किंचिन्मित्र प्रत्युपदेश. । विंब निवृत्तम् ।

८६ अथ नवाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतु.षष्ट्युत्तरत्रिशततम भेद तोमरनामकं वृत्त लक्षयति, जसिति । जस् (सु)—यत्र (आइ)—आदौ हत्थ—हस्तः गुर्वत. सगण इति यावत् विआण—विजात. विज्ञायते वा, तह—ततस्तथा वा वे पओहर—द्वौ पयोधरौ मध्यगुरुकौ जगणावित्यर्थ. जाण—ज्ञायेते ज्ञातौ वा तत् तोमर छद—तोमरनाम माणु—मानय, एम—एव णाउ णरेंद—(नाग) नरेन्द्रः पभणेइ—प्रभणति । यत्र प्रथम सगणस्तदनतर च जगणद्वय प्रतिचरण प(त)ति तत्तोमरनामक वृत्तमित्यर्थं ।

८७. तोमरमुदाहरति, चलीति । कोइल साव—कोकिलशावकाः चूअ—चूते सहकारवृक्षे चलि—गत्वा महुमास—मधुमासे वसतसमये पचम—पचम स्वरभेद गाव—गायति । अत इति शेष' मज्झ—मम मण—मन. वम्मह—मन्मथ ताव—तापयति, अज्जवि—अद्यापि कत—कात. ण हु—न खलु आव—आगतः ॥ एतादृशेऽपि कातो नायातोऽतः किमाचरणीय मया तत्त्वमेवादिशेति गूढाभिप्रायाया कस्याश्चित् प्रोषितभर्तृकाया प्रियसखीं प्रति वाक्यमिदम् । तोमर निवृत्तम् ।

८८ अथ नवाक्षरचरणस्य वृत्तस्य प्रथम भेद रूपमालानामक वृत्त लक्षयति, णाआराआ इति । चारी कण्णा चत्वार. कर्णा गुरुद्वयात्मका गणा इति यावत् अते—कर्णचतुष्याते हाराए—हार गुरुरित्यर्थः । एव—प्रकारेण पाआए—पादे अट्ठा-

द्वयमित्यर्थ', (८) गुरु जुत्ता—एकगुरुयुक्तः, कुन्तिअ पुत्ताए(?)—कुतीपुत्रः चर्ण. गुरुद्वयात्मको गण इति यावत् ठवीजे—स्थाप्यते । ततः हत्थ—हस्तः गुर्वंतः सगण इति यावत् करीजे—क्रियते, ततश्च हार—एकगुरुः ठवीजे—स्थाप्यते, तत् चम्पअमाला छुद—चपकमालाच्छद कहीजे—कथ्यते पिंगलेनेति शेष ॥

६३ चपकमालामुदाहरति, ओगरेति । दुध्ध सजुत्ता—दुग्ध सयुक्तम् ओगर भत्ता—ओगरभक्तम्, ओगरो धान्यविशेपस्तदोदनमित्यर्थं', गाइक घित्ता—गोघृत मोइणि मच्छा—मद्गुरमत्स्यः, ना(णा)लिच गच्छा—नालीचवृक्ष., नालीचो गौडदेशे अनेनैव नाम्ना प्रसिद्धः शाकवृक्षविशेष इत्यर्थं', रमअ पत्ता—रभापात्रे कता—कातया दिज्जे(ज्जइ)—दीयते, पुणवता—पुण्यवान् खा—खादति । कस्यचिद्विदूषकस्य निजप्रियवयस्य प्रति वाक्यमिदम् । चपकमाला निवृत्ता ।

६४ अथ दशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैकोनचत्वारिंशाधिकचतुःशततम ४३६ भेद सारवतीनामक वृत्त लक्षयति, दीहेति । यत्र प्रथम दीह—दीर्घं गुरुमिति यावत् तदनतर लहु (हू) जुअ—लघुयुग ततोऽप्यनतर दीह लहू—दीर्घलघू इति यावत्, अते—अते दीर्घलघ्वोरनतरमिति यावत् पओहर—पयोधर मध्यगुरु जगणमिति यावत् ठाइ—स्थापयित्वा (ध)आ—ध्वज. लघ्वादिस्त्रिकलो गण इति यावत् स्थाप्यत इति शेष, कहा चउदह मत्त बिराम—कथितः चतुर्दशमात्रा॰ विरामः, सारवई—सारवतीनामक छद—छन्द. धुअ—ध्रुव कहु (हू)—वध्यताम् । प्राकृतभाषाया पूर्वनिपातानियमात् कहा-शब्दस्य पूर्वनिपातकरणे न दोष इति मंतव्यम् ।

६५ सारा(र)वनीमुदाहरति, पुत्तेति । (पवित्त)—पवित्राः पितृभक्ता इति यावत् अथवा पवेः वज्रात् त्रायत इति पवित्रा. वज्रादपि रक्षका इत्यर्थः पुत्राः बहुत्त घणा—वहुतर धन भत्ति—भक्ता प्रियभजनपरेति यावत् (सुद्ध मणा.)—शुद्धमना. अकुटिलान्तःकरणा कुटुम्बिणी—वधू यदि एतत्सर्वं भवतीति शेषः । भिच्च गणा—भृत्यगण' हक्क—हक्केन शब्दव्यापारमात्रेणेति यावत् तरासइ—त्रस्यति, तदा को—क. बव्बर—बर्व्वरः सग्ग—स्वर्गे मणा—मनः कर—करोति न कोऽपीत्यर्थं ।

६६ अथ दशा (क्ष)रचरणस्य वृत्तस्य सप्तनवत्यधिकत्रिशततम भेद सू(सु)स(ष)मानामक वृत्त लक्षयति, कण्णो इति । पढमो—प्रथम' कणो—कर्णः गुरुद्वयात्मको गण इति यावत् जुअलो—द्वितीय हत्थो—हस्त. गुर्वन्तः सगण इत्यर्थं, तिअलो—तृतीय कण्णो—कर्ण पुन गुरुद्वयात्मक एव गण इति यावत्,

१००. अथैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्याष्टचत्वारिंशोत्तरं सप्तशतं भेदा भवन्ति, तत्रैकोनचत्वारिंशोत्तरचतुःशततम४३९ भेदं बंधुनामकं वृत्तं लक्षयति, णीलेति। अथ—यत्र पाअ—पादे तिण्णि—त्रय भआ गण—भगणाः भणीजे—भण्यन्ते—अतहि—अन्ते भगणत्रयान्ते पादान्ते वेत्यर्थः. दुग्गुरु—द्विगुरुः करीजे—क्रियते, सोलह मत्तह—षोडश मात्राश्च ठवीजे—स्थाप्यन्ते, एह—एतत् णील सिरो रुह—नीलशिरोरुहेण पिंगलेनेति यावत् बंधु—बंधुनामकं वृत्तं कहीजे—कथ्यते ॥ यद्वा णील सरूअह—नीलस्वरूपापरनामकमिति यावत् बंधु—बंधुनामकं वृत्तं कथ्यत इति व्याख्येयम्। अत्र मात्राज्ञापकचरणमनतिप्रयोजनकत्वात् पद्य-पूरणार्थमेवेति मंतव्यं, भगणत्रयानंतरं गुरुद्वयं यत्र प्रतिचरणं पतति तद्बंधुनामकं वृत्तमिति फलितार्थः।

१०१ बंधुमुदाहरति, पण्डवेति। पण्डव वसहि—पाण्डववंशे पांडोरय—पाण्ड(व)पाण्डवश्चासौ वस(श)श्चेति पाण्डववंश(श)स्तस्मिन्नित्यर्थः यस्येति (शेषः) जम्म—जन्म क्रियते विधात्रेति भाव, अज्जिअ—अर्ज्जयित्वा संपअ—संपत् धम्मके—धर्माय दिज्जे—दीयते तेनेति शेष.। सोउ—सोऽपि जुहुट्ठिर—युधिष्ठिरः संकट—संकटं पाआ—प्राप्तः, अत दै (दे) वक—दैवस्य विधेरिति यावत् लेक्खिअ—लिखितं केण—केन मेटावा—विलुप्यते ॥ न केनापीति भावः. बंधुर्निवृत्तः। एतस्यैवान्यत्र दोधकसंज्ञा।

१०२ अथैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्याशीत्यधिकमष्टशततमं भेदं ८८० सुमुखी-नामकं वृत्तं लक्षयति, दिअवरेति। दिअवर—द्विजवरश्चतुर्लघ्वात्मको गण ततो हार—हारो गुरुरिति यावत्, ततो लहू जुअला—लघुयुगलं, ततश्च वलअ—वलयो गुरुः, ततश्च हत्थ अला—हस्ततलं गुर्वन्तः सगण इति यावत्, एवं प्रकारेण यत्र चउदह (१) कल—चतुर्दश कलाः पअ—पादे परिट्ठिअ—परिस्थिता, सो—सा (सु)मुही—सुमुखी जाणह—जायतां तत्सुमुखीनामकं वृत्तं ज्ञेयमित्यर्थः, इति कइवर—कविवरः अही—अहिः पिंगल इति यावत् जपइ (१)—जल्पति।

१०३ सुमुखीमुदाहरति, अइति। जोव्वण देह धणा—यौवनदेहधनानि अइचल—अतिचलानि, सोअर—सोदरा भ्रातर—इति यावत् बंधु जणा—अन्ये कुटुम्बा इत्यर्थः. सिविणअ—स्वप्नवत् स्वप्नेन तुल्यम् इति यावत्। यद्वा बंधुजनाः सिविणअ सोअर—स्वप्नसोदरा स्वप्नतुल्या इत्यर्थः.। काल पुरी गमणा—यमपुरीगमनम् अवस(उ)—अवश्यम् अतो हेतो. हे बब्बर मणा—मनः. पाप—पापात् परिहर ॥ कंचिन्महापापकर्मसक्तं प्रति कस्यचिन्मित्रस्योपदेशवाक्यमेतत्। सुमुखी निवृत्ता।

१ ४ अथैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैकोनचत्वारिंशोत्तरचतुःशततमं भेदं पुनरपि दोधकमेवेति नामान्तरेणाह चामरेति। यत्र प्रथमं चामर—चामरं गुरुरिति यावत् काहल जुग—काहलयुगं काहलो लघुस्तद्युग्(यु)ग्ममित्यर्थः, ठवीजे—स्थाप्यते ततश्च हार—हारो गुरुः लहू—लघू तदनन्तरं द्वौ लघू इत्यर्थः, जुभ—यु(यु)गं चारद्वयमित्यर्थः एवं गुरुस्तदनन्तरं लघुद्वयमिदं चारद्वयमिति परमार्थः, तथ—तथ्यं तथा वा धरीजे—ध्रियते। एवं सति भगण-त्रयं सिध्यति अन्यथा चामरकाहलयुगानन्तरं हारलघुद्वयमात्रोक्त्या तृतीयभगणा-सामाद्(भा)वप्रसक्तिस्त्वा गतिरित्यस्मदुक्तचरणस्योपदिष्टमात्रोपदेशो निर्मत्सरैः सुधीभि-र्भावनीय। पञ्च कंथ—पादान्ते कान्त गण्ण—कर्णगणः गुरुद्वयात्मको गण इति यावत् करीजे—क्रियते फणी पिंगलः तत् दोधकच्छन्दः दोधकनामकं वृत्तं पभ-णेमे—प्रभणति॥ यत्र भगणत्रयोत्तरं गुरुद्वयं तद्दोधकनामकं वृत्तमिति फलितार्थः। बंधुरदोधकयोश्चोदयनिकामात्रभेदाद्भेदः स्वरूपतस्तु न कश्चिद्विशेष इति विभावनीयम्।

१ ५ दोधकमुदाहरति पिंगेति। येन पिंग जटावलि—पिं(म)जटावल्यां गंगा ठाविअ—स्थापिता अथवा यः पिंगजटावलीस्थापितगंग इत्येकमेव पदं शिवविशेषणं येन अर्द्ध(र्ध)गा—अर्धाङ्गे नागरी स्त्रीति यावत् धारिअ—धृता। चंदु—यस्य सीसहि—शीर्षे सोहणा—रमणीया चंदकला—चन्द्रकला इत्यर्थः इति शेषः सो—स शंकर—शिवः तुम—तुभ्यं सोक्खा(?)—मोक्षं तु समागमप्रातमानाधिपत्यं सुखमनन्तमिति यावत् दिज्जउ—ददात्विति यावत्॥ दोधकं निवृत्तम्॥

१ ६ अथैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैकोनचतुःशततमं भेदं शालिनीनामकं वृत्तं लक्षयति कण्णेति। यत्र प्रथमं कण्णो दुण्णो—कर्णद्वयं कर्णो गुरुद्वयात्मको गणस्तद्द्वयमित्यर्थः, हार एक्को—हार एकः हारो गुरुरित्यर्थं बिसल्लो—विन्यस्ते ततः सल्ला कण्णा गण कण्णा—शल्यकर्णौ कण्णा शल्यो लघुः कर्णो गुरुद्वयात्मको गणः गंधो लघुः, कर्णो गुरुद्वयात्मको गणः एते इत्यर्थः पाए पाए—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् सुपसिद्धे—सुप्रसिद्धे, तथा बीसा—विंशतिः रेहा—रेखा मात्रा इति यावत् गणिज्जे गणयन्ते सा सव्वा गाए—सर्वगात्रेण सालिणी—शालिनीनामकं वृत्तमिति यावत् सुणिज्जे—मन्यते॥ अत्र मात्राकथनं पादपूरणार्थमेव लिंगविभक्तिवचनव्यत्ययस्तु प्राकृतप्रायत्वान्न दोषायेति मन्तव्यम्। मगण-तगण(ग)योकगुरुद्वयरचितचरणा शालिनीति फलितार्थः॥

२ ७ शालिनीमुदाहरति रंडेति। चंडा परमकोपवती दिक्खिआ—दीक्षिता शाक्तमार्गदीक्षितेत्यर्थः इति यावत् रंडा—विधवा धम्मदारा—धर्मपत्नी

मज्ज—मद्यं विज्जिए—पीयते, मस अ(आ)—मांस च खज्जए—खाद्यते। भिक्खा—भिक्षा भोज्ज—भोज्य चर्मखण्ड च सेज्जा—शय्या। एतादृशः कोलो—कौल. वंशपरम्परापरिप्राप्तः शाक्ततन्त्रविशेषोक्त इति यावत् धम्मो—धर्मः कस्स—कस्य रम्मो—रम्यो नो भाति॥ अपि तु सर्वस्यापीत्यर्थं। कर्पूरमञ्जरीसाटकस्थ कापालिकभैरवानन्दस्य राजानं प्रति वाक्यमिदम्। शालिनी निवृत्ता।

१०८ अथैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतुर्विंशत्युत्तरसहस्रतम भेदं दमनक-वृत्तं लक्षयति, दिअवरेति। दिअवर जुअ—द्विजवरयुगल चतुर्लघ्वात्मकगण-द्वयमिति यावत् लहु जुअल—लघुयुगल वलअ—वलय गुरुरिति यावत् यत्र पअ पअ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् पअलि—प्रकटित। चउ पअ—चतुः पादेषु चउ वसु कलअ चतुर्वसुकलाक दक्षिणगत्यैवाङ्कस्थापनेन ४८ चतुर्वसुशब्दे-नाष्टचत्वारिंशन्मात्रा लभ्यते, तथा चतुर्ष्वपि पादेषु मिलित्वाऽष्टचत्वारिंशन्मात्राक-मिति तत्त्व, दमणअ—दमनक फणी ललिअ—ललितं यथा स्यात्तथा भण—भणति॥ लघुदशकोत्तरगुरुरचितचरणो दमनक इति फलितार्थ.।

१०९ दमनकमुदाहरति, परिणअ इति। परिणअ (ससहर वअण)—परिणत-शशधरवदन विमलकमलदलनयन। विहितासुर(कुल) दमन महुमहण—मधुमथन श्रीकृष्ण (सिर—शिरसा) पणमह—प्रणमत॥ दमनको निवृत्तः।

११० अथैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य त्र्यशीत्युत्तरषट्शततम ६८३ भेदं सेनिकानामकं वृत्तं लक्षयति, तालेति। आदौ ताल णदए—तालनन्दाभ्यां ततः समुद्द तूरआ—समुद्रतूर्यौ(भ्या) गुर्वादित्रिकलगणाभ्यामित्यर्थ. ततश्च जोहलेन मध्यलघुकेन रगणेनेति यावत् एह—एतत् सेणिआ—सेनिकानामकं छन्द—वृत्तं पूरआ—पूर्य्यता। अत्र च प्रतिपदं गारहा (ह) अक्खराइ—एका-दशाक्षराणि जाणिआ—ज्ञातव्यानि, एअ—एतत् णाअ राअ—नाग राज जंपि (प)—जल्पति॥ यद्वा एकादशाक्षरज्ञातेत्येकं पदं कृत्वा वृत्तविशेषणपरतया गारहाइँ इति चरणो जो(यो)जनीयः। अत्राक्षरकथनमनतिप्रयोजनकतया पद्यपूरणायेति बोध्यम्। गुरूत्तरैः पञ्चभिर्गुर्वादित्रिकलगणै रचितचरणा सेनिकेति निष्कृष्टार्थ.॥

१११ सेनिकामुदाहरति, झत्तीति। झत्ति—झटिति पत्ति पाअ पदातिपादै. भूमि—भूमिः कपिआ—कंपिता, टप्पु खुदि खेह—टापोत्खातखेहैश्चलदश्व-खुरोद्धतरेणुभिरिति परमार्थ सूर—सूर्य्य झंपिआ—आच्छादित। गौड़ राअ जिण्णि—गौडराज जित्वा माण मोडि(लि)आ—मानमोडिता कामरूअ राअ बंदि छोलिआ—का (म) रूपराजवंदी मोचिता। सेनिका निवृत्ता॥

११२ अथैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य प्रथमं भेदं मालतीनामकं वृत्तं लक्षयति कुंडलीति । यत्र पअम (पाआ)—पादे पादे प्रतिपादमिति यावत् दिज्जा—दत्त्वा पंच कुंडलीपुत्रा कर्णा गुरुद्वयात्मका गणा इति यावत् ठाबीआ—स्थाप्यंते, कंते—कमनीयकांति पादांते या कंता—कांता एक्का—एकः हारा—हारः गुरुरिति यावत् म.णीआ—मान्यते । चाईंता—आकर्णयत मत्ता—मात्राः विंठ—दश यत्र पादे पादे इति पूर्वेणान्वयः, तत् मालती छंदा—मालतीच्छन्दः णाएसा—नागेश: जंपंता—जल्पति ॥ अत्र कांतपदं मात्राज्ञापकं च पादपूरणार्थमिति मंतव्यम्, पंचकर्णगुरुरचिता मालतीति निष्कृष्टोर्थः ।

१११ मालतीमुदाहरति ठामेति । मेह लिंगा—मेघान् ग ध्येति शेषः णीला मेहा—नीला मेघाः पेक्खीआ—प्रेक्ष्यंते, ठामा ठामा—स्थाने स्थाने हत्थी मुद्दा—हस्तियूथानि (यथे)ति शेषः देक्खीआ—दृश्यंते । णीला मेहा मज्झे—नीलमेघमध्ये यथेति शेषः बिज्जुल् णच्चंती—नृत्यति, वीर(आ) हत्थ मज्झे—वीरहस्तमध्ये तथेति शेषः खग्गा—खड्गः राजंता—राजति ॥ कैनचिद्विरहिणा वर्षा समागमवर्णनमेतत् । मालती निवृत्ता ।

११४ अथैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य सप्तपंचाशदुत्तरविंशतितमं भेदं १५० इन्द्रवज्रानामकं वृत्तं लक्षयति दिज्जे इति । यत्रादौ तगणद्य जुअला—तगार युगलं तगणद्वयमित्यर्थः अंते—तगणद्वयांते गुरु जुग्ग होइ—गुरुयुगयोपः गुरुद्वयं योऽंते यस्य तादृश इति यावत् णरेंदो—नरेन्द्रो मध्यगुरुर्जगण इति यावत् पएसु (सु)—पदेषु दिज्जे—दीयते । ता मत्ता दहा अट्ठ तहा जुणज्जा—सुगणमात्राष्टादशमात्राका सुगणद्यः सुच्छाविताः सभाः परचतुष्पे न्यूनाधिरिक्ता अष्टादश मात्रा यस्यां सेति यावत् इंदवज्जा—इन्द्रवज्रा इति फुणइ—फणि पत्तिसा—फणीन्द्रः जंपे—जल्पति ॥ सुछंदा—शोभनीति स्थापिताः तत्था—परचतुष्पे समानाः दहा अट्ठ—अष्टादश मत्ता—मात्राः यत्र पएसु (सु)—पदेषु पतंतीति शेषः इति भिन्नमेव योजनीयं । अत्र मात्राकथनं पादपूरणार्थमेव अत्रसतगणयोः पूर्वनिपातानियमात् पूर्वापरभ्रमणास्तु न शोभामेति ध्येयं तगणद्वयानंतरजगणानंतर गुरुद्वयरचितचरणा इंद्रवज्रेति फलितार्थः ।

११५ इन्द्रवज्रामुदाहरति, मंतमिति । मंतं—मंत्रं तंतं—तंत्रं च—एतत् निरर्थकमिति यावत् किंपि—किमपि ण—न जाणे—जानामि, ध्यानं च—ध्यानं च किंपि—किमपि णो—न जाने इति पूर्वेणान्वयः, किंतु मज्जं पिबामो—मद्यं पिबामः महिलं रमामो—महिलां रमामहे गुरुप्पसादो—गुरुप्रसादात् कुल मग्ग लग्गा—कुलमार्गलग्ना मोक्खं—मोक्षं वजामो—व्रजामः ॥ अनवरतमैथुनमद्य

पानान्यनेक्कुलपरम्परागमनकुकर्मत्याशक्ता अपि वयं गुरुप्रसादान्मोक्षं प्राप्तुमः इति कापालिकभैरवानन्दस्य राजानं प्रति वाक्यमिदं कर्पूरमञ्जरीनाटकस्थम् । इंद्रवज्रा निवृत्ता ।

११६ अथैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्याष्टपञ्चाशदुत्तरत्रिशततमं ३५८ भेदम् उपेंद्रवज्रानामकं वृत्तं लक्षयति, णरिंदेति । यत्र प्रथमं एक्का—एक. णरिंद—नरेन्द्र. मध्यगुरुर्जगण इति यावत् ततः तअणा—तगणोऽतलघुर्गण इत्यर्थ. सुसज्जा—सू(सु) सज्ज. शोभनीकृत्य स्थापित इति यावत्, ततश्च पओहरा—पयोधरो मध्य गुरुर्जगण इत्यर्थः कण्ण गणा—कर्णगणो गुरुद्वयमिति यावत् मुणिज्जा—ज्ञातः ता फणिराअ दिट्ठा—फणिराजदृष्टा पिंगलोपदिष्टा उपेंद्रवज्रा छेआ—छइल्ला विदग्धा इति यावत् पढति—पठति ॥ अथवा नरेन्द्रैकतगण सुसज्जापयोधरकर्णगणा. मुणिज्जा—ज्ञायते यत्र प्रतिचरणमिति शेषः इत्येवमेव पदं कृत्वा योजनीयम् । अत्र (सुसज्जमिति) शुभवर्णसृष्यामिति च पदं पद्यपूरणार्थमेवेति मन्तव्यम् ॥

११७. उपेन्द्रवज्रामुदाहरति, सुधम्मेति । सुधम्म चित्ता—सुधर्मचित्त गुणमत पुत्ता—गुणवत्पुत्र सुकम्म रत्ता—सुकर्मरत पत्यादिशुश्रूषाकर्मण्यासक्तमिति यावत् विणआ—विनीत कलत्ता—कलत्र । विसुद्ध देहा—रोगादिरहित. देहः धणमंत—धनवत् गेहा—गेहं, एतत्सर्वं यदि भवतीति शेषः तदा के वव्वरा—वर्बराः सग्ग णेहा—स्वर्गस्नेह कुणंति—कुर्वंति, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ॥ सर्वपदार्थविकल्क-(स्य) कस्यचिदिदं वाक्यम् । उपेंद्रवज्रा निवृत्ता ॥

११८ अथेंद्रवज्रोपेंद्रवज्राभ्यां पादेन पादाभ्यां पादैश्च मिलिताभ्यामुपजाति च्छन्दो भवति तच्च (च)तुर्दशविधमित्याह, इदेति । इंद उविंदा—इंद्रोपेन्द्रयो. नामैकदेशेनापि नामग्रहणादिंद्रवज्रोपेंद्रवज्रयोरित्यर्थः एक्क—ऐक्य करिज्जसु कुरुष्व, चउ अग्गल दह णाम—चतुरधिकदशनामानि मुणिज्जसु—जानाहि । सम अक्खर—सामान्यक्षराणि दिज्जसु—ददस्व, सम जाइहि—समजातिभि तुल्याक्षरचरणजातीयैस्तैरिति यावत् उपजाइहिं—उपजातिं किज्जसु—कुरुष्व इति पिंगल—पिंगलो णाग भणति । इदं तु बोध्यं समाक्षराणि दत्वा समजातीयैस्तै-रुपजातिं कुरुष्वेत्यनेन विषमाक्षरचरणजातीयैस्तैर्नोपजातिरित्युक्तं भवति, तथाचेंद्र-वज्रोपेन्द्रवज्राभ्यां न त्विंद्र(वज्रें द्र) वशाभ्यामिंद्रवशावशस्थाभ्यां वातोर्मीशालिनीभ्यां न मालिनीशालिनाभ्यामुपजातिर्भवति इति परमार्थ इति ।

११९ अथास्या चतुर्दशभेदानयनप्रकारमाह, चउ अक्खरेति । चउ अक्ख-रके—चतुरक्षराणां पत्थर—प्रस्तार किज्जसु—कुरुष्व, इंद उविंदा—इन्द्रोपेंद्रयोः

सुग्रीवचातात्मजमुख्यकीशै-र्बद्धाजलीकैरुपसेव्यमानः ।
सुवर्णसिंहासनसंस्थितः स श्रीरामचद्रः शरण ममास्तु ॥४॥
त्रिलोकसपालनबद्धसधः कारुण्यपीयूषमहाम्बुराशिः ।
स्वभक्तदु.खोद्धरणैकवीर. श्रीरामचद्र. शरण ममास्तु ॥५॥
आजानुबाहुद्वितय' प्रबद्धयमासनस्थो धृतपीतवासाः ।
प्रफुल्लराजीवपलाशनेत्र. श्रीरामचद्रः शरण ममास्तु ॥६॥
समस्तपृथ्वीपतिमौलिरत्न-प्रभाभिनीराजितपादपद्म ।
अशेषगीर्वाणगणप्रगीताकीर्ति तमीश प्रणतोऽस्मि राम ॥७॥
नानाविभूषामणिरश्मिजाल प्रच्छन्ननीलाश्मसमानगात्र ।
सौन्दर्यसनाशितकामगर्व. स रामचद्रः शरण ममास्तु ॥८॥
अरातिनारीहृदय प्रविष्टस्तत्र स्थितानन्दग्धुमिवारिवर्गान् ।
यस्य प्रतापप्रबलानलस्तु स रामचद्र' शरण ममास्तु ॥९॥
स्वाकप्रसुप्ता धृतकाचनाब्जा समीक्ष्य सीता कनकप्रभाङ्गी ।
आनदितात.करण' स पायादपायतो मा रघुवशकेतु ॥१०॥
अनन्यसाधारणकीर्त्तिचद्रकरावधूताष्टदिगधकार ।
पौलस्त्यवशद्रुमकालवह्नि स जानकीशः शरण ममास्तु ॥११॥
मत्वा भवत त्रिजगद्विपत्तिसनाशक देवगणान् विहाय ।
भवत्पदाब्ज शरण गतोऽस्मि प्रसीद राम त्वमतोऽतिशीघ्रम् ॥१२॥
भवत्समानोऽपि यदा नरेंद्रः श्रीराम कार्पण्यमुरीकरोति ।
तदाश्रयेत्क' खलु दातृभावमतस्त्वमीश त्यज निष्ठुरत्व ॥१३॥
वीरासनाध्यासित उग्रवीर्यो नवाम्बुदश्यामरुचिर्निर्जितारि ।
समस्तविद्याम्बुधिपारगश्च स रामचद्रः शरण ममास्तु ॥१४॥

१२२. अथ द्वादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य षण्णवत्युत्तर सहस्रचतुष्टय भेदाः ४०९६ भवति, तत्राद्य भेद विद्याधरनामक वृत्त लक्षयति, चारीति । यत्र पाए—पादे सव्वा सारा—सर्वसारान् सर्वसार वा चारी कण्णा—चतुर. कर्णान् कर्णचतुष्टय वा गुरुद्वयात्मकगणचतुष्टयमिति यावत् दिण्णा—दत्वा, पाआ अते—पादाते कता—कांताः चारी हारा—चत्वारो हारा गुरवः दिज्जे—दीयते । त छण्णावेआ मत्ता पत्ता चारी पाआ—षण्णवतिमात्राप्राप्तचतुष्पाद प्रतिपाद चतुर्विंशतिमात्राणा विद्यमानत्वात् षण्णवतिमात्रा प्राप्ताश्चत्वार पादा यस्य तत्तादृशमिति यावत् सारा—द्वादशाक्षरचरणवृत्तमध्ये आदिभूतत्वात् सा(र)भूत श्रेष्ठमिति यावत् त विज्जाहारा—विद्याधरं विद्याधरनामकं वृत्त णाआ राआ—नागराज' जपे जल्पति ॥ अत्र वर्णवृत्ते मात्राकथनस्यानतिप्रयोजनकत्वान्मात्राज्ञापकश्चरण. सव्वा-

-पारेति कन(मि)शपर्द (च) पदपूरणार्थमर्थेति मंतव्यं श्रा-ग्रगुरुरचितचरणे विद्याधर इति फलितार्थः ।

१२१ विद्याधरमुदाहरति, जाए इति । जासु—य(म)स्य कंठा—कंठे कंसा—विष लीला—दृश्यते सीसा—शीर्षे गंगा दृश्यते भंगा—भंग शाला इति यावत् गोरी—गौरी पार्वतीत्यर्थः दृश्यते येन नागराअ—नागराजः हार कंठभूषा किज्जे—क्रियते कृतो वा । तवे—नाम कामा—काम बाळकृष्णसहितो यावत् भुवनमिति शेषः येन म कामा—कर्म मार—मारयित्वा हृष्टेति यावत् किजी—कीर्तिः किज्जे—दहीता सोइ—स एव देवो—देवः शरणिकामय इत्यर्थः भत्ती—भक्तया तुम्हा—युष्मभ्यं तुव्वं—मुर्नं निरविच्छाममस्मिति यावत् -न्धो—दद्यात् । विद्याधरो निवृत्तः ।

१२४ अर्थका (यद्रा) दशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य पड्‌विंशतिमुत्तरपंचशततमं ५८६ भेदं भुजंगप्रयातनामकं वृत्तं लक्षयति, धओ इति । हे मुद्ध—हे मुग्धे यत्र धओ—ध्वजो लघ्वादिस्त्रिकलः चामरो—चामरं गुरु एवं चउ—चत्वारः क्रमशो—रूपकाः गणा इति यावत् पए—पदे प्रतिचरणमित्यर्थः किज्जे—क्रियते तस्मैव इत्यनुषंगेणोमं पीस रेहं—विंशतिरेखा विंशतिः रेखाः मात्रा यत्र तादृशमित्यर्थः मुग्धदेहं भुजंगाप्रमायां—भुजंगप्रयातं छंद—छन्दः सेस—शेषेण पिंगलेन कहं—यथा हारो—हारः मुक्ताराम तहा—तथा कंठए—कंठे ठए—स्थाप्यते। क्वचित् धओ—ध्वजः लघ्वादित्रिकलः इति यावत् ततः चामरो—चामरं गुरु रिति यावत् कमसो—एवं रूपेण चउ—चतुर्भिर्गणैरेव चरण इति शेषः हारो—हारः भेइ इति यावत् सेस—शेषः संपूर्ण इत्यर्थः तहा—तथा किज्जे—क्रियते पूर्यते इति यावत्, पए बीस रेहं—पदे विंशतिरेखं गुरुबंधं तद्‌घनिकया समं कृतगण तत भुजंगापमायं—भुजंगप्रयातं छन्दः तथा कथमित्याह ठए इति कहं—यथा मुद्धए—मुग्ध(या) कंठए—कंठे हारः मुक्तादाम ठए—स्थाप्यते इत्यादुः । अत्र ठए इति द्वितीयचरणः मात्राकथनं च पदपूरणार्थमेवेति मंतव्यं, यग(ण)चतुष्टयरचितचरणं भुजंगप्रयातमिति फलितोऽर्थः ॥

१२५. अथास्यैव प्रकारांतरं गाथया वदति, अहिगणेति पसिद्धा—सर्वत्र छन्दोग्रन्थे प्रसिद्धाः चारि—चत्वारः अहिगण—अहिगणाः पांचकला यगणा इति यावत् यत्र प्रतिचरणे पतंतीति शेषः बीसग्गल—विंशत्यधिकानि तीणि सम—शीणि शतानि समग्गाई—समग्रा मत्ता संख्या—मात्रासंख्या यत्र भवतीति शेषः पिंगलो—पिंगल इति भणइ—भणति ॥ श्लोकत्रयचतुष्टयसीका श्लोकाः कर्तव्या इति फलितार्थः ।

१२६ भुगगप्रयातमुदाहरति, महामत्तेति। यस्या. पाए—पादे महामत्त-मातग. टवीआ—स्थापितः, तदा—तथा यस्या. कडक्खे – कटाक्षे तिक्ख वाणा—तीक्ष्णबाणाः धरीश्रा—धृताः। यस्याः भुश्रा—भुजयोः फास—पाशो धृत इति पूर्वेणान्वय., यथा च भोहा—भ्रुवोः धणुआ—धनु धृतमिति पूर्वेणान्वय सेय नागरी अहो इत्याश्चर्ये कामगश्रस्स—कामनृपते. (समाणा)—समाना त्रिभुवनविजयेनातिगर्विता सेणा—सेनैव सेनेति भाव.॥ यद्वा पादस्थापितमहा-मातगा कटाक्षा एव धृतास्तीक्ष्णबाणा यया वेत्यर्थ. भुजपाशा भुजैव पाशो यस्याः सेत्यर्थ, धनु समानभ्रूका नागरी कामनृपते सेनेव यातीति शेषः इति योजनीय। पूर्वापरशब्दव्यत्यासस्तु प्राकृतभाषाया न दोषायेति मतव्यम्। भुजगप्रयात निवृत्तम्।

१२७ अथ द्वादशाक्षर(चर)णवृत्तस्यैकषष्ट्युत्तरैकादशशततम ११७१ भेद लक्ष्मीधरनामक वृत्त लक्षयति, हार गवेति। हार ग.वा—हारगधौ गुरुलघू इति यावत् तहा कण्ण गधा—तथा कर्णगन्धौ कर्णो गुरुद्वयात्मको गण. गधो लघुस्ता-वित्यर्थ उणो—पुन. कण्ण सद्दा——कर्णशब्दौ गुरुद्वयात्मकगणलघू इति यावत् तहा तो—तथा तो तलघुस्तगण इत्यर्थः गुरुआ गणो—गुरुकगण.। एए रूएण—एव रूपेण एतावदुपादानविधिनेति यावत् चारि जोहा गणा—चत्वारो योद्धृगणा रगणा इति यावत् यत्र प्रतिचरण पततीति शेष, सो—स. लच्छीहरो—लक्ष्मीधरः मुणो—ज्ञातव्य, इति णाअराआ—नागराजा पिंगल इति यावत् भणो—भणति॥ रगणचतुष्टयरचितचरण लक्ष्मीधरनामक वृत्त ज्ञातव्यमिति फलितार्थ। अत्र रगण चतुष्टयोद्दवनिरूपप्रकारः पूर्वार्द्धेणोक्तमिति ध्येयम्।

१२८ लक्ष्मीधरमुदाहृति, भजिश्रा इति। मालवा—मालवदेशाधिपतयो राजान भजिआ—भजिता भग्ना इति यावत् कण्णला—कर्णाटा. कर्णाटदेशीया राजान इति यावत् गंजिआ—गजिता मारिता इति यावत्, लुंठिआ कुजरा—लुंठितकुञ्जरा लुण्ठिता बलाद्गृहीताः कुञ्जरा हस्तिनो येषा तादृशा इत्यर्थं गुज्जरा—गुर्ज्जरदेशीया राजानो जिणिआ—जिता। बगला—बगा भगला—पलायिता, ओड्डिआ—ओड्रदेशीया राजान. मोड्डिआ—मोटिता मेच्छआ—म्लेच्छा कपिआ—कपिता, कित्तिआ—कीर्तय थप्पिआ—स्थापिता॥ स रामो जयतीति प्रबवेन युज्यते। लक्ष्मीधरो निवृत्त॥

१२६ अथ द्वादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य पच(पट्)पचाशदधिकसप्तदशशततम (१७५६) भेद तोटकनामक वृत्त लक्षयति सगणेति। जही—यत्र चारि चत्वारि सगणा गुर्वंतगणा धुव—ध्रुव पलति—पतति, सोलह मत्त विराम कही—षोड-

धिकषट्पचाशन्मात्राक तत् मोत्तिअदाम—मौक्तिकदामनामक वृत्तमित्यर्थः ॥ ननु यत्र पयोधरचतुष्टय पततीत्युक्त्यैव पादान्तयोर्गुरुदानाप्रसक्तेः कथ ण पुब्बही- स्थनेन तत्र तत्प्रतिषेधः साधु सगच्छत इति चेत्, यत्र एव चत्वारो जगणाः पततीत्यत एव पूर्ब्बम् अते वा हारो न दीयत इति पूर्वोक्तस्यैव विव णमेतदित्याहुः। षट्पचाशदुत्तरशतद्वयमात्राकथन षोडशचरणाभिप्रायेण, जगणमात्राज्ञापक तद्वि- शेषणपद पादपूरणार्थमेवेति मतव्यम् ॥

१३४ मौक्तिकदामोदाहरति। गरास—ग्रास भोजनमिति यावत् तेज्जि— त्यक्त्वा कश्रा—कायः दुब्बरि—दुर्बलः भउ—जातः, खणे खणे (ण)—क्षणे क्षणे अच्छ—स्वच्छः णिसास—निश्वासः रोदनकालीनश्वास इत्यर्थः जाणिअ— ज्ञायते। तार—तारेण कुहू रव—कोकिलारावेण दुरतः दुष्टः मरणादिजनक अन्तो यस्य तादृशो वसतनामा ऋतुः, तस्मात् कि णिद्दअ काम—किं निर्दय. कामः कि णिद्दअ कन—किं निर्दय. कान्तः ॥ एतादृशेऽपि समयेन आगतः स. प्रियो निर्दय, प्राणेश्वरप्राणा मा ज्ञात्वा येऽतिदुःख प्रयच्छति स कामो वा निर्दय इति कस्याश्चित्प्रोषितपतिकायाः सखीं प्रति वचनमेतत्। मौक्तिक- दाम निवृत्तम्।

१३५ अथ द्वादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैकादशोत्तरपञ्चत्रिंशत्शततम ३५११ भेद मोदकनामक वृत्त लक्षयति, तोलेति। तोलअ छद—तोटकच्छदः विरीअ— विपरीत ठविज्जसु—स्थापयस्व, अतएव चारि गणा—चत्वारो गणाः भअणा— भगणा आदिगुरुकाः गणा इति यावत् सुप्रसिद्धउ—सुप्रसिद्धा यत्र प्रतिचरण पततीति शेषः, तस्य छदह—छदस मोदअ—मोदक नाम अभिधान करिज्जसु— कुरुष्व इति कित्तिहि लुद्धउ—कीर्तिलुब्धः पिंगलः जपइ—जल्पति ॥ इदमत्र तत्त्व, चतुर्भिर्गुर्वन्तगणैस्तोटकच्छदो भवति तद्विपरीतस्थापनेनादिगुरुकैश्चतुर्भिर्गणैर्मो- दक भवति। वक्रोक्तिस्तु पद्यपूरणायेति मतव्यम्।

१३६. मोदकमुदाहरति। गज्जेति। मेह—मेघः गजउ—गर्ज्जतु, कि—किंवा अंबर—अम्बरम् आकाशमिति यावत् सावर—श्यामल भवत्विति शेष. णीव— नीप. कदम्ब. फुल्लउ—विकसतु, कि—किंवा भम्मर—भ्रमराः बुल्लउ—गुजतु अम्मह—अस्माक पराहिण—पराधीनमन्यायत्तमिति यावत् एक्कउ—एकमेव जीव पिंचा पाउस—प्रावृट् लेउ—गृह्णातु ॥ अत्र लेउ इति एकारो ह्रस्वो बोध्य । वर्षागमेऽप्यनागत विदेशिन पति ज्ञात्वा अतिकामार्तायाः कस्याश्चित्प्रोषित- भर्तृकाया काचित्प्रियसखीं प्रति वचनमेतत्। मोदकवृत्त निवृत्तम्।

१३७. अथ द्वादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यातिर्म भेद तरलनयनानामकं वृत्त लक्षयति, णगणेति। हे कमलमुखि णगण—प्रथम नगणः सर्वलघ्वात्मको गणः पुनः

मायानामक वृत्त लक्षयति, कणेति । ज—यत्र पूर्वं कण्णा दुण्णा—कर्णद्वय गुरुद्वयात्मककगणयुगमिति यावत् , तत• चामर—चामर गुरुस्ततश्च सल्ला जुअला—शल्ययुगल शल्यौ लघुस्तद्द्वयमित्यर्थ', ततोऽपि दीहा दीहा—द्वौ दीर्घौ गुरुद्वयमिति यावत्, ततश्च गधअ जुग्गा—गधयुग गधौ लघुस्तद्द्वयमित्यर्थः, अन्ते लघुद्वयान्ते पादाते वा कता—कांतौ चामर हारा—गुरुद्वयमित्यर्थ•, एते गणा इति शेषः पअला—प्रकटिताः, त—ता सु(सु)हकाआ—शुभकाया बाईसा मत्ता—द्वाविंशतिमात्राका गुणजुता—गुणयुक्ता माआ—माया भणू—कथय ॥ केचित्तु शुभकायाः शुद्धशरीराः गुणजुता—गुणयुक्ता• द्वाविंशतिर्मात्राश्च पततीति मात्राविशेषणतया पदद्वयं योजयति । मात्राकथन सुहकाआ गुणजुत्तेति च पदद्वयमत्र पादपूरणार्थमेवेति ध्येयम् ॥

१४२. मायामुदाहरति । ए—एतत् शरीरा—शरीर अत्थीरा—अस्थिरं देक्खु—पश्य, घरु जाआ वित्ता पुत्ता सोअर मित्ता—गृहजायावित्तपुत्रसोदरमित्राणि एत॰एवं माया मिथ्याभूतमित्यर्थ । अतः हे बब्बर—बर्बर काहे लागी—किमर्थं मुज्झे—विमुह्य वेलावसि—विलम्बयसि जइ सुज्झे—यदि जानासि, तदा जुत्ती—युक्त्या कित्ती—कीर्तिं किज्जहि कुरु । अतिससारासक्त कुकर्मिण कचित्प्रति कस्यचिन्मित्रस्योपदेशवाक्यमेतत् । माया निवृत्ता ॥

१४३. अथ त्रयोदशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य षट्पञ्चाशदुत्तरसप्तदशशततम भेद (१७५६) तारकनामक वृत्त लक्षयति, टइति । यत्र पाअ—पादे आइ—आदौ—लहू जुअ—लघुद्वय टइ—स्थापयित्वा गुरु सल्ल जुआ—गुरुशल्ययुगे करीजे—क्रियेते एको गुरुः लघुद्वय च क्रियत इत्यर्थः, ततो भअणा जुअ—भगणो गुर्वादिर्गणस्तद्युग दीजे—दीयते । पअ अतह पाइ गुरु जुअ—पादातःपातिगुरुयुग किज्जे—क्रियते, सहि—हे सखि तस्य छंदह—छदसः तारअ—तारकम्—इति णाम—अभिधान भणिज्जे—भण्यते ॥ सगणचतुष्टयोत्तरगुरुरचितचरण तारकमिति फलितार्थ• ॥

१४४. तारकमुदाहरति, णवेति । चूअगाछे—चूतवृक्षेण णव—नवा मजरि—मजरि लिज्जिअ—गृहीता, केसू(सु) णआ वण—किंशुकनूतनवन आछे सम्यक् यथा स्यात्तथा परिफुल्लिअ—परिपुष्पित । जइ—यदि एत्थि—अत्र वसन्तसमये इत्यर्थ कता—कात• दिगतर—दिगंतर जाइहि—यास्यति, तदा किअ—किं वम्मह—मन्मथ णत्थि—नास्ति, कि—किंवा णत्थि वसंतः ॥ कातं देशातरजिगमिषु ज्ञात्वा विमनायमाना काचिन्नायिका (प्र) ति—यद्यस्मिन्नपि कान्तो गमिष्यति तदा तस्य निवारक काम• वसतो नास्ति किंतु विद्यत एवेति त्व मा विभीहीति गूढाभिप्रायाया कस्याश्चित् सख्या वाक्यमेतत् । तारक निवृत्तम् ।

१५०. अथ चतुर्दशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतुरशीत्यधिकशतत्रयोत्तरषोडश-सहस्र भेदा भवति, तत्रैक(त्र त्रय.)त्रिंशोत्तरन(व)शताधिकाद्विसहस्रतम भेद (२९३२) वसततिलकानामक वृत्त लक्षयति, कण्णविति। पदमे—प्रथमे स्थाने कण्णो—कर्णः गुरुद्वयात्मको गण इति यावत् अ—च पुनः बीए—द्वितीये स्थाने जअगो—जगणो मध्यगुरुगण., अते—जगणाते तुरग—तुरगश्चतुर्मात्राकः सगण इति यावत् , ततश्च सगणो—पुनः सगण एव गुर्वंत इति यावत्। क्वचिच्च दुअम्मि सतणो इति पाठस्तत्र दु(अ)म्मि सगणो—सगणद्वयमपि गुर्वंतगण-द्वयमिति यावदित्यर्थ. वक्तव्य., अवहट्टभाषाया पूर्वापरव्यत्यासे दोषाभावात् अ—च पुनः पाअ गणो—लघ्वादिर्गण इत्यर्थ. जत्थ—यत्र पाए—पादे ठविज्ज—स्थापित इति यथायथ योज्यताम्। फणिणा—पिंगलेन उत्ता—उक्ता उकिट्ठा—उत्कृष्टा सु कइद दिट्ठा—सुतरा कवींद्रदृष्टा सरसा—प्रेमाविष्टा. छेआ—विदग्धा. वसनतिलआ—वसततिलका पटति ॥ तगणभगणगुरुद्वयोत्तरय(ज) गणद्वयरचितचरणा वसततिलकेति फलितार्थ ।

१५१ वसततिलकामुदाहरति। (जे—) ये लोकाः तीअ—तस्या तिक्खचल चक्खु तिहाअ दिट्ठा—तीक्ष्णचलचक्षुस्त्रिभागदृष्टाः, ते काम चद महु पचम मारणिज्जा—कामचद्रमधुपचममारणीया जाता इति शेष.। जेसु—येषु उणो—पुन. तस्या (स)अला वि दिट्ठी—सकलापि दृष्टिः णिव्विडिआ—निपतिता, ते तिल जलांजलि दाण जोग्गा—तिलजलाजलिदानयोग्याः चिट्ठति—तिष्ठति। कर्पूरमजरीवर्णनपर विदूषक प्रति राज्ञो वाक्यमेतत्। वसततिलका निवृत्ता ॥

१५२ अथ चतुर्दशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैक(नवत्युत्तरैक)शताधिकाष्टसहस्रतम ८१९१ भेद चक्रपदनामक वृत्त लक्षयति, समणिअ इति। मुहो—मुखे प्रथममिति यावत् पलिअ—पतित चरणगण गुर्वादिभगणमित्यर्थः सभणिअ—सभण्य, पुणवि—पुनरपि दिअवर जुअलो—द्विजवरजुगल चतुर्लघ्वात्मकगणद्वयमिति यावत् सठविअ—सस्थाप्य। ज—यत्र पअ पअ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् करअल गण—करतलगण गुर्वंत सगण इति यावत् मुणिओ—ज्ञात , तत् फणिवइ भणिओ—फणिपतिभणित चक्कपअ—चक्रपद प्रभण ॥

१५३ चक्रपदमुदाहरति, खजणेति। अत्रावहट्टभाषाया पूर्वनिपातानियमात् उपमा शब्दस्य पूर्वनिपात कृत्वा योजनीय, तथाच खजनजु(यु) गलोपमनयनवरा खजनयुगलस्य उपमा ययोः तादृशे अपि नयने ताभ्या वरा रमणीत्येत्यर्थ , चारु कणअ लइ भुअजुअ सु(सु)समा—चारुकनकलताभुजयुगसुषमा चार्व्वी कनकलताया इव भुजयुगस्य सुषमा यस्यास्तादृशीत्यर्थ., फुल्ल कमल मुहि—

पुरुष्कमलमुखी गअवर गमणी—गजवरगमना रमणी ललना कस्स द(उ) दिण्ण पुण्ण—कस्य सुकृतपुण्येन विधिना गढ्ढ—सृष्टा ॥ एतादृशी बाला कस्मिंश्चित् कस्य पुण्येन ब्रह्मयैव निर्मितेयम् ॥ चंपकसदृ निवृत्तं ॥

१५४ अथ पंचदशाक्षरचरणस्याष्टसहस्रषट्शतचत्वारिंशद्विशेष १९०१८ भेदा भवंति तत्र यत्(षट्)प्रस्तार योडशपंचत्रिंशत्तम (१४०४४) भेदं भ्रमरावलीनामकं वृत्तं लक्षयति। यत्र पढिज—प्रविशतेः पंच—पंचमि कर— करैः गुर्वंतसगणैरिति यावत् विलत करं—विलस(च्च)करमतिरमणीयमिति यावत् रअणं—रचनं किज—कृतं गुरु पंच—पंच गुरवः दहा हार—दश वक्ष पहिडा—प्रसिद्धास्तत्र मणोहर—मनोहरं छंदवरं—छन्दःश्रेष्ठं रअणं—रत्नं रत्नमालामिति यावत् रइअं—रचितं टहअ—स्थापितं पिंगलेनैवि यावत् परिविज—पतत्यहो भमराबलि छंद—भ्रमरावलीच्छन्दः पभणंति—प्रभणंति पंडिता इति शेषः ॥ अत्र छन्दोविशेषणं मिथस्तया लघुगुरुकथनं च पद्यपूरणार्थमिति मंतव्यं, सगणपंचकरचितचरणा भ्रमरावलीति फलितार्थः।

१५५. भ्रमरावलीमुदाहरति, तुअ देवेति। हे चन्द्र कलाभरण देव तुरिआ मणा दरणा—तुरितदशहरणौ तुअ—तव चलणौ जइ—यदि सरणा—शरणौ पावउ प्राप्नोमि सवो (वा) (सो)ममण—सोमे मनः मअणं—मदनं च तेजिम— त्यक्त्वा परिपूजउ—परिपूजयामि हे लोक कियाउ मणा—त्रिभुवनशर्वलोकत्रयव- शोकनिवारणमना इत्यर्थः, हे समणा—हे शमन मह—मम सुहं—सुखं स्थपरणापनोद्भूतनिवारणमिति यावत् दे—देहि ॥ कस्यचिद्भक्तस्य महादेव प्रार्थनावाक्यमिदम्। भ्रमरावली निवृत्ता।

१५६ अथ पंचदशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य प्रथमं भेदं सारंगिकानामकं वृत्तं लक्षयति कण्णेति। तत्र कण्णा—यत्र कर्णाः गुरुद्वयात्मका गणा इति यावत् दिण्णा—दीयते दत्ता इत्यर्थः अंते—अंतकर्णेते पक्षा हारा—पक्षौ हारा गुरुरित्यर्थः माणिआ—मान्यते पर्यप्रकारेण यत्र पाए—पादे पंचावासा—पंचदश हार—गुरवः मत्ता—मात्राश्च तीसा—त्रिंशत् पत्ता—प्राप्ता सारंगि—शार्ंगे यत्र सुवी—श्रुवा मया—मस्तकं कंपंता—कंपते स्वकायते इति यावत्, तत् सारंगिक्का छंदा तर्जं गअअच्छता इति भोई राआ—भौगिराजा पिंगला बल्ले— जल्पति किं च एतद् छंदा—छंदः विज्जे—किमते विली—प्रीतिः कित्ते— प्रमाते ॥ अत्र मात्राकथनं चतुर्थचरणस्य पद्यपूरणार्थमिति ध्येयं, पंचदशगुरु रचितचरणा सारंगिकेति निष्कृष्टोऽर्थः ॥

१५७ सारंगिकामुदाहरति। भत्ता—कस्यचित् नायकः भग्गी, जम्मीला— आत्मदर्मिकया गर्विता बड़े खेदा—गर्वितशीला येनापत्य मत्ता—रोगा

रक्तसर्वगात्राः जोहा—योद्धारः ज्ञाताः, सल्ला—शल्यानि भल्लाश्च आयुधविशेषाः उट्ठीआ—उत्थिताः । हत्थी जूहा—हस्तियूथानि सज्जा—सज्जितानि हूआ—जातानि, तेषां पाए—पादैः भूमी—भूमिः कंपता—कंपिता, लेही —गृहाण देहि-दे (हि) छड्डो—त्यज ओड्डो—प्रतीक्षध्वमिति सञ्ज्ञा सूरा—सर्वे शूराः जंपता—जल्पंति यत्र संग्रामे इति शेषः यथायथं योजनीयं. । सारंगिका निवृत्ता ।

१५८ अथ पंचदशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैक (स्य त्रयो) विंशत्युत्तरनवशताधिकदशसहस्रतम (१०९२३) भेदं चामरनामकं वृत्तं लक्षयति, चामरस्सेति । हे कामिनि ठाइ ठाइ—स्थाने स्थाने अंतरेति यावत् णिम्मला—निर्मलाः अट्ठ हार—अष्टौ हारा गुरवः सत्त सा(र)—सप्त सारा लघव , एवंप्रकारेण दहाइ पंच—दशपंच पंचदशेत्यर्थः अक्खरा—अक्षराणि तीणि मत्त अग्गला—त्रिमात्राधिकाः वीस मत्त—विंशतिर्मात्राश्च चामरस्स—चामरस्स चामराख्यवृत्तस्येति यावत् पादे पततीति शेषः, आइ अंत—आद्यंतयोः पादाद्यंतयोरित्यर्थः. हारो गुरुः सारः श्रेष्ठः मुणिज्जए—मन्यते, पादादौ अंते च गुर्वदेय इति भावः, इति पिंगले भणिज्जए—पिंगलेन भण्यते ॥ अयमाशयः—प्रथमं गुरुस्तदनंतरं लघुः पुनः गुरुः पुनस्तदनंतरं लघुरेवंप्रकारेण पंचदशा(क्षरा)णि कर्त्तव्यानि, तथा च रगण जगण रगण जगण-रगण-रचितचरणं चामरमिति फलितार्थः ।

१५९ चामरमुदाहरति, भत्तीति । तं खणा—तं (त्) क्षणे वज्ज—वाद्यानि डिंडिमप्रभृतीनि गज्ज—गर्जंति, हक्क—हक्का सिंहनादमिति यावत् दिज्ज—ददति, चलतओ—चलति च, वीर पाअ—वीरपादैः भूतल्तगा—भूतलांतर्गतः णाअराअ—नागराजः शेषः कंप—कंपते जे जोह—हे योधाः झत्ति—झटिति सज्ज—सज्जिताः कृतसन्नाहा इत्यर्थः होह—भवत ॥ दैत्यसेनाजयाय प्रस्थितस्य शक्रस्य देवान् प्रति वाक्यमेतत् । चामरं निवृत्तम् ॥

१६० अथ पंचदशाक्षरचरणस्य (वृत्तस्य) पंचदशोत्तरनवशताधिकैकदश (पंचदशोत्तरद्वादश) (१२०१५) सहस्रतमं भेदं निशिपालनामकं वृत्तं लक्षयति, हाविति । हारु—हारः गुरुरित्यर्थः. तिण्णि सरु—त्रयः शरा लघव इत्यर्थः हिरिथ परि—अनया परिपाट्या तिग्गणा—त्रिगणान् थरु—स्थापय त्रीन् गुर्वादीन् पंचकलान् गणान् स्थापयेत्यर्थः, (अ)ते गणत्रयांते रग्गणा—रगणं मध्यलघु गणमित्यर्थः करु—कुरु, एवं प्रकारेण यत्र पदे इति शेषः पंच गुरु—पंच गुरवः दुण्ण लहु—द्विगुणिता लघव पंच द्विगुणिता दश लघव इति भावः वीस लहु—विंशतिर्लघव मात्रा इति यावत् आणआ—आनीताः आनीयते वा, हे चंदमुहि सहि—हे चन्द्रमुखि सखि एत्थ—एतत् णिसिपालआ—निशिपालकं छंदः इति कव्ववर—काव्यवरः काव्ये लोकोत्तरवर्णनानिपुणे कविकर्मणि वरः श्रेष्ठ इत्यर्थः.

चित्त मज्झे णिहित्तं—चित्तमध्ये निहित पसिद्ध—प्रसिद्ध मालिणी णाम वुत्त—मालिनीनाम वृत्त ज्ञातव्यमिति शेषः, इति सरस कव्वो—सरसकाव्यः सरसं काव्य यस्य स तादृश. पिंगल इत्यर्थः भणइ—भणति ॥

१६५ मालिनीमुदाहरति, वहइति । हे हजे—चेटिके मलअ वाआ—मलयवातः वहइ—(वह)ति, हत इति खेदे, काआ—कायः कपत—कम्पते, कोइलालाव वधा—कोकिलालापबन्धः सवण रधा—श्रवणरन्ध्रं हणइ(—ह)ति । भिंग झंकार भारा—भृंगझंकारसमूहाः दह दिहासु—दशदिक्षु सुणिअ—श्रूयते, चड चडाल मारा—चड. चडालमार' चडो महाक्रोधी चडालइव चडालस्तद्वन्निष्ठुरः मार. काम. हणिअ—हत मल्लक्षण वन हणइ—हति ॥ मलयवातादिभिर्हता मा यदय कामो हति कोऽयमस्य पुरुषार्थं, मत्प्रिय हत्वा मद्वश यदि नयति तदैन परमपुरुषार्थिन मन्ये इति गूढाभिप्रायाया. कस्याश्चिद्वाक्यमेतत् । मालिनी निवृत्ता ।

१६६ अथ पञ्चदशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतुरशीत्युत्तरद्वि(त्रि)शताधिकषोडशसहस्रतम (१६३८४) भेद सरभनामक वृत्त लक्षयति, भणिअ इति । यत्रादौ सर लहु सहिओ—सरलघुसहित सर—सरः एकलघ्वात्मको गणः अथच लघुस्ताभ्या युक्तमित्यर्थ सू(सु) पिअ गण सुप्रियगण सुप्रियो द्विलघ्वात्मको गणस्तमित्यर्थ भणिअ—भणित्वा, दिअवर जुअ (करअ)ल—द्विजवरयुगकरतलौ द्विजवरश्चतुर्लघ्वात्मको गणस्तद्युग करतलो गुर्वन्तसगणस्तमित्यर्थ. लहिओ—लब्धो, एवप्रकारेणेति शेष. जह—यत्र चउ चउकल गण—चत्वारश्चतुष्कला गणाः पअ पअ—पादे पादे प्रतिपादमिति यावत् मुणिओ—ज्ञाता हे सुपिअ—सुप्रिय शिष्य तत् फणिवइ भणिओ—फणिपनिभणित सरभ—सरभ कह—कथय सरभनामक तद्वृत्तमित्यर्थ ॥ अत्र पुनश्चतुष्कल-चतुष्टयकथन पद्यपूरणार्थमेव, नगणचतुष्टयोत्तरसगणरचितचरण सरभनामक वृत्तमिति फलितार्थ इति ध्येयम् ॥

१६७ सरभमुदाहरति, तरलेति । तरल कमलदल सरि जुअणअणा—तरलकमलदलसदृशनयनयुगा, सरअ समअ ससि सू(सु)सरिसवअणा—शरत्समयशशिसुसदृशवदना मअ गअ गल करिवर सअलसगमणी—मदकलकरिवरसालसगमना एतादृशी रमणी कमण सू(सु) किअ फल—केन सुकृतफलेन विहि—विधिना स्रष्ट्रेति यावत् गढु—निर्मिता । सरभो निवृत्त ।

१६८ अथ षोडशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य षट्त्रिंशदुत्तरपञ्चशताधिकपञ्चषष्टिसहस्र (६५५३६) भेदा भवति, तत्र षट्चत्वारिंशोत्तरा(ष्टशता) धिकैकविंशतिसहस्रतम (२१८३६) भेद नाराचनामकं वृत्त लक्षयति, णरिंदेति । जत्थ—यत्र

१७१. नीलमुदाहरति, सज्जिअ इति। चिवट्ठिअ कोह—विवर्द्धितक्रोधाः धणू—धनूंषि चलाउ—चाल्यतः धनुर्भ्यो बाणान् क्षिपत इति भावः जोह—योधाः सज्जिताः कृतसन्नाहाः जाता', पुरत तणू—फुरत्तनुः सणाह—रणनाथः सेनापतिरित्यर्थः पक्खर बाह—कवचिताश्वेन चलित', करे पाणौ कुतान् पाशान् धरि—धृत्वा सुखग्गकरा—सत्खड्गकराः पत्ति—पत्तय' चलत—चलिताः, एवंक्रमेण कण्ण णरेंद—कर्णनरेन्द्रे सज्जितवृन्दे सति धरा पृथ्वी चलत—चलिता। नीलो निवृत्तः ॥

१७२ अथषोडशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैकनवत्युत्तरषट्शताधिकत्रिचत्वारिंशत्सहस्रतम ४३६९१ भेद चचलानामक वृत्त लक्षयति, दिज्जिए—दीयते तो—ततः एक्क—एकः पओहराइ—पयोधरः मध्यगुरुर्जगण इति यावत् दीयते इत्यनेन पूर्वेणान्वयः, हिण्णि रूअ—अनेन रूपेण मणोहराइ—मनोहराणि सव्वलो—सचलानि पच चक्क—चक्राणि गणा इत्यर्थः क्रियतइति शेषः। अत्र चक्रशब्दो गणवाची, तथा च रगण–जगण–रगणाः अनेन रूपेण पचगणाः कर्त्तव्याः इत्यर्थः। अत—अते पदाते गणपचकाते वा वधु—वधुः निर्वाहकत्वात् गधः लघुरिति यावत् दिज्ज—दीयते, यत्र च सोलहाइ अक्खराइ—षोडश अक्षराणि पादे पततीति शेषः, फणिंद—फणीन्द्रेण पिंगलेनेति यावत् विणिम्मिआ—विनिर्मिता वल्लहाइ—वल्लभा पिंगलस्येति भावः, एउ—एषा चचला—तच्चचलानामक वृत्तमित्यर्थः ॥

१७३ चचलामुदाहरति। कण पत्थ—कर्णपार्थौ राधेयफाल्गुनाविति यावत् जुक्कु—युद्धार्थं मिलितौ, बाण सहएण—बाणसंघेन सूर—सूर्यः लुक्कु—निलीन', जासु—यस्य घाउ—घात. प्रहारनिपातजात इति शेषः. तासु तस्य अधकारजालप्रविष्ट इव जात इति भाव', एत्थ—एतस्मिन्नवसरे इत्यर्थ' कण धूरि—कर्णं पूरयित्वा आकर्णपर्यन्तमाकृष्येति यावत् पत्थ—पार्थेन छड्डुएण—मुक्तान् सट्ठि बाण—षष्टिबाणान् पेक्खि—प्रेक्ष्य कित्ति धएण—कीर्तिधनेन कण्ण—कर्णेन सव्व बाण—सर्वे बाणा कट्टिएण—कर्त्तिता ॥ चचला निवृत्ता ॥

१७४ अथ षोडशाक्षरचरणवृत्तस्य प्रथम भेद ब्रह्मरूपकनाम वृत्तं लक्षयति, जो लोआणमिति। जो—यत् लोआण—लोकाना विउट्टे—विश्लोष्ठे विज्जुट्ट—विद्युत्स्थाने विद्युत्सामयतया विद्युत्पदेन टता लक्ष्यते, तथाच टतस्या(न) इत्यर्थ, णास ट्ठाणे—नासिकास्थाने वट्टे—वर्त्तते, यच्च वुत्तो—वृत्त छदु गाअतो—छन्दोगायद्भिः सव्वे—सर्वैः समाणीओ—समानित, सो—तत् कतो—कात हस ट्ठाणो—हसस्थान हसस्येव स्थान स्थितिर्गतिर्यस्य तत्तादृशमित्यर्थः बह्माणरूपक छदो—(ब्राह्मरूपकं) छद वण्णट्टे—वर्णाष्टकेन गुरुद्वयात्मकगणाष्टकेन

१८०—अथाष्टदशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतुश्चत्वारिंशोत्तरैकशताधिकद्विषष्टि-सहस्रोत्तरलक्षद्वय २६२१४४ भेदा भवन्ति, तत्र द्वि(त्रि) सप्तत्युत्तरषट्शताधिकद्वादशसहस्रतम (१२६७३) भेदं मञ्जीरनामक वृत्त लक्षयति, कुतीपुत्तेति। यत्र यथा—मस्तके प्रथममिति यावत् तिण्णा—त्रीन् कुतीपुत्रान् गुरुद्वयात्मकान् गणानिति यावत् दिण्णउ—दत्वा एक्का—एक. पाए—पादः गुर्वादिर्भगणमि(इ)त्यर्थ. सठवि—सस्थाप्यते, ततश्च एक्का हारा—एकोहारः गुरुः कक्षण दुज्जे—कङ्कणद्वयं गुरुद्वमिति यावत्, अवहट्टभाषाया पूर्वव्यत्यासदोषाभावात् दुज्जे इत्यस्य व्यत्यासे अपि न दोष., गधा—गधस्य लघोरित्यर्थः जुगलाए—जुगलं सठवि—सस्थाप्यते। पाश्रा अन्ते(—पादाते) भव्वा कारउ—भव्याकारा. चारी हारा—चत्वारो हारा गुरवः सज्जीआए—सज्जिता., ए—एतत् मजीरा—मजीरनामक वृत्तमिति यावत्, इति सुद्धकाअउ—सुद्धकायः शुद्धो निष्कलकः कायो यस्य स तादृश इत्यर्थः सप्पा राश्रा – सर्पराज. पिंगल जप—जल्पति ॥

१८१ मजीरमुदाहरति, (णीला कारउ)—नीलाकारा मेहा—मेघाः गज्जे—गर्जति उच्चा रावा—उच्चस्वराः मोरउ—मयूरा सद्दे—शब्दायन्ते, ठामा ठामा—स्थाने स्थाने पिंगा देहउ—पिंगदेहा पीतवर्णेति यावत् विज्जू—विद्युत् रेहइ—राजते हाराश्च किज्जे—क्रियते मेघैरिति भाव.। फुल्ला णीवा—पुष्पितान् नीपान् कदम्बपुष्पाणि भम्मरु—भ्रमरा पीवे—पिबति, दक्खा—दक्ष. मानिनीमानभजने इति भाव. मारुअ—मारुत. वीअताए—वीजयति, हहो हज्जे—चेटिके काहा किज्जउ—किं क्रियता किं विधीयतामिति यावत्, कीलताए—क्रीडती पाउस—प्रावृट् आओ—आगता ॥ मान त्यक्त्वा कातमुपगच्छेति चेटीमुखान्निश्वासयितु कस्याश्चिन्मानिन्या. प्रावृडागमनात् किं विधीयतामिति चेटीं प्रति वाक्य। मजीरो निवृत्त ॥

१८२ अथाष्टादशाक्षरणस्य वृत्तस्यैक(स्य) पचाशदुत्तरशतत्रयमा (चतु)शताधिकसप्तत्रिंशत्सहस्रतम भेद (३७४५०) क्रीडाचक्रनामक वृत्त लक्षयति, ज इदासणेति। ज इदासणा—यत्र इंद्रासन लघ्वादिर्यगण इति यावत् तदग्रे एवकारपूर्णोऽस्तथा—चैंद्रासनमेवेत्यर्थः, एक्क—एक' नान्यगणमिलित इति यावत् गणा—गण' पाएहि पाए—पादे पादे सु(सु) हावेइ—शोभते यत्र पादे यगणातिरिक्तो गण न पततीत्यर्थ', सुद्दा—सु शोभना दत्ता लघवो ज(य)गणादिभूता इति भाव येषु तादृशा इत्यर्थ दहा अट्ठ—अष्टादश वण्णा—वर्णा यत्र सठाए—सुस्थाने णिबद्धाइ—निबद्धा सोहे—शोभते, जहा—यत्र दहा तिण्णि गुणा—दश त्रिगुणिता त्रिंशदिति यावत् मत्ता—मात्राः सुपाए—सुपादे छट्ठआ—स्खलिताः होति—भवति, तत् किलाचक्क छदा—

एवप्रकारेण पादे एऊण त्रिसा वणो—एकोनविंशतिर्वर्णाः पतति, यत्र च चउ पत्रो—चतुःपादे पिंडीत्र—पिण्डीभूताः पुना. बत्तीस रेहे—द्वात्रिंशद्रेखाः लघव इत्यर्थ., अट्ठासि जोणी—अष्टाशीतियोनयः अष्टाशीतिमात्राणा कारणानीति यावत् चो(चो) आली (सह) हार—चतुश्चत्वारिंशत् हारा गुरवः येषामष्टाशीतिमात्रा भवति तादृशाश्चतुश्चत्वारिंशद्गुरव इत्यर्थ', एवप्रकारेण छेहत्तरि वणओ—षट् (सप्ततिवर्णा) प्रतिचरण सउ वीस मत्त—विंशत्यधिकशतमात्राश्च भणित्र—भणिताः, तत् सद्दूलसट्टा—शार्दूलसाटक मुणो—जानीत इति पिंगल भणे—पिंगलो भणति ।

१८७ शार्दूलसाटकमुदाहरति, जे लकेति । जे—ये लका गिरि मेहलाहि—लकागिरिमेखलाया त्रिकूटाचलकटकादित्यर्थ. खलिआ—स्खलिताः ततश्च समोगखिन्नोरगीस्फारोत्फुल्लफणावलीकवलनेन दरिद्दत्तण—दरिद्रत्व पत्ता—प्राताः । ते इण्हि—इदानीं मलयानिलाः विरहिणीनिःश्वाससपर्किणः सतः शिशुत्वेऽपि तारुण्यपूर्णा इव बहला जाता । कर्पूरमजरीसाटके देवीनियुक्तविचक्षणायाः वाक्यमेतत् ॥

१८८ पुनरपि शार्दूलविक्रीडित प्रकारातरेण लक्षयति, पथारे इति । जह—यत्र पत्थारे—प्रस्तारे वण्णुज्जल—वर्णोज्ज्वलानि तिण्ण चामर बरे—त्रीणि चामरवराणि गुरूणि दीसति—दृश्यते, ततश्च उक्किट्ठ—उत्कृष्ट लह त्रिणि—लघुत्रय चामर—चमर गुरुरित्यर्थ तहा—तथा गधग्गुरो—गधो लघुः गुरुश्च उट्ठीत्र—उत्थापित. दत्त इत्यर्थ. । तहा—तथा तिणो त्रयस्त्रीणि वा सू(सु)गध—सुगधा शोभना लघव इत्यथ चामर—चामराणि गुरव. दिउ—दीयते, ततश्च गधा—गधो लघु' जुआ चामर—द्वे चामरे गुरु अत—अते पादाते चामरद्वयाते चेत्यर्थ. रेहतो—राजमान धअपट्ट—ध्वजपटो लघ्वादिस्त्रिकल इति यावत् कहित्र—कथित तत्सद्दूलविक्कीडित्र—शार्दूलविक्रीडित ॥

१८९ शार्दूलविक्रीडितमुदाहरति, जमिति । ज धोअजण लोल लोअण जुअ—यस्मात् धौताजनलोललोचनयुग धौतमजन यस्य त दृश लोचनयुग यस्मिस्त तादृद-मित्यर्थ. लबालभग्ग—लबालकाग्र लबान्यलकान्यग्रे यस्य तत्तादृशं मुहं—मुखमित्यर्थ तथा ज—यत हत्थालबिअ केस पल्लव चए—हस्तालम्बितकेशपल्लवचये बिंदुणो—बिंदवो घोणति—घूर्णति परितो भ्रमन्तीति । यावत् । तथा ज—यस्मात् एक्क सिअअचल णिवसिअ—एक सिचयाचल निवसित ण्हाणकेलिट्ठिआ त—तस्मात् हेतो स्नानकेलिस्थिता अब्भुअेक्क जणणी—अद्भुतैकजननी आश्चर्यमुखोत्पत्तिभूमिरिति यावत् इअ—इय कर्पूरमजरी अमुना जोईसरेण—योगीश्वरेण कापालिकभैरवानन्देन आणीदा—आनीता । यतो नेत्रयोरजन धौत

इ्हि—कथ्यते इति सुगुणजुअ—सुगुणयुक्तः विमलमइ—विमलमतिः फणिपतिः पिंगलः सही सत्य भणति ॥ यत्राष्टादशलघुरनंतरमेको गुरुः पतति तत् धवलनामक वृत्तमिति फलितार्थः।

१९३. धवलमुदाहरति, तरुणेति। तरुण तरणि—तरुणः माध्याह्निकः तरणिः सूर्यः तवइ धरणि—तापयति धरणीं, पवण वह खरा—पवनो वाति खरः, लग णहि जल—निकटे नास्ति जल, जण जिअण हरा—जनजीवनहर वड मरुथल—महत् मरुस्थल विद्यते इति शेषः। दिसइ चलइ—त्विषोऽपि चलति तरुणतरणिकिरणा अर्क्कत्विषोऽपि चलतीवेत्यर्थः, हिअअ डुलइ—हृदय कपते, हम इकलि वहू—अहमे (क)ला वधूः घर णहि पिअ—गृहे नास्ति पतिः, सुणहि पहिअ—शृणु हे पथिक कहु—कुत्रापि तव मनः स्थातुमिति शेषः इछइ—इच्छति ॥ कस्याश्चिद्वाग्विदग्धाया इद वाक्यम्, अत्र पथिकगद निवासस्थलकथनार्हत्व मार्गप्रातग्रामवासयोग्यत्व च व्यजयति, तरुणतरणिपदाभ्या चडाशुकिरणभीत्या निखिलपथिकसचारअ(शू)न्यतयाग्रिममार्गस्यातिदुर्गमत्व व्यज्यते, एकलेति पदमन्यजनावलोकनीयतया यथेच्छक्रीडाकारित्व व्यजयति, सर्वथात्रैव त्वया स्थेयमिति व्यजयति। धवलो निवृत्तः।

१९४. अथैकोनविंशति(त्यक्षर)चरणस्य वृत्तस्य द्विसप्तत्यधिकैकशताधिकत्रिसहस्रतमं भेद शभुनामक वृत्त लक्षयति, अवलोआअमिति। सुच्छद—सुच्छदः एतदिति शेषः (भणि—) भणित्वा (मण) मणमज्झे—मनोमध्ये सुक्ख—सुख सवुत्त—सवृत्त त्वम् अवलोआअं—अवलोकय कुतीपुत्ते सजुत्त—कुतीपुत्रेण सयुक्तम् अग्रस्थितगुरुद्वयात्मकगणयुक्तमिति यावत् हत्था—हस्त गुर्वंतसगणमिति तावत् दिज्जसु—ददस्व अग्गे—अग्रे कर्णाग्रे इति यावत् एव(अ) गण दिज्जसु—एव प्रकारेण गण ददस्व, पुनरपि सगणकर्णौ देहीत्यर्थः, अते—सगणकर्णान्ते सुपिअ—सुप्रिय लघुद्वयात्मक गण ठवि—स्थापयित्वा अते—पादाते सत्ता हारा—सत हारान् गुरून् किज्जसु—कुरुष्व इअ—इति प्रकारेणेति भावः बत्तीसा णिअ मत्ता—द्वात्रिंशन्निजमात्राः ज—यत्र पाअइ—पादेषु पततीति शेषः सभू णामाअ—शभुनाम्ना छदो—छद जानीहीति शेषः।

१९५ शभुमुदाहरति, सिअ विट्ठीति। सिअ विट्ठी—शीतवृष्टिः खिज्जइ—क्षियते जीआ लिज्जइ—जीवो गृह्यते देवेनेति शेषः, बाला वुड्ढा—बाला वृद्धा कपता—कपते पच्छा वाहअ—पश्चिमवाताः वह—वाति, जाअइ—काने लग्गे—लगति, सव्वा दीसा—सर्वा दिशः झपता—प्राच्छन्ना भवतीत्यर्थः। जइ सट्ठा रोहइ—यदि शीतं रुध्यति, तदा चित्ता हासइ—चित्त हसति, पेटे—उदरे

पादाते सुसद्द—सुशब्दः शोभनो लघुर्दैय इति शेषः। यत्र सख—सख्याया वीसए—विंशति' सुवण्ण—सुवर्णाः तीस मत्त—त्रिशन्मात्राः पाअ पत्त—पादे प्राताः तीअ भाग्रएण—तृतीयभगेन त्रिशत्तृतीयभागो दश (त)त्सख्येति यावत् हार (गुरुः) स दश लघुः आउ—आयाति पततीति यावत्, ए—एन गडआ—गडकं गणेह—गणयस्व बुध्यस्वेत्यर्थः, इति फणिंद—फणींद्रः गाउ—गायति ॥ प्रथम गुरुस्तदनतर लघुरेवक्रमेग यत्र विंशत्यक्षराणि चरणे पतति [तद्गडकनामकं वृत्तमिति फलितार्थः।

१९९. गडकमुदाहरति, तावेति। जाव—यावत् हत्थ—हस्ते विज्जु रेह रंग णाइ—विद्युद्रेखारंगवत् अतिचचलमिति भावः एक्क—एक दव्व—द्रव्य णच्च—नृत्यति, ताव बुद्धि—तावद्बुद्धिः तावत् शुद्धिः तावत् मानः तावत् दानं तावत् गर्वः। एत्थ अत—एतदन्ते सोइ—तत् द्रव्य अप्प दोस—आत्मदोषेण देव रोस—दैवरोषेण यदीति शेषः णठ—नष्ट होइ—भवति तदेति शेषः, कोइ बुद्धि—(कुत्र बुद्धिः) कुत्र शुद्धिः कुत्र मानः कुत्र दान कुत्र गर्वः ॥

२००. अथैकविंशत्यक्षरचरणस्य वृत्तस्य त्रि(द्वि)पचाशदक्षरैकशताधिकसप्तनवतिसहस्रोत्तर विंशतिलक्ष भेदा (भ)वति, तत्र पचोत्तरशतत्रयाधिकनवाधिकनवतिसहस्रोत्तरैकलक्षतमं (त्रिनवत्युत्तरनवशताधिकद्विसहस्रोत्तरत्रिलक्षतमं ३०२९९३) भेद स्रग्धरानामकं वृत्तं लक्षयति, वे कण्णेति। यत्र प्रथम वे कण्णा—द्वौ कर्णौ गुरुद्वयात्मकगणावित्यर्थः, ततो गध हारा—गधहारौ लघुगुरू इति यावत्, ततश्च वलअ दिअगणा—वलयद्विजगणौ गुरुलघुचतुष्टयात्मकगणाविति यावत्, ततः हत्थ हारा—हस्तहारौ सगणगुरुकावित्यर्थः यत्र पलता—पततः, ततश्च एक्कल्ला—एकल शल्य लघुः कण्णा—कर्णो गुरुद्वयात्मको गण इत्यर्थः अत—अते कर्णगणाग्रे इत्यर्थः धअपअ सहिआ—ध्वजपटसहितः लघ्वादित्रिकलगणसहित इत्यर्थः कता—कातः ककणा—ककण गुरुरित्यर्थः यत्र पततीति शेषः। ज—यत्र एक्कगला—एकाधिका वीसा—विंशतिःएकविंशतिरिति यावत् लहु गुरु—लघुगुरवः पलइ—पतंति वारहा—द्वादश दीहा—दीर्घाः होहि—भवति, पिंडा—पिंडिताः बत्तीस अग्गा सउ—द्वात्रिंशदधिकशत मात्रा इति शेष यत्र भवतीति पूर्वेणान्वय, सा फणि भणिआ—फणिभणिता मुद्धा—मुग्धा मनोज्ञेति यावत् सद्धरा—स्रग्धरा होइ—भवति ॥ स्रग्धरानामकं तद्वृत्त भवतीत्यर्थः ॥

२०१ स्रग्धरामुदाहरति, ईसेति। ईसा रोस प्पसाद प्पणदिसु—ईर्ष्यारोष(प्र)सादप्रणतिषु ईर्ष्या यो रोषस्तन्निवृत्तये य' प्रसादस्तन्निमित्त याः प्रणतयस्तास्वित्यर्थं. बहुसो सग्ग गगा जलेहिं—बहुश. स्वर्गंगगाजलैः आमूल पूरिदाए—

आमूलं पूरिआ पुलिन कर कला वप्प लिप्पीअ—पुलिनकरकलारोपितमूल्य गी(गिरि)सुअ पाअ पंकेरहा—गिरिसुता(पाद)पंकेरहयोः दोहि—द्वाभ्यां वह मौ(मउ)लि णिविखाअ इत्येहि दोहि—नतमौलिनिविखामरस्थावां द्वाभ्यां जोमो(ण्हा)सोसाइबिरुद्धं—ज्योत्स्नायुक्तं (मुक्तं) फलमुक्तम् अम्हं लिम्हं देवो व(अम्हं दीअं) दरदिव दहो—रदः अमरा—भवति ॥ सम्धरा निवृत्ता ॥

२ २ अथेकविंशत्यक्षरचरणस्य वृत्तस्य विंशत्युत्तरशताधिकचत्वारिंश (एकोनविंशत्युत्तरपंचशताधिकचत्वा(रा)रिंशत्सहस्रोत्तरचतुर्लक्षतम (४५ ५१६) मेदं नरेन्द्रनामकं वृत्तं लक्षयति, आइहीति। अत्र—यत्र आइहि—आदौ पाअ गण—पादगणयो गुर्वादिर्भगण इति यावत् पअलिअ—प्रकटितः अंत—अंते मगणावसाने इति यावत् जोहल—जोहलो मध्यलघुरगण इत्यर्थः धरीजे—श्रियते स्थाप्यत इति यावत्, तदा काहल सह गंध—काहलगन्धगंधाः एकतपग इत्यर्थः इम—पदे मुणि गण—मुनियगणा सप्त गणा इति यावत् देया इति शेषः, तथाच रगणानंतरं सप्त तगणाः स्थाप्या इति भावः ताह—तदा दसलघ्वनंतरमिति यावत् कंकण—कंकणं गुरुरित्यर्थः करीजे—क्रियते। तस्य एकक मेरी (रि)— एका मेरी लघुरित्यर्थः सहइ—शाम्यते स्थाप्यत इत्यर्थः णरवइ—नरपतिर्मन्य गुरुर्मगणः चल—चलति विद्वतीत्यर्थः सुमम्मा—सुमम्मः संख—सम्याक्षप्रयोगाः फुक्कइ—फूत्क्रियते उच्यते इत्यर्थः बह—पन खंव—अंते पादान्ते चामर जुग— चामरयुगं गुरुद्वयमित्यर्थः, पअलिअ—प्रकटितम् एह—एतत् णरिंद छंग— नरेन्द्रच्छंदः ॥

२ ३ नरेन्द्रमुदाहरति, फुल्लिअ इति। केसु—किंशुकं फुल्लिअ—पुष्पितं तह—तथा चंद—चन्द्रः पअलिअ—प्रकटितः ॥

× × ×

२११ अथ साद्(र) नामकं वृत्तं ल(क्षयति), कुम्भेति। यत्र पढम— प्रथ(म) दिअ—दत्त्वा स्थाप्य इति यावत् पअहि—पादेषु कुम्भे(कर)—कर्ण एक पअइ—पतति, विसलं—विरतौ पादांते इति यावत् करअल—करतलं गुर्वंत सगण इति यावत् दिअ—दत्त्वा, तह मह—तन्मध्ये गुरुद्वयमकाल तगण- योर्मध्ये इति यावत् मत्त मन्न मुण (लि) अ—मात्रावर्णयुक्तलिताः खह बतकतल मद्धद्य(कला) किअ—कृताः एवं च पअ—पदे पअलिअ (अ)—प्रकटिताः बत्ती(स)इ कल—द्वात्रिंशन्मात्राः ठवह—स्थापय है मणहरणि—मनोहरणि रमणिपहुसरणि—(र)मणीमयुखरने कमलदलनयने सरस सुणम—सरसगुणं रतेः मधुभिः सहितानि योगमासानि पतन्ती यस्य तस्या सह तथा वर्ण तत्वइ

यथा स्यात्तथा टइअ—स्थ पित तत् धुअ—ध्रुव निश्चित वर—वृत्तश्रेष्ठ सालूर—सालूरनामक वृत्त भण—कथय इति गद दिणअर—कविदिनकरः सुअअ पए—भुजगपतिः भणि—भणति ॥ षर्गानन्त(रप)द्युत्तु.कलोत्तमगणर्रचितचरणः सालूर इति फलितार्थः ॥

२१३. शालूरमुदाहरति जमिति। ज—यत् यस्मात् फुल्लु—(पुष्पित) कमलवन वहइ लहु पवण—वाति मन्दपवन' सव दिसि विदिस—सर्वत्र दिक्षु विदिक्षु भमरकुल—भ्रमरकुलस्य झंकारः पतति वण रवइ कोइलगण—वने रौति कोकिलगण. विरहि हिअ अ—विरहिहृदय दरविरस—भयविगतरस हुअ—जात। उलसि उठिअ मण—उल्लासोत्थितमना. सरस णलिणिदल किअ सअणा—सरसनलिनीदलकृतशयन. आणंदिअ—आनन्दितः, पल्लट्ट—प्रत्यावृत्त. निवृत्त इति यावत् सिसिर रिउ—शिशिरऋतु., दिअस दिहर भउ—दिवसा दीर्घाः जाताः, अतो हेता' कुसुम समअ अवतरि (अ) वणा—कुसुमसमय. वसतकाल इति यावत् अवतीर्णो वने ॥ शालूरो निवृत्त. ॥

२१५. त्रिभगीमुदाहरति । वलइअ विसहर—वल(यि)तवि(ष)धरः तिलइअ सुंदर चंद—तिलकितसुन्दरचन्द्रः मुणि आणंद—मुन्यानंद' मुन्यानद-स्वरूप. लज्जकेनेत्यर्थ जण कद—जनकंद त्रैलोक्यमूलमिति यावत् वरदगमणक (र)—वृषभगमनकर. तिसुल डमरु धर—त्रिशूलडमरुधर. णअणहि डाह अणग-नयनाभ्या दग्धानग. सिरगंग—शिरोगग. गोरिअ वग—गौर्यर्द्धागः हर—हरः जअइ जअइ—जगति जयति । भुजयुगधृतगिरि. दहमुह कस विणासा—दशमुख-कंसविनाश. पिअ वासा—पीतवासाः सुदर हासा—सुभगहास्यः, बलि छलि—बलिं छलयित्वा (महि हरु—) महीहरः—पृथ्व्युद्धारक इति यावत् , असुरविलयकरः मुणिजण माणसहसा—मुनिजनमानसहस , अवहट्टभाषाया व्यत्यासे दोषाभावात् सुह भासा—सुभाष. मधुरवचन इति यावत् उत्तमवश. हरिः श्रीकृष्णः जअइ—जगति जअइ—जयति ॥ त्रिभगी निवृत्ता ॥

> क्षोणीपालकमौलिरत्नकिरणस्फूर्जत्प्रभाराजिताम्,
> अम्भोजद्वितय. परास्तगणनान्तेवासिससेवितः ।
> सद्विद्याकवितालताश्रयतरुस्तेजस्विनामग्रणी-
> र्जात. श्रीजगदीश इत्यभिहितो नाम्ना तदीयः सुत. ॥११॥
> स्फूर्ज्जद्ब्राह्मण्यतेज'करनिकरसमुद्भूतदिग्जालपूज्यः
> श्रीकृष्ण (?) जपनियमविधिध्वसिताशेषपापः ।
> आयुर्वेदार्थदीक्षागुरुरतिसुमति' शब्दविद्यानुरक्तो,
> जातः पुत्रस्तदीयो विमलतरयशाः कृष्णदेवाभिधानः ॥१२॥

साहित्याम्भोधिपारंगतविमलमतिर्ग्रन्थनवीनाभिपुण्य ,
ध्यानासक्तान्तरात्मा यमनियमयुतश्च श्रियागुरुश्च ।
जातो वंशीधरपदस्त्रिभुवनविशदश्रीर्तिचन्द्रस्य यस्य,
सोऽयमोऽप्रतपानलकिरणसमुत्थापितारेस्तमूलः ॥१३॥
वर्षे नन्दनवतुचन्द्र (१९६९) मिलिते आषाढमासे सिते,
पक्षे चन्द्रदिने तिथौ प्रतिपदि श्रीचन्द्रमौलेः पुरे ।
काव्यास्वम्बगभीरस्य येन रचिता सेयं प्रकाशाभिधा,
भाषा पिंगलटिप्पनी रघुवरेभ्यर्चनात् समाप्तिं गता ॥१४॥
यावद्रामेति नाम प्रभवति जगतां तारको श्रीहनूम
च्चित्ते भक्तिश्च यावद्रघुपतिचरणाम्भोजयुग्मे ह्यदाति ।
यावत् कूर्मस्य पृष्ठे निवसति पृथिवी ससागरोऽद्रिपुञ्ज,
तावद्वंशीधरस्य × × × कृतिरियं टिप्पनी पिंगलस्य ॥१५॥

(इति वंशीधरकृतपिंगलटिप्पनी समाप्ता ॥)

पद्यानुक्रमणिका

अइचल जोव्वणदेहधणा २.१०३
अक्खर उप्परि दुण्णा १.४२
अक्खर सवे कोट्ठ करु १ ४४
अक्खरा जे छआ पाअगाअ
ट्ठिआ २ ४५
अजअ वेआसी अक्खरउ १ १२१
अजअ विजउ बलिकण्ण १ १२२
अबुह बुहाणं मज्झे १.११
अमिअकर किरण धरु फुल्लु २ १६१
अरेरे वाहहि कान्ह १ ९
अवलोआण भणि सुच्छद मण २.१६४
अहि ललइ महि चलइ गिरि १ १६०
अहिगण चारि पसिद्धा २ १२५
आइ अत दुहु छक्कलउ १.१०६
आइकव्व उक्कच्छु किउ १.८८
आइहि सगणा बेवि गण २ २०६ क
आइहि जत्थ पाअगणा
पअलिअ २.२०२
आइ रगण हत्थ काहल ताल २ १८४
आइग इट्ठ जत्थ हो पढमहि १ १५२
आइहि अते हारे सजुत्ते २.३५
इद उविंदा एक्क करिज्जसु २ ११८
इंदासण अरु सूरो १ १६
इहिकारा बिंदुजुआ १ ५
ईसागेसप्पसादप्पणदिसु बहुसो २ २०१
उआसीण जइ मित्त कज्ज १ ३८
उचउ छाअण विमल घरा १-१७४
उट्टडा चडी दूरित्ताखंडी २-३४
उद्दिट्ठा सरि अका थप्पहु १.४८
उद्दिट्ठा सरि अका दिज्जसु १ ४५
उम्मत्ता जोहा ढुक्कता २.६७
उम्मत्ता जोहा उट्ठे २.१७५
ए अत्थीरा देक्खु सरीरा २.१४२
एक्के जे कुलमती १.६३
एहु छद सुलक्खण आणइ १ २०८
ओग्गरभत्ता रभअपत्ता २.९३
कअ सहारणा पक्खिसचारणा २ ४६
कआ भउ दुब्बरि तेज्जि २ १३४
कण्ण चलते कुम्म चलइ १.९६
कण्ण पत्थ ढुक्कु लुक्कु सूर २.१७३
कण्णा दिण्णा अते एक्का २.१५६
कण्णा दुण्णा चामर सल्ला २.१४१
कण्णेक्क पढम दिअ सरस २.२१२
कण्णा दुण्णा हार एक्को २.१०६
कण्णो पइज्ज पढमे जगणो २.१५०
कण्णो पढमो हत्थो जुअलो २.९६
कत्थवि सजुत्तपरो १ ४
कमलणअणि अमिअवअणि २.५७
कमल पभण २.२५
कमलभमरजीवो २ ७३
कमलवअण तिणअण २.१३८
कर पच पसिद्ध विलद्धवर २ १५४
करपाणिकमलहत्थ १.२४
करही णदा मोहिणी चारुसेणि
तह भद्द १.१३६
करा पसरत बहू गुणवत २ ५५

जत्ते सञ्वहि होइ लहु १.१२४
ज थ जथ पाविज्जइ भाग १ ४१
जथ पढम छुग्र मत्त १.१८६
जस्सा पढमहिं तीए १.८४
जसु आइ हत्थ विग्राण तह २.८६
जसु आइ हत्थ विग्राणिओ २.९०
जसु कर फणिवइ वलग्र १.१११
जसु चद सीस पिंधगइ दीस १.१७६
जसु पलइ सेसन्न १.१७५
जसु मित घणेसा ससुर गिरीसा १ २०६
जसु सीसहि गंगा गोरि ग्रधगा १.९८
जसु हत्थ करवाल १ १८२
जइ जइ वलग्रा वड्ढिहइ १.११२
जइ फुल्ल केअइ चारु चपग्र २ १९७
जग्र भूत वेताल णच्चत २.१८३
जहा सरग्र ससि बिंब जहा १.१०८
जहि आइ हत्थ णरेंद बिण्ण वि २ १६२
जहि आइ हत्थ णरेंद बिण्ण वि २ १९६
जहि आइहि हत्था करअल तत्था २.२०६
जहि फुल्ल केसु असोअ चपअ २ १६३
जा अद्धंगे पव्वई १ ८२
जाआ जा अद्धग सीस १ ११९
जाआ माआ पुत्तो धुत्तो २ २८
जा चारि तक्कार सभेअ १.१३१
जा पढम तीअ पचम १ ६५
जा भत्तिमत्ता धम्मेक्कचित्ता २.३६
जासु कठा वीसा दीसा २.१२३
जिण वेअ धरिज्जे महिअल
लिज्जे २.२०७
जिणि आसावरि देसा दिण्हउ १ १२८
जिणि कस विणासिअ कित्ति १ २०७
जिनउ जइ एह तजउ गइ देह २ ६३
जुज्झती उद्दामे कालिक्का २.४२
जुज्झ भड भूमि पल उट्ठि २ १६१
जुज्झे तुज्झे २.४
जेइ किज्जिग्र धाला जिण्णु १.१६८
जे गज्जिग्र गोडाहिवइ राउ १.१२६
जेण जिण्णु खत्ति वस २.७१
जेण विणा न जिविज्जइ १.५५
जे तीअ तिक्खचलचक्खु २.१५१
जेम ण सहइ कणग्रतुला १.१०
जे लकागिरिमेहलाहि खलिआ २.१८७
जो जण जणमउ सो २.१४६
जो लोग्राण वट्टे मिंतुट्टे २.१७४
जो वदिग्र सिर गग हणिअ
अणंग१ १०४
जो विविहमत्तसाअर १.१
झणज्झणिअणेउर रणरणंत २.१७७
झत्ति जोइ सज्ज होइ २.१५९
झत्ति पत्तिपाअ २.१११
टढडढाणह मज्झे १.१२
टगणो तेरहभेग्रो १.१३
ठइ आइ लहू जुग्र पाअ २.१४३
ठइवि दिअवरजुअल मज्झ २.१९०
ठउ चउरंसा फणिवइ भासा २.४७
ठावहु आइहि सक्कगणा तह २ २१०
ठामा ठामा हत्थी जूहा २ ११३
ढोल्ला मारिग्र ढिल्लि महँ १ १४७
णदउ भद्दउ सेस सरग १.७५
णच्चइ चचल विज्जुलिआ १.१८८
णरेंद ठवेहु २.२१
णरेंद एक्का तग्रणा सुवज्जा २.११६
णगण णगण कइ चउगण १३७
णगण चामर गधजुग्रा २.१३९

पढम दह दिजिआ पुण १.१५६
पढमहि चक्कलु होइ गण १.१५०
पअ पअ ठवहु जाणि १.१४६
पढमहि दोहा चारि पअ १.१४८
पढम तीअ पचम पअह मत्ता सोलह जासु १.१४३
पढम तीअ पचम पअह मत्त पणरह जत्थ १ १४२
पढम तीअ पचम पअह मत्ता दह पचाइ १.१४१
पढम तीअ पचम पअह मत्त पण्णरह जासु १.१४०
पढम तीअ पचम पअह णव दह मत्ता जासु १ १३६
पढम तीअ पचम पअह तेरह मत्ता जासु १ १३७
पढम तीअ पचम पअह मत्त होइ दह चारि १.१३८
पढम विरमइ मत्त दह पच, १ १३३
पढम चरण ससिवअणि १.१६४
पढम होइ णव विप्प गण १.१६५
पअ पअ आइहि गुरुआ १.१८७
पढम दह रहण अट्ठ वि रहण १ १६४
पअ पढम पलइ जहिं सुणहि १ २०२
पओहरो गुरुत्तरो २.३१
पवण वह सग्गि दह २.४०
पढम गण विप्पओ २.७४
परिणअससहरवअण २.१०६
पओहर चारि पसिद्दह २ १३३
पढम रससहित्त मालिणी णाम २ १६४
पढम ठिअ विप्पआ तहअ भूवई २ १७८
पओहर मुह ट्ठिआ तहअ २ १७६
पत्थारे जह तिण्णि चामरवर २.१८८
पहु दिजिअ वज्जअ सिज्जअ टोप्परु २.२०६
परिहर माणिणि माण १.६७
पढम होइ चउवीस मत्त १ ६१
पढम गुरु हेठठाणे १.१४
पढम वी हसपअ वीए १.६२
पढम बारह मत्ता वीए १ ५५
पढम दह वीसामो १ १००
पढम एरिसि विप्पो १.१७
पचतालीसह वत्थुआ १ ११५
पअह असुद्धउ पगु हीण १.११६
पअभरु दरमरु धरणि १ ६२
पअपाअचरणजुअल १.२६
पअ पअ तलउ णिबद्ध मत्त १ १०७
पाअ णेउर झझणक्कह २ १८५
पक्खिविराडमइदह १.२६
पिअ भणमि मणोहरु १.२०५
पिंग जटावलि ठाविअ गगा २.१०५
पिंगल कइ दिट्ठउ छद उकिट्ठउ १.६६
पिंगल दिट्ठो भ दइ सिट्ठो २ ३७
पिधउ दिढ सण्णाह वाह उप्पर १.१०६
पिअ तिल्ल धुअ सगणेण जुअ २.४३
पियभत्ति पिआ गुणवत सुआ २.४४
पुत्त पवित्त वहुत्तधणा २.६१
पुहवीजलसिहिकालो १.३४
पुव्वद्धे उत्तद्धे सत्तगल १ ५२
पुव्वद्धे उत्तद्धे मत्ता १.६८
पुव्वद्ध तीस मत्ता १ ७०
पुव्व जुअल सरि अका १.३९
पुच्छल छद कला कई १.४६
फुल्ला णीवा भम भमरा २ ८१

वण्णइ उक्कि सिरे जिणि लिज्जिअ २.२११
वरिसइ कणअह विट्ठि १.७२
वरिस जल भमइ घण १.१६६
विज्जूमाला आई पाए तिअ २.२०४
विज्जूमाला मत्ता सोला २.६६
विप्प सगण पअ बे वि १.१८४
विप्प होइ बत्तीस रत्ति १ ११७
विमुख चलिअ रण अचलु १.८७
विसम तिकल सठवहु तिण्णि
पाइक्क करहु लइ १.१३४
सकरो सकरो २.१४
सभणिअ चरण गण पलिअ २.१५२
समु एउ २.१०
समोहारूअं दिट्ठो सो भूअ २.३३
सई उमा २.८
सगणा धुअ चारि पलति २.१२६
सगणा भगणा दिअगणाई १.१७२
सगणो रमणो २.१७
स जअइ जणद्दणा २.७५
सज्जिअ जोह विवड्ढिअ कोह २.१७१
सत्तगणा दीहंता १ ५६
सत्ताईसा हारा सल्ला १.५८
सत्ता दीहा जाणेही कण्णा २ ६४
सरसगणरमणिआ दिअवर २ ८२
सरअसुधाअरवअणा २.६६
सरस्सई पसण्ण हो २ ३२
सव पअहि पढम भण दहअ २ २१४
सव्वाए गाहाए सत्तावण्णाइ १ ५७
सरसइ लइअ पसाउ १ १५३
ससिणा रअणी २.१८
ससिवअणि गअगमणि १.१६१
ससी यो जणीयो २.१५
सहस मअमत्त गअ १.१५७
सारु एह १.९
सिअविट्ठी किज्जइ जीआ
लिज्जइ २.१९५
सिर अके तसु सिर पर अके १.४७
सिर किज्जिअ गग गोरि अधग १.१९५
सिर देह चउ मत्त, १.१६१
सी (श्री) सो २ १
सुरम्म चित्ता गुणमंत पुत्ता २.११७
सुपिअगण सरस गुण २.३६
सुंदरि गुज्जरि णारि १.१७८
सुणरिंद अहि अ कुणरु १.२८
सुरअरु सुरही परसमणि १.७६
सुअलअ गुरुजुअल १ २३
सुरवइ पटव्व ताला १ १९
सेर एक जइ पावउँ घित्ता १.१३०
सोऊण जस्स णाम १ ६६
सो घत्तह कुलसारु कित्ति
अपारु १ १०२
सो देउ सुक्खाइँ २.२०
सोलह मत्तह बे वि पमाणहु, १.१३१
सोलह मत्ता पाउ अलिल्लह १.१२७
सो मह कता दूर दिगता २ ३८
सो माणिअ पुणवत १ १७१
सो सोरठउ जाण १ १७०
सो हर तोहर २ २४
हणु उज्जर गुज्जर राअअल १.१८५
हर ससि सूरो सक्को १ १५
हर हर २ ६
हरिणसरिस्सा णअणा २ ७६

हार गंधबंधुरेण दिढ २ ७
हार गंधा तहा कण्णा २ १२७
हार ठवीजे काहल जुग्मे २ ९१
हार सुपिअ मत्त विप्पगण १ १०
हार णव ठविआ सव हविअ २ १९
हे पिए लेक्खिए १ ११

अभिधान

(शब्दकोष)

अभिधान

अ

अंक (अङ्का) १ ३६, १.४५, १.४६, १ ४९ (अनेकशः) 'अंक'

अंग १ १२३ अंग, शरीर

अंगुली २ २१० अँगुली

अंत १ १७, १ ८५, १ ६९, अंतए १ १६४, अंतिणा २ ७४. अंतहि २.१०० (अनेकशः) आखीर या आखीर में

अंतर १ ६७, १ १९७ मध्य में

अंध १.११५ अन्धा

अंधअ (अंधक) १.१०१ दैत्य का नाम

अंधार (अंधकार) १ १४७ अँधेरा.

अंधकार २ १७३ अँधेरा

*अंधो (अन्धः) १.११४ वस्तु छंद का भेद

अंबर १ १८८, २ १३६ आकाश

अंसू (अश्रु) १ ६६ हि० राज० 'आँसू'

अ (च) १ २, १ ३, १ ७, (अनेकश.) और

अइचल (अतिचलानि) २ १०३ अत्यंत चंचल

अकंटअ (अकंटक) २ २११ निष्कंटक, निर्विघ्न

अक्खर (अक्षर) ब्रज, अव०, रा० 'आखर' १ १२, १ ४२, १ १७३ १.१८६, (अनेकश)

अगम १.१८६ अगम्य.

अगुरु २.१७७ सुगंधित द्रव्य

अग्ग (अग्र) १.१३३, २ ११३, २.१३२, २.१६४ अगला.

अग्गल (अग्र ल) १.५१, १.११०, २.१३३ अगला, अधिक

अग्गरा २.१६६ अगले

अग्गी (अग्नि) १.५५, २ १६५, आग, आगि

अग्घ (अर्घ्य) २.२०१

अचलु (अचलः) १.८७ पहाड़ी राजा

अच्छ २.१३४ स्वच्छ

*अजअ (अजय) १ १२१ छप्पय का भेद

√अज्ज (√अर्ज्) अर्जित करना अज्जिअ २ १०१

अज्ज (अद्य) २ ८७ अज्जु २.१३० आज

अठ (अष्ट) (अठग्गल १.१७६ आठ अधिक) 'आठ'

अठतालिस (अष्टचत्वारिंशत्) १.११७ अठतालीस (रा० अडतालीस)

अट्ठ (अष्ट अष्टौ) १ १३, १ ३४, २ २१० तथा अनेकशः, हि० रा० गु० 'आठ'

अट्ठारह (अष्टादश) १ ५४, १ ६४, २ ८८. अठारह.

*अडिल्ला १.११७ अडिल्ला छंद

अणंग (अनंग) १ १०४, २ १६५, २.२१५, कामदेव

अवसउ २ १०३ अवश्य
अवसिट्ठ (अव–√ शिष्) 'बचा हुआ'
अवसिट्ठउ (अव–शिष्ट) १ ३५,
अवसिट्टे १ ४६
असइ (असती) १ ८३ कुलटा
असरणा (अशरण) १ ६६ निराश्रित
असि (अशीति) १ ६७ 'अस्सी'
असी (अशीति) २ १४५ अस्सी
अस (अश्व) १.२५ घोड़ा
असुर १ १०१, २.७१, २.२१५ दैत्य
असुद्ध (अशुद्धः) १.११६ अशुद्ध, दुष्ट
असेस (अशेष) १.५, १.३२ 'अशेष,'
असोअ (अशोक) २.१६३ 'वृक्षनाम'
अस्मत् 'मैं, हम'
मइ १ १०६ हउ २ १२६
अम्मह २ १३६, हम २ १९३,
मे २ ४६, मम २ ७, हमारी
२ १२० हम्मारो २ ४२ अम्हाण
२ १२
अह (अथ) १.२२, १.५७ (अनेकशः) इसके बाद
अहणिस (अहर्निश) २.१२० रात दिन
*अहि (अहि) १ १५ 'षट्कल गण का नाम'
* अहिगण १ १६ पचकल गण के एक भेद का नाम (ऽ।।।)
अहिअ (अहित) १ २८ आदिलघु पचकल (।ऽऽ)
अहिवर–लुलिअ (अहिवरलुलित) १ ६२ 'साँप की लीला या गति'
*अहिवर (अहिवरः) १.८० 'दोहा छंद का भेद'
अही (अहिः) २.१०२ 'साँप, पिंगल की उपाधि
*अहीर (आभीर) १ १७७ आभीर, छंद का नाम
*अहो (अद', अहन्) १ ११४ 'काव्य छंद का भेद
अहो २ १२६ आश्चर्यव्यंजक अव्यय

आ

√ आ आना
आइ १.४१. आ २.८६, आव
२.८७, आवे २ ३८, २.८१,
आउ २.१६८, २.२०३. आविअ
२ ६१, २ १६३,
आआ (आद्या) १.५८ प्रथम, आद्य (स्त्री०)
आअत्ति (आयति) १.३७
आइ (आदि) १.१७, १ ८८ (आइहि
१.४६, १.१०७, १८७, २ ३५).
(आइग १.१५२) आदि
आ + √ वज्ज (आ+√ वृज्) इकट्ठा करना, आवज्जिअ १.१२८
आ + √ अछ (आ + √ ऋच्छ्) होना, आछे २ १४४.
*आणंद (आनंद) १ १६ अंतलघु त्रिकल का नाम (ऽ।)
आणद (आनद) २ १४७
आणदिअ (आनदित) २ २१३
आ+√णी (आ+√नी) 'लाना'
आणेइ १ ७४. आणहु १.४८,

√उग (उत्+√गम्) उगना उग्गो २ २०५ उगो २ ५५

*उग्गाह (उद्गाथा) उग्गाहउ १.५७ उग्गाहो (उद्गाथा) १.६८,मात्रिक-छन्द

उच्च उच्चा २ ६७ उच्चउ १ १७४ ऊँचा, बड़ा

उचिअ (उचित) २.१२६ योग्य

उच्छल (उत्+√छल्) उच्छलइ १.१९३. उछलना

उच्छव (उत्सव) १ ११९ उत्सव

उज्ज १.१८५ उज्ज्वल

उज्जल १ १८५ उज्ज्वल

उट्टवण १ ११६ छंदों की उद्वर्तनी

उट्ठ (उत्+√स्था) 'उठना', उट्ठए १ १६०, उट्ठतउ १.१५५, उठिअ २ २१३, उट्ठीआ २ १५७, उट्टीअ २.१८८ उट्ठि २.१६१

√उड्ड 'उड़ना', उड्डु उ (वर्त० उत्तम० ए०) १ १०६ उड्डाविअ (णिजत रूप) १ ११८.

उण (पुन) १ ७ तु० पुण, पुणु, पुणि (प्रा० अप०) राज० गु०, म० 'पण'

उणो (पुन) २ १५, १ १२७ (अनेकश.) फिर

उत्त (उक्त) (√वच्+भूत० कर्म० कृदत) 'कहा गया', उत्ते १६१ उत्ता २ १५०

उत्तद्द (उत्तरार्ध) १ ५२,

उत्तम १ १५६, २ २१५ उत्तम, अच्छा

उत्तरद्द १ ७२ उत्तरार्ध

*उत्तेओ (उत्तेजाः) १.११३ काव्य छंद का भेद

उद्द १.१२६ उद्दडा (स्त्री०) २ ३४ प्रबल

*उद्दंभो (उद्भमः) १.११४ 'काव्य छन्द का भेद'

उद्दाम २.४२

उद्दिट्ठ (उद्दिष्ट) १ ३६, १ ४१, १.४४, १४७

उपमा २.१५३

उप्पर (उपरि) १ १०६ 'ऊपर'

उप्परि १.४२ 'ऊपर'

उपाअ (उपाय) २.१२० साधन

उ+पेक्ख (उत्+ प्र+√ईक्ष्) 'उपेक्षा करना', उप्पेक्ख २ ५७.

उमा २ ८ पार्वती

उमत्त (उन्मत्त) २.६७ मस्त

उरअ २ १६० साँप, मुनि पिंगल की उपाधि

उ+लस् (उत्+√लस्) 'प्रसन्न होना', उलसु (उल्लसित) २.२१३

*उल्लाल १.१०५ १ १३६ उल्लाला छन्द

*उवजाइ २.११८ १ ११ उपजातिछंद

उवरि (उपरि) १.८७ 'ऊपर'

उवरल (उवरि+ल, उद्वृ+ल) १ ३६ ऊपर के, उद्वृत्त

*उविंदवज्जा १.११६ उपेंद्रवज्रा छंद

उविंदा २.११८ उपेंद्रवज्राछंद

उव्वरिअ (उद्वृत्त) उव्वरिआ १.१४

उ+व्वास (उद्+√वस+णिजन्त)

कठ १ ६८ २ १२३, २.१२४, २ १२६, गला

कत (कातः) १ ६ 'हि० रा० गु० कन, कत (उदेश० ७६). कता १ ६८ 'पति'

*कति (काति) १ ६० गाथा का भेद

कद १.९८, २ १४७, मूल

कंदु (कंद छुद) २ १४५

√कप (√कम्प्) कप २ १५६, २ २०३, कपइ १ १४७, कपए २ ५६ कपा १.४५. कपत २. १६५ कपता २ ८९, कंपिओ १. १५५, कपिआ २.१११ कपजे १ ११६,

*कवि (कविनी, कपी) १ ८६ रसिका छुद का भेद

कंस २ ७१ २ १४७ (अनेकशः) 'राजा का नाम'

कआ (काय) २.६४, २.१३४, शरीर

कइ (कवि.) १.२० कइ (—अरो) १ २० (कविवर.) कइ (—दिट्ठ) १ १२२ कइवर २.१०२. कइअण २.१५३, कईसा (कवीश) २ १४५ (अनेकशः)

कइत्त (कवित्त) १ १५२ १ १८४, २ ३२ कविता, पद्य

कई (कति) १ ८६ 'कितना कितनी'

कए (कृते) परसर्ग १ ७ 'लिये'

*कच्छ (कच्छपः) १ ८० 'दोहा छुंद का भेद'

कज्ज (कार्य) १ ३६, १ ३७, हि० रा० 'काज'

कज्जबंध (कार्य-बंध) १.३७

कट दिंग दुकट १.२०१ ध्वन्यनुकरण

√कट्ट (√कर्त्) काटना

कट्टिअ १.१३४

√कड्ढ (√कृष्) काढना, निकालना

कड्ढिएउ २ ७१ कड्ढि १.२०५

कट्ठ (कष्ट) १ ९२, १.१४५ कष्ट, दुःख

कठिण (कठिन) १.७६. कठोर

कडक्ख (कटाक्ष) १ ४, २.१२६, 'कटाक्ष'

कणअ (कनक) १ १०, १ ७२, १ १६६, २.१५३ हि० 'कनक', 'सोना'

*कणअ (कनक) १ २१. प्रथम द्विकल गण (ऽ) का नाम

*कणउ (कनक) १.१३३ छप्पय छुद का भेद

*कण्ण (कर्ण) १ १७. द्विगुरु चतुष्कल गण का नाम (ऽऽ) २ ८८ (अनेकशः)

कण्ण (कर्ण) १ ६६ राजा का नाम

कण्णला २.१२८ कर्णाट देश के लोग

कण्हो (कृष्णः) २.४६

कत्थ (कुत्र) १.४. 'कहीं-कहाँ'

कत्थवि (कुत्रापि) १ ७६ 'कहीं भी'

√कप्प (√कल्प्) 'कल्पित करना, काटना' कप्पे २ २०७, कप्पे २.२०७, कप्पिआ २.१६१, कप्पि १ ७१

कबंध २ १८३, २.२११ धड़, कबंध नामक दैत्य

कह १.१५१, २ १६६ कहइ (वर्तं० प्र० ए०) १.२०, १ ४१, कहेहि १ १७३, कहा (आज्ञा) १ १११, कहु २ १३७, कहू २ ६४, कहेहु १.१६७, कहीजे २.६१, कहिज्जइ १.१४६, कहिअ २ ८१, कहिओ (भूत० कर्म० कृदत) १ १६, २ १७, कहिअउ १ ११६, कहिआ २ ८१, कही २ ७, २ ४२, २ १२९,

कहुँ १ १८६ कहाँ

का २.१२० सम्बन्धबोधक परसर्ग

काअर (कातर) १ १५७, दीन, १ १६३ कायर

काआ १.१८१

काइँ (कि = कानि) १ ६, १ १३२, काइँ (सदेश १२४), रा० 'काइँ' गु० 'काँ काँइ'

*काती १ ६० गाथा छद का भेद

काणण (कानन) १ १३५ 'वन, उपवन'

काणा (काण) १ ११६ काना (रा० काणूँ)

कान्ह (कृष्ण) १ ६, हि० कान्ह, रा० कान्हू (उ० कानूँ)

√काम (स० कामय्) काम्ती (वर्तं० कर्तृ० कृ० स्त्री०) (कामयती) १.३

*काम २ ३ छन्द का नाम

काम (काम) १ ६७, २ १२२ 'कामदेव'

कामराअ (कामराज) २ १२६

कामरूअ (कामरूप) २.१११

*कामावआर (कामावतार नामक छन्द) २.५०

√काम (√काम्) 'इच्छा करना' कामंत १ ३

कामिणी (कामिनी) २ १५८ स्त्री

कालजर १ १२८ कालिंजर, देश का नाम.

कालपुरी २.१०३

काला २ २७ कला, मात्रा

कालिअ १ २०७ 'कालिय नाग'

कालिक्का २.४२ कालिका

*काली १ ९९ रसिका छद का भेद

कालो (कालः) १ ३४.

कास (काश) १ ७७, २ ६४, २ २०४ 'काशपुष्प'

कासीस (काशीश) १ ७७, २ १३१

कासीसर (काशीश्वर) १ १४५

काहल १ ३१, १ ३२, २ ६२, २ २०६ लघु (।)

काहे २ १४२ क्यों, किस लिये

किं (किं) १ ६ की २ १३२ के २ ११७ केण २ १०१, कस्स २. १०७

किंपि (किमपि) १ १०५ २ ११५ कुछ भी

किंछु (कश्चित्) १ ३८ हि० 'कुछ'

√किणीस तीक्ष्ण करना किणीसइ १ १८८

कित्ति (कीर्ति) १ २०१, १ २०७ २ ११६, १ १३५, २ १७३ (अनेकश) यश

किम १ १३५ कैसे

किर (किल) १ ६७ 'निश्चयार्थक

कोइल (कोकिला) २ ८७ २ १४०, २.१६५, कोयल
*कोइल (कोकिल) १ ९३ 'रोला छंद का भेद'
कोट्ठ (कोष्ठ) १ ४४, १ ४५, १ ४६, हिं० कोठा, रा० कोठो
कोडी (कोटि-का) १.५० (करोड)
कोमल २ १४०
कोल (कौल) २ १०७ वराहावतार, सूअर
कोह (क्रोध) १ ९२, १ १०६ गुस्सा

ख

खजण (खञ्जन) १ १३२, २.१५३ 'पक्षी विशेष'
*खजा १ १५८, १ १५९, छन्द का नाम
खड १ १०८ २ १०७, टुकड़ा
√खड 'टुकडेकरना' खडिआ २ ७९
खडी (खडिनी) २ ३४ खडन करनेवाली
खडिनी (खडिनी) २ ६९ खडन करने वाली
* खध (स्कधक) १ ५१ खधआ (स्त्रीलिंग) १.७३ खधाण १ ७५ छन्द का नाम
खग्ग (खड्ग) १ ११, १ ७१, १ १०६, १ १८८, २ १६१ खाँडा, खड्ग
खडा (पट्) २ ५१ छद
खणा (क्षण) १ २०४, २,१४४, २ १५९
खत्ति (क्षत्रिय) १ ११७, २ ७१ क्षत्रिय
खत्तीअ २ २०७ खत्तिउ १.२०५ क्षत्रिय
खत्ति (क्षत्रिया) २ ६६
खत्तिणी (क्षत्रिया) १ ६४, १ ८३,
*खमा (क्षमा) १ ६० गाथा का भेद
खर १ ३६, १ ६७ २ १९३ कठोर, तीक्ष्ण
*खर १ १२२ छप्पय छद का भेद
√खल (√स्खल्) खिसकना, स्खलित होना, खलइ १ १६०
खलिअ २ ८३ खलिआ २ १८७
खल १ १६६ दुष्ट
√खस 'खिसकना', गिरना'
खस १ ३८ खसइ १ १६०
√खा (√खाद्) खाना
खा २ ९३, खाए २ १८३ खाहि २ १२० खज्जए२ १०७.
*खीर (क्षीर) १ ७५ स्कधक छद का भेद'
√खुड (स०√क्षुद्) 'खण्डित होना, चोट पहुँचना।'
खुडिअ (भूत० कर्म कृ०) १ ११,
√खुद 'खुँदना' खुदि २ १११
√खुद (खुद्) 'खोदना।'
खुदि, १ २०४
खुर १ २०४ 'घोड़े के खुर'
खुरसाण १ १५१ 'देश का नाम'
खुरासाण १ १५१ खुरासान, देश का नाम
खुल्लणा (देशी, क्षुद्र) १ ७ रा० 'खोळ्लो', 'दुष्ट'
√खुह (√क्षुभ्) क्षुब्ध होना।
खुहिअ १ १५१
√खेल, खेलना, खेल्लत १ १५७

गाअ (गात) २ ८६ शरीर
गाइ (गौ) २.९१ गाय
गाछ २.१४४ पेड़
गाहह (एकादश) १ १७७, २ ११०, २ २२०, ग्यारह
√गा 'गाना' गाव (वर्त० प्र० ए०) १ ४८ २ ८७, गाउ २ १९८, गाइ २ १६२
*गाहा (गाथा) १ ५७,१ ५८, १ ६५, १ १६४ (अनेकशः), छंद का नाम
*गाहिणी (गाहिनी) १ ५१, १ ६१, १ ७०, गाथा का भेद
*गाहू १ ५१ १ ५२ मात्रिक छंद का नाम
गिंदू १ १५७ 'गेंद'
गिरि १ ७४, १.१५५, १ १९३, २ २०१, २.२१४ 'पहाड़'
गिरीस (गिरीश) १ २०६, २ ६६ हिमालय, शिव
गिव (ग्रीवा) १ ९८ गला
*गीअउ (गीता) २ १६६ छंद का नाम
गुज्जर (गुर्जर) १ १५१ गुर्जर देश का राजा, गुजरात के निवासी, गुर्जर जाति
गुडिआ (गुटिका) १ ६७, गोली, गुलेल
गुण १ ६५ (अनेकशः), गुण, अच्छाई
गुणमत २ १४९ (अनेकश), गुणवान्
गुणवत २ ४४, गुणवान्
गुणवति १.१७१, गुणवती
√गुण (√गण्) 'गिनना' गुणह (गणयत) (आज्ञा म० पु० ब० व०) १ १०७ २ ८४ गुणि (पूर्व० क्रि०) २ २१४
गुरु (गुरुः) १ २, १ १४, १ ७६, १ ८०, १ ८१, १ ९१, २.२१५, तथा अनेकश. 'गुरु' (ऽ)
*गुरुजुअल (गुरुयुगल) द्विगुरु चतुष्कल (ऽऽ) का नाम
गुरुअ (गुरुक) १ २१
गुरुता १ ४१
गुव्विणि (गुर्विणी) १ ६५, गर्भवती स्त्री
√गेण्ह (√ग्रह्) गेण्हइ (गृह्णाति) (वर्त० प्र० ए०) १ ६७ गेण्हु (भूत० कर्म० कृ०) २.१४७.
गेह २ ६९ घर
गोआल (गोपाल) १ २५ मध्यगुरु चतुष्कल (।ऽ।)
गोड २.१३२ 'गौड देश का राजा'
गोडराअ (गौडराज) २ १११ गौड देश का राजा
गोडाहिवइ १ १२६ गौडाधिपति
गो (गः) २ १ गुरु वर्ण (ऽ)
गोत्त (गोत्र) १ ३७ गोत्त-चवव (गोत्र-बाधव) १ ३७
गोरि (गौरी) २ २१५ पार्वती
गोरी (गौरी) १ ३ हि० रा० गु० 'गोरी' (पार्वती)
*गोरी (गौरी) १ ६० गाथा का भेद

घ

घग्घर १ २०४ 'शब्दानुकृति, घर्घर'

√घट घटना कम होना
घटइ (वर्त्त प्र ए) १ ८८, १ १११
घण (घन) १ १९६, बादल
घणाघण (घनाघन) १ १८८, बादल
*घत्त (घत्ता) १ ९९ घत्तइ (घत्ताया) संबंध ए १ १ २, घत्ता नामक मात्रिक छंद
*घत्ता १ १ छंद नाम
*घत्तानंद १ १ १ छंद का नाम
घर (गृह) १ ८४, १ १६ २ १९१ घरा १ १७४ २ ४४ घरे १ १४२, घरे २ ५३ घर, मकान
घरिणि (गृहिणी) १ ३८ १ १७१ घरणी १ १७४ पत्नी
√घल्ल घल्लसि (वर्त्त म ए) १ ७ राज 'घालबो'—ब्रे गु 'घालवुं' प्र घल्लिस (संदेश ९२) घालि (उक्तिव्यक्ति ५ २)
घाअ (घात) १ १५५ घाउ २ १०३ चोट घाव आघात
*घारी १ २१ छंद नाम
घित्ता (घृत) १ १३ २ ९३ घृत
√घुम घूमना घुमइ १ १६
घुडुक्कि १ २ ४ हाथी के चलने का शब्द
√घोल (√घूर्ण्) १ १८९. चक्कर देना

च

चंचल १ ७ १ ११२ १ ८८
*चंचला १ १०२ वर्णिक छंद का नाम
चंड २ १९५ भ्रमर समान भ
चंडाल (चांडाल) १ ७४, १ १४१, २ १९५.
चंडी २ १ ७ कोपी स्त्री मानवती
चंडिआ (चंडिका) २ ९९ १ ७७ पार्वती
चंडेसो (चंडीशः) २ १२ महादेव
चंडेसरवर (चंडेश्वरवर) १ ३१ १ १ ८ चंडेश्वर नाम
चंद (चंद्र) १ ९३ १ ७७, १ १७१ २ ५६ २ २ ५ (अनेकशः) चन्द्रमा
चंदमा (चन्द्रमस्) १ १४
चंदण (चंदन) १५३
*चंदल १ १२२ छप्पय छंद का भेद
चंदमुहि (चंद्रमुखी) १ ११२, २ १९
*चंदमाल (चन्द्रमाला) २ १६ वर्णिक छंद का नाम
*चंदो (चंद्रः) १ १५ पट्कल गण का नाम
चंपअ (चम्पक) २ १९३ पुष्पविशेष
चंपारण्ण (चम्पारण्य) १ १४५ देश
चउ (चतुः) १ १२ १ ९ 'चार' प्र हि य चौ (चौत) चौ (-मासा) चउबीस (चतुर्विंशति) १ ९१
चउवण्ण (चतुष्पंचाशत्) १ ५० चौवन चौवन'
चउआलीस (चतुश्चत्वारिंशत्) १ १४१ चौवालीस चवालीस
चउक्कल १ २ ८ चतुष्कल गण
चउपइ २ ११४
चउत्थ (चतुर्थ) १ १३० चौथा

चउथो (चतुर्थः) २ ६६ हि० चौथा रा० चौथा
चउपइया १ ९७ चौपैया, मात्रिक छुंद
चक्खु (चक्षुष्) २.१५१ आँख
*चउबोल १ १३१ 'चौबोला छुंद'
चऊ (चतुर्) २ १५८ चार
चक्कमक १ २०४ चमक, चाकचक्य
चक्क (चक्र) १ ६६, २ १७२ पहिया,
*चक्कपअ (चक्रपद) २.१५२ वर्णिक छन्द नाम
चक्कलु १ ८१, १.१५० चतुष्कल गण
चक्कवइ (चक्रपति) १ २५, १ ६६ चक्रवर्ती राजा, मध्यगुरु चतुष्कल जगण (।ऽ।)
*चक्की (चक्री) १६१ गाथा छन्द का भेद
*चच्चरी (चर्चरी) २ १८४ चर्चरी वर्णिक छन्द नाम
चमर (चामर) २.१३६, २ १६४, २ १७८ चवँर, गुरु अक्षर (ऽ)
चमल (चामर) १ २०४ चवँर
चम्म (चर्म) २ १०७, २ १२३ चमड़ा
चरण १.२, १ ६, १ १७, १ ६५, १ १३४, १ १६४, (अनेकशः) पैर, छन्द का चरण, आदिगुरु चतुष्कल, भगण (ऽ।।)
चरित्त (चरित्र) १ १४४ स्वभाव
√चल (√चल्) चलना
चल २ ८३, चलइ २८६,२.१९३ चलति २.१७१, चलउ १ १०६,
[illegible]
चलते १९६, चलाउ २.१७१, चलावइ १.३८, चलावे २.३८, चलि २.८७, चलिअ १.१४७, चलिआ २.२०४, चलु २ २०२, चलू २ १७१, चले १ १४५, १.२०४
चाउ (चाप) २ १६१ धनुष
*चाओ (चापः) १.१६ पचकल गण का नाम (।।।ऽ)
चाणूर १ ३०७ दैत्य का नाम
*चामर १ २१ प्रथम द्विकल गण (ऽ) का नाम
चारि (चतुर्) १ ४७, १.१०७, १०८ क, १ १२५, १ १९१, (अनेकशः) 'चार'
चारिदहा १.३१ 'चौदह'
चारिम १.१३३ चौथा
चारी (चत्वारि) २ २७, २ ५२ २ ६६, २ ८८ (अनेकशः)
चारु २ १५३, २ १६८ सुन्दर
*चारुसेणि १ १३६ रड्डा छन्द का भेद
चाव (चाप) २ १६९ धनुष
चालिस (चत्वारिंशत्) २ २१४ चालीस
चालीस (चत्वारिंशत्) १ ११०, १.२०५ चालीस
√चाह हि० चाहना, रा० 'चाहबो-वो' तु० 'चाह' (उक्ति० १२-२६) चाहहि (आज्ञा० म० ए०) १ ९, चाहसि १ १६६, चाहए १ १८६
चाहणा २.७५ इच्छा करने वाला
√चिंत (चिंत्) चिंता करना, सोचना

छरणवइ (षण्णवति) १ ११७ छानवें, रा० छनमॅ'
छार (क्षार) १ १९५ भस्म
छाल २ ७७ छाल, चर्म
√छिज्ज (क्षीयते) छीजना छिज्जइ १ ३७
छेअ (छेक) १.११६ 'विदग्ध, रसिक'
√छोड 'छोड़ना' छड्डुए २ १७३ छोडो २ १५७ छोडिआ २ २११
छोडि (क्षुद्रा) १ ६ हि० रा० 'छोटी'

ज

*जगम १ १२२ छप्पय छन्द का भेद
जघ (जघा) १ २६ जाँघ
√जप (√जल्प्) बोलना जपइ (वर्तमान० प्र० ए०) १ ४३, जपे २ १८०, जप २ १६८, जपीए २ ८८, जपत १ १७६, जपता २ १५६, जंपिअ १ ६६, जंपिज्ज २ १४५, जपु १ १९९
ज (यत्) जो १ १, १ ६, १ ११ जे १ १२६, ज १ ७४, १ १२०, १ ७४, जेण १ ५५, जस्स २ ५३, जसु (यस्य) १ ८७, जस्सा (यस्या) १.८४ जस्सम्मि (यस्या, यस्मिन्) १ ५८, जेस २ १५१, जसु २ १५१ जहिँ १ ७६, जहि २ २३, जही २ ७, जेहा १ १२६, जेत्ता १ ७७
जक्ख (यक्ष) १ २६ मध्यलघु पचकल गण, रगण (ऽ।ऽ)
जअ (जय) १ ३७
√जअ (स० √जि), जीतना, जय होना जअइ (जयति) १.१, २.४६, २.७५,
जइ (यदि) १.६, १ ७, १ ३७, जो
जक्खण १ १६० लिख तण
*जगण १.३६ (अनेकत्र.) मध्यगुरु वर्णिकगण (।ऽ।)
√जग्ग (जागृ) 'जगना', जग्गती वर्त० कृदत० १ ७२, जग्गा २ ५३, जग्गि १.२०५
जज्जल्ल १ १०६, १ १४७ हम्मीर के मन्त्री का नाम
जटावलि २ १०५
जड्डा (जाड्य) २.१९५ जाड़ा
जण (जन) १ ४७, १ ९४ रा० 'जणूँ' हि० जने (सदा बहु० व०)
√जण (√जन्) जन्म लेना जणीयो २ १५, जणिअ २ ८०
जणणि (जननी) २ १४६ माँ
जणद्दण (जनार्दन) २ ७५ विष्णु
√जणम जन्म लेना जणमउ २.१४९
जत (यावत्) १ ४१ 'जितना'
जत्ते १ १२४ 'जितने'
जत्थ (यत्र) १ ४१, १ १८२, २.१२४ 'जहाँ'
*जमअ (यमक नामक छंद) २ ३६
जमअ (यमक) १ ९४, १.९५, यमक, तुक
जमक्क (यमक) १ १२७ यमक, तुक
जमल (यमल) १ १८० दो

जुअ (युग) १.१७, २.५, 'दो'
जुअ (युत) १२, १.६४, २.७६ युक्त
जुअइ (युवती) २ १७७
जुअजण (युव-जन) २.७६, २ २१३ जवान लोग
जुअल (युगल) १.३६, १.५२ २.६६ (अनेकशः) दो, जोड़ा
√जुज्ज (युज्) 'युक्त होना'
जुज्जइ (युज्यते) वर्त० प्र० ए० १.६१
जुज्झ (युद्ध) १.३७, १ १२६, २.७
√जुज्झ (√युध्) लड़ना
जुज्झतु २.१३२, जुज्झता २.१७५
जुज्झती २.४२ जुज्झिआ १ १९३
जुत्तउ (युक्त) १ १६६
जुलिअ (√जुड-) १ १३५ जुडगये, युक्त हो गये,
जुव्वण (यौवन) १ १३२
जुहिट्ठिर (युधिष्ठिर) २ १०१
जूह (यूथ) २.११३, २ १३२ झुण्ड
जे (यदि) १ ६ 'अगर' हि० 'जो', रा० 'ज्यो'
जेम (यथा) १.१०, तु० 'जिम (सदे० ६१), जेम (सदेश० २२३) ब्रज, अव० 'जिमि', गु० 'जेम'
जोई (योगी) १ १०४, २ १८१
जोग्ग (योग्य) २ १५१
जोण्हा (ज्योत्स्ना) २ २०१ चाँदनी
जोव्वण (यौवन) २.१०३
जोह (योध) २ १५६, २.१६६, २ १७१ योद्धा
जोहल १.१५६, २.११० (अनेकशः) रगण (ऽऽ)
जोह (योध) २.४५, २ १५७, २.१७५

झ

झकार २.१६५ शब्द
झंझगक्क झणझण शब्द करना
झंझणक्कइ २.१८५
√झप ढँकना, झाँप देना
झपइ १ १४७, झपए २ ५६, झंपता २.१६५, झपिओ १ १५५ झंपिआ २.१११, झंपा १ १४५
झत्ति (झटिति) २ १११, २ १६६ झटपट
झलवज्जिअ १ ११६ झल् प्रत्याहार रहित
√झल्ल 'जड़ देना, झालना', झल्लउ वर्त० उत्तम० ए० १ १०६
झाण° (ध्यान°) २ ११५
*झुल्लणा १.१५६ 'झूलना, छंद का नाम

ट

टकु (टक) १ १३०
टगण १ १३ षट्कल गण
टटटगिदि १ २०४ 'शब्दानुकृति'
टपु १ २०४ 'घोड़े की टाप'
टप्पु २ १११ घोड़े की टाप
टरपर 'तड़कना, फटना' टरपरिअ (भूत, कर्म, कृदन्त) १.९२
√टुट्ट (√त्रुट्) 'टूटना' टुट्टइ (त्रुटति) वर्त प्र ए १.७६,

*णअरु (नगर) १.७५ 'स्कंधक का भेद'
*णगण (नगण) १.३५ सर्वलघु वर्णिक (।।।)
*णगणिआ (नगाणिका) २.३१ छंद का नाम
√णच्च (√नृत्य) णच्च (नृत्यति) वर्त. पु ए १ ११६ णच्चइ १.१६६, णच्चइ १ १८८, णच्चे २ ८१, २ ८६. णच्चन २ १८२, णच्चनी २ ४२ णच्चता १ ११६
णट्ठ (नष्ट) १ ४०, १ ४३
णणगिद्दि १ २०४ 'शब्दानुकृति'
णदि (नदी) १ ६
√णम (स √नम्) हि० 'नमना नवना', रा० 'नम्बो नवबो, नमबो-नम्बो' णमइ (वर्त पु ए) (नमति) १ ६ णमइ १ १६६
णरवइ (नरपति) १ ८७, २ २०२ जगण (।ऽ), राजा,
णर (नर) १ १६६ मनुष्य
*णराअ (नाराच) २ ६८ वर्णिक छंद का नाम
*णराउ (नाराच) २ १६८ वर्णिक छंद का नाम
णराअण (नारायण) १ २०७ विष्णु
णरिंद १ १३४, ७४ राजा
*णरु (नर) १.७५ 'स्कंधक का भेद'
*णरु १ १२३ छप्पय छंद का भेद
णरेंद (नरेन्द्र) १ २५, २ २७, मध्य गुरु २ १३० २ १६२ २ १६६, चतुष्कल, जगण (अनेकशः) (।ऽ।), राजा,
*णलो (नलः) १ ७४ स्कंधक का भेद
णव (नव) १ १३५ नया, नवीन
*णवरंग १ १२३ छप्पय छंद का भेद
√णस्—(नश्यते) १ ३७, २.८५ णासता (णिजंत) १.११९ नष्ट होना
णह (नभस्) १ १०६, १ १६० १ १४७ 'आकाश'
णहि—(नहि) १ ३७ 'नहीं'
णा (न) २ ८६ नहीं
णाअ (नाग) १ ६१ (अनेकशः) णाओ १ १ णाआ १ ११९ णाउ १ २०८ णाअराअ १ ६३, १. १०२, णाएसा २ ११२ पिंगल की उपाधि.
णाअक्क—(नायक) १ ३८ १.६३ (अनेकशः) णाअक १ ६,३
णाअरि (नागरी) २.१०५, २.१२६ स्त्री
णाअर (नागर) २.१८५ सभ्य व्यक्ति, चतुर
णाम (नाम) १.२०, १ ६६ १.७६, १ ८०, १ ८१, १ ८८, १.८६, (अनेकशः)
णारि (नारी) १.१०१ स्त्री
णारी (नारी) २ ३६ स्त्री
*णारी १.२०. सर्वलघु त्रिकल गण (।।।) का नाम णारीअ (नारी-णा) १ २०. सनर न व

णाहिय (नासिम) २.६१ 'एक प्रकार की हरी साग'
णाव (नौ) १६ हि० य गु 'नाव'
णिम (निम) २ १७० २ ११७
णिमकुल (निमकुल) १ २ ७
*णिमविम (निमविम) १ २२ हिमपुहिमश (॥) का नाम
णियम (नियम) १ १२६
णियड (निकट) १ १६१ २ ६७ समीप
णि + √ कम (निष् + क्रम्) णिक्कंता १ १७ निकलना
णिच्चा (नित्य) १ १५
णिच्चा (नित्य) १ ११
√ णि + दंस (नि + दृश्) 'दिखाना'
णिद्देसेई १ ५१
णिद्दय (निर्दय) २ ११४
*णिद्ध (स्निग्ध) १ ७५ 'स्नेचक का भेद'
णिप्फंद (निष्पन्द) १ ११६
णि + √ बंध (नि + √ बन्ध्) णिबद्ध (भूत कर्मवाच्य कृ १ १ ७ २ १६४ (बाँधना)
णिब्भंतर (निभ्रांत) १ १ ५
णिब्भंति (निभ्रांति) १ ८५ २ १७
णिम्मय (निमय) १ १७ १ ४६
णिम्म (नियम) १ १८६
णिम्मल (निमल) १ १६८
णिरंतर (निरंतर) १ १८६
णिरय (निरय) १ २७ १ १४६
णिलय (निलय) १ १६६ घर

णि + √ वस (नि + √ वस्) 'रहना' णिवसइ १ १११ णिवसिइ २ १८६
णिवइ (नृपति) १ ८७ मलमभिवइ (मलयनृपति)
णि + √ वड (नि + √ पत्) गिरना णिवडिमा २ १५१
णिवाल (नृपाल) १ १६८ 'राजा'
णि + √ वुत (नि + वृत्) णिवुत्त (सं निवृत्त) १ ४, णिवुत्तउ १ १०७ द्र रि 'निपटना (नि + वृत्, *णिवट्टइ) या निमटणो—नमटणो
*णिव्वाणं (निर्वाणं) १ १६ ध्रुवतदु णिवल का नाम (⏑।)
णिसंक (निश्शंक) १ ४४
णिसा (निशा) २ १७७ रात्रि
णिसास (निश्वास) २ ११४
*णिसिपालया (निशिपाल छुंद) २ १६
णिसुंभ (निशुंभ) २ ९१ दैत्य का नाम
णिसंक (निशंक) १ ४६
णिहिय (निहित) २ १६४
णिहुय (निभृत) १ १ ८ चुपचाप
णीव (नीप) २ ८१ कदंब का फूल
णीव १ ६७ २ ११६ कदंब का फूल
णील (नील) २ १ २ १११
णाले रंगके
*णीला १ १०० छंद का नाम
णीसंक (निशंक) १ ४०
*णील (नील) १ ७५ 'स्तवक का भेद'

*णेउर (नूपुर) १ २१. प्रथम द्विकल गण (S) का नाम, तु० रा० 'नेवरी' (पैर का भूषण)
णेत्त (नेत्र) २ ९७, २ २०५ आँख
णेह (न+इह) १ ५६ 'यहाँ नहीं'
णेह (स्नेह) २.११७ प्रेम
*णेहलु (स्नेहलः) १ ७५ 'रूपक का भेद'
णेहलु १ १८० प्रेम, स्नेह
णोक्खा २ १०५ अच्छी
ण्हाण (स्नान) २ १८९

त

तत्तं (तत्र) २.११५
त (तत्) १.१०५ 'तत्र'
त- (तत्) अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम स सा त १ ७४, ते १ ३९ तेण तएिह १.१९१, ता ताका २ ६७, से (तस्य) १ ६६, तासु १ ८२, तासू २ १२१ तहि १ ४३, ताम २ १३३
तआर (तकार) २ ११४, २ १४५ तगण
तक्क १ २०६ 'शब्दानुकृति'
तक्कार (तकार) २.१६, २.१३१ तगण
√तज (√त्यज्) छोड़ना तजउ २ ६३, तेज्जइ २ २०३, तज्जि १ १०६ तेज्जि २ १३०, तेज्जिअ २ १५५, २.२११
तणअ (तनय) १ १७१
तणु (तनु) १ १११, १ १४६ शरीर
तत (तावत्) १.४१ 'उतना'
तत्थ (तत्र) १.१०८, २ १५०
√तप्प (तप्) तपना तप्पइ १.७२, तप्पे २.२०७
तरडो (देशी रूप) १ १ 'नाव'
√तर (√तॄ) तरना, पार करना तरइ १ ३६
तरणि १.९२ 'सूर्य'
तरुणत्त (तरुणत्व) -त्तेसो २ ८५
तरल १.१८९
*तरलणअणि २ १३७ एक वर्णिक छद
√तरासइ (√त्रस+णिच्) डराना तरासइ २ १५
तरुणि (तरुणी) १.४
√तलप्फ 'काँपना, तडफना' तलप्फइ वर्त० प्र० ए० १.१०८
√तव (√तप्) तपना, तवइ २ ४०, २.१९३
तह (तथा) १.५०, १ ८३, १.९४, २ १२४ वैसे
तहँ (<तस्मिन्, तत्र) १ ११८ वहाँ
त्वं (युष्मत्-) मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम तइँ १ ९, तुहुँ १.७. तुहु तुमा २ ८, तुज्झे २ ४, तुम्ह, १ ६७, १ ९८, तुम्हा २ १२३, तुम्हाण १ ११९ तुइ १ १६६, २ ९१, तुअ २ १५५ तोहर २.२४
*तांडव १ २० सर्वलघु त्रिकल गण (III) का नाम
ताअ (तात) १ २६ आदि गुरु चतुष्कल गण (SII)

*ताराम (तारक छंद) २ १४१ एक वर्णिक छंद
*तार्कक (तार्टक) १ ७५ 'छप्पय का भेद'
*तार्टकि (तार्टकी) १ ८६ 'रसिका छंद का भेद'
*ताल (ताल) १ १९ अंतलघु त्रिकल का नाम (ऽ।)
ताव १ ११६, २ ११ ताप
*तामी २ १७ एक वर्णिक छंद
ताव (तावत्) १ ४६ १.८७ 'उतना
तारुण्ण (तारुण्य) २ १८० यौवन
ति (त्रि) १ १२ १ २ १ १११ आदि, हि य गु तीन
ति (इति) १ ९२ अव्यय
तिकल (त्रिकल) १ ११८, २ ९६, त्रिमात्रिक
तिकल (त्रिकल) १ ११४
तिगण्णा १ १९
तिमा (त्रि) १ ११ १ ८६ 'तीन'
तिक्ख (तीक्ष्ण) १ १२६
तिगुण (त्रिगुण) १ २ २ तिगुना
तिणयण (त्रिनयन) २ ११८ शिव
तिण्णि (त्रीणि) १ ४८ तीन
तिण्णि (त्रीणि) १ ८, १ ५८ तीन
तिण्णिआ (त्रीणि) २ ७१ तीन
*तिभंगी (त्रिभंगी) १ १९४ छंद का नाम
तिमिर २ ७१ अंधकार
तिल १ १ तिलकी का दाना
तिलअलंजलि (तिलजलांजलि) २ १५१
तिलअ (तिलक) २.११८
तिलोअण (त्रिलोचन) १ ७१ 'शिव
*तिलअ (तिलक नामक छंद) २ ४१ एक वर्णिक छंद का नाम
तिवण्णो (त्रिवर्णः) २ ११
तिसुलधर (त्रिशूलधर) २ ११८ शिव
तिहाअ (त्रिभाग) २ १५१ तीसरा हिस्सा
तिहुअण (त्रिभुवन) १ ८७ १ ९९ १ १९५
ती (त्रि) २ १४ तीन
तीअ (तृतीय) १ ५८ १ १ १ ६५, १ ८४ १ १ तीसरा'
तीणि (त्रीणि) १ १२५ तीन
तीस (त्रिंशत्) १ ५७ १ ९८ 'तीस
तीसक्खरा १ ९८
तीसक्खराहिँ (त्रिंशदक्षरैः) १ ५६ 'तीस अक्षरों से
*तुंग २ ७२ एक वर्णिक छंद
तुरअ (तुरग) १ १८ आदि लघु त्रिकल गण का नाम (।ऽ)
तुरओ (तुरग) १.८९ १ ९१ घोड़ा
*तुरओ (तुरगः) १ ११४ छप्पय छंद का भेद
तुरिअ (त्वरित) १ ८ हि य 'तु त'
√तुल (तं √तुल्) हि तोलना य 'तोलको-नो, तुलिअ (तुलित) १ १) (भूत कर्म कृ) १ १
तुला १ १ 'तराजू'
तुलक (तुर्क) १ १५७

तुहिण (तुहिन) तुहिणकर (चन्द्रमा) २ २०१
तूर (तूर्य) २.११०,२ १४५
*तूर (तूर्य) १ १६ अतलघु त्रिकल का नाम (ऽ।)
तेम (तथा) १ १०. व्रज अवधी 'तिमि', गु० 'तेम' तु० तिम (संदेश० १०३), तेम (संदेश २२३)
तेइस (त्रयोविंशत्) १ २००
तेत्ता (तावत्) १ ७७ 'उतना'
तेरह (त्रयोदश) १ १३, १ १५ हि० तेरह, रा० तेरा, गु० तेर, तु० तेरह (वर्ण२०२८ख) तेरहओ (१६क)
तेलग (तैलग) १ १४५ 'तैलग'
तेल्लोक्का (त्रिलोका) त्रैलोक्य २ २६
*तोटअ (त्रोटक छन्द) २ १२६ एक वर्णिक छन्द
*तोमर १ १८ आदिलघु त्रिकलगण का नाम (।ऽ)
*तोमर २ ८६ एक वर्णिक छन्द
√तोल तोलना तोलती १ ११६

थ

√थह (स्तभ्) थंहिअ (स्तभित) १ ७४
√थक्क हि० थकना थक्कइ २ १४६, २ २०१, थक्कति २ १३२ थक्के २ २०४, थक्कउ २ थक्किअ १ १६० ठहरना
थण (स्तन) २ १६०, २ ८३
√थप्प (स्थाप्-,स्था+णिच्) थप्प १ ६२, थप्पहु १ ४८, थप्पि १ १५७, १ १८०, थप्पिअ १ १२८ थप्पिआ २ १६२,२ १७८ थप्पिओ २.६०. थप्पीआ २.१६५ स्थापित करना
थप्पणा २ ९७ स्थापित करने वाला
थिर (स्थिर) १.३६, १.२०१, २.८५
थूर (स्थूल) २ १८५
थोंगदलण १ २०१ 'शब्दानुकृति'
थोर (स्थूल) २.१८५

द

*दहअल १.१७६ मात्रिक छन्द का नाम
दंत १.१८०, २ ६७ २.१६६ दाँत
*दभो (दभः) १.११४ 'काव्य छन्द का भेद'
दसण (दर्शन) १ ४. तु० राज० 'दरसण' 'दर्शन'
दक्ख (दक्ष) २ १६२ 'चतुर'
दक्खहणु (दक्षहन्ता) १.१०१ 'दक्ष को मारने वाले'
दक्खिण (दक्षिण) २ १६३ 'दिशा-विशेष'
दप्प (दर्प) १ १६८ 'घमड'
*दप्पो (दर्पः) १ ११३ 'काव्य छन्द का भेद'
*दमणअ (दमनक) २ ५६ एक वर्णिक छन्द
√दम दबाना दमसि १ १४७
दमण (दमन) १ १११
√दलमल 'दबा देना, दल देना' दरमरु (दलमलिता) (भूत० कर्म० कृदत स्त्री०) १.६२ दरमरि १ १४७
*दरिओ (दृप्त) १ ११४ 'काव्य छंद का भेद'

दुव्वल (दुर्बल) १ ११६
दुव्वरि (दुर्बल) २ १३४
दुहु (द्वौ) १ १०६ 'दो'
दूण (द्विगुणित) २.६८ दुगना
√दे (स० √दा) हि० देना, रा० देवो वो, दे (वर्त० प्र० ए०) १.३७ देहि (आज्ञा० म० ए०) १ ६, देही २ १५७, देहु (आज्ञा० म० पु० ब० व०) १ १४, देह १ ७८, १ १८१, देऊ २ ४, देउ १ २०७, दिज्जसु (विधि म० ए०) १.३६, दिज्जे २ १०१, दिज्जउ २.१०५, दिज्जहु १ ४२, दिज्जही २ ५८, दिज्जइ (कर्मवाच्य वर्त० प्र० ए०) (दीयते) १.३६ दिज्ज २ १५९, देइ (पूर्वकालिक रूप) १ ६, १.४२, दइ १.६४, दिण्हउ १ १२८, दिण्णा २ १५६, २.११२, दिज्जिआ २ १६२
देअ (देव) १.८२, २.१२३
देओ (देवः) १ ३
√देक्ख (√*दृच्) 'देखना देक्ख १.१०६, देक्खु २.१४२, देक्खिअ १ ३८, देक्खीआ २ ११३ दिखावइ १.३८
देव १ १५५, २.१०१ देवता
देवई (देवकी) २ ४६ २ १४७
देस १ ११८ देश
*देही (देवी) १ ६० गाथा का भेद
दो (द्वौ) १ ८, २.२६ दो
*दोअइ १ १५३ छंद का नाम
*दोधअ (दोधक छंद) २ १०४ एक वर्णिक छंद का नाम
दोस (दोष) १ ६५, १.८४
दोसहीण (दोष हीन) १ १३४
*दोहा १.७८, १.१२३ मात्रिक छंद का नाम

घ

*धअ (ध्वज) १.१८ आदिलघु त्रिकल गण का नाम (।ऽ) तु० राज० 'धज', 'धजा', 'झंडा'
धण (धन) १.३८ धणु १.३७ आदि, धणमत २ ११७
धणु (धनुष्) धनुष धणु १ ६७, धणू २.१०६, धणूहा १.१२६, धणुद्धरु १ १७६ धणुहरं १ १५७
धणेसा (धनेश) १ २०६ कुबेर
धण्ण (धन्य) २ ३६
धम्म (धर्म) १ १२८, २ ३६, २ १०१, २ १०७
*धम्मो (धर्म) १ १५ षट्कल गण का नाम
√धर (√धृ-) रखना, धरना धरइ २ १९१, धरि (आज्ञा म० ए०) १ ९६, धरु २ १६०, धरहि १ १६६, धरिज्जे २ २०७, धरीजे २.१०१, धरिअ २ ८१, धरीआ २ १२६, धरे १ १८०, धारिअ २ १०४, धरि (पूर्व०) १.८६, धारे २ २०७
धरणि (धरणी) १ ६२, १ २०४ पृथ्वी

धरणी (धरणी) १ १८ पृथ्वी

√धर (√धृ) धरणु १ १०४ धारण करनेवाला

*धवल १ १२१ छप्पय छन्द का भेद

धवल २ २ ५ सफेद

*धवलाक (धवलक) २१६२ एक वर्णिक छंद

√धस पैठना, प्रवेश करना धसइ १ १६ १ २ ४ धसउ १ १ ६

धह धह १ १६ अग्नि के जलने की आवाज

*धाई (धात्री) १ ६ गाथा का भेद

√धाव (√धाव्) दौड़ना धावइ २ १८१ धावंता २ ६७, धाइ २ १५६

धारा २ ८६ नगरी का नाम

धारा १ १८ धारा नगरी

धिरकधक १ २०१ 'शब्दानुकृति'

धिज्जं (धैर्य) १ ४ हि रा धीरज

धिट्ठ (धृष्ट) १ १४५

धीर २ १६६

धुअ (ध्रुवं) १ १६ १ ११ १ ७१ (अव्यय) निश्चय ही

*धुअ (ध्रुव) १ १५ षट्कल गण का नाम (ISIII)

*धुअ ध्रुव) १ १११ छप्पय छन्द का भेद

धुत्त (धूर्त) १ ११६, २ २८

धुल्ल (धूली) १ ६२ धूल

धूलि १ १४० १ १५५, १ २ १ २ ५६ धूल

धोअ (धौत) धुला हुआ, धोअंबर (धौताम्बर) १ १८९

प

*पंकअवलिअ (पंकजवली छंद) २ १४८

पंगु १ ११६ (रा पाँगलो)

पंच (पञ्च) १ १२ हि रा० गु 'पाँच' म पाञ्च (वर्णर २४ क) पंच (—क्रमी) १ १७ पंचा २ ४५ पंचउ २ १७

पंचम २ ८७ पाँचवाँ

पंचाल २ ११

पंडव (पांडव) २ १ ७

पंडिअ (पंडित) १ ६४

पंफुल्लआ (प्रफुल्ल) २ ८१

पंति (पंक्तिम) १ १४ हि पाँत पाँति रा पंगत, पाँत

*पअंगम (प्लवंगम) १ १८९ मात्रिक छंद का नाम

पअंत (पदात) २ ११९

पअंड (प्रचंड) २ ६६

√पअ (पत्) 'गिरना' पअंति (पतंति) वर्त म व १ ८५

पअ १ ७ १ ५२ १ ६२ १ १११ १ ११७ आदि पआणि (पदानि) १ ८५ पअहु २ ११४ चरण

पअहर (पयोधराः) १ १०५

पआस (प्रकाश) १ ८१ पआसि १ १११, पआसा २ १४१

पइडिअ (प्रस्थित) २ ६८

पइट्ठ (प्रदृष्ट) २ १०६

पआ २ ५२, २ ११८

पआणा (प्रयाण) १ १४५ 'सेना-प्रयाण'
√पआस (प्र+√काश्) 'प्रकाशित करना' पआसइ १ ६७ पआसति १ ५३, पआसउ २ २०८, पआसहु २ २१०, पआसिअ २ १७०, पआसिओ १ १९१, १ १४६, पआसेइ (प्रकाशयति) १ ६५, १ ८४
पइ (प्रति) पइ (–गण) १ २२
पइपओ (प्रतिपद) २ ८२
पइक १.२०४ 'पदाति सेना'
पइक्क १ १६७, २ १६८, 'पायक, पैदल सेना
पइज्ज (पतित, प्राप्त) २ १५० पाया हुआ
पइ २ १८ स्वामी, पति
*पउमावत्ती (पद्मावती) १.१४४ छंद का नाम
*पओहर (पयोधर) १ १७, २ ३१, १ १४४ मध्यगुरु चतुष्कल गण (।ऽ।)
*पओहरु (पयोधर) १.८० 'दोहा छंद का भेद'
पाअ (पाद) पाअ (पाद) कर्म ए० १ १७१ 'चरण'
√पकाव (√पाचय्) पकावउँ १ १३० पकाना, पकवाना
पक्खर १ १०६ पाखर घोड़े की झूल,
पक्खरिअ १ १५७ झूलवाले, सजे हुए
पक्खि (पक्षी) २ २०१
पच्छिम (पश्चिम) १ ६६ 'दूसरा'
*पज्झटिअ १.१२५ पज्झटिका छंद
*पटह (पटहः) १ १९ आदिलघु त्रिकल का नाम (ऽ।)
√पड (स √पत्=*पट्) हि० 'पड़ना' गु० पड़वुँ' रा० 'पड़बो–पड़बो' पड़ु (भू० कर्म कृ० ए० व०) १ ६, पाडिओ (भू० कर्म० कृ०) १ २
*पडिवक्खो (प्रतिपक्ष) १ ११३ 'काव्य छंद का भेद'
√पढ (√पट्) हि० 'पढ़ना', रा० 'पढ़बो–बो' गु० 'पढवुँ', पढइ (वर्त० प्र० ए०) १ ८, १.११, पढति २ ११६, पढ १ १६१ (तुरिअ-) पढिओ (भूत० कर्म० कृ०) १ ८, पढि (पूर्वका०) क्रि०) १.१४६
पढम (प्रथम) १ १, १ १४, १ ८४, १ ६१ अनेकश. 'पहला'
√पणम (प्र+√नम्) पणमइ (प्रणमत) २ १०६ प्रणाम करना
पणगरह (पचदश) १ १०५, १ १४०, २ १५६ पन्द्रह
पताका १ ५५ वर्णपताका, मात्रापताका,
*पत्त (पत्र) १ १८ आदि लघु त्रिकलगण का नाम (।ऽ) (तु० हि० पत्ता–पात, राज० पत्तो)
पत्तो (प्राप्त.) १ १. पत्ता (प्राप्ता) १ ९३
पत्ति (पंक्ति) २ १३२

पत्ति १ ९ ७ २ ११९ 'पदाति सेना'
पत्थर (प्रस्तर) १ १६६ पत्थर
पत्थरसंख (प्रस्तारसंख्या) १ ४५ छंद
के प्रस्तार की गणना
पत्थरि (प्रस्तारे) १ १२१
पत्थार (प्रस्तार) १ १ ८
पफुल्लिआ (प्रफुल्लित) २ ५५
पसंसो (प्रशंसा) १ ११४
पभअ (प्र ल) १ २ १
पमण (प्र + $\sqrt{}$ भण्) कहना
पभणइ १ १४८, पभणे १ १ ७ ,
१ १८७, १ ८६ पभणंति १ १५४
पभण १ १५, १ १५२ पभणिज्जइ
१ ११६ पभणिज्जे १ २ ६,
पभणीजे १ १ ४
*पमाणि (प्रमाणी) १ ६८ वर्णिक
छंद नाम
पमाण (प्रमाण) प्रमाण शब्द
'परमाण' (पद्य) प्पमाणेण
(प्रमाणेन) करण ए व
१ १९
पमाण (प्र+$\sqrt{}$मान्) पमाणहु
१ १११ प्रमाणित करना
परम्मि (परं) १ ४८ 'दूसरे को'
परद्धमि (परार्धे) १ ५७ 'परार्ध में'
परसमणि (स्पर्शमणि) १ ७६ 'पारस'
परमत्थ १ ४५
परकम्म (पराक्रम) १ १२६
परसण्णा (प्रसन्ना) १ ४८
परमप्पा (परमात्मा) १ ४१
परामण (परायण) १ ९ ७
पराहिण (पराधीन) १ ११६
परिअर १ १ ४ 'परवार, स्त्री' (लक्षणा)
परिकर १ १८
परिघट्टगलइ (परिघट्टनतः) १ ७४
परिपूछ (परि+$\sqrt{}$पूछ्) पूछना
परिपूछइ २ १५५
*परिणम्म (परिणमो) १ १११ 'मात्रा
छंद का भेद
परिफुल्लिआ (परिफुल्लित) १ १४४
परि+त्यज परि+$\sqrt{}$त्यज्) छोड़ना
परिचत्तिअ १ ९१
परि+दे (परि+दा) देना
परिदिज्जसु १ ५५
परि+पत (परि+$\sqrt{}$पत्) गिरना,
परिपतिअ १ १६५
परि १ १९५ परिपाटी पद्धति
परिमल (परिमल) १ १ ९
परि+$\sqrt{}$स्खल (सं परि+स्खल्)
फिसलना गिरना, परिखलइ
(वर्त प्र ए) १ ४
परि+$\sqrt{}$स्था 'रखना' परिठवु १ २ १
परिठवहु (परिस्थापयत) (विधि
म पु ब व) १ १४,
परिट्ठिअ १ १ २
परी+$\sqrt{}$हर (परि$\sqrt{}$+हृ) 'हरना'
परिहर (आज्ञा म पु ए
व) १ ६७, २ १ १ परिहर
१ १ २ १ १९६, परीहरिअ
(परिहृत्य) पूर्वकाल रूप १ ८७,
परिहरि १ १९१
परे (सं परे) १ ५ दूसरे
$\sqrt{}$पल ($\sqrt{}$पत्) 'गिरना' पल
१ १८ १ १६१ पलइ १ १८८

पलति २ १२६, पलत २ १६८, पलतआ २ ५६, पलता २ २००, पलिअ २ १५२, पलिआ २.८२, (स+पल) सपलइ १ ३६, पले १.१४५
पलट्ट 'पलटना, लौटना', पल्टइ (वर्त० प्र० ए०) १ ५१, पल्लट्टि २ १३२, पलट्टि १ ५१
पलाअ (पलायित०) १.१२६ भग गया
*पवगम (प्लवगम) १ १८७ वर्णिक छन्द का नाम
पवण (पवन) १ १३५ वायु, हवा
पव्वअ (पर्वत) १ १०६, १ १४५, २ ५९, पहाड़
पव्वई (पार्वती) १ ८१
पवित्त (पवित्र) २ ६५
√पसर (प्र+√सृ) 'फैलना' पसरइ २ २०३, पसर (प्रसरन्ति) १ ७६, पसरत १ २१५, पसरि १ १९०
पसण्ण (प्रसन्न) २ ३२, २ ६६
पसाअ (प्रसाद) १ १०८, २ ११५ प्रसन्नता
पसु (पशु) १ ७६
पह (पथ) १ १९० मार्ग, रास्ता
पहार (प्रहार) २ १६६
√पहिर् (परि+√धा) १ ९८ 'पहनना', पहिरिअ (परि+हित भूत० कर्म० कृदत
पहिविल्ल १ २०५ 'पहला'
पहु (प्रभु) १ १६३
पाअ (पाद) १.१४७, २.८८, २ १२२ आदि; पाइँ १.१२५ पाएण १ ८४, २ ५०. छद का चरण, पैर
*पाआकुलअ १ १२६ पादाकुलक छद
पाआ (प्राप्त) १.१३० पाया
पाइक्क १ १३४ पायक, पैदल
*पाइत्ता २.८० छद का नाम
√पा पाउ (पातु) २.१४ रक्षा करना
पाउस (प्रावृष्) १ १८८, २ ३८, २ १३६ वर्षाऋतु
पाणि २ ७७ हाथ
पाप २.१०३
*पापगणो (पापगणः) १ १६, पञ्च-कल गण के एक भेद का नाम (।। ।।)
√पाव (स०√प्राप्) पावइ (वर्त्त० प्र० ए०) १ ४८ पावउँ १ १३० पाविज्जइ १ १४१, पाविज्जे १ ११६, पावंता २ ६७, पावा २ १०१, पावल १ ४५, 'पाना'
पास (पार्श्व) २.१२६
पासाण (पाषाण) १ ७६ 'पत्थर'
पिंग २ १०५ पीला
पिंगल १ १ तथा अनेकश., छन्द.शास्त्र के प्रवर्तक मुनि पिंगल
√पिंध (अपि+√धा) पिंधउ उत्तम पु० ए० १ १०६, 'पहनना'
पिंधण (पिधान) १.६८, १ १७६, १ १०६ 'वस्त्र'
पि (अपि) १ १६४ भी

√पिअ (√पिब्) पिअइ (पिबति) वर्त० प्र० ए० १ ८७ पिआमो २ ११५ पिज्जए (पीयते) २ १ ७
पिअ (प्रिय) १ १ ८, १ १४६, २ ७६ २ १६ अनेकत्र
पिअला (प्रिय+ल) १ १६६, २ ६७ प्यारा
पिअर १ १४४ 'पिंजर, पूजक, मत्ता पिआ'
पिअरि (पीत+र+ई) १ १६६ पीली
पिआरी (प्रिया) २ १६
पिआ (प्रिया) पिए (प्रिये संबो०) २ ११
पिक १ ११२ कोमल
√पिट्ठ पिट्ठइ १ १८, १ १६ पिट्ठंव १ १६८, पीस्मा
पिट्ठ (पृष्ठ) १ ६२ हिं० पीठ' कम्म राज 'पूठ'
√पीड पीडइ १ १४४ पीडिज्जइ (पीड्यते) १ १७ 'पीडित करना दुःख देना'
पीन (पीन) १ १७८ पुष्ट
पुच्छअ १ ४९ जिज्ञासा
पुण्णअ (पूर) १ ४ पूरा हुआ'
पुत्त (पुत्र) ब १ ९९ पुत्ते (पुत्रैः) करण ब० पुत्तो २ १८ पुत्तउ २ ६१ मेरा', ग्र 'पूत'
पुण (पुनः) १ ४१ २ १४६ 'फिर
पुणवंत (पुण्यवान्) पुणवंतअ १ ६१ पुणवंता २ ६१ १ १७१
पुणु (पुनः) १ १७ १ ७६ 'फिर
पुणुवि (पुनरपि) १ ६६
पुणो (पुनः) २ १४५ फिर
√पुर (सं पूर्-) 'भरना, पूरा करना पुरहु (आ म ब) १ ४०
पुर १ १९५ त्रिपुरासुर
पुर (पुरा) १ १४७ आगे
पुव्व (पूर्व) १ १६, २ १११
पुव्वद्ध (पूर्वार्द्ध) १५२, १६० पूर्वार्ध
पुहवी (पृथ्वी) १ १४
√पूर पूरहु (√पूर-) १ १११ पूरंति १ ११६ पूरल १ १७४ पूरमा २ ११ भरना पूरा करना
√पेक्ख (प्र+√ईक्ष) पेक्खामि (प्रेक्षामि) वर्त० उ० ए० १ ११६ पेक्खए १ १६६, पेक्खहि १ ६७ पेक्खिआअ १ १११ पेक्खीआ २ १११ पेक्खि २ १७१ देखना
√पेच्छ (√प्र+√ईक्ष्) पेच्छइ (प्रेक्षते) वर्त० प्र० ए० १ ७१ देखना'
पेट २ १९५ उदर, पेट
*पेम्मा २ १२१ वर्णिक छंद का नाम
पेल्ल पेलना पेल्लि १ १ ५ पेल्लिअ १ ११५; पेल्लिआ २ १०६
*पोमावइ (पद्मावती) १ २ ६ नाम
पोम्म (पद्म) १ १६० कमल

प

√फंक १ १ ८ 'फैंकना
*फणि १ ११ १ १४ आदि प्रथम द्विकलगण (ऽ) का नाम 'सिस्त

फणिंद (फणीन्द्र) १ ६७, १.१२६ १ १६४, २ १५, २ १७२, २ १९८, मुनि पिंगल की उपाधि
फणिवइ (फणपति) १.१५८, २ ४७, २ ५६, २ १५२, मुनि पिंगल की उपाधि
फणिराओ (फणिराज) १ २२
फणीसरु (फणीश्वर) १ ६३ 'पिंगल का नाम और उपाधि
फल १ ३६, १.३८, २ १५३
फार (स्फार) २ १८३
√फुक्क फुक्कइ २ २०२ फूँकना
√फुट्ट (स्फुट्) फुट्टइ २ १८३ फूटना
फुरा १ ४१ 'सच'
√फुर (स्फुर्) फुरइ १.३६, फुरत २ २०६, फुरता १ ६८, फुरतआ २ ३२, फुरिअ १.८७ चमकना, फड़कना
√फुल्ल फुल्लउ २ १३६ फुल्ल १ १०८, फुल्ला २ ८१ फुल्लिअ १ ८७ फुल्लिआ १ १६६ फुल्लु २ १६१ २.१६३ 'फूलना'
फुसरस २ ४७

व

*बम (स० ब्रह्मन्) १.१५ 'षट्कल गण का नाम'
*बंम (ब्रह्मा) १ ७५ 'स्कधक का भेद'
बधु (वध) १ १४६
*बंधु (बधु नामक छद) २ १००
बंधुर २.७०
*बधो १ ११३ वस्तु छद का भेद
बत्तीस (द्वात्रिंशत्) १ ८३, १ ११७, १ १८६ आदि, बत्तिम २.२१० बत्तीसा १७१, २ १६४, बत्तीसह १ १७९. हि० राज० 'बत्तीस'
बद्ध २ ८५, २ ७२ बाँधा हुआ
बप्पअ २ २११ बाप, पिता
बब्बर २.६५ नाम
बल १ १८५ सेना, शक्ति
बल्लि २.७५
*बलहद्दो (बलभद्र) १ ११४ 'काव्य छद का भेद'
बलु १ २०४. बल
*बलु (बल.) १ ८० 'दोहा छद का भेद'
बहिर (बधिर) १.११६ बहरा (रा० ब'रो)
बहु १ १६३ बहुत
बहुसभेआ (बहुसभेदा) १ ७३
बहुत्त (बहुत्व) २ ६५ हि० बहुत
बाआलीसं (द्वाचत्वारिंशत्) १ ५० 'बयालीस'
बाईस (द्वाविंशति) बाइसही २ १७० बाईसा २ ११२, १४१. १.८३ 'बाईस'
बाण २ १२६ तीर
बावण्ण (द्वापञ्चाशत्) १ १०७, २ १७० 'बावन'
बारहा (द्वादश) बारहा २.२००, बाराहा २ ४१०, बारहाइ २.७० २ ७० बारह

मणिअ २ १६६, मणिअ २ ८०,
मणिओ २ १५, मणिआ १ ८३
मत्ति (भक्ति) २ ३६, २ ९५
मत्ता (भर्ता) २.३६, २.९३ पति
मत्त (भक्त) १.१७१
मत्तउ (भर्ता) २.६१ पति
मत्ती (भक्ति) २.१२२
*मद्द (मद्रा) १.१३६ रड्डा छंद का भेद
*मद्द (भद्र) १ ७५ स्कन्धक का भेद'
*ममरु (भ्रमरः) १ ८०, १ ८१, 'दोहा छन्द का भेद'
*मद्द (भद्रा) २ १२१ उपजाति छंद का भेद
भमर (भ्रमर) २ १३६, २ २६३ 'भौंरा'
भमर (भ्रमर) १.२०७ भौंरा
*भमरावली (भ्रमरावली छन्द) २ १५४
√भर भरना भरु (आज्ञा म० ए०) १ ४४, भरे (भूत० कर्म० कृ० ब०) १ १९०, १ २०७
भल्ला २ १५७ भाला
भवणा २ १५५ होनेवाला, भवन
भवाणी (भवानी) १.९८, २ १६
*भसल १ १२२ छप्पय छन्द का भेद
भाअ (भाग) भाअहि १ १९६
भाअउ (भाग) १.१४६
√भा सुशोभित होना, भाति २ १०७
भाग—(सम) भागहिँ (समभागैः) करण ब० व० १ ४३
*भामरु (भ्रामरः) १८० 'दोहा छंद का भेद
*भाव १ २० सर्वलघु त्रिकल (।।।) गण का नाम
*भाविणि १ २० सर्वलघु त्रिकलगण (।।) का नाम, भाविणिअ (सम्ब० ब० व०) १ २० (भामिनीनाम्)
भास (भाषा) १ १
√भास सुशोभित होना, भासता वर्त० कृदत० ब० व० १ ११९
भिंग (भृङ्ग) २ १६५ 'भौंरा'
*भिंग (भृग) १ ११२ काव्य छन्द का भेद
भिखारी २ १२०
भिक्खा (भिक्षा) २ १०७
भिच्च (भृत्य) १ ३५ 'नौकर'
भिण्ण १ २०० 'भिन्न', टूटा हुआ
*भिण्णमरट्ठो (भिन्नमहाराष्ट्र) १.११२ काव्य छंद का भेद
भीअहरा (भीतहरा) १ २०७
भीसण (भीषण) २ १५९ भयानक
भुअगम (भुजगम) १ ६ साँप
*भुअगापआअ (भुजगप्रयात छंद) २ १२४
भुअतासारा (भुवनात सार) २.३३
भुअण (भुवन) भुअणे (भुवने) अधिकरण ए० १ ७२
भुअ (भुज) २.७७, २ १२६,
भुम्मि (भूमि) १.२०१
भूअ (भूत) २ ३३ हुआ

भूषाग (भुआग) १ ११ 'हाथ का अगला हिस्सा'
भूलक्खणा (भूलक्षण) २ १५६
भूमि २ ११२ २ १६ पृथ्वी
भूमी १ ११६ २ १५७ पृथ्वी
मेअ (मेद) मेओ १ ११, (गम-) मेआ १ १२ १ ११
मेरिम (मेरिका मेरी) १ १६ तुरही
मो २ २३ संबोधनवाचक
मोक्ख (मोक्ष) १ २ ६
*मोपाल (भूपाल) १ ७५ 'स्कन्धक का भेद'
मोईराअ (भोगिराज) २ १५१ मुनि पिंगल की उपाधि
मोग्ग (भोग्य) २ १ ७ लाद्य पदार्थ
मोट्टआ (मोटाआ) १ १६८ भोटदेश
मोहा २ ६७ २ १२१ भौंहे

म

मंआ १ ११ मोगी रोटी
मंडिअ (मंडित) १ २ ७ सुशोभित
मंडिणी १.६ सजानेवाली
*मंडूक १ ८ 'दोहा छंद का भेद'
मंत (मंत्र) २ ११६
मंत (मात्रा) १ ११८
मंति (मंत्री) वरमंति (वरमन्त्री) १ १ ८ मंतिवर (मंत्रीवर) १ १२५ मंत्रियों में श्रेष्ठ
*मंथाण २ ५ मंथान छंद
मंदर १ ९२ मदराचल
मंद १ १८, १ ८६
*मंदर २ २१ छंद का नाम
मंस (मांस) २ १ ७
मअगल (मदगल) १ ११२ हाथी
मअ (मद) १ १२१
मअगल (मदगल) १ ६६ हाथी प्राची हि मैगल
मअगल (मदकल) १ ७५ 'स्कन्धक का भेद'
*मअण (मदन) १ १२२ कामदेव, छप्पय छंद का भेद
*मअणु (मदनः) १ १११ 'काव्य छंद का भेद'
*मअंदो (मृगेन्द्र) १ १११ 'काव्य छंद का भेद'
मइ (मति) १ १ बुद्धि
*मअरअ (मकरः) १ १११ 'काव्य छंद का भेद'
*मक्कडु (मर्कट) १ ८ 'दोहा छन्द का भेद'
मग (मार्ग) १ १९७ रास्ता
मगण १ १५ सर्वगुरु त्रिकल गण (SSS)
मग्ग (माग) २ ११५
*मच्छ (मत्स्य) १.८० 'दोहा छंद का भेद'
मच्छ (मत्स्य) २.६१ मछली
मज्ज (मद्य) २ १ ७ शराब
मज्झ (मध्य) हि मॅझि (गुप-) मज्झो १ १७
मज्झे (मध्ये) १ ११ १ ११२ मध्य, अव मॉझ, तु मांझ (कवि १९ १) माँझ (कवि १६ १७)

मज्झट्ठिअ (मध्यस्थित) १.१०५
मण (मनस्) २ १५५
मणोभव (मनोभव) १.१३५ कामदेव
मणोहर (मनोहर) १ १४४ सुन्दर
*मणहंस (मनोहंस छंद) २.१६२
*मणहरण (मनःहरण छंद) १.१६६
मणउ (मनस्) १.१२३ मन
मणोहर (मनोहर) १ ११३
मत्तंगो (मात्रांग) १ ६८
मत्त (मात्रा) १ १, १, १ ९१
(छु-) मत्तणं १ ११
मत्ताइँ (मात्राः) १ ५७ 'मात्रा'
मत्था (मस्तक) २ १५६ 'माथा, सिर'
मद्दणा (मर्दन) २ ७५ मर्दित करने वाला
मम्मह (मन्मथ) १ १८८ कामदेव
*मरहट्ठो (महाराष्ट्र) १ ११३ 'काव्य छंद का भेद'
मरण १ ३६ 'मृत्यु'
मरहट्ठा १ १४५
*मरालु (मराल) १ ८० 'दोहा छंद का भेद'
मल २ ६ पाप
मलअ (मलय) १ १३५, २ १६५ मलय पर्वत
मल्लिआ (मल्लिका) २ ७०
मह (मध्ये, *मध्य) अधिकरण-परसर्ग १ ८८, १.१०६ २ ३८, २ १५५ 'में'
महँ १ १४७ 'में'
महण (मथन) २ १६५, २ १०९
*महामाई (महामाया) १ ६० गाथा का भेद
*महालच्छिअ (महालक्ष्मी) २ ७६ छंद का नाम
मही (मही) १.६६ पृथ्वी
महिला महिला (महिला) २.११५ स्त्री
महिहर (महीधर) १.६६ 'पर्वत'
*महु (मधु नामक छंद) २.५
महु (मधूक) १.१६२
महुअर (मधुकर) १.१३५ भौंरा
महुआण (मधुपान) १ २०७
*महुभार (मधुभार) १.१७५ छंद का नाम
माअंग (मातंग) २ ११६ हाथी
*माआ (माया) २.२८ छंद नाम
माआ (माया) १.१८० दया
माई (माता, मात) हि० रा० 'माई' १ ३.
माण (मान) १ ६७, २ ७० २ १६३
*माणस (मानस) १.२१. प्रथम द्विकलगण (ऽ) का नाम
माणिणि (मानिनी) १ ६, १ ६७ 'मानयुक्त नायिका'
माणिअ माणिआ २ १५६ १ १७१ माना हुआ
*माणी (मानिनी) १ ६१ गाथा का भेद
√मार मारु १ १४७, २ १२३ मार-णिज्ज (मारणीय) २.१५१ मारना
मालव १.१५१ 'मालवा, देश विशेष'
*मालिणी (मालिनी छंद) २ १६४
*मालइ (मालती) २ ५४ छंद का भेद
मार २ १६५ 'कामदेव'
*मालत्ती (मालती छंद) २ ११२

माहव (माधव) २ १४ वर्सत
मिअ (मृग) १ १६४
मिअणमणि (मृगनयनि) १ ८९ १ ९७
*मिर्पद (मृगेन्द्र) २ २१ छंद का नाम
√मिर+पियंत मियय (वर्त प्र प) १ ८१ मिययाा २ १ १, मिययाहि १ ४ 'मियना'
√मित (मित्र) १ ३५ हि रा० 'मीत
√मिल—(मिलंत) मिलाइ (वर्त म प) १ ४८ 'मिलाना'
√मिल मिलइ १ ५० मिलत (वाचन्त बत कृदंत) १ ४६ मिलिआ १ ५ ग हि मिलना रा मिळजो—मळजो, गु मळवुं.
√मुंच (√मुच्) मुंचाहि (मुञ्च) आज्ञा म ए १ ७१ 'छोडना
मुंड २ १९
मुअअ (मृत) १ ११ मरे हुए
मुक्ख (मूर्ख) १ १६९
मुग्गर (मुद्गर) २ १६९ आयुधविशेष
√मुच्छ (√मूर्च्छ्) मुच्छि (मूर्छित्वा) पूर्वक कर १ ९२ मुच्छिअ १ १४७ 'मूर्छित होना'
मुट्ठि (मुष्टि) २ ७१
मुद्धि (मुग्धि) १ २ ७ देश का नाम
√मुण् मुणु (आज्ञा म ब) मुणो १ ७१ २ १२७ मुणेहु १ ४२ मुणियमो २ १७ मुणिअ २ १७ मुणिएजे १ १ १ मूणिअसु १ ४१, मुणिआसु १ ११६, मुणि २ १७ जानना
मुद्दरा (मुद्राएद) १ १७४ पर का लगना
मुद्ध (मुग्ध) १ २१ प्रथम द्विकल (S) गण का नाम
मुद्धि १ ११४ १ १८९ प्रमखी १ १२४, मुग्धा नायिका
मुद्धिणि (*मुग्धिनी) १ ७ नायिका
मुह (मुख) १ १६, २ १५१ आदि
मुह√मुहिअ १ १५१ मोहित होना
मेइणि (मेदिनी) १ ४० पृथ्वी जमीन
मेच्छ (म्लेच्छ) मेच्छ शरीर (म्लेच्छ शरीर) १ १४७ २ ११८ १ ७१, मेच्छहके १ ९२ यवन
मेलिअसु (विधि म ए) १ १९ 'मिलाओ
मेरु १ ४४ २ ११६ सुमेरु पर्वत कर्ममेरु
*मेह (मेघ) १ ९१ रोला छंद का भेद
*मेहाअर (मेघाकर) १ १२१ छप्पय छंद का भेद
मेह २ ८१, २ ८९ मेघ वर्षा
मोइणि २ १ मछली विशेष
मोक्ख (मोक्ष) १ ११६, २ १४
मोत्तिअ (मौक्तिक) १ १७८ मोती
*मोत्तिअदाम (मौक्तिकदाम) २ १११ छंद विशेष
*मोदअ (मोदक) २ ११६ छंद नाम
मोर (मयूर) १ ८९ मोर
*मोरो (मयूर) १ १११ काव्य छंद का भेद

मोत्तिश्र (मोटिन) मोलिश्रा २.१११. १ १८५
*मोहो (मोहः) १ ११४ काव्य छद का भेद
√मोह मोहए १ १५८ मोहित होना
*मोहिणी (मोहिनी) १.१२६ रड्डा छद का भेद

य

यो २. १५ यगण
*यगण १ ३५ आदिलघु वर्णिक गण (ISS)

र

रंग १ २०१ 'युद्धभूमि'
रंजण २ १६३ 'खुशकरनेवाला'
रंजणु १ १२३ खुश करने वाला
रंड १ ६३ 'विधवा'
रंध (रंध्र) २ १६५ 'छिद्र'
रंभश्र २ ६३ कदली, रंभा
√रश्र (√रच्) रएइ (रचयति) वर्त प्र० ए० १ ७४ रअइ २ ८४ रइअं २ १६,२ १५४
रश्रण २ १५४ रचना
रश्रणि (रजनि) १ ८६, १ १५८ 'रात'
रश्रणी (रजनि का) २ १८ रात
*रश्रणु (रत्न) १ १२३ छप्पय छद का भेद
रइ (रवि) १ ७४ रइरहचक्क (रवि-रथचक्र) १ ७४ 'सूर्य'
√रक्ख (रत्त्) रक्खे २ १२ रक्खो १ २, रखो २ ८ 'रक्षाकरना'
*रगग १.२६. मध्यलघु वर्णिक गण (SS)
रगण २.१६० 'रगण' (SIS)
√रच रचि (पूर्वकालिक रूप) २ ६० रचना, बनाना
*रड्ड १ १३३ रड्डा छद
रण १.१०१ युद्ध
रण्ण (रण) २ १६६ युद्ध
रत्त (रक्त) २ १५६ 'लालरग का'
रम्मो (रम्य) २ १०७ सुदर
रमणिश्रा (रमणिका) २ ८८ स्त्री
√रम रमामो २ ११५ रमना
रव १ २०४ शब्द, आवाज
रवि १ १२१ 'बारह'
*रस (रस) १ १८. आदिलघु त्रिकल का नाम (S)
*रस १.२० सर्वलघु त्रिकल गण का नाम (III)
रस १ १६४, २ १६४ आदि, 'छह'
रस २ ७२
*रसना (रशना) १ २१ प्रथम द्विकल गण (S) का नाम
*रसिश्रउ (रसिका) १ ८६ 'मात्रिक छद का नाम'
रहण १ १६४ यति, विश्राम
रह (रथ) (रहरह°) १ ७४ १ ६२
√रह (घर) रहिश्रा भू० कर्म० कृदत स्त्री० १ ८४ रहहि १ १६३ 'रहना'
रहिश्रउ (रहित) १ ११६
राश्र (राजन्) १.१८० राजा

*रामसेना (रामसेना) १ १३३ गड्डा का भेद
*रामो (राम) १ ११४ काव्य छंद का भेद'
रामा (राजा) १ ११०
√राज राजंता २ ११३ सुशोभित होना
*रामा १ ९१ गाथा का भेद
*रामा २ १२१ उपजाति छंद का भेद
रामो (रामा) २ १
राव १ १३५ शब्द
राहा (राजा) १ २ ७
√रिंग १ २ १ 'रेंगना चलना'
रिउ (रिपु) १ २०९ १ १५२ १ १९ शत्रु
रिट्ठि २ ७१ अरिष्ट नामक दैत्य
रिच्छ (ऋक्ष) १ २ ५
रिद्धि (ऋद्धि) १ १६ ग ग 'रध सध' (ऋद्धि सिद्धि)
*रिद्धी (ऋद्धि) २ १२१ उपजाति छंद का भेद
√रुंध (√रुध्) रुंधंति (रुंधंति) बर्दे प्र च १ १९ 'रोकना'
रुप्पअ (रूप्य) १ १ ८ 'चाँदी
रुअ (रूप) १ १ १५१ २ ११ २ ५१ २ ६६ आदि रूपअ २ १२७ रूअओ २ १२४ सौन्दर्य
रूअउ (रूप) १ १७२ १ १७९
*रूअमाला (रूपमाला) २ ८८ छंद नाम
रुक्ख (वृक्ष) २ ६०
रेह (रेखा) २ ६, २ १२४
रेहा (रेखा) रेहाइँ १ ५८ २ १०९
*रेहा (रेखा) १ ८९ 'रसिका छंद का भेद'
*रोला १ ९१ एक मात्रिक छंद का नाम
रोस (रोष) १ १२० २ १११ क्रोध
रोसाविअ (रोषापित) १ १ ८ 'तपाया हुआ'

ल

लंकाराह (अलंकारेण) १ ११६
√लख लखिअ १ १५१ झाँकना
लइ (लता) १ १५१
लच्छ (लक्ष) १ ५० लाख
लक्खण (लक्षण) १ ११ १ ७८ लक्खण (—चिह्नं) १ ११ दो लाक्खण
√लग्ग (√लग्) लग्गंता १ १८० लग्गिअ १ १५५, लग्गिआ २ १६१ लग्गा १ ११ लग्गा २ ११५, 'लगना'
लच्छी (लक्ष्मी) १ ५८
*लच्छीहरो (लक्ष्मीधर छंद) १ १२७
*लच्छी १ ९ गाथा का भेद
√लल ललइ १ १६ ललिआ १ २ ४ हिलना
√लह (√लभ्) लहिअ १ ७८, लहिओ १ १६६ पाना प्राप्त करना
लहु (लघु) १ २ १४ १.८, लहु (ए व) १ ८ लहू (ब व) १ ५, लघु (।) लघु

लहुअ (लघुक) १ ५६ लहुआ (ब० व०) १ १४, लहुएहिँ (लघुकैः) १ १७, 'लघु', 'छोटा'

लाख (लक्ष) १ १५७

लागी २ १३२ सम्प्रदान का परसर्ग, लिये

√लिख् लेक्खए १ १६६, लेक्खिए २ २३, लेक्खहु (विधि म० ब०) १ ४१ लेक्खिअ (भूत० कर्म० कृदंत) १ ३८ लेक्खि (पूर्वकालिक) १ ३० लिखना

*लिलावइ (लीलावती) १.१८६ एक मात्रिक छंद

√लिह (√लिख्) लिहहु (आज्ञा म० ब०) १ ४६ 'लिखना'

लील (लीला) १ १८९

लीला लीलाइ (लीलया) करण ए० १ ७४

√लुक्क लुक्कता २ ६७, लुक्किअ १ १६०, १ १५१, छिपना

√लुप्प (√लुप्) लुप्पहु १ ४८ लोपि (पूर्व० क्रि०) १ ४० लोपना

लुद्ध (लुब्ध) १ १६६ लोभी

लुद्धअ (लुब्धक) २ १३५ लोभी

√लुल (√लुल्) ध्वन्यनुकरणात्मक क्रिया, लुलिअ (लुलित) भूत० कर्म० कृदंत १ ८७ 'हिलना, भागना'

लुलिअ (गजवरलुलित) २ ६२ 'हाथी की लीला या गति'

√ले लेहि १ ६, लेही २ १५७ लिज्जहु १ १२४, लविज्जइ (कर्मवा०) १ ६७, ले (पूर्वकालिक) १ ४१, लेइ १ ४१. लिएहउ (भूत० कर्म० कृदंत) १ १२८, 'लेना'

लोअ (लोक) १ १६३

लोअण (लोचन) २ १६३ नेत्र

°लोअणि (°लोचना) १ १३२ स्त्री का विशेषण

लोभ २ १५५

√लोट्ट लोट्टइ १.१८० लोटना

लोर १ १८० आँसू

√लोल लोलइ १ १७८ लोलती १ १६६ हिलना, लोटना

*लोहंगिणी (लोहांगिनी) १ ८८, १ ८६, १ ९० रसिका छंद का भेद

व

*वक (वक्र) १ २१ प्रथम द्विकल गण (ऽ) का नाम

वंक (वक्र) १ २ हि० बाँका, रा० बाँको-वाँको, गु० वाँको

वंजण (व्यञ्जन) १ ५

वंजुल २ १६३ 'बेंत की लता'

वगा १ १४५ 'बगाल'

वंझउ (वन्ध्या) २.१४६ बाँझ, निपूती

वंटण १ ४३ हि० 'बाँटना'

√वंद (√वन्द्) वंदिअ (वंदित) १ ६८, वंदति १ ५६ वंदे १ ८२ वंदि २ ११? 'वंदना करना'

वंस (वंश) २ १०१, २ १४७ कुल

√वह, वह २ ४०, २ १६३ 'बहना, हवा का चलना', वहइ १.१३५, २ १६५,
√वहिल्ल वहिल्लिअ १.२०५ बाहर निकालना
वहुलिआ (वधूटिका) २ ८३ 'बहू, पत्नी
वहू (वधू) २ ५३
√वाअ चलना, बहना, वाअता २ ८६
वाअ (वात) २ ८६, २ १६५ पवन
वाउलउ (वातुलक) १ ११६ पागल, बावला, रा० बावळो
वाउ (वायु) २ १६३ पवन
*वाणरु (वानरः) १ ८० दोहा छंद का भेद
वाणी २ १२१
वाद २ ५१ वाद विवाद
वाम १ ७४ 'बायाँ'
वामावत्ते (वामावर्त्ते) १ ४८
वार २ १६६
*वारग १ ७५ 'रकधक का भेद
√वार (√वारय्—) वारिहउ (√वार—) १.१३५ रोकना
*वासवो (बसत.) २ ११३ 'काव्य छंद का भेद'
*वास (वास) १ १८ आदिलघु त्रिकल का नाम (।ऽ)
वासण (वसन) २.७७ वस्त्र
वासा (वास) १.११ वस्त्र
√वाह (√वाह) गा० 'जाना' 'चलाना, खेना' वाहहि (आज्ञा, म० ए०) १ ६.

वाह १ १०६ 'घोड़ा'
वाहण (वाहन) २ ७५ सवारी
विंद (वृन्द) २ १४७ समूह
वि (अपि) हि० 'भी', रा० 'भी (उ० 'बी०') ११, १४, १८, १ २१३, १ ४६, २ ६ आदि
विअअ (विजय) २ ६६
विअक्खण (विचक्षण) १.१८६
√विअस (वि+√कम्) विअसत २ ६७ विकसित होना
वि+√अभ (वि+√जृम्भ्) विअभ (विजृंभति) वर्त० प्र० ब० व० १ ११५ 'प्रसार पाना'
वि+√आण (वि+√ज्ञा) विआण (विजानीहि) आज्ञा म० ए० १ ७६, १ ८०, २ ८६ विआणेहु १ १६६, विआणहु १.७३, २ १७० विआणिओ २ ६०
वि+√आर (वि+√चार्) विआरि (विचारय) आज्ञा म० ए० १ ८१ विआरु (विचारय) आज्ञा म० ए० १ ८८, १.१५० 'विचरना, समझना'
विक्कम (विक्रम) १ ६२, १ १२६ 'पराक्रम'
विक्खाअ (विख्यात) १ ५६
*विग्गाह (विगाथा) १ ५१ विग्गाहा (विगाथा) १ ६६ मात्रिक छंद
*विग्गाहा (विगाथा) १.६६ 'मात्रिक छंद'

वि+√हड (वि+√खड्) विहडिअ १ २०७ टुकड़े करना
विहास (विभाषा) (स–) विहास (सविभाष) १ ५ 'विकल्प'
विहि (विधि) १ ८६, २ १५२
विहिअ (विहित) २ १०६
विहूसिआ (विभूषित) १ १४६
विहु (द्वि) १ २०६ दो
वि+हा (वि+√धा) विहु (विधेहि) आज्ञा म० ए० १ ८१ 'करना'
विहूण (विहीन) १.११, (लक्खण–) विहूण १ ११
विहूसिआ (विभूषिता) १ ५४
वीर १ १२२, २ १३२, पराक्रमी
वीरेश १ ७६ 'किसी राजा का नाम'
वीस (विंशति–) १.१३० बीस
वीसा (विष) १.६८ 'न.र'
वीसामो (विश्रामः) १ १०० 'विराम, यति
वीसाइँ (विंशति) १ ५२ 'बीस'
वुत्तो (वृत्त) १ ६८ 'छन्द'
वुड्ढओ (वृद्ध–कः) १.३. हि० वुड्ढा–बूढ़ा, रा० गु० बूढा
√वुल्ल वुल्लिअ (√बुल्ल–) १ १३५ हि० बोलना
वुलड (देशी) १ ११६ (रा० बूज्ञो) गूँगा
वूह (व्यूह) २.१३२
वेआल (वेताल) १ ११६ भूत, वेताल
√वेलाव (√वेलापय्) वेलावहि २ १४२ विलंब करना
वेसी (वैश्या) १ ६४ १८३ 'वैश्य की स्त्री'
वेसा (वेश्या) १.६३
√बोल बोलाइ २ ११ बोलना

स

सकट २.२४,२ १०१ विपत्ति
सकरु (शंकरः) १.१०१ महादेव
सकरो (शंकर) २ १४ महादेव
सकाहरु (शंकाहरः) १ १०४ शंका हरने वाला
सख (संख्या) जहसख (यथासंख्य) १ १२,
सखा (संख्या) १ १६८
*सखणारी २ ५१ वर्णिक छंद का नाम
सगहिणी (संग्रहिणी) १ ६३ पुनर्भू, जो एक पति को छोड़कर अन्य ग्रहण कर लेती है
सं+√धार (सं+√हृ) सधारि २.२० सहार करना, भरना
सचारण २.४६
स+√चार सचारि (सचार्य) (पूर्वकालिक) १ ४७ घूमना, फिरना
सजुत्त (संयुक्त) १ २ (सजुत्तपरो १ २, १ ४)
सजोए (संयोगे) (अधिकरण ए० व०) १ ५ 'संयोग में' हि० रा० 'संजोग'
स+√ठव (सं+√स्थापय्) सठवहु (आज्ञा म० व०) (संस्थापयत) १ ६५, १ १३४, सठविअ २ १५१, सठिआ २ ७७. 'स्थापित करना'

सँवार (संतार) १ ६
सं+√तार (णिजंत) सं+√तृ)
संतारिअ (संतारितः) १ ६८ 'पार लगाया'
सं+√तास (सं+√भास्) संता
सइ १ १४४ 'भाष देना, सुना देना, कराना-समझना'
संपअ (सम्पत्) १ ३६, १ ९८ २ १ १
संपुओ (संपुटः) २ ६१
संपुण्णउ (संपूर्णः) १ १०६ पूरा
संभव २ १४ उत्पन्न होना
सं+√मम संमणिआ (संमणिता)
मूल क्रम पूर्व को १ ६८
समणिअ २ १५२ 'कहना
सं+√मल संमलि १ १८ सँभलना
*संभु (शम्भु) १ १३ रोला छंद का भेद
संभेअ (सभेद) २ १२१ प्रकार, भेद
*संमोहा २ ११ वर्णिक छंद नाम
सं+√हार संहर २ १४ संहार करना
संहार १ २ ७ नाश
संहरणा २ ४६ नाश करनेवाला
सअ (शत) १ ९७ सौ
सअण (शयन) २ ११८, २ १५
सअल (सकल) १ ८० सारा
सअलअ (सकलस) २ १६७ 'सब साथ'
सइ (स एव) २ ९ वही
सई (सती) १ ८ पार्वती

सउँ (समं) करण-अपादान का परसर्ग 'से' १ ११२, संमुहि सउँ (संमुखा अथवा संमोः सम)
सउ (शत) १ ४६ 'सौ'
सउबीस १ १०६ एक सौ बीस
*सक्को (शक्रः) १ १५ षट्कलगण का नाम
सग्ग (स्वर्ग) २ ५१ २ ६४, २ १११
सगणा १ ९ १ अंतगुरु वर्णिक गण (IIS)
सच्चं (सत्यं) १ ७
सजुत (संयुक्त) २ ११
सज्ज करिअ १ १२५ सजाना
सज्जा २ १५७ सुसज्जित
सट्ठि (षष्टि) १ ५१ साठ
सण्णाह (सन्नाह) १ १ ६ कवच
सतवीस (सप्तविंशत्) १ १५६ सत्ताईस
सतसआ (सप्तशत) १ ५ सात सौ
सतग्गला (सप्ताधिका) १ ५१ सात अधिक
सत्त (सप्त) २ १५६ सात
सत्ताईआ (सप्तविंशति) १ ५१,१ ६४ 'सत्ताईस
सत्तारह (सप्तदश) १ ५ हि 'सत्रह' या सतरा ग्रु सतर
सत्तावणी (सप्तपंचाशत्) १ ५१ सत्तावन
सत्तावण्णाइ (सप्तपंचाशत्) १ ५७ सत्तावन
सत्तु (शत्रु) १ १७
सद (शब्द) १ १२६, २ ११७

√सद्द (√शब्द) शब्द करना सद्दे २ ८६
*सद्दूल (शार्दूल) १ ८० 'दोहा छंद का भेद
*सद्दूल १ १०२ छप्पय छन्द का भेद
सप्प (सर्प) २ १६० 'पिंगल नाग की उपाधि' सप्पाराए २ १०६
*सप्प (सर्प) १ ८० 'दोहा छन्द का भेद
समग्रा (समय) १.१४७
समग्गल (समग्रला.) १ १३१ सारे
समग्गाइँ (समप्राणि) १.५० 'सब कुल'
समणा (शमनः) ३ १५५ शान्त करनेवाला
स+√मद (मर्द्) समदि (समर्द्य) पूर्वकालिक १ १०६ 'मर्दित करके'
सम समान समा २ ११४
समरूअ (समरूप) १ ७३, १ ११६ समान
समला (श्यामला) २.८१
समाज २ १६६
समाण (समान) १ ७६ समाणा २ १६
*समाणिआ (समानिका छन्द) २ ८
*समुद्द (समुद्र) १ १६ अन्तलघु त्रिकल का नाम (ऽ)
*सारंग (सारंग) १ ७५ 'स्कन्धक का भेद'
सर (शर) २ १६६ पाँच
*सरंगिक्का (सारंगिका) २.७८ वर्णिक छन्द का नाम
सरणा (शरण) २ १५५
सरसई (सरस्वती) २.३२
सरह (शरभ) २.३९ छन्द नाम
*सरहु (शरभ) १ ७५ 'स्कन्धक का भेद
सरासार (शरासार) २.१३२ बाणवृष्टि
सरि (सदृक्) १ ३६ 'समान'
*सरि (सरित्) १ ७५ 'स्कंधक का भेद'
सरिस (सदृशः) 'समान' सरिसा (स्त्री) १ १४ रा० सरीसो, सरीसी (स्त्री०)
सरिर (शरीर) २.४०
सरीर (शरीर) १ १४७
सरिस्सा (सदृश) १ ७६ समान
*सरु (शर) १ ७५ 'स्कंधक का भेद'
सरूअ (स्वरूप) २ १७० सरूअह २ १०० समान
सरोरुह २ ९९ कमल
√सलहिज्ज (√श्लाघय्) सलहिज्जइ १ १४६ सलहिज्जसु १ ११७ प्रशंसा करना
सल (शल्य) १ २०४ 'काँटा, दुःख भाला
सल्ल (शल्य) १,५८, १.१२३, १ २०५, २.१०६, २ १५७, 'भाला, दुःख'
सव (सर्व) १.३७ सब
सवण (श्रवण) १.१०, २.१६५ 'कान'

सिंग (शृङ्ग) २.११३ सींग, पहाड़ की चोटी
सिंहम (सिंहक) १.१८३ शेर
सिंहासण (सिंहासन) २.७७
*सिंहिणी (सिंहिनी) १.५१, १.७० मात्रिक छन्द का नाम
सिअ (सित) १.१०८ सफेद
सिअल (शीतल) १.१२५ ठंडा
*सिक्ख(शिखा) १.१६१ मात्रिक छन्द का नाम
सिट्ठ (शिष्ट) २.३७, २.११६ मचा हुआ
सिर (शिरस्) १.३६, २ ८४
सिरिखंड (श्रीखंड) १.१०८ चंदन
*सिव (शिव) १.७५ स्कंधक का भेद
सिविण्ण (स्वप्न) २ १०३
सिहर (शिखर) १ १५५
सिहि (शिखिन्) १ ३४ अग्नि
*सिही (सिंही) १ ६१ गाथा का भेद
*सी (श्री) २०१ वर्णिक छंद का भेद
सीअ (शीत) २ ८६
सीस (शीर्ष) १ ११, १ ८१, २.१२३ हि० रा० 'सीस', सिर
*सीसारूओ (शीर्षरूपक) २.६४ वर्णिक छंद
सीह (सिंह) सीहस्स (सिंहस्य) सबंध ए० व० १ ६२
सुंदरि (सुन्दरी, सुंदरि) सुंदरि (-ह्रदहिँ) १.७ सुन्दरि (सदेश०) हि० रा० 'सुंदर-सुंदरि', 'सूँदर' (राज० लोकगीत 'काँ चाली ए सूँदर काँ चली ए')
सुंभ (शुंभ) २.६६ दैत्य का नाम
सुअ (सुत) २.४४ पुत्र
सुअण (सुजन) सुअणा (सुजनाः) स० ब० व० १.९४
सुकइ (सु-कवि) १.१२६, १.१४६, १.२०२, २.१३७, सुकइंद (सुकवींद्र) २.१५०
सुकम्म (सुकर्म) २.११७ 'पुण्य, अच्छा कर्म'
सुकिअ (सुकृत) २.१५३
सुक्ख (सुख) १.११६, १.१७४, २ २०
सुछंद २ ७०
√सुज्झ (√शुध्-) सूझना सुज्झे २ १४२
√सुण (√श्रु) 'सुनना' सुणेइ १.७०, सुणिज्जे २.१०६, सोऊण १ ६६ सूणी २ १५६,
*सुणह (शुनक) १.८० 'दोहा छंद का भेद'
सुण्णफल (शून्यफल) १ ३८
सुथिर (सुस्थिर) १ १२८
सुद्द (शूद्रकः) १ ११७ शूद्र
सुद्दिणी (शूद्रा) १ ६४, १ ८३
सुधाअर (सुधाकर) २ ६९ चन्द्रमा
*सुद्ध (शुद्ध) १ ७५ 'स्कन्धक का का भेद'
सुद्ध (शुद्धः) १ २ सुद्धा (ब० व०) १.५, सुद्धमणा २ ६५
*सुपिअ (सुप्रिय) १ २२ द्विलघु द्विकल (।।) का नाम

सेहरो (शेखरः) १.१६ पचकलगण का का नाम (||S) (साथ ही तु० हि० राज० 'सेहरा'—सिर का मौर)
सोअर (सोदर) २.१०३, २.१४२, सगा भाई
सोक (शोक) २ ५५
सोक्ख (सुख) २.३४
*सोरट्ठा १.१४५ सोरठा, छंद का नाम
सोला (षोडश) २.६६, २.९६ सोलह
सोलह (षोडश) १ १३१
√सोह सोह १ १८२ सुशोभित होना
सोहा (शोभा) १ १४६

ह

हजे २ १६५ 'सखी का सबोधन'
हत २ १६५ 'दु खव्यंजक विस्मयादि-बोधक अव्यय'
हसपअं (हसपद) १ ६२ 'हस की गति'
*हसीआ (हसिका, हसी) १ ६६ 'रसिका छद का भेद'
*हसीआ (हंसिका) १ ६२ गाथा का भेद
हय १ ८७ घोडा
हउ (अह) १ १३० मै
हक्क १ २०१ २ ६५, २ १५१ 'हाँक, डाट'
हट्ठ (हठ) १ ११६
हणुआ (हनुमान्) १ ७४
√हण हण २ १६१ हणइ १ १३५, २ १६५, हणिअ १ १०४, १·१६५हणु १.१८५, मारना
हत्ति (हत इति) २.१४७
हत्थ (हस्त) १.१८२ हाथ
हत्थअल (हस्ततल) २.१०२
हत्थि (हस्तिन्) २.१३२ हाथी
हत्थी (हस्तिन्) २.११३ हाथी
हमिर १.२०४ हम्मीर, नाम
हम्मीर (हम्मीरः) १.७१ हम्मीर, नाम
हयवरु (हयवर) १.१७९ घोडा
√हर (√हृ–) हर २ ६ 'हरना, अपहरण करना', हरे १.१४५ हरंती २.१६
हर १.१९५ महादेव
हरणा २ १५५ हरण करने वाला
*हर (सं० हरः) १.१५ पट्कलगण का नाम
*हरिगीअ (हरिगीता) १.१९१ छद का नाम
*हरिणो (हरिणः) १.११ काव्य छन्द का भेद
*हरिणी (हरिणी) १.६१ गाथा का भेद
हरिबंभ (हरिब्रह्मा) १.१०८ कवि का नाम
√हलहल (ध्वन्यनुकरणात्मक क्रिया) 'हिलना, काँपना', हलहलिअ भूत० कर्म० कृदन्त० १.८७
√हस (√हस्) 'हँसना', हसइ २ ८३, हसिऊण (हसित्वा) पूर्व-कालिक रूप १.७१, हसतउ २.१४९, हसती २ १६

शुद्धिपत्र

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११-१६	देइ	दइ
१३-९	कारण	कारक
१४-१७	वाच्य°	वाक्य°
३९-२२	उदिट्टा	उद्दिट्ठा
६४-२६	°शरीर	°सरीर
६८-७	शिव	सिव
७१-१८	वीरेश	वीरेस
७७-१६	°वलु	°वलु
७७-१९	नरवइ	णरवइ
९१-१२	वीसामो	वीसामो
९२-१८	कुलसार	कुलसारु
१०३-२१	वलहद्दो	वलहद्दो
१०४-२३	पगुहीण	पगु हीण
१०८-२६	सव्वाहा	सव्वासा
११०-१४	चेआमी	चेआसी
१२३-१२४ के पद्य १३७-१४०	एगाहरहि	एगारह
१२४-२२	पजत्थ	जत्थ
१२८-१५	दिढवंधु	दिढवधु
१२८-१६	भूपण	भूसण
१३२-९	णिपलिअ	णिवलिअ
१३३-७	तिणि	तिण्णि
१४३-१५	घरि	घरि

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४१–१६	स्वप	सहप
१४७–१९	संठगु	संठवगु
२५०–६	गुर	गुर
१७४–१	पद	पर
१८१–२ ७,१ पंक्ति	मागागृचम्	मर्वागृचम्
२११–५	लिक्खाम	सिक्खिम
२६१–११	छंद पूरमा	छंद एहु पूरमा
२४०–२३	घेरा	गेहा
२६८–६	मंजुला	मंजुला
२६८–१२	मंजुल	मंजुल
१ –१	हंस	हंस
२ ६–१ पंक्ति	१ १७५	२.२१५
३१०–३११	२ १८४ को हटा दें	